एमएएचडी-04

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

भारतीय काव्य शास्त्र

काव्य-अवधारणा

काव्य-परिभाषा-लक्षण,
प्रबन्ध व मुक्तक काव्य,
काव्य-प्रेरणा, हेतु,
काव्य-प्रयोजन

प्रमुख सम्प्रदाय

रस, ध्वनि,
वक्रोक्ति,
रीति, अलंकार,
औचित्य

समालोचना

पाश्चात्य काव्य शास्त्र

साहित्य चिन्तन

अरस्तू, इलियट, सार्त्र ,
मार्क्स, क्रोचे, फ्रायड,
लुकाच, आई.ए. रिचर्ड्स

साहित्य-सिद्धान्त

अस्तित्ववाद
अभिजात्यवाद
स्वच्छन्दतावाद
आधुनिकतावाद
उत्तर-आधुनिकतावाद

काव्यशास्त्र व समालोचना

एमएएचडी–04

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

काव्यशास्त्र व समालोचना

पाठ्यक्रम अभिकल्प समिति

अध्यक्ष

प्रो. (डॉ.) नरेश दाधीच
कुलपति
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राजस्थान)

संयोजक एवं समन्वयक

संयोजक
प्रो. (डॉ.) कुमार कृष्ण
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
हिमांचल विश्वविद्यालय, शिमला

समन्वयक
डॉ. मीता शर्मा
सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

सदस्य

- **प्रो. (डॉ.) जवरीमल पारख**
  अध्यक्ष, मानविकी विद्यापीठ
  इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय खुला विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
- **प्रो. (डॉ.) नन्दलाल कल्ला**
  पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
  जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर
- **डॉ. पुरुषोत्तम आसोपा**
  पूर्व प्राचार्य
  राजकीय महाविद्यालय, सरदारशहर (चुरू)
- **प्रो. (डॉ.) सुदेश बत्रा**
  पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
  राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
- **डॉ. नवलकिशोर भाभड़ा**
  प्राचार्य
  राज. कन्या महाविद्यालय, अजमेर

संपादन एवं पाठ्यक्रम-लेखन

संपादक
डॉ. प्रेम प्रकाश भट्ट
पूर्व एसोशिएट प्रोफेसर
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर

पाठ लेखक		इकाई संख्या
प्रो. (डॉ.) दयाशंकर त्रिपाठी हिन्दी विभाग **सरदार पटेल विश्वविद्यालय, बल्लभ विद्यानगर, गुजरात**	-	1
प्रो. (डॉ.) के.एल. व्यास पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग **उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद**	-	2, 5
डॉ. पल्लव व्याख्याता, हिन्दी विभाग **राजकीय महाविद्यालय, चित्तौड़गढ़**	-	3, 22
डॉ. सुशील कुमार शर्मा अध्यक्ष व रीडर, हिन्दी विभाग **पूर्वोत्तर पर्वतीय महाविद्यालय, शिलांग**	-	4, 7
डॉ. सत्यनारायण शर्मा व्याख्याता, हिन्दी विभाग **राजकीय महाविद्यालय, चिमनपुरा**	-	6
डॉ. मीता शर्मा सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग **वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा**	-	8,
डॉ. नन्दलाल कल्ला पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग **जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर**	-	9

- **डॉ. पी.पी. भट्ट** - 10
  पूर्व एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
  राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
- **प्रो. (डॉ.) जगमल सिंह** - 11
  पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
  असम विश्वविद्यालय, सिलचर, असम
- **डॉ. सदानन्द गुप्त** - 12
  हिन्दी विभाग
  गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर
- **प्रो. (डॉ.) चन्द्रकला पाण्डेय** - 13
  हिन्दी विभाग
  कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता
- **प्रो. (डॉ.) अमरनाथ शर्मा** - 14
  हिन्दी विभाग
  कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता
- **डॉ. सत्यनारायण शर्मा** - 15, 17
  वरिष्ठ प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
  राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय चित्तौड़गढ़
- **डॉ. शिव कुमार मिश्र** - 16
  पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
  सरदार पटेल विश्वविद्यालय, बल्लभ विद्यानगर, गुजरात
- **प्रो.(डॉ.) अरुण होता** - 19,25
  अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
  नार्थ बंगला विश्वविद्यालय, सिलीगुड़ी
- **प्रो.(डॉ.) दुर्गा प्रसाद गुप्ता** - 20, 21
  हिन्दी विभाग
  जामिया मिलिया इस्लामिया विश्वविद्यालय, दिल्ली
- **देवेन्द्र कुमार गुप्ता** - 22, 23, 24
  व्याख्याता, हिन्दी विभाग
  वनस्थली विद्यापीठ, टोंक

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो. नरेश दाधीच	**प्रो. एम.के. घड़ोलिया**	**योगेन्द्र गोयल**
कुलपति	निदेशक	प्रभारी
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा	**संकाय विभाग**	**पाठ्य सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग**

पाठ्यक्रम उत्पादन

योगेन्द्र गोयल
सहायक उत्पादन अधिकारी,
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

उत्पादन : अगस्त-2012 ISBN-13/978-81-8496-117-1

इस सामग्री के किसी भी अंश को व. म. खु. वि., कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप मे 'मिमियोग्राफी' (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यत्र पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।व. म. खु. वि., कोटा के लिये कुलसचिव व. म. खु. वि., कोटा (राज.) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

खण्ड -1

काव्य की अवधारणा **1–83**

इकाई सं.	इकाई का नाम	पृष्ठ संख्या
इकाई - 1	काव्य की परिभाषा तथा लक्षण	12–31
इकाई - 2	काव्य के भेद : प्रबन्ध काव्य, मुक्तक काव्य	32–49
इकाई - 3	काव्य प्रेरणा व काव्य हेतु	50–62
इकाई - 4	काव्य प्रयोजन	63–83

खण्ड -2

भारतीय काव्यशास्त्र : प्रमुख सम्प्रदाय **84–144**

इकाई सं.	इकाई का नाम	पृष्ठ संख्या
इकाई - 5	भारतीय काव्य शास्त्र का परिचय	84–93
इकाई - 6	भारतीय काव्य शास्त्र के प्रमुख संप्रदाय-I : रस	94–108
इकाई - 7	भारतीय काव्य शास्त्र के प्रमुख संप्रदाय-II : रीति, अलंकार व औचित्य	109–132
इकाई - 8	भारतीय काव्य शास्त्र के प्रमुख संप्रदाय-III : ध्वनि व वक्रोक्ति	133–144

खण्ड -3

रस चिन्तन के विविध आयाम **145–170**

इकाई सं.	इकाई का नाम	पृष्ठ संख्या
इकाई - 9	रस की परिभाषा	145–160
इकाई - 10	साधारणीकरण	161–170

खण्ड -4

पाश्चात्य काव्य शास्त्र : प्रमुख सम्प्रदाय **171–277**

इकाई सं.	इकाई का नाम	पृष्ठ संख्या
इकाई - 11	अरस्तू का साहित्य विज्ञान	171–189
इकाई - 12	इलियट का साहित्य चिन्तन	190–201
इकाई - 13	मार्क्स का साहित्य चिन्तन	202–222
इकाई - 14	क्रोचे का अभिव्यंजनवाद	223–234

इकाई - 15	फ्रायड का मनोविश्लेषण	235–248
इकाई-16	लुकाच का साहित्य चिन्तन	249–263
इकाई-17	आई.ए. रिचर्ड्स का साहित्य चिन्तन	264–277

खण्ड -5

साहित्य सिद्धान्त और प्रमुख विचारधाराएँ **278–335**

इकाई सं.	**इकाई का नाम**	**पृष्ठ संख्या**
इकाई - 18	अस्तित्ववाद	278–297
इकाई - 19	अभिजात्यवाद व स्वच्छन्दतावाद	298–311
इकाई - 20	आधुनिकतावाद	312–323
इकाई - 21	उत्तर-आधुनिकतावाद	324–335

खण्ड -6

समालोचन (सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक) **336–389**

इकाई सं.	**इकाई का नाम**	**पृष्ठ संख्या**
इकाई - 22	हिन्दी आलोचना का उद्भव व विकास	336–347
इकाई - 23	हिन्दी का आलोचना शास्त्र-I : पाठालोचन सैद्धान्तिक व ऐतिहासिक आलोचना	348–361
इकाई - 24	हिन्दी का आलोचना शास्त्र-II : प्रगतिशील, शास्त्रीय, रीतिवादी व स्वच्छन्दतावादी आलोचना	362–373
इकाई - 25	हिन्दी का आलोचना शास्त्र-III: तुलनात्मक, प्रभाववादी, मनोवैज्ञानिक व नई समीक्षा	374–389

खण्ड-परिचय

प्रस्तुत पाठ्य सामग्री वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा के एम.ए. (हिन्दी) पूर्वार्द्ध के छात्रों की आवश्यकता के अनुसार तैयार की गयी है । एम.ए. पूर्वार्द्ध के पाठ्यक्रम में **काव्य शास्त्र व समालोचना** चतुर्थ प्रश्न पत्र के रूप में निर्धारित है । एम.ए. के छात्र इस पाठ्य सामग्री का अध्ययन और अनुशीलन कर न केवल विषय का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे अपितु परीक्षा की समुचित तैयारी भी कर सकेंगे । इस पाठ्य सामग्री को तैयार करने में विशेषज्ञ विद्वानों की सहायता ली गयी है जिन्होंने न केवल पाठ्यक्रम की गम्भीर सामग्री को सरल बनाकर प्रस्तुत किया है अपितु छात्र हितों को ध्यान में रखते हुए इसे बोधगम्य रूप में ढाला है । आशा है एम.ए. (हिन्दी) पूर्वार्द्ध के छात्र इसका उपयोग कर लाभान्वित हो सकेंगे ।

साहित्य का अध्ययन यों तो बहुत रोचक और आनन्ददायी होता है किन्तु सामान्य पाठक के स्तर से ऊपर उठकर जब किसी साहित्यिक रचना का आलोचनात्मक अध्ययन करने का अवसर आता है तो उसके लिये साहित्य-सिद्धान्तों का विशद ज्ञान विचारशीलता और विवेचन की क्षमता भी अपेक्षित समझी जाती है । इस दृष्टि से **'काव्य शास्त्र और समालोचना'** का अध्ययन विशेष महत्व रखता है। एम.ए. कक्षाओं में साहित्य के छात्र सामान्य स्तर से ऊपर उठकर साहित्य का अध्ययन आलोचनात्मक दृष्टि से भी कर सकें, इसलिये प्रस्तुत सामग्री विशेष उपयोगी सिद्ध हो सकती है ।

प्रस्तुत पाठ्यसामग्री को छः खण्डों में विभाजित किया गया है । प्रथम खण्ड है - **काव्य की अवधारणा।** इसके अंतर्गत काव्य (साहित्य) की अवधारण को चार अलग-अलग इकाइयों में विभक्त कर समझाया गया है । सर्वप्रथम काव्य को परिभाषित करके उसके लक्षणों की विशद चर्चा की गयी है । भारतीय आचार्यो की दृष्टि में काव्य की तात्विक विवेचना के साथ-साथ पश्चिमी काव्यशास्त्र के चिंतकों का मत भी इसमें समाविष्ट है । काव्य की परिभाषा से जुड़ा हुआ प्रश्न काव्य के भेद प्रभेदों से सम्बन्धित है । इस प्रसंग में छात्रों के लिये प्रबन्ध काव्य (महाकाव्य और खण्डकाव्य) तथा मुक्तक काव्य (गीति व प्रगीति काव्य) का भी विवेचन किया गया है । काव्य की अवधारणा को और गहराई से समझने के लिये काव्य रचना के प्रेरक तत्व, काव्य हेतु और काव्य प्रयोजन पर भी भारतीय दृष्टि एवं पाश्चात्य विचारकों के मतों से परिचित कराया गया है । इस प्रकार काव्य की अवधारणा को गहराई और विस्तार के साथ प्रथम खण्ड में समझाया गया है ।

द्वितीय खण्ड **भारतीय काव्यशास्त्र और उसके प्रमुख सम्प्रदायों** से सम्बन्धित है । काव्यशास्त्र का भारतीय चिन्तन, ईसा की पहली-दूसरी शती से आरम्भ होकर अठारहवीं शती पर्यन्त गतिशील रहा। इस अवधि में भारतीय काव्यशास्त्र की परिधि में रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य, ये छः सम्प्रदाय आ जाते हैं । भारतीय काव्यशास्त्र की यह चिन्तन यात्रा आचार्य भरत मुनि से आरम्भ होकर पंडितराज जगन्नाथ तक (18वीं शती) फैली हुई है । शास्त्रीय चिन्तन की सूक्ष्मता और गहराई में उतर कर काव्य की आत्मा का प्रश्न प्रधान रूप से इन आचार्यो के विमर्श का बिन्दु

रहा है । प्रस्तुत खण्ड में इन छः सम्प्रदायों की विशद चर्चा अलग अलग चार इकाइयों में छात्रों को उपलब्ध करायी गयी है । एक बार शास्त्र की गहराई में प्रवेश पाने पर यह यात्रा कठिन नहीं रह जाती। उसमें शनैः शनैः रस आने लगता है । इस खण्ड के पाठों का अध्ययन करते समय छात्र इस तथ्य से परिचित हो सकेंगे।

तीसरा खण्ड '**रस चिन्तन के विविध आयामों**' से संबंधित है । भारतीय काव्य चिन्तन का सर्वोत्तम पक्ष, रस सिद्धान्त के रूप में माना जाता है । रस क्या है, उसके स्वरूप को कैसे समझा जाय, रस सूत्र के प्रणेता **भरतमुनि** के सूत्र की व्याख्या (रस निष्पत्ति) को विभिन्न आचार्यो ने किस किस रूप में समझाया है भारतीय काव्यशास्त्र का यह भी एक रोचक पहलू है । इस बौद्धिक चर्चा का समापन भारतीय आचार्य **साधारणीकरण** की अवधारणा के रूप में करते हैं । प्रस्तुत खण्ड में इन्हीं विभिन्न पक्षों पर सारगर्भित सामग्री दो इकाइयों के रूप में छात्रों को उपलब्ध करायी गयी है । साहित्य की समझ के लिये इस खण्ड का विशेष महत्व है ।

हिन्दी साहित्य, आदिकाल और मध्यकाल से गुजरता हुआ जब आधुनिक काल की सीमा में प्रवेश करता है तो स्वाभाविक रूप से पश्चिमी साहित्य से भी प्रेरित और प्रभावित होता है । जैसे जैसे हम वैश्वीकरण की ओर बढ़ रहे हैं, बाहर के साहित्यिक और सांस्कृतिक संघातों से हमारा जुड़ाव होना स्वाभाविक है । आधुनिक काव्य ही नहीं, हिन्दी के गद्य साहित्य की विविध विधाओं पर यह प्रभाव लक्षित किया जा सकता है । प्रस्तुत सामग्री का चौथा खण्ड **पाश्चात्य काव्यशास्त्र : 'प्रमुख सम्प्रदाय'** इसी आवश्यकता की पूर्ति करता है । इसके अंतर्गत पश्चिमी काव्य चिन्तन की यात्रा विभिन्न सात इकाइयों में, अरस्तु से आई.ए. रिचर्ड्स तक चलती है । इसमें अरस्तु इलियट, मार्क्स, क्रोचे, फ्राँयड तथा जॉर्ज लुकाच जैसे विचारकों का साहित्य दर्शन प्रस्तुत किया गया है । कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस बौद्धिक चिन्तन के प्रति भी छात्रों की रूचि बनी रहे इसलिये इसे सरल और सुबोध रूप में प्रस्तुत किया गया है ।

खण्ड पाँच - **साहित्य सिद्धान्त और प्रमुख विचारधाराएँ -** शीर्षक से है । इसके अंतर्गत पश्चिम में प्रचलित विविध साहित्यिक वादों का विवरण चार इकाइयों में उपलब्ध कराया गया है । 'अभिजात्यवाद व स्वच्छंदतावाद, 'अस्तित्ववाद, 'आधुनिकतावाद व उत्तर आधुनिकतावाद जैसे काव्य आन्दोलनों की एक विहंगम झलक इस खण्ड में प्रस्तुत की गयी है । कुल मिलाकर पश्चिमी काव्य चिन्तन और उससे उद्भूत विभिन्न साहित्यिक धाराओं को समझने के लिये समुचित सामग्री इस खण्ड के अंतर्गत छात्रों को प्रदान की गयी है ।

खण्ड छः, **हिन्दी समालोचना की सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक** झलक प्रस्तुत करता है । हिन्दी आलोचना के उद्भव और विकास का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने के बाद इस खण्ड के अंतर्गत विभिन्न चार इकाइयों में आलोचना के विविध प्रकारों का विस्तार से वर्णन है । इसके अंतर्गत आलोचना के विविध स्वरूप समेटे गये हैं । उदाहरण के लिये पाठालोचन, सैद्धान्तिक आलोचना, ऐतिहासिक

आलोचना, प्रगतिशील आलोचना व स्वच्छन्दतावादी आलोचना के प्रमुख रूपों को समझाने के साथ साथ तुलनात्मक आलोचना, प्रभाववादी, मनोवैज्ञानिक और नयी समीक्षा तक इसका विस्तार है ।

कुल मिलाकर यह चिन्तन परक और बौद्धिक जागरूकता जगाने वाली पाठ्य सामग्री है । इसका अध्ययन और मनन करने से छात्रों का साहित्यिक विवेक पुष्ट होगा, ऐसी हमारी धारणा है।

इकाई -1 काव्य की परिभाषा व लक्षण

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 काव्य

1.2.1 काव्य, साहित्य, वाङ्मय और कविता

1.2.2 उक्ति, सूक्ति और काव्योक्ति

1.2.3 काव्य रूपक

1.2.4 काव्य क्या - सृजन या अनुकरण

1.3 काव्य की परिभाषा व लक्षण

1.3.1 परिभाषा व लक्षण का अर्थ

1.3.2 काव्य-लक्षण और लक्षण-काव्य

1.3.3 काव्य लक्षण का ऐतिहासिक विकास व स्वरूप

1.4 सारांश

1.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

1.6 संदर्भ ग्रंथ

1.0 उद्देश्य

काव्यशास्त्र व समालोचना' की यह प्रथम इकाई है । इस इकाई के अध्ययन से आप:

- काव्य के अर्थ से परिचित हो सकेंगे ।
- काव्य से सम्बद्ध विभिन्न पहलुओं को जान सकेंगे ।
- ऐतिहासिक कालक्रम में काव्य की परिभाषा व लक्षणों और उसके स्वरूप से बखूबी परिचित हो सकेंगे।
- काव्य से जुड़ी हुई विशिष्ट शब्दावली और संदर्भ ग्रंथों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे ।

1.1 प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य, विशेष रूप से आधुनिक काल के पूर्व आदिकालीन से लेकर रीतिकालीन साहित्य को ठीक से समझने, उसकी विशेषताओं को उद्घाटित करने एवं भरपूर आनंद उठाने के लिए भारतीय काव्यशास्त्र का ज्ञान साहित्य के विद्यार्थी के लिए बहुत आवश्यक है । संस्कृत आचार्यो ने काव्य लक्षण के साथ-साथ काव्यांगों पर गहन चिंतन-मनन किया है और विस्तार से उनकी चर्चा भी । इनसे परिचय के बिना उच्च हिन्दी शिक्षा का ज्ञान अधूरा ही रहेगा । काव्यशास्त्र का प्रवेश द्वार है - काव्य की परिभाषा व लक्षण । हम इस इकाई के अंतर्गत आपको काव्य के विविध संदर्भो के साथ उसकी परिभाषा व लक्षण से परिचित कराने जा रहे हैं ।

1.2 काव्य

कवि द्वारा किये गये कार्य या कर्म (सृजन) को 'काव्य' कहते हैं । **कवेरिदं कार्यभावों वा - मेदिनी कोष**

"कवे: कर्म काव्यम् ।'

"कवयतीति कवि:, तस्य कर्म काव्यम् । - विद्याधर

प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता ।

तदनुप्राणनाज़न्जीवद् वर्णना निपुण: कवि: ।

तस्य कर्म स्मृतं काव्यम् ।

वस्तु के नये-नये उन्मेष की शक्ति रखने वाली प्रज्ञा प्रतिभा कहलाती है । उससे अनुप्रणित वस्तु का जीवन्त वर्णन में निपुण व्यक्ति को कवि कहते हैं । वर्णन में निपुण कवि का कर्म काव्य कहलाता है । मम्मट ने काव्य की व्याख्या बहुत संक्षेप में सधे शब्दों में की । उनका कहना है कि 'काव्यं लोकोत्तर वर्णनानिपुण: कवि कर्म ।' अर्थात् लोकोत्तर वर्णन में निपुण: कवि का कर्म ही काव्य कहलाता है । दोनों आचार्यो की दृष्टि में किसी वस्तु या घटना का लोकसामान्य से विशिष्ट (असामान्य) वर्णन करने में कवि कुशल है । ऐसे ही कुशल कवि का कर्म काव्य है ।

'वर्णन' कवि के कवित्व का दूसरा पक्ष है । उसका पहला पक्ष है - 'दर्शन' यानी किसी वस्तु का पर्यवेक्षण या प्रत्यक्षीकरण । कवि अपने दर्शन और वर्णन दोनों के सहयोग से काव्य को आकार देता है । पहले कवि किसी वस्तु का दर्शन या प्रत्यक्षीकरण करता है । कवि का दर्शन साधारण आदमी के चक्षु-दर्शन से भिन्न और विशिष्ट होता है । वह अपने प्रातिभ चक्षु से वस्तु को सामान्य रूप में नहीं बल्कि विशिष्ट रूप में देखता और अनुभव करता है । कवि अपनी प्रतिभा के बल पर वस्तु के विशिष्ट रूप का प्रत्यक्षीकरण करता है । इस प्रकार दर्शन-प्रातिभ दृष्टि से वस्तु के विशेष रूप का दर्शन-कवित्व की पहली शर्त है, पहली आवश्यकता है । दरअसल कवि अपने काव्य की आधारभूत सामग्री के लिए अनेक रूपात्मक जगत् पर आश्रित रहता है और वहीं से वह अपने काव्य की वस्तु ग्रहण करता है । वस्तु ग्रहण के पूर्व उसका दर्शन अपरिहार्य है । दृश्य और अनुभूत वस्तु को सुंदर शब्दों की शक्ल में अभिव्यक्त या प्रकट करने का नाम 'वर्णन' कहलाता है । 'दर्शन' वस्तु का बाह्य-आन्तरिक धर्म है, तो वर्णन अन्तर्बाहय धर्म । इन दोनों के सामंजस्य से कवित्व काव्य के रूप में सामने आता है । भट्ट तौत का कवि वाल्मीकि के कवित्व के बारे में यह उदाहरण बहुत प्रसिद्ध है- कि वाल्मीकि जब तक तत्वद्रष्टा थे तब तक लोक ने उन्हें कवि की संज्ञा नहीं दी । लेकिन जब उन्होंने अपने दृश्य-अनुभूत ज्ञान को शब्दों के माध्यम से प्रकट कर दिया तब लोगों ने उन्हें 'आदिकवि' और उनके काव्य को 'आदिकाव्य' की संज्ञा दी तथा दर्शन और वर्णन के मनोरम संयोग के कारण ही वे लोगों के बीच आदि कवि के नाम से प्रसिद्ध हुए ।

इस प्रकार काव्य के दो पक्ष हैं, एक - दृष्टि पक्ष और दो - सृष्टिपक्ष । दृष्टिपक्ष का नाम दर्शन या निरीक्षण है और सृष्टिपक्ष का नाम वर्णन । साधारण आदमी संसार के पदार्थो को सामान्य रूप में देखता है और उसका वर्णन भी सामान्य ढंग से - वार्ता के रूप में - करता

है । कवि के पास पदार्थ को नये रूप में देखने और उसे रसावेश के साथ प्रस्तुत करने की अपूर्व क्षमता होती है । कवि का दर्शन और वर्णन दोनों असाधारण होता है । उसमें यह असाधारण, अपूर्व क्षमता 'प्रतिभा के कारण विकसित होती है । इस बात को महिम भट्ट और अभिनव गुप्त दोनों आचार्य स्वीकार करते हैं ।

विशिष्टमस्य यद रूपं तत्प्रत्यक्ष गोचरम् ।
सएव सत्कविगिरां गोचर: प्रतिभाभुवाम । **- महिमभट्ट**
प्रतिभा अपूर्ववस्तु निर्माण क्षमा प्रज्ञा ।
तस्या विशेषो रसोवेश वैशद्यसौन्दर्य काव्यनिर्माणक्षमत्वम् । **- अभिनवगुप्त**

दरअसल काव्य का मूल कारण या प्रधान कारक प्रतिभा ही है । वामन ने तो यहाँ तक कहा है कि प्रतिभा कवित्व का बीज है, उसके बिना काव्य का सृजन संभव ही नहीं है । 'कवित्व बीज प्रतिभानम् । यस्माद्विना काव्यं न निष्पद्यते । उनके पूर्ववर्ती आचार्य भामह का कहना था कि मूर्ख व्यक्ति भी गुरू के उपदेश से शास्त्र का ज्ञानी हो सकता है, लेकिन वह काव्यसृजन नहीं कर सकता । कारण कि काव्य की सृष्टि तो कोई प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति ही कर सकता है ।

गुरूपदेशादध्येतु शास्त्र जडधियोप्यलम् ।
काव्यंतु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावत: । **- भामह**

इस प्रकार प्रतिभा, कवि और कवित्व कर्म यानी काव्य अपरिहार्य रूप से एक दूसरे से जुड़े हैं ।

काव्य प्रक्रिया का आदि; प्रतिभा सम्पन्न कवि है, मध्य स्वयं काव्य है और अन्त श्रोता या भावक या सहृदय का परितोष (आनंद) है । पुस्तकों से घर-घर भरे रहते हैं लेकिन केवल दो-तीन सच्चे काव्य ऐसे होते हैं जो भावक के मन हमेशा के लिए चिन्हित हो जाते है । राजशेखर का कहना सही है कि -

सन्ति पुस्तक विन्यस्ता: काव्यबंधा गृहे-गृहे ।
द्वित्रास्तु भावकमन: शिलापट्टनि कहिता: । **- काव्यमीमांसा**

जो कवि के दर्शन-वर्णन, अभिप्राय को ठीक-ठीक समझता-बूझता है, भावन करता है - वह भावक है (भावयतीति इति भावक:) । भावन के लिए भी भावक में प्रतिभा का होना जरूरी है । भारतीय काव्य शास्त्र में भावक का स्थान कवि के समान ही है । असल में ये काव्य के दो पंख है । दोनों पंखों की ताकत से काव्य ताकतवर बना है । यदि काव्य की सृष्टि में कविकारयित्री प्रतिभा से काम लेता है तो काव्य के भावन और आलोचन में भावक 'मावयित्री प्रतिभा' से । कवि की प्रतिभा संश्लेषणात्मक होती है तो भावक की विश्लेषणात्मक । एक का काम संरचनात्मक है, दूसरे का काम विश्लेषणात्मक । पर दोनों काव्य के लिए ही काम करते है ।

सृष्टि द्विविध रूपा है । 'संसार और काव्य' दोनों सृष्टि है । 'संसार की संसार के समस्त पदार्थो की रचना पंचभौतिक तत्वों- आकाश, धरती, पवन, पानी और आग - से हुई है । संसार और संसार के सभी पदार्थ मनुष्यकृत नहीं है । उन्हें ईश्वर या ब्रह्मा ने बनाया है । इसलिए हम संसार को 'ईश्वरी सृष्टि' कहते हैं । 'काव्य' की रचना 'मानुषी' है । कवि कोई और नहीं,

प्रतिभाशाली मनुष्य विशेष होता है । 'शिल्प' भी मानुषी कर्म है । रचना और शिल्प दोनों मनुष्य कृत हैं, लेकिन दोनों के स्वरूप में बहुत अन्तर है ।

सभी ललित कलाएं, जिसमें काव्य भी शामिल है, रचना प्रधान हैं । प्रतिभा के बिना ये असंभव हैं । शिल्प शिक्षण (ट्रेनिंग) प्रधान है । इनके लिए शिल्प विशेष से सम्बद्ध शिक्षण की आवश्यकता होती है । कढ़ाई बुनाई, बढ़ईगारी, लुहारी, कुंभकारी आदि शिल्प है । काव्य रचना इसलिए है कि वह कवि की कल्पसृष्टि है । यह कल्पसृष्टि शब्द और अर्थ के माध्यम से आकार लेती है । कवि अपनी काव्य रचना में एकदम स्वतंत्र होता है । इसीलिए कवि को 'निरंकुश' कहा जाता है । वह काव्य की सृष्टि किसी पूर्व निश्चित या बने बनाये नियम में बंधकर नहीं करता [वह अपने काव्य संसार को अपने मन, दृष्टिकोण और भाव के अनुरूप रचता है । यह ईश्वर और ब्रद्दमा के समकक्ष अपर 'सृष्टिकर्ता' है । यदि ईश्वर भौतिक जगत का रचनाकार है, तो कवि काव्य जगत् का । सृष्टिकर्त्ता की नजर से दोनों कवि है । उपनिषद तो अखंड ब्रहाण्ड के नायक 'बहम को 'कवि नाम से ही पुकारते रहे है - कविर्मनीषी परिभू: स्वयंभू: । ब्रहम तो स्वयंभू कवि है और काव्यकर्ता कवि भी स्वयंभू है । इसीलिए 'ब्रहमानंद' का सहोदर 'काव्यानंद कहा जाता है ।

'ब्रह्म' तो अपनी रचना में स्वतंत्र है । वह जगत्पति है, मायापति है और जगत् के नियमों और माया के बंधनों से मुक्त है, स्वतंत्र है । जगत् की रचना का काम ब्रह्मा को सौंप रखा है । ब्रह्मा स्वतंत्र है, पर अपने रचना कर्म में ब्रह्मा स्वतंत्र नहीं है । वह त्रिगुणात्मक प्रकृति और कर्म के नियमों के अनुसार संसार को बनाता है । 'कवि ब्रह्मा से उच्च कोटि का और ब्रह्मा के समकक्ष का सर्जक है । ब्रह्मा तो नियति के नियमों के अधीन होकर संसार को बनाता है, पर कवि ब्रह्मा की तरह नियति के नियमों से मुक्त होकर आनंद के वशीभूत होकर नवरस रूचिर काव्य संसार की रचना करता है । काव्य सृष्टि सर्वदा आहनादमयी और आनंदमयी है । मम्मट का कहना सोलह आने ठीक है कि

नियतिकृत नियम रहिताम् आह्लादैकमनीयनन्य परतंत्राम् ।
नवरसरूचिरां निर्मितिमादधती कर्वेभारती जयति । **- 'काव्यप्रकाश'**

ब्रह्मांड नायक ब्रह्मा ने अखंड आनंद की प्राप्ति के लिए ही ब्रह्मांड की रचना की है । वह स्वयं सच्चिदानंद है, रस स्वरूप है । इस रस के कारण ही वह कभी किसी प्रकार की कमी का अनुभव नहीं करता । वह सदा रस से तृप्त बना रहता है । वेद और उपनिषद् की ये बातें - 'रसेनतृप्त: न कुतरनोन:' (अथर्ववेद), 'रसोवैस: । रसं हयेवायं लब्ध्वानन्दी भवति' (तैत्तिरीय उपनिषदे) । इस प्रकार ब्रह्म की अखिल ब्रह्मांड लीला अखंड रस से परिपूर्ण है । मनुष्य जीवन का अन्तिम लक्ष्य भी आनंद की प्राप्ति है । एक प्रकार का आनंद स्थूल है । वह षटरस पदार्थो के भोग से प्राप्त होता है । वह जिहवा के माध्यम से मिलता है । जिहवा के अलावा अन्य इन्द्रियों - देखने, सुनने, स्पर्श करने, सूँघने अर्थात् आँख, कान, त्वचा, नाक के जरिए जो आनंद मिलता है, वह पंच ऐन्द्रिय जन्य स्थूल आनंद है । कवि इससे उच्चकोटि के आनंद का भूखा होता है । वह हमारे अन्तर्जगत (हृदय, बुद्धि) को आनंदित करता है । वह अपने शब्दार्थ काव्य से हमारे कान को आनंद (कर्ण सुख) प्रदान तो करता ही है, साथ ही साथ मृत हृदय

को जीवन्त कर देता है । 'काव्य विद्या श्रुतिगता स्यान्मष्तस्यापि जीवनी । कवि अपने आनंद को दूसरे के हृदय से एकाकार कर देता है । उसके पास अपने काव्यानंद को दूसरे का आनंद बना देने की क्षमता होती है । वह साधारणीकरण में पूरा दक्ष होता है । सांसारिक और निजी सुख-दुख के ऊपर उठकर काव्यानंद साधारणीकरण का रूप ग्रहण करता है । काव्य शब्दार्थ कल्पसृष्टि है - कवि की । वह जगत के इन्द्रियगम्य पदार्थो को आधार बनाकर काव्य के रूप में नयी सृष्टि खड़ी करता है । यह काव्य सृष्टि शब्दार्थ रूपा और कल्पना प्रसूत है । इसका प्रजापति एकमात्र कवि है ।

अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः ।
यथास्मैं रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ।

वह भौतिक जगत् के समानान्तर अपनी कल्पना से शब्दार्थ - काव्य - की दूसरी दुनियाँ खड़ी करता है । वह असंभव और असत् पदार्थो को अपने काव्य का आधार नहीं बनाता, बल्कि संसार में जिन पदार्थो की सत्ता होती है उन्हीं पदार्थो का पर्यवेक्षण करता है और अपने काव्य में वर्णन भी । लेकिन सांसारिक पदार्थो में जो कमियाँ होती है कवि अपनी भावना और कल्पना से उन्हें दूर कर अधिक सुंदर और मनोरम रूप में प्रस्तुत करता है । वह सांसारिक पदार्थो का निर्माण करने बदले उन्हें काव्य में नये रूप में प्रस्तुत करता है । कवि की कुशलता से संसार की साधारण से साधारण, परिचित से परिचित वस्तु काव्य के भीतर नवीन और अपूर्व रूप धारण करके सामने आती है । कुन्तक का कहना सही है कि - 'त एवं पद विन्यासास्त एवार्थ विभूतयः तथापि नन्द भवति काव्य ग्रंथन कौशलात् । कवि वस्तु को वैज्ञानिक, दार्शनिक की तरह तथ्यात्मक रूप में प्रस्तुत नहीं करता । उसकी दृष्टि वैज्ञानिक, दार्शनिक, इतिहासकार की वस्तुगत दृष्टि से भिन्न संभावनापरक होती है । वस्तु के प्रति कवि की दृष्टि वैज्ञानिक की तरह न तो निर्वैयक्ति होती है और न प्रयोगशालागत परीक्षण की आग्रही । कवि वस्तुगत को अपनी प्रतिभा अनुभूति सत्य बनाकर काव्य में प्रस्तुत तथ्य का कल्पना का करता है । जो वस्तु कवि की प्रतिभा कल्पना और अनुभूति की कसौटी पर खरी नहीं उतरती, वह काव्य के दायरे में प्रवेश नहीं पाती । इस प्रकार काव्य का, विज्ञान, इतिहास, दर्शन, इतिवृत्त से अलग अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व है ।

1.2.1 काव्य, साहित्य, वाड्मय और कविता

काव्य के अर्थ से लेकर उससे सम्बद्ध अनेक पक्षों की चर्चा विस्तार से ऊपर की जा चुकी है। यहाँ साहित्य वाड्मय और कविता की चर्चा अपेक्षित है । 'साहित्य' का शाब्दिक अर्थ है - शब्द और अर्थ का यथावत् सहभाव या साथ-साथ होना । साहित्य के दो अर्थ हैं । एक - विशिष्ट, दो - सामान्य । विशिष्ट अर्थ में साहित्य काव्य का पर्यायवाची है । अर्थात् कवि की किसी प्रकार की रचना को साहित्य कहा जाता है । ऐतिहासिक कालक्रम और प्रयोग की दृष्टि 'साहित्य' काव्य से काफी परवर्ती है । सामान्य अर्थात् व्यापक अर्थ में साहित्य किसी भाषा के सम्पूर्ण कृतियों के सामूहिक नाम के लिए प्रयुक्त होता है । सम्पूर्ण कृतियों के लिए 'साहित्य' शब्द का प्रयोग एकदम आधुनिक है । दरअसल यह नाम अंग्रेजी के 'लिट्रेचर' के वजन पर हिन्दी में चल पड़ा और विद्वानों के बीच स्वीकृत भी हो गया है । आज हिन्दी में 'साहित्य' का जो

अर्थ लिया जाता है उसके लिए संस्कृत में 'वाड्मय' शब्द का प्रयोग होता था । इस प्रकार काव्य और वाड्मय अपने चलन की दृष्टि से 'साहित्य' के दोनों रूपों से काफी पुराने है । जहाँ तक 'काव्यशास्त्र' में 'काव्य' के पर्याय रूप में 'साहित्य' के प्रयोग का प्रश्न है तो उसके पहले प्रयोक्ता राजशेखर (1 0वीं शताब्दी) है । उन्होंने कवि की रचना के लिए साहित्य को काव्य के समानार्थी रूप में प्रयुक्त किया है । शब्दार्थयों यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या।' - काव्यमीमांसा । राजशेखर ने जिसे 'साहित्य विद्या' नाम से पुकारा है, भामह ने उनसे बहुत पहले उसे 'काव्य' कहा था - 'शब्दार्थो सहितौ काव्यम्' । भामह का 'सहित शब्द ही आगे चलकर 'साहित्य' शब्द का जन्मदाता सिद्ध हुआ । सहित शब्द भाववाचक संज्ञा का रूप ग्रहण करके साहित्य' बन बैठा । सहितयो: शब्दार्थयो: भाव: साहित्यम्' । शब्द और अर्थ का एकात्म सहित भाव साहित्य कहलाता है ।

साहित्य की अत्यन्त विकसित और पुष्ट कल्पना कुन्तक के काव्यशास्त्र-वक्रोक्ति जीवत- में मिलती है । उन्होंने काव्य' के समकक्ष साहित्य को रखते हुए उसकी विशद व्याख्या की । उन्होंने साहित्य को परिभाषित करते हुए कहा कि -

साहित्यमनयो: शोभाशालिता प्रति काप्यसौ ।
अन्यूनानातिरिक्तत्व मनोहारि व्यवस्थिति: ।

साहित्य शब्द और अर्थ का शोभाशाली मनोहर विन्यास होता है जिसमें दोनों इतने नपे-तुले होते हैं कि न तो कोई छोटा होता है और न ही कोई बड़ा; न तो कोई कम होता है न कोई अधिक । कुन्तक की काव्यपरिभाषा भी ऐसी ही है, लेकिन उसकी चर्चा आगे काव्य-लक्षण के प्रसंग में की जायेगी । कुन्तक की दृष्टि में दोनों समानार्थक हैं । वे जिस प्रकार काव्य को आह्दकारी मानते हैं, वैसे ही साहित्य को भी । साहित्य की अर्थवत्ता सहृदय भावक की आनन्द अमृत सागर में डुबाने में होती है- साहित्यार्थ सारमुन्मीलयाम्यहम् ।'

काव्य और साहित्य प्रयोग की दृष्टि से समानार्थक होते हुए भी अपने-अपने उत्पत्तिगत अर्थ की दृष्टि से अलग-अलग हैं । अपनी शाब्दिक उत्पत्ति की दृष्टि से काव्य और साहित्य कविकर्म के दो अलग-अलग पक्षों का प्रधानता को सामने लाते हैं । बलदेव उपाध्याय का कहना है कि **"काव्य"** शब्द कवि के अर्थात् वैयक्तिक उपादान की प्रधानता की ओर संकेत करता है यानी काव्य कवि के निजी कर्म की अभिव्यक्ति है । कवि अपने संस्कार, मनोभाव, साधन, दृष्टि के अनुरूप काव्य को रचता है । साहित्य शब्द काव्य के शरीर का सूचक है । वह शब्दार्थ के निवैयक्तिक पक्ष की अभिव्यंजना करता है । साहित्य पद द्योतित करता है कवि की रचना शब्द-अर्थ के परस्पर सामंजस्य का परिणत फल है । 'काव्य' में कवि का 'कर्तृपक्ष प्रधान है और साहित्य' कवि के 'कृतिपक्ष' की प्रधानता सूचित करता है, लेकिन कवि की कमनीय निमिति के अर्थ में दोनों समानार्थक है । व्युत्पत्ति की दृष्टि से उनमें थोड़ा सा भेद है । (साहित्य शास्त्र, भाग- 1, पृष्ठ-571)

कुन्तक ने काव्य समानार्थी **'साहित्य और वाङमय'** के बीच स्पष्ट भेद किया है । उन्होंने कहा कि काव्य समानार्थी साहित्य साहित्य के विशिष्ट रूप का आग्रही है - विशिष्ट में वह

साहित्यमभिप्रेतम, जबकि वाड्मय' सामान्य साहित्य' का । साहित्य विशिष्ट रूप ग्रहण करता है - शब्द-अर्थ के संतुलित, स्पर्धाशील मिलन से । और साहित्यगत शब्द-अर्थ सामान्य न होकर गुण, अलंकार और वैचित्रय सम्पन्न होते हैं । यह मिलन दो मित्रों की तरह स्पर्धापूर्ण मनोहर है । हृदय की समान भूमि पर होने के, कारण दोनों ओर आनन्द ही आनन्द रहता है ।

सम सर्मगुणौ सन्तौ सुहृदादेब संगतौ ।
परस्मरस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा । **- कुन्तक**

पुराने काव्यशास्त्र में काव्य का दायरा व्यापक था । उसमें दृश्य और श्रव्य दोनों शामिल थे। 'काव्येषु नाटक रम्यम इसका प्रमाण है । आधुनिक आलोचना में, साहित्य में काव्य का अर्थ संकोच हो गया है । आजकल वह साहित्य का एक विधा विशेष -अंग्रेजी पोयट्री के प्रभाव के चलते कविता के सभी रूपों के लिए रूढ़ हो गया है । 'काव्य और कविता' का सामान्यत: अर्थ अब एक माना जाता है ।

1.2.2 उक्ति, सूक्ति और काव्योक्ति

किसी व्यक्ति के सामान्य कथन को **'उक्ति'** कहते हैं । यह अभिधामूलक होता है और इसका प्रधान उद्देश्य अर्थ की सूचना देना है । **'सूक्ति'** की स्थिति उक्ति से भिन्न है । जब वक्ताध्यान जिस वस्तु के विषय में कहना है उससे अधिक कहने के ढंग पर हो उसे सूक्ति कहते हैं । सूक्ति रूप में कोई शब्दालंकार भी हो सकता है । बिहारी का यह दोहा यमक अलंकार के रूप में अच्छी सूक्ति है ।

कनक-कनक ते सौ गुनी, मादकता अधिकाय ।
या खाये बोराय जग, या पाये बोराय

'काव्योक्ति' की स्थिति दोनों से भिन्न और सौन्दर्य की दृष्टि से भिन्न कोटि की है । राजशेखर की दृष्टि में- 'उक्ति विशेष: काव्यम्' । हर उक्ति काव्य नहीं है, विशेष प्रकार की उक्ति ही काव्य है । राजशेखर की पत्नी अवन्ति सुन्दरी काव्य को उक्ति प्रधान मानती है । उनका कहना है कि गुण-दोष वस्तु के बदले कवि की उक्ति का ही चमत्कार है कि वह एक ही चन्द्रमा को स्तुति के समय 'अमृतांशु' और दोषारोपण के समय 'कलंकी' कहता है । भोजरात ने राजशेखर के स्वर में स्वर मिलाते हुए 'विशिष्ट भणिति को कवि की उक्ति कहा है - 'विशिष्टा भणितिर्या स्याद् उक्ति तां कवयोविदु:' - सरस्वती कंठा भरण । श्लेश्वर का कहना है कि हर प्रकार की भणिति काव्योक्ति नहीं होती । विशेष प्रकार की - लोकोत्तर सौन्दर्य विधायक - भणिति ही काव्योक्ति है - लोकोत्तरा हि संति भणिति प्रकारा ।' इस प्रकार अलौकिक सौन्दर्य विधायक उक्ति का नाम काव्य है । भोजराज ने उक्ति को आधार बनाकर वाड्मय' को तीन भागों में बाँटा है । एक-वस्तु के तथ्य कथन को लेकर **'स्वभावोक्ति',** वैचित्रय कथन को लेकर **'वक्रोक्ति'** और रस प्रधान कथन को लेकर **'रसोक्ति'** चलती है । इनमें रसोक्ति सबसे उत्कृष्ट है - वक्रोक्ति रसोक्तिश्च स्वभावोक्ति वाड्मयम् ।

सर्वासु ग्राहिणी तासु रसोक्ति प्रति जानते । **-सरस्वती कंठाभरण**

वाङ्मय के इस प्रकार के विभाजन के प्रारम्भिक प्रयास भामह में मिलने लगते है । उन्होंने साधारण मनुष्य और शास्त्र-कथन को काव्य से बाहर रखते हुए वार्ता' कहा है । भामह ने 'स्वभावोक्ति' और वक्रोक्ति दोनों को काव्य के भीतर माना, लेकिन वक्रोक्ति को स्वभावोक्ति से उच्चकोटि का कहा । उनकी दृष्टि में स्वभावोक्ति जहाँ वर्ण्यवस्तु के रूप, स्वभाव, गुण, प्रकार का यथावत् नैसर्गिक कथन है वहाँ सर्वसाधारण से विलक्षण वर्णन वक्रोक्ति है । अलंकारवादी होने के कारण वे स्वभावोक्ति को साधारण अलंकार मानते हैं और वक्रोक्ति को विशिष्ट अलंकार । दण्डी ने भामह की इस मान्यता को और ठोस जमीन पर प्रतिष्ठित किया। उनकी दृष्टि में स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति वाङ्मय के दो प्रकार हैं - भिन्न स्वभावोक्ति वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्' काव्यादर्श नानारूपात्मक पदार्थों का साक्षात्वर्णन अर्थात् पदार्थ जैसे हैं वैसा ही वर्णन स्वभावोक्ति । इसमें कला की अपेक्षा नहीं होती । इसी को स्वाति कहते हैं। वक्रोक्ति तो विशुद्ध काव्य है जिसमें कला की विशेष अपेक्षा रहती है । भोज ने काव्य शास्त्र की इसी ठोस परम्परा के आधार पर उक्ति के विविध रूपों का विकास किया ।

काव्य को अलगाने की एक दृष्टि काव्यशास्त्र में और दिखायी पड़ती है । सामान्यत: उसे व्यापारवादी दृष्टि कह सकते हैं । इसमें कुन्तक, भट्टनायक और मम्मट को शामिल कर सकते हैं । कुन्तक काव्य को कवि कौशलयुक्त वक्रोक्ति व्यापार मानते हैं । कवि का यह व्यापार वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक व्यापक है भट्टनायक इसे एक-दूसरे से व्याख्यायित करते हैं । उनका कहना है कि शास्त्र शब्द को प्रधान मानकर, आख्यान अर्थ को प्रधान मानकर और काव्य शब्दार्थ को प्रधान मानकर चलता है । काव्य अपनी प्रकृति में शास्त्र और आख्यान से अलग है । शब्द प्रधानमाश्रित्य तत्र शास्त्रम् पृथक् विदुः । अर्थ तत्त्वेन युक्ते तु वदत्त्वाख्यानमेतयो: । द्वयोर्गुणत्वे व्यापार प्राध्यान्ये काव्यद्य । 'भट्टनायक का मानना है कि काव्य का शब्दार्थ व्यापार का ही दूसरा नाम अभिधाव्यापार है जो आपके भावन और भोजक प्रकृति के कारण अभिधाशब्द शक्ति से अलग है । अग्निपुराणकार भी भट्टनायक के समर्थक है । वे भी कहते हैं कि शास्त्र शब्द प्रधानत्व इतिहासेर्थनिष्ठता । अभिधाया: प्रधानत्वात् काव्यं ताभ्यां विभिद्यते । ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्द्धन और उनके समर्थक अभिनव गुप्त मम्मट आदि काव्य को ध्वनि व्यापार से जोड़ते हैं । अभिनव गुप्त स्पष्ट कहते हैं कि - व्यापारो हि ध्वन्यात्मा रसनास्वभावोयदि तत्र अपूर्वयुक्तं किचिंत ।

इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्रियों ने काव्य को अनेक कोणों से देखते हुए उसकी स्वतन्त्र सत्ता का समर्थन किया है । काव्य मूलत: उक्ति, वर्ण्य विषय, स्वभावोक्ति, अंक कार्य शास्त्र, आख्यान से अपनी अलग सत्ता रखता है । काव्य स्वयं में काव्य है । मम्मट का यह कथन काव्य के अपने विशिष्ट रूप को सामने लाने के लिए पर्याप्त है - शब्दार्थयोर्गुण भावेन रसांगभूत व्यापार प्रवणतया विलक्षण यत काव्यम् ।'

1.2.3 काव्य-रूपक

काव्य-लक्षण पर विचार करने से पहले विद्यार्थियों को काव्य सम्बन्धी कुछ रूपकों का ज्ञान बहुत आवश्यक है । काव्य के विषय में सबसे पुराना रूपक कालिदास का है । उन्होंने शब्द

(वाक्) और अर्थ युगल काव्य को **'अर्ध नारीश्वर शिव-पार्वती'** के रूप में याद किया है । उन्होंने शिव-पार्वती युगल की वंदना 'वागर्थ' (वाक्-अर्थ) के रूप में की है ।

वागर्थाविव संपृक्ताँ वागर्थ-प्रतिपत्तये ।
जगत: पितरौ बंदे पार्वतीपरमेश्वरौ ।

काव्यशास्त्र के अन्तर्गत काव्य के कई रूपक प्रचलित है । एक प्रचलित रूपक है **'शरीर और आत्मा'** का । हमारे काव्यशास्त्र में आचार्यो को यह रूपक इतना प्रिय है कि अपने काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की स्थापना, व्याख्या के सिलसिले में बार-बार इसका प्रयोग करते रहे हैं । यह दर्शन से सीधे काव्यशास्त्र में चला आया है । काव्य लक्षण के प्रसंग में 'शरीर' के पहले प्रयोगकर्त्ता दण्डी है - 'शब्दार्थ शरीरं तावत्काव्यम्' और 'आत्मा' के प्रयोगकर्त्ता विश्वनाथ है । जहाँ तक आचार्यो के अपने-अपने सिद्धान्तों की स्थापना का प्रश्न है तो इसका - 'आत्मा' का - सबसे पहले प्रयोग वामन 'रीति' के सन्दर्भ में करते हैं । 'रीतिरात्मा काव्यस्य । विशिष्टा पदरचना रीति: । विशेषोगुणात्मा' ध्वनि के संदर्भ में 'आत्मा' का प्रयोग आनन्दवर्द्धन भी करते हैं । शरीर और आत्मा के समानार्थी रूप में अनेक शब्दों का चलन काव्यशास्त्रियों के बीच रहा है । जैसे- अंगी-अंग,नित्य-अनित्य, स्थिर-अस्थिर आदि । काव्य के आन्तर्स्थिर तत्त्व - रस, गुण, रसध्वाने - को उसकी आत्मा और उसके बाह्य अस्थिर रूप-शब्द और अर्थ तथा उसके आश्रित अलंकार, रीति, वक्रोक्ति को शरीर माना गया । आनन्दवर्द्धन की यह मान्यता अब सर्वमान्य है ।

काव्य के सम्बन्ध में दो रूपक और प्रचलित हैं । **'काव्य पुरुष'** रूपक के प्रयोक्ता राजशेखर हैं । काव्य पुरुष सरस्वती-पुत्र है और 'साहित्य विद्या' काव्यपुरुष की पत्नी है । सामान्य अर्थ में कवि सरस्वती पुत्र है और कविता उसकी कामिनी है । यानी उसकी कामना या भावना से ऊपजी होने के कारण उसे कामिनी कहा जाता है । **'कविता कामिनी'** के बीच भामह, मम्मट और राजशेखर के यही मिल जाते हैं । भामह ने तो काव्य-अलंकार के संदर्भ में वनिता को याद किया है - 'न कान्तंमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम ।' मम्मट ने काव्य प्रयोजन और शब्दार्थ भेद के प्रसंग में कान्ता को याद किया । उन्होंने काव्य का एक प्रयोजन 'कान्तासम्मित उपदेश' माना है । इसके अलावा उन्होंने शब्दों को तीन कोटियों में रखा है - वेद-शास्त्र के शब्द उनकी दृष्टि में प्रभु शब्द' है, आख्यान के शब्द सुहृदय शब्द जबकि काव्य के शब्द 'कान्ता शब्द हैं । काव्य कवि के मन की मनोहारी कल्पना सृष्टि के कारण कामिनी है, हितावह मधुर वाणी में उपदेशिका के कारण भी कामिनी है और आभूषण प्रिय होने के कारण भी वह कामिनी ही है । कवि की सृजनात्मक शक्ति रूप में भी वह कामिनी है ।

1.2.4 काव्य क्या - सृजन या अनुकरण

एक दृष्टि से 'काव्य' और विचारणीय है । एम.ए. के विद्यार्थी से भारतीय काव्यशास्त्र के अध्ययन के साथ पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अध्ययन की भी अपेक्षा की जाती है । पाश्चात्य परम्परा 'काव्य' को 'अनुकरणमूलक' मानती रही है । भारतीय और पाश्चात्य परम्परा के 'काव्य'

सम्बन्धी अभिमत को एक-दूसरे के परिप्रेक्ष्य में देखना और समझना अत्यन्त आवश्यक है। भारतीय परम्परा में काव्य के दो भेद हैं - दृश्य और श्रव्य । दृश्य के भीतर रूपक और उपासक है । नाटक रूपक का एक मुख्य प्रकार । दृश्य काव्य प्रधानत: अभिनयात्मक है । भरतमुनि जैसे आदि नाट्य नाटक को अनुकरणात्मक मानते हैं । 'लोकवृत्तानुकरण शास्त्रमेतन्मयाकृतम', लोक स्वभावानुकरणाच्च नाटयस्य सत्वमीप्सितमृ ।' - नाट्यशास्त्र आदि कथन नाटक के अनुकरण मूलक रूप की पुष्टि करते हैं । अभिनय आश्रित होने के कारण नाटक अनुकरणात्मक काव्यरूप है । वह दर्शनाप्रधान काव्यरूप है ।

हमारे यहीं नटकर्म के लिए अनुकरण का प्रयोग मिलता है, लेकिन कवि कर्म के लिए इसका प्रयोग नहीं मिलता । अभिनय अभ्यास कौशल पर आधारित है, जबकि कवि कर्म के लिए प्रतिभा अपेक्षित है । अभिनय उपविद्या है, जबकि काव्य विद्या । भारतीय काव्यशास्त्रियों की दृष्टि में अभिनेता से कवि का दर्जा हमेशा ऊँचा रहा है, कारण कि अभिनेता अनुकर्त्ता है और कवि सर्जक । दर असल कवि काव्य का विधान करता है, रचना करता है, निबंधन करता है । इस दृष्टि से नाटककार और पद्यकार दोनों सर्जक हैं । इस बात को आचार्यो की कुछ उक्तियों से आसानी से समझा जा सकता है ।

भामह - 'करोति प्रीतिं कीर्ति च साधु **काव्यनिबन्धनम्** ।

अभिनवगुप्त- तस्या: विशेषो रसावेश वैशद्य सौन्दर्य **काव्यनिर्माणक्षमत्वम्** ।

मम्मट - **नवरसरूचिरा निर्मिति** मादधती कवेर्भारती जयति ।

अग्निपुराणकार - न कवेर्वर्णन मिथ्या **कवि: सृष्टिकर: पर:** ।

इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य ईश्वरकृत जगत् के समानान्तर कवि की दूसरी सृष्टि है । उसमें कवि का अनुकर्त्तत्व नहीं, बल्कि कत्तृत्व प्रधान है । कवि प्रतिभा भी कारयित्री और भावयित्री है, न कि अनुकारयित्री । कवि अपनी, दृष्टि, कल्पना भावना और वर्णना से काव्य का निर्माण करता है । उसका निर्माण या सृजन इसलिए नव निर्माण या नवसृजन कहलाता है कि वह वस्तु को स्वयं नहीं बनाता । बल्कि पहले से मौजूद वस्तुओं को अपनी कल्पना और भावना के माध्यम से नये और रमणीय रूप में प्रस्तुत करता है । कवि की सर्जनात्मकता और मौलिकता पर निश्चित रूप से भारतीय आचार्यो का विश्वास पाश्चात्य आचार्यो से अधिक है ।

1.3 काव्य की परिभाषा व लक्षण

1.3.1 परिभाषा व लक्षण का अर्थ

सामान्यत: परिभाषा और लक्षण को एक माना जाता है । इस दृष्टि से दोनों समानार्थी हैं । किसी विषय या वस्तु के बारे में ऐसा सर्वव्यापक नियम जो उस पर पूरी तरह से लागू हो, उसे-''पारिभाषा कहते हैं । जिस विषय या वस्तु की परिभाषा होती है उसके बारे में उसका निश्चित और स्पष्ट अर्थ होता है । जहाँ तक 'लक्षण' का प्रश्न है, तो उसका शाब्दिक अर्थ है - चिह्न निशान, यथार्थ वर्णन, विशेषता । इसका व्यूत्पत्तिमूलक अर्थ है - लक्ष्यते अनेन इति लक्षणम् । जिसके द्वारा किसी वस्तु की पहचान करायी जाती है उसे लक्षण कहते हैं।

आदर्श लक्षण में यह अपेक्षा की जाती है कि वह निर्दोष और पूर्ण हो । उसमें किसी प्रकार की कमी (अव्याप्ति) और आधिक्य (अतिव्याप्ति) न हो, असंभव जैसी बात भी न हो । उसमें यह भी अपेक्षा की जाती है कि वह सटीक, संक्षिप्त और सुबोध हो । ऐसी दुरूह पारिभाषिक शब्दावली से लक्षण को दूर रखना पड़ता है जिसकी लम्बी व्याख्या करनी पड़े । कुल मिलाकर लक्षण किसी वस्तु के बाहरी-भीतरी स्वरूप का बोध कराने में सक्षम होता है जो लक्षण वस्तु के बाहरी स्वरूप का बोध कराता है वह 'द्वाहयययांगनिरुपक' और जो उसके भीतरी स्वरूप का बोध कराता है । 'अंतरंग' लक्षण कहलाता है । पूर्ण लक्षण एक साथ वस्तु के बाहरी-भीतरी स्वरूप का बोध कराता है ।

1.3.2 काव्य लक्षण और लक्षण काव्य

जब काव्य के गहन पर्यावलोकन ओर विश्लेषण के पश्चात् उसके स्वरूप की पहचान का कोई निश्चित नियम या मानक बना लिया जाता है तो काव्य लक्षण कहलाता है । काव्य शास्त्र के अन्तर्गत 'काव्यलक्षण एक पारिभाषिक शब्द की तरह है । उसकी ऐसी विशिष्टता होती है जो सिर्फ काव्य में मिलती है । काव्य लक्षण में काव्य की सत्ता पहले मानी जाती है और लक्षण का निर्माण बाद में किया जाता है । लक्षण-काव्य की स्थिति काव्य-लक्षण के विपरीत है । लक्षण-काव्य में काव्य के नियम पहले बना लिये जाते हैं, फिर उनके आधार पर काव्य को दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत किया जाता है । काव्य शास्त्र के इतिहास में लक्षण-काव्य की परम्परा काफी परवर्ती है, जबकि काव्य-लक्षण की परम्परा पुरानी है । राजेश्वर के जमाने से बाद के आचार्य विशेष प्रतिभाशाली न थे । उनमें से ज्यादातर लक्षण - काव्यकार हैं । हिन्दी के रीतिकालीन कवि आचार्यो ने भी उन्हीं की राह पकड़ ली ।

1.3.3 काव्य-लक्षण का ऐतिहासिक विकास व स्वरूप

ऐतिहासिक काल क्रम में काव्य-लक्षण में निरन्तर विकास हुआ है । इस प्रक्रिया में उसके कई स्वरूप देखने को मिलते हैं । काव्यलक्षणों में स्वरूप भिन्नता का मूल कारण है - आचार्यो का काव्य के प्रति भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण और समझ । काव्य-लक्षण का स्वरूप-विश्लेषण कई आधारों पर किया जा सकता है । एक-ऐतिहासिक कालक्रम में उसके स्वरूप पर विचार किया जा सकता है । दो - बहिरंग और अंतरंग को आधार बनाकर उसका विश्लेषण किया जा सकता है । तीन- काव्य के विभित्र अवयवों-शब्दार्थ, शब्द, शब्द-व्यापार आदि के आधार पर उसके स्वरूप के विषय में सोचा विचारा जा सकता है । विद्यार्थियों की सुविधा की दृष्टि से ऐतिहासिक कालक्रम वाला आधार सबसे ज्यादा चलन में रहा है, लेकिन उच्च कक्षा के विद्यार्थियों को काव्य-लक्षण के अन्य आधारों को भी ध्यान में रखना आवश्यक है ।

काव्य में शब्द और अर्थ की सत्ता सभी विद्वान मानते हैं, लेकिन उनमें मतभेद दोनों के बीच सम्बन्ध और प्रधानता को लेकर है । आचार्यो का एक वर्ग काव्य में शब्दार्थ पक्ष का विशेष आग्रही है, दूसरा शब्द पक्ष का, तीसरा शब्दार्थ । शब्द 7 अर्थ-व्यापार पक्ष का । पहले काव्य लक्षणकार के रूप में भामह की मान्यता है । वे काव्य के शब्दर्त्य रूप के पक्षधर हैं

। उनकी परम्परा को आगे अपनी दृष्टि से वामन, रूदट, भोजराज, मम्मट हेमचन्द्र आदि आचार्यो ने बढ़ाया । सबसे पहले इनके काव्यलक्षणों पर नज़र डालते है ।

भामह - शब्दाभिधेयालंकार भेदादिष्टं द्व्ययं तुन: ।

..... शब्दार्थो सहि तौ काव्यम् । **-काष्णलंकार**

वामन - काव्य शब्दोडयं गुणालंकार संस्कृतयो: शब्दार्थयो वर्तते ।

भक्त्यातु शब्दार्थमात्र वचनोध्त्र गहयते । **- काव्यालंकार सूत्र रुद्रट**

- ननु शब्दाथौं निर्दोषौ सगुणौ प्राय: सालंकारौ काव्यम्

मम्मट - तददोषौ शब्दार्थो सगुणावनलंकृती: पुन: क्वापि । **-काव्य प्रकाश**

हेमचन्द्र - अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थो काव्यमू । **-काव्यानुशासन**

विद्यानाथ - गुणालंकार सहितौ शब्दाथौं दोषवर्जितौ ।

-प्रतापरूद्रयशोभूषण

भामह ने अलंकार के परिप्रेक्ष्य में काव्य को परिभाषित किया था । उनकी बात बहुत स्पष्ट है कि काव्य का स्वरूप शब्द और अर्थालंकार के चमत्कार पर निर्भर है । अलंकार सापेक्षता के बावजूद भामह के काव्य लक्षण में सहितौ का अर्थ स्पष्ट नहीं है । उनके लक्षण से यह तो पता चलता है कि काव्य में शब्द-अर्थ एक साथ होते हैं, पर यह पता नहीं चलता कि उनके बीच का सहित भाव किस प्रकार का होता है? दूसरी बात, भामह ने साफ तौर पर 'वार्ता' 'लोक कथन' से काव्य के शब्दार्थ को अलग माना है । व काव्य को दोषहीन मानने के पक्षपाती हैं। बावजूद इसके उनके काव्य लक्षण में विभेदक संकेत नहीं है । तीसरी बात, शास्त्र और व्याकरण भी शब्द के साथ अर्थ के पक्षपाती हैं, भामह उनसे काव्यगत शब्दार्थ को अपने लक्षण में अलग नहीं कर पाते । अत: उनका काव्यलक्षण इतना निर्दोष, सटीक और पूर्ण नहीं है कि वह सिर्फ काव्य पर लागू हो । भामह के काव्य लक्षण से एक महत्वपूर्ण बात उभर कर यह आयी कि काव्य का आधार शब्द और अर्थ का सहभाव है । अकेले-अकेले वे चाहे जो हो, लेकिन काव्य में दोनों को एक साथ मिलकर काम करना होता है ।

रुद्रट ने कमोवेश भामह के काव्य-क्षण को दुहराया, लेकिन **वामन** ने उसे और विकसित करते हुए आगे बढ़ाया । उन्होंने अपने काव्य लक्षण में काव्य की कुछ ऐसी महत्वपूर्ण विशेषताएं शामिल की, जो भामह के काव्य लक्षण में शामिल नहीं थी । जैसे - गुण-अलंकार सम्पन्नता और दोषहीनता । वामन की दृष्टि में निर्दोष और गुण-अलंकार सम्पत्र शब्दार्थ ही काव्य है - 'सदोष-गुणालंकार हानादाभ्याम्' । वे काव्य की पहली शर्त दोष निराकरण मानते हैं । उनकी दूसरी शर्त है -गुण और अलंकार से शब्दार्थ को संस्कृत बनाना और सुशोभित करना । गुण-अलंकार के विषय में उन्होंने एक बड़ा महत्त्वपूर्ण काम यह किया कि महत्त्वक्रम में गुण को पहले रखा और अलंकार को बाद में । उनका कहना है कि गुण और अलंकार दोनों काव्य के शोभा और सौन्दर्य विधायक तत्त्व हैं, लेकिन उन्होंने 'पूर्व नित्या' कहकर गुण के स्थायीत्व को अलंकार से अधिक वरीयता दी । आगे तो वामन के इस काव्य लक्षण का अनुकरण अनेक आचार्यो ने किया, लेकिन उनमें सर्वाधिक ख्याति मिली **मम्मट** के काव्य लक्षण को । 'तद दोषी शब्दाथौं सगुणौ अनलकृत्ति: क्वापि ।'

'परवर्ती आचार्यो के बीच सबसे लोकप्रिय: किन्तु विवाद, व्याख्या और समीक्षा का विषय मम्मट का ही काव्य लक्षण बना । मम्मट की दृष्टि में ऐसा शब्दार्थ काव्य है जो दोष रहित और गुण सहित हो ओर जिसमें कहीं-कहीं अलंकार न हो । मम्मट केवल शब्द या फिर केवल अर्थ को काव्य नहीं मानते । वे शब्दार्थ युगल को काव्य कहते हैं । दूसरी बात काव्यगत शब्दार्थ सामान्य न होकर विशेष होते हैं । शब्दार्थ में यह विशिष्टता आती है उसकी निर्दोषिता, गुणसम्पत्रता और कहीं-कहीं अलंकार के अभाव से । मम्मट ध्वनिवादी आचार्य हैं । इसलिए शब्दार्थ की निर्दोषिता और गुण सम्पन्नता को लक्षणक्रम में पहले रखना और विशेष महत्व देना उनकी दृष्टि के अनुकूल है । उनका मानना है कि काव्य के भीतर रस विद्या तक दोष सबसे बड़ा दोष है - 'मुख्यार्थ हतिर्दोषः । रसख्य मुख्यः ।' इसलिए रसापकर्ष दोष से शब्दार्थ को बचाना कवि का पहला धर्म है । गुण बस का स्थायी ओर अनिवार्य तत्व है । मम्मट की नजर में गुण सम्पन्नता (सगुणौ) का अर्थ है शब्दार्थ को रस से सम्पन्न बनाना । सही अर्थ में दोषहीनता और गुणसम्पत्रता के कारण काव्य 'काव्य' कहलाता है । अपने काव्य-लक्षण में मम्मट ने अलंकारों को रसापकर्षक दोषों और रसवर्धक गुणों से कम महत्त्व देते हुए सबसे अंत में रखा । उनकी दृष्टि में गुण की तरह अलंकार काव्य के लिए अनिवार्य नहीं है । काव्य में ऐसे अनेक रसपूर्ण स्थल होते हैं जहां काव्यानुभूति में अलंकार की कमी नहीं खटकती, बल्कि भरपूर आनंद मिलता है । इसलिए उन्होंने शब्दार्थ में 'अनलंकृति पुनक्वापि का समर्थन किया । यह सही है कि कभी-कभार अलंकार शब्दार्थ को रमणीय बनाता है किन्तु गुणोत्पन्न रमणीयता की अपेक्षा वह गौण होता है । वैसे भी मम्मट की नजर में अलंकार काव्य-शरीर का अस्थिर धर्म है, जबकि गुण काव्यांतरधर्म का स्थायी तत्त्व । अत: काव्य लक्षण के क्रम में अलंकार से गुणों को ज्यादा महत्त्व देना एकदम सही है । ध्वनिवादी दृष्टि के कारण मम्मट का काव्यलक्षण 'शब्दार्थ मूलक' होने पर भी अलंकारवादी भामह, रीतिवादी वामन से अलग अपनी विशिष्टता रखता है ।

विश्वनाथ, पंडितराज जगत्राथ जयदेव आदि परवर्ती आचार्यो की एक पूरी कतार है जो मम्मट के काव्यलक्षण के प्रत्येक मुद्दे - 'शब्दाथौं, 'अदोषाँ, 'सगुणौं, 'अनलकृति: पुन: क्यापि से असहमत है । अदोषौ शब्दाथौं, सगुणौ पर विशेष आपत्ति आचार्य विश्वनाथ और पंडितराज जगत्राथ को है तो 'अनलंकृति पुन: क्वापि' पर जयदेव को । इन आचार्यो द्वारा उठायी गयी आपत्तियों की चर्चा जरूरी है ।

अदोषौ - विश्वनाथ का कहना है कि मनुष्य मानव सुलभ त्रुटिजें से रहित नहीं है । इसलिए उसका कोई भी कार्य पूर्ण दोष रहित नहीं हो सकता । कवि का कर्म काव्य है, इसलिए उसके काव्य में कुछ न कुछ दोषों का आ जाना असंभव नहीं है । बड़े से बड़े कवियों के काव्य में भी कुछ न कुछ दोष आ जाते हैं । ऐसी स्थिति में पूर्ण निर्दोष काव्य की बात सोची ही नहीं जा सकती । विश्वनाथ का मम्मट के 'अदोषौं पर दूसरी आपत्ति यह है कि काव्य के स्वरूप की बात करते समय दोषभाव की चर्चा बिल्कुल अनुचित है । कारण यह है कि दोष काव्य के महत्त्व को कम कर देता है । वह काव्य की सत्ता या स्वरूप का निषेध नहीं करता । यदि कीड़े रत्नों में छेद कर दे तो उनका मूल्य कम जरूर हो जाता है, लेकिन रत्नत्व बना

रहता है । काव्य और दोष के बीच का सम्बन्ध रत्न और कीड़े जैसा ही है । दोष काव्य के काव्यत्व का पूरी तरह से निषेध नहीं करता, केवल उसके महत्त्व को घटा देता है । अत: काव्य-लक्षण में अदोष विशेषण की बात करना उचित नहीं है । पंडित राज जगन्नाथ ने दोष की समीक्षा विश्वनाथ के ही ढर्रे पर की - एतदपि काव्य लक्षणेन वाव्यम् ।

आ.विश्वनाथ और पंडित जगत्राथ की आपत्तियों पर एतराज करते हुए बलदेव उपाध्याय का कहना यह है कि मम्मट ने 'स्थित काव्य' का नहीं, बल्कि 'आदर्श काव्य' का लक्षण प्रस्तुत किया है । दोष की सत्ता होने मात्र से काव्य त्याज्य नहीं है, कारण कि सारे दोष, दोष नहीं होते । काव्य चमत्कार का विद्या तक शब्द दोष उतना नहीं होता जितना 'रसदोष' होता है। दूसरी बात गुणों के अभाव में दोषहीनता स्वयं काव्य का एक महत्त्वपूर्ण गुण है-

दोष: सर्वात्मना त्याज्यो रसहानि करोति सः

अन्यो गुणोSस्तु मा वास्तु महान् निर्दोषिता गुण: । केशवमिश्र काव्य में दोष रस का अपकर्ष करता है । इसलिए उसका निषेध होना ही चाहिए । विश्वनाथ, जगत्राथ काव्य के अदीब का चाहे जितना खंडन करें । आदर्श काव्य-लक्ष्ण और मम्मट की रसवादी दृष्टि से मम्मट का काव्य लक्षण फर्वथा श्लाघनीय' है । (साहित्यशास्त्र भाग-1, पृष्ठ-550)

सगुणौ - मम्मट ने अपने काव्य लक्षण में काव्य की गुण सम्पत्रता पर बहुत जोर दिया है। उन्होंने 'अनलंकृति: पुन क्वापि के पहले 'सगुणौ' को रखकर यह स्पष्ट कर दिया है कि काव्य में कला पक्ष नहीं, बल्कि हृदय पक्ष की प्रधानता होती है । आ0 विश्वनाथ और जगत्राथ को मम्मट के 'सगुणौ' से बड़ी परेशानी है । उनके आरोप का पहला तर्क यह है कि शब्दार्थ के विशेषण रूप में सगुणौ को किसी हालत में नहीं लाया जा सकता । कारण कि गुण का सीधा सम्बन्ध काव्य की अंतरात्मा रस से है, शब्दार्थ शरीर से नहीं । ऐसी स्थिति में उसे शब्दार्थ का विशेषण कहना गलत है । दरअसल उन्हें 'सगुणौ' के स्थान पर 'सरसौ' रखना चाहिए । उन्हें शब्दार्थ के रसमय होने की सूचना सरसौ द्वारा देनी चाहिए । 'रस' धर्मी हैं और गुण धर्म । धर्मी की सूचना के प्रसंग में धर्म की सूचना देना बिल्कुल सही नहीं है - 'तर्हि सरसावित्येव वस्तुमुचितं न तु सगुणाविति' - साहित्य दर्पण । दोनों आचार्यो के आरोप का दूसरा तर्क यह है कि दोष की तरह गुण भी काव्य में उत्कर्ष विधायक है न कि उसकी सत्ता और स्वरूप का विधायक है । काव्य का स्वरूप विधायक तत्व वह है जिससे काव्य की सत्ता होती है । गुण काव्य का अंतरंग अनिवार्य धर्म होते हुए भी उसके न होने पर काव्य की सत्ता नष्ट नहीं होती । वह काव्य की सत्ता के बदले उसकी शोभा का विधायक है । बात यह है कि काव्य की सत्ता होने के बाद उसके शोभा विधान की बात सोची जा सकती है और यही उचित भी है । क्या वीरता से रहित व्यक्ति मानवता शून्य होता छै क्या आभूषणों से रहित नारी में नारीत्व नहीं होता? ऐसी स्थिति में काव्य लक्षण में सगुणौ विशेषण का प्रयोग अनावश्यक तो है ही, भ्रामक भी है ।

समाधान के तौर पर यह कहा जा सकता है कि मम्मट का काव्य लक्षण कोई गणितीय और वैज्ञानिक नहीं, बल्कि आदर्शपरक है । बलदेव उपाध्याय का कहना है कि ''आदर्श काव्य के निर्माण के लिए शब्द और अर्थ की इन विशिष्टताओं पर ध्यान देना रचयिता का प्रधान कर्त्तव्य

होता है । रस को लक्ष्य कर प्रवृत होने वाला भी कवि गुण की ही ओर दृष्टिपात करता है। इस अलक्ष्य वस्तु ठहरी, गुण लक्ष्य पदार्थ है । अत: रस की अभिव्यक्ति के लिए कवि गुण की सत्ता पर ही विशेष आग्रह दिखलाता है । अत: मम्मट का सरसौ' के स्थान पर सगुणौ' विशेष का निवेश एकान्त अनुरूप है ।'' (साहित्य शास्त्र, भाग- 1, पृष्ठ-556)

अलंकृति: पुन:क्यापि - मम्मट के काव्य-लक्षण के 'अनलंकृत्ति:' वाले पक्ष पर सबसे पहले प्रहार जयदेव ने किया । उन्होंने कहा कि शब्दार्थ (काव्य) को अलंकार रहित मानना वैसे है जैसे 'आग को मानना, पर उसकी उष्णता' को न मानना ।

अंगी करोतिय: काव्य शब्दार्थावनलंकृती:

असौ न मन्यते कस्मादनुष्णतामनलंकृती । **-चन्द्रालोक**

असल में जयदेव का पक्ष भामह. दण्डी आदि अलंकारवादियों का पक्ष है । ''तात्पर्य यह कि काव्य में अलंकार नित्यच है । काव्य है तो अलंकार है, अलंकार है तो काव्य है, । अर्थात् आलंकाररिक को काव्य में अनिवार्य मानते हैं (वाङमय विमर्श - आ0 विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृष्ठ- 156) आचार्य मिश्र जी ने जयदेव आदि आलंकारिकों की की अलंकार सम्बन्धी सोच के बारे में एक महत्वपूर्ण बात कही है । वह यह है कि 'अलंकार का इतना महत्व मानकर भी ये उसे काव्य का शरीर नहीं मानते । जैसे - रस, ध्वनि आदि को प्रधान तत्व का आत्मा मानने वाले अलंकार को हारादिवत् मानते हैं, वैसे ही ये लोग भी चन्द्रालोककार भी अलंकार को हार ही कहते हैं - हारादिवद् अलंकार संनिवेशो मनोहर: (वही, पृष्ठ - 257) अलंकार के बिना काव्य न मानने के पीछे तर्क यह है कि काव्य के भीतर कही उक्तियाँ चाहे जिस रूप में हो - स्वाभावोक्ति, रसवत् वक्रोक्ति - सब अलंकार के अन्तर्गत है । इस दृष्टि से जयदेव की बात ठीक जंचती है । आचार्य विश्वनाथ दोष, गुण की तरह अलंकार को काव्य का स्वरूप विधायक नहीं, बल्कि उत्कर्ष. विधायक मानते हैं । जयदेव और विश्वनाथ जैसे आचार्यो के आरोप का मूल कारण है मम्मट के अलंकार संबंधी मत पर गंभीरता पूर्वक ध्यान न देना । मम्मट की 'अनलकृति:' का अर्थ अलंकार शून्यता कदापि नहीं है, बल्कि उसका अर्थ है अलंकार का स्फुट न होना - 'कवचित स्फुटालंकार विरहेहSपि न काव्यत्व हानि: । - काव्य प्रकाश । जहाँ अलंकार स्फुट नहीं होता, वहाँ रस के कारण काव्यत्व की हानि नहीं होती ।

भारतीय काव्यशास्त्रियों का दूसरा वर्ग ऐसा है जो 'शब्दार्थ' को नहीं, बल्कि 'शब्द को काव्य मानता रहा है । दंडी, जयदेव, विश्वनाथ, जयदेव और पंडित राज जगत्राथ आदि काव्य को शब्द प्रधान मानते हैं । इनकी दृष्टि में काव्य में अर्थ गौण है और वह हमेशा शब्द का अनुयायी बन कर आता है । पंडितराज जगन्नाथ को आचार्य मम्मट के 'शब्दार्थो' पर इसलिए आपत्ति थी । पहले इनके लिए काव्य लक्षण देख लेते हैं :-

दण्डी - शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली - काव्यादर्श

जयदेव - निर्दोषा लक्षणावती सरींतिर्गुण भूषिता ।

सालंकार रसानेक वृत्तिर्वाक काव्यनाम्भक् भाक - चन्द्रालोक

विश्वनाथ - वाक्यं रसात्मकं काव्यम् । - साहित्य दर्पण

जगत्राथ - रमणीयार्थ प्रतिपादक: शब्द: काव्यम् । - रसगंगाधर ।

दंडी के मतानुसार इष्ट अर्थ से व्यवच्छिन्न पदावली को काव्य शरीर कहते हैं । जयदेव निर्दोष लक्षणों वाली रीति-गुण से भूषित, अलंकारों, अनेक रसों और वृत्तियों से युक्त वाणी को काव्य कहते हैं । आचार्य विश्वनाथ की दृष्टि में ऐसा वाक्य जिसकी आत्मारस हैं, वह काव्य है तो पंडितराज जगन्नाथ की नजर में रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द ही काव्य है ये सभी काव्य में शब्द प्रधानता पर बल देते हैं । वैसे तो सभी काव्य लक्षण व्याख्यापेक्ष है, लेकिन इनमें आचार्य विश्वनाथ और पंडित राज जगन्नाथ के काव्य लक्षण विद्वानों के बीच विशेष रूप से चर्चित होने के कारण विचारणीय है । दरअसल ये दोनों आचार्य भले वाक्य और शब्द की बात करें, लेकिन ये काव्य के अंतरंग तत्त्वों-रस और रमणीयता पर बल देते हूँ । दोनों आचार्य विशेषरूप से रस के पक्षपाती हैं । विश्वनाथ के काव्यलक्षण की विशेषता यह है कि उन्होंने रस को वाक्य (काव्य) की आत्मा कहकर शब्दार्थ से रस को वरियता दी और रसहीन उक्तियों से काव्य को अलग कर दिया । पं. राज जगन्नाथ को विश्वनाथ के रसात्मक वाक्य पर कुछ आपत्ति है । उनका कहना है यदि विश्वनाथ का यह लक्षण मान लिया जाये तो महाकवियों के काव्य में ऐसे वर्णन होते हैं जो या तो सरस नहीं होते या जिनका रस से सीधा संबंध नहीं होता, जैसे - प्रकृति वर्णन । विश्वनाथ का लक्षण मान लेने पर उन्हें अकाव्य कहना पड़ेगा। इसलिए केवल रसात्मक वाक्य को ही काव्य मानना उसके क्षेत्र को सीमित करना है । संस्कृत में ऐसे काव्यों की कभी नहीं है जिनमें रस नहीं होता, लेकिन वक्रोक्तियाँ अलंकार के कारण उनमें भरपूर चमत्कार होता है । क्या ऐसी उक्तियों को काव्यत्व से बाहर माना जाए? नहीं। ऐसी स्थिति में यह लक्षण काव्य क्रा सम्पूर्ण नहीं, एकांकी लक्षण ही है ।

पंडितराज जगन्नाथ का काव्य लक्षण 'रमणीयार्थप्रतिपादक: 'शब्द' की दृष्टि से विशेष विचारणीय है । उन्होंने लोक व्यवहार को प्रमाण मानकर 'शब्द' पर विस्तार से विचार किया उनका कहना है कि लोक व्यवहार में काव्य 'श्रुत' है । इसलिए वह शब्द प्रधान है, न कि अर्थ प्रधान । उन्होंने यह सवाल उठाया कि शब्द और अर्थ मिलकर या पृथक-पृथक काव्य कहलाते हैं? यदि यह कहा जाये कि दोनों मिलकर तो एक और एक का योग दो होता है, एक नहीं । यदि शब्द और अर्थ अलग-अलग काव्य कहलाते हैं तो उसमें द्वैत होगा,, जो लोक व्यवहार सम्मत नहीं है । असल में काव्य को वेदशास्त्र पुराणों के समान 'शब्द निष्ठ' मानना चाहिए, न कि शब्दार्थ युगल । 'तस्माद् वेदशास्त्र पुराण लक्षण स्वेव काव्य लक्षणस्यापि शब्द निष्ठतैववोचिता रसगंगाधर । पंडित राज जगन्नाथ के काव्य लक्षण की भी सीमाएं हैं, लेकिन पहले उसकी विशेषताओं को देख लिया जाये । पंडित राज ने रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द' की बात करके काव्य की अपनी विशिष्टता उजागर की । मतलब यह है कि रमणीयता का विशेष आग्रही शब्द सिर्फ काव्य है । यह दूसरे विषयों की नहीं सिर्फ काव्य की अपनी पहचान है । दूसरी बात, यह रमणीयता शब्द में चाहे अलंकार, वक्रोक्ति से आये या रस से । शब्द में रमणीयता लाने वाला हर तत्त्व काव्य है । इस प्रकार शब्द निष्ठता पर बल देने वाले पंडितराज ने काव्य का दायरा विश्वनाथ से काफी विशद कर दिया है । रमणीयता का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने कहा कि जिस शब्द के बारबार अनुशीलना से लोकोत्तर आनंद की प्राप्ति हो, वह रमणीयता है - रमणीयता च लोकोत्तराह्मदजनकज्ञान गोचरता । (रस गंगाधर)

पंडितराज के काव्य लक्षण की नागेश भट्ट ने गहरी समीक्षा की । उन्होंने पंडितराज की लोक व्यवहार आधारित 'शब्दनिष्ठ काव्य' पर यह प्रश्न उठाया कि जिस प्रकार वे लोक व्यवहार को आधार बनाकर अपना मत रखते हैं । उसी प्रकार हम भी शब्दार्थ युगल काव्य का अपना पक्ष रख सकते हैं । उन्होंने कहा कि लोक व्यवहार में 'काव्यश्रुतम्' पठितम की तरह 'बुद्धकाव्यम्' (मैंने काव्य समझ लिया) का भी चलन है । लोक में शब्द के साथ अर्थ की भी स्वीकृति है । इसलिए पंडितराज की काव्य की 'शब्दनिष्ठता' की बात सही नहीं है । दूसरी बात, पंतजलि ने वेदों को उभयवृत्ति (शब्द और अर्थ) का प्रतिपादक माना है । उनकी दृष्टि में कोई वेद पढ़ता है, पर समझता नहीं और कोई समझता है पर पढ़ता नहीं - 'कश्चितद संपात पठति न वेत्ति तथा कश्चिद् वेत्ति न च संपात पठति - महाभाष्य । जैसे वेद सम्बन्धी दो कार्यो - पढ़ना ओर समझना के लिए सिर्फ एक नाम - वेद का प्रयोग होता है उसी प्रकार शब्द और अर्थ का सम्मिलित नाम काव्य है । इसलिए पंडितराज का तर्क वजनदार नहीं है । वास्तविकता यह है कि काव्य का सौन्दर्य शब्द और अर्थ दोनों में समान रूप से मौजूद रहता है । शब्द और अर्थ में परस्पर नित्य सम्बन्ध है । दोनों की सत्ता एक दूसरे पर निर्भर है । इसलिए काव्य के भीतर दोनों के सम्मिलित रूप का ही प्राधान्य है और दोनों का महत्त्व भी समान है । शब्द अपनी नाद योजना से यदि श्रोता का श्रतानुरंजन करता है तो अर्थ के माधुर्य से उसके हृदय की चर्वणा को तृप्त कर देता है ।

आचार्यो की एक तीसरी धारा है जो काव्य को 'व्यापार प्रधान' मानती है । इसमें आचार्य कुन्तक, भट्ट नायक, आनंदवर्धन आदि के नाम लिये जा सकते हैं । भट्ट नायक और आनंदवर्धन ने कोई काव्य लक्षण प्रस्तुत किया नहीं है, लेकिन भट्ट नायक ने रसनिष्पत्ति के सिलसिले में 'अभिद्या व्यापार' आश्रित 'भावन व्यापार' की विस्तार से चर्चा की है । इसी प्रकार आनन्दवर्धन ने ध्वनि के संदर्भ में 'ध्वनन' या 'व्यंजना व्यापार' की बात उठायी, लेकिन कुन्तक के काव्य व्यापार और भट्ट नायक के अभिद्या मूलक भाव न व्यापार तथा आनंदवर्धन के व्यंजना व्यापार में बहुत फर्क है । कुन्तक के यहां शब्दार्थ कवि कर्म कौशलजन्य व्यापार है, उसकी एक शैली है । इसलिए वह प्रधानत: कवि कौशल जात होने के बाह्य व्यापार हैं, यद्यपि उसका प्रयोजन भी अन्तत: श्रोता को आनंदित करना है । भट्ट नायक और आनंदवर्धन का बल कवि कौशल से अधिक उसके दूसरे पक्ष यानि अभिद्या और ध्वनि से अधिक उसके भावन और व्यंगार्थ पक्ष पर हैं । भावन और व्यंगार्थ काव्य का आंतरिक पक्ष है और उनका विशेष सम्बन्ध सहृदय या सामाजिक' की अनुभूति पर ज्यादा है । निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि कुन्तक का विशेष अभिप्रेत कवि कर्मपक्ष है और भट्टनायक आनंदवर्धन का विशेष अभिप्रेत पक्ष सहृदय या सामाजिक की' 'चर्वणां' है ।

कुंतक के काव्य लक्षण का अपना महत्त्व है । 'साहित्य' और 'काव्य' को वे समानार्थी मानते हैं ओर दोनों को परिभाषित भी करते हैं । नाम भेद के बावजूद वे दोनों की व्याख्या एक जैसी करते हैं । 'साहित्य' के बारे में उनका मत पहले रखा जा चुका है । यहाँ मुख्य प्रयोजन उनके 'काव्य' लक्षण से हैं । इसलिए उसे ही दिया जा रहा है ।

शब्दार्थौं सहितौ वक्रकवि व्यापार शालिनी ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तदिदास्तादकारिणी । **-वक्रेक्ति जीवितम्**

कुन्तक ने शब्द-अर्थ के साहचार्य की बात की, लेकिन उसमें नयी बात यह जोड़ी कि कवि के विदग्ध व्यापार से उत्पत्र शब्दार्थ काव्य है । दूसरी बात, शब्दार्थ काव्य व्यवस्था का अभिन्न हिस्सा होता है । तीसरी बात, वह अपने समग्र प्रभाव में विशेष रूप से आनंद दायक होता है ।

कुन्तक ने कवि कर्म कौशल जन्य वैदग्ध्य व्यापार को प्रधानता देते हुए भी काव्यगत शब्द और अर्थ की विशिष्टता तथा उनके पारस्परिक विशिष्ट साहचार्य पर विस्तार से विचार किया । उनका कहना है कि कवि अपने अपेक्षित अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए एक वस्तु के अनेक पयार्यवाची शब्दों में विशिष्ट शब्द को चुनता है । अपेक्षित अर्थ को वहन करने की क्षमता के कारण ही वह वाचक (शब्द) कहलाता है - "कवि विवक्षित विशेषाभिधान क्षमत्वमेव वाचकत्व लक्षणम् ।" कवि वैचित्यमूलक अर्थ के लिए उसका प्रयोजनीय विशेष शब्द ग्राह्य होता है । नाद माधुर्य के आकर्षण का मूल आधार भी यही है । अर्थ वैचित्रय का सीधा संबंध हृदयानंद से है । वह सहृदयाह्माद तद्विद्वां विदधाति यत् ।' कुन्तक को विशिष्ट शब्द और विशिष्ट अर्थ का परस्पर साहचार्य ही काव्य थे अपेक्षित है । शक्तिशाली शब्द के अभाव अर्थ अपनी अभिव्यक्ति में मरियल, कवि अपेक्षित अर्थ को वहन करने में असमर्थ शब्द रोग सदृश होता है । इस प्रकार कवि अभीष्ट उचित शब्द और उचित अर्थ का श्लांघनीय साहचर्य ही कुन्तक की दृष्टि में काव्य है ।

1.4 सारांश

काव्य की अनेक परिभाषाओं और लक्षणों को ऐतिहासिक कालक्रम में विश्लेषित और व्याख्यायित करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इनमें से एक भी परिभाषा व लक्षण ऐसा नहीं है जिसे काव्य पर पूरी तरह से घटित किया जा सके । अर्थात् एक भी लक्षण ऐसा नहीं है जो काव्य के समग्र स्वरूप को अपने दायरे में बांधकर उसे स्पष्ट कर सके । बात यह है कि काव्य के लक्षणों का सीधा-सीधा सम्बन्ध है - लक्षणकार आचार्यो की अपनी-अपनी दृष्टि से । जो लक्षणकार अलंकार के विशेष पक्षपाती है वे शब्दार्थ यानि काव्य को अलंकार की सीमा में बांधकर देखने की आग्रही है । भामह और दण्डी इसी प्रकार के लक्षणकार है । आचार्य कुन्तक वक्रोक्ति के विशेष प्रेमी है, इसलिए वे काव्य को वक्रता की तराजू पर तौलकर देखते हैं । आचार्य मम्मट, विश्वनाथ आदि रस और ध्वनि के आधार पर काव्य का स्वरूप निर्धारित करते हैं । लक्षणकारों के अपने-अपने आग्रह के बावजूद काव्य का स्वरूप निर्धारित करने उनकी कुछ बातें महत्त्वपूर्ण हैं -

काव्य-लक्षण के बारे में सभी आचार्यो के मत एक और निर वैयक्तिक न होने पर भी वे इस बात पर एकमत हैं । काव्य का आधार शब्दार्थ या वाक्य (पदावली) है । उनके बिना काव्य की सत्ता संभव नहीं है ।

काव्य के शब्दार्थ या पदावली की 'विशिष्टता' सभी आचार्य एक स्वर से स्वीकार करते हैं । उनमें मतभेद विशिष्टता के आधार को लेकर है । भामह - दण्डी उसे 'अलंकार वामन

'रीति-गुणालंकार', आनंदवर्द्धन-मम्मट-विश्वनाथ 'रस-ध्वनि' और 'वक्रोक्ति' के आश्रित मानते है ।

काव्य की मूलकारक (सृजनात्मक) शक्ति के रूप में प्रतिभा, दर्शन-वर्णन की प्रातिभ शक्ति से सम्पन्न को कवि, कवि की कृति काव्य, काव्य के अंतिम लक्ष्य के रूप सहृदय के आनंद को सभी आचार्य स्वीकार करते हैं । इस प्रकार काव्य की प्रक्रिया में कवि, काव्य और सहृदय एक दूसरे से अनिवार्य रूप से सम्बद्ध हैं ।

काव्यशास्त्र में 'काव्य' और 'साहित्य' एक दूसरे के पर्याय रूप में प्रयुक्त होते रहे हैं । वहीं 'काव्य' का अर्थ कविता (पोयट्री) नहीं है और साहित्य का अर्थ (लिटरेचर) एक भाषा में लिखा सम्पूर्ण साहित्य नहीं है । यह अर्थ परिवर्तन आधुनिक काल में हुआ ।

सभी आचार्यो के लक्षण कमोवेश महत्त्वपूर्ण है, लेकिन इनमें से किसी आचार्य का काव्य लक्षण 'पूर्ण' और 'अंतिम' नहीं है । कारण कि काव्य सृष्टि के विषय गत आधार - जगत ओर जीवन-हमेशा परिवर्तनशील हैं । इनमें पैदा होने वाले कवि की दृष्टि, रूचि देश-काल जगत और जीवन के बदलने के क्रम में कुछ न कुछ बदल जाती है और उसका काव्य भी कुछ न कुछ बदल जाता है । इसलिए काव्य-लक्षण के शाश्वत और अंतिम होने की बात नहीं हो सकती\। काव्य लक्षण गणितीय नहीं है । इनसे काव्य के स्वरूप को समझने में काफी दूर तक मदद मिलते। है ।

1.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. काव्य की परिभाषा देते हुए उसके विविध रूपों - साहित्य, वाङ्मय, कविता की चर्चा कीजिए।
2. लक्षण का अर्थ स्पष्ट करते हुए काव्य लक्षण के ऐतिहासिक विकास को समझाइये ।
3. आचार्य मम्मट, विश्वनाथ और पंडितराज जगत्राथ के काव्य लक्षणों की समीक्षा कीजिए।
4. संक्षेप में विचार कीजिए -
   क. काव्य रूपक
   ख. काव्य-संसार और भौतिक संसार
   ग. काव्य-लक्षण और लक्षण काव्य
5. आचार्य भामह, दण्डी, वामन, कुन्तक, आनंदवर्द्धन, मम्मट, आ0 विश्वनाथ, पंडितराज जगत्राथ के काव्य शास्त्रीय ग्रंथों के नाम लिखिए ।

1.6 संदर्भ ग्रंथ

- आचार्य बलदेव उपाध्याय - भारतीय साहित्य शास्त्र - प्रथम खण्ड, प्रसाद परिषद
  - काशी, संस्करण - सन् 1950
  - भारतीय साहित्य शास्त्र - दूसरा भाग, नंदकिशोर एण्ड संस - वाराणसी, तृतीय संस्करण - सन् 1967
  - संस्कृत आलोचना, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान - लखनऊ, तृतीय संस्करण - सन् 1990

- डी. सत्यदेव चौधरी - भारतीय काव्य शास्त्र, अलंकार प्रकाशन - दिल्ली, द्वितीय संस्करण - सन् 1990
- डी. धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान सम्पादक) - हिन्दी साहित्य कोष - भाग - 1, ज्ञान मण्डल लिमिटेड- वाराणसी, तृतीय संस्करण - सन् 1985
- आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र - वाङ्मय विमर्श, वाणी प्रकाशन - नई दिल्ली संस्करण, सन् 1978
- डो. नगेन्द्र - रीतिकाव्य की भूमिका, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, सातवां संस्करण - सन् 1977

इकाई-2 काव्य के भेद : प्रबंध काव्य, महाकाव्य एवं खण्डकाव्य

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 काव्य: परिचय एवं परिभाषा

2.3 काव्य के विभिन्न भेद. महाकाव्य - खण्डकाव्य - मुक्तक

2.4 महाकाव्य का स्वरूप

2.5 महाकाव्य: भारतीय एवं पाश्चात्य मत

2.5.1 महाकाव्य : भारतीय मत

2.5.2 महाकाव्य : पाश्चात्य मत

2.6 संस्कृत काव्यशास्त्र के अनुसार महाकाव्य का स्वरूप

2.7 महाकाव्य संबंधी पाश्चात्य धारणा

2.8 खण्डकाव्य का स्वरूप

2.9 मुक्तक काव्य. गीति व प्रगीति काव्य

2.9 गीति काव्य

2.9.2 प्रगीति काव्य

2.10 सारांश

2.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

2.12 संदर्भ ग्रंथ

2.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप -

- बता सकेंगे कि काव्य क्या है तथा इसके कितने रूप हैं;
- काव्य की परिभाषा दे सकेंगे;
- प्रबंध काव्य तथा मुक्तक काव्य का भेद बता सकेंगे;
- महाकाव्य के लक्षण बता सकेंगे;
- मुक्तक काव्य के लक्षण बता सकेंगे; और
- गीति व प्रगीति काव्य समझा सकेंगे ।

2.1 प्रस्तावना

काव्य मनुष्य के भावों, विचारों, अनुभूतियों तथा गहन संवेदनाओं की कलात्मक अभिव्यक्ति है । काव्य की अभिव्यक्ति शब्दों के माध्यम से होती है । काव्य का क्षेत्र अपेक्षाकृत व्यापक और गहन होता है । इसका प्रभाव भी स्थायी होता है । काव्य में अन्य संस्कारित कलाओं का समावेश हो जाता है, जैसे संगीत, चित्रकला आदि का । काव्य वस्तुत: मानव जाति की

धरोहर है; जिसमें उसके अनुभव और विचार संचित होते हैं । विश्व की सारी भाषाओं में काव्य सर्जना होती है - चाहे वह भाषा लिखित हो चाहे मौखिक । काव्य सर्जना शिक्षितों तक ही सीमित नहीं है । अशिक्षितों तथा ग्रामीणों में भी लोक साहित्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है । अत: काव्य विश्वजनीन है । काव्य की परिभाषा अनेक विद्वानों ने अनेक प्रकार से की है आचार्य विश्वनाथ ने काव्य को वाक्यं रसात्मक काव्य कहा तो पंडितराज जगत्राथ ने 'रमणीयार्थ प्रतिपादक: शब्द काव्यम्' कहा ।

2.2. काव्य : परिचय, परिभाषा

सामान्यत: पद्यबद्ध रचना को काव्य कहा जाता है । पंडित राज जगत्राथ के अनुसार - रमणीयार्थ प्रतिपादक: काव्यमू अर्थात् रमणीय अर्थ को प्रतिपादित करने वाला ही काव्य है। डॉ. भागीरथ मिश्र के अनुसार - ''शब्द, अर्थ, अथवा दोनों की रमणीयता से युक्त वाक्य रचना को काव्य कहते हैं ।''

छंदबद्ध लयबद्ध रमणीय शब्दों में भावों तथा विचारों की अभिव्यक्ति ही काव्य है । मनुष्य की भावातिरेक अवस्था में जो अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से व्यंजित होती है - वही काव्य है । पाश्चात्य कवियों एवं विद्वानों ने भी कवियों की अनेक परिभाषाएँ दी हैं । उत्तम क्रम से उत्तम शब्दों का संयोजन ही कविता है । शैली ने कहा तो वर्डस्वर्थ ने माना कि ''भावोच्छलन की अभिव्यक्ति ही कविता है । वस्तुत: कविता को परिभाषित करना कठिन कार्य है । कविता बुद्धिजन्य नहीं भावजन्य होती है, यह मस्तिष्क से नहीं हृदय से उत्पन्न होती है । इसी कारण इसमें तार्किकता की अपेक्षा मार्मिकता अधिक होती है । कविता के विचार भी भाव बनकर छंद लयबद्ध होकर आते हैं ।

प्राचीन काल में काव्य के अन्तर्गत समस्त सजृनात्म्क साहित्य का समावेश हो जाता था । कालान्तर में काव्य शब्द गद्य से भित्र कविता को विविध स्वरूपों के लिए रूढ़ हो गया । काव्य के विविध रूपों के अध्ययन हेतु इसके प्रमुख दो भेद माने गये हैं -

1. दृश्य काव्य तथा 2. श्रव्यकाव्य

दृश्यकाव्य के अन्तर्गत नाटक एकांकी आदि आते हैं ।

श्रव्यकाव्य के अन्तर्गत काव्य की कई विधाओं का समावेश होता है ।

2.3 काव्य के रुभेद: महाकाव्य - खण्डकाव्य - मुक्तक

शैली भेद के अनुसार श्रव्यकाव्य के तीन भेद किये गये हैं - गद्य. पद्य और चम्पू या मिश्र।

पद्य काव्य का पुन: आकार की दृष्टि से दो भेद माने गये हैं - महाकाव्य तथा खण्डकाव्य। छोटी रचनाओं को मुक्तक कहा गया । गीति तत्वों से युक्त रचना गीत कहलाती है ।

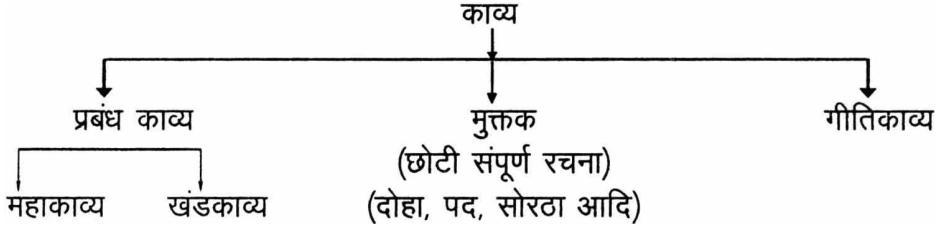

प्रबंध का अर्थ है बंधी हुई रचना । अर्थात ऐसी रचना जो किसी कथा अथवा घटना द्वारा आबद्ध हो । जिसका आरंभ, मध्य तथा अंत हो, जिसमें विस्तार तथा वैविध्य हो । कथा-सूत्र में बंधकर रचना में आंतरिक पूर्णता आ जाती है । प्रबंध काव्य के पुन: दो भेद माने गये हैं - महाकाव्य तथा खण्डकाव्य । इन दोनों के लक्षणों तथा गुणों पर चर्चा की जाएगी ।

2.4 महाकाव्य का स्वरूप

कवि जब व्यापक जीवन के विविध आयामों को समेटता हुआ विशाल फलक पर काव्य रचना करता है, तब महाकाव्य की सर्जना होती है । महाकाव्य की कथावस्तु किसी महान ऐतिहासिक पौराणिक घटना से संबद्ध होती है । इस काव्य द्वारा कोई न कोई जीवन संदेश अवश्य दिया जाता है ।

संस्कृत में महाकवि वाल्मीकि द्वारा रचित रामायण तथा वेदव्यास द्वारा रचित महाभारत महाकाव्य कहलाते हैं । कालान्तर में कालिदास, माघ, भारवी, दण्डी आदि ने भी महाकाव्य की रचना की । मध्ययुग में अनेक रासो काव्य रचे गये जैसे पृथ्वीराज रासो, हम्मीर रासो आदि इन्हें भी महाकाव्य की श्रेणी में रखा जाता है ।

भक्तिकाल के कवि गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस की रचना की । मलिक मोहम्मद जायसी ने पद्मावत लिखा । ये भी महाकाव्य है ।

यूरोप में भी महाकाव्य लेखन की परम्परा बड़ी प्राचीन है । ग्रीक भाषा के आदि कवि होमर ने इलियड तथा ओडेसी महाकाव्य लिखे । मिल्टन ने अंग्रेजी भाषा में पेराडाइज़ लॉस्ट तथा पेरेडाइज़ रीं-गेंड नामक महाकाव्य लिखे ।

वस्तुत: महाकाव्य एक लम्बा कथात्मक काव्य है । भारतीय काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम आचार्य भामह ने सर्गबद्ध रचना को महाकाव्य कहा । उन्होंने महाकाव्य के कतिपय लक्षणों का भी उल्लेख किया- जैसे छंदबद्धाकार, चरित्रों की उदात्तता, अलंकार युग्म गरिमामयी भाषा आदि। कालान्तर में आचार्य दण्डी, रुद्रट, विश्वनाथ आदि ने महाकाव्य के लक्षणों का विवरण प्रस्तुत किया ।

2.5 महाकाव्य : भारतीय एवं पाश्चात्य मत

2.5.1 महाकाव्य : भारतीय मत

महाकाव्य को काव्य की सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं गौरव-गरिमा से मण्डित विधा के रूप में स्वीकार किया गया है । इसमें प्राय: जीवन-दर्शन की महत्वपूर्ण चेतनाओं, जीवन के समय ग्राह्य एवं काव्य रूपों का कलात्मक ढंग से चित्रण-विवेचन किया जाता है । इसी कारण सभी देशों और भाषाओं के आचार्यो ने इसके स्वरूप एवं लक्षणों पर विस्तारपूर्वक विचार किया है।

इनका अध्ययन करने से दो बातें अवश्य कही जा सकती हैं । एक, दो, संभव नही हो सकती। महाकाव्य सर्वप्रथम राष्ट्रीय महत्व की वस्तु होती है, उसे राष्ट्र की ओर से इस रूप को मान्यता प्रदान की जाती है, तब अन्य राष्ट्र भी उसे इस रूप में स्वीकार कर लेते हैं । इसके अतिरिक्त यहाँ यह तथ्य भी ध्वनित होता है कि महाकाव्य समग्र राष्ट्र के मन को सर्वतोभावेन रूपायित

करने वाली महान सर्जना हुआ करता है । वास्तव में प्रत्येक देश काल में ऐसी ही कृतियों को महाकाव्य का गौरव प्राप्त हो सका है जिन्होंने कि समूची राष्ट्रीय चेतनाओं को समग्र भाव से आंदोलित किया है । इन्हीं तथ्यों के आलोक में अन्यान्य देशों के आचार्यो ने महाकाव्य को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है । इसी कारण वे अपने-अपने देश-काल में संपूर्ण भी हैं ।

'अग्निपुराण' में सर्गबन्धों महाकाव्यम्' आदि कहकर उसे परिभाषित करने का प्रयत्न किया गया है । यहाँ ध्यान में रखने वाला तथ्य यह है कि संस्कृत के आचार्यो ने प्राय: महाकाव्य की परिभाषा न देकर उसमें पाये जाने वाले लक्षणों के आधार पर ही उसकी परिभाषा तक पहुँचने का प्रयत्न किया । उन लक्षणों को हम महाकाव्यों के तत्व भी कह सकते हैं । इन दृष्टियों से महाकाव्य के लक्षण देते हुए 'अग्निपुराण' के रचयिता ने निम्नलिखित प्रमुख तत्वों या तथ्यों की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित किया है-

महाकाव्य सर्गो में बंधी सर्जना होती है । प्रत्येक सर्ग अपने विस्तृत रूप में अनेक वृत्तान्त अन्त:योजित किये रहता है । इसका कथानक किसी इतिहास-पुराण प्रसिद्ध महत्वपूर्ण व्यक्ति के घटित वास्तविक जीवन पर आधारित रहा करता है । महाकाव्यों की रचना के लिए शक्वरी, अतिशक्वरी, जगती, अतिजगति त्रिष्टुप आदि जातियों के पुष्पिताग्र जैसे छंदों का प्रयोग किया जाता है । महाकाव्य में नगर, वन, पर्वत, चन्द्र. सूर्य, आश्रम, वृक्ष-लता, उपवन, जल-क्रीडा, मधुपान, उत्सव आदि का विभिन्न समयों में वर्णन रहता है । सभी प्रकार के रसों, रीतियों और वृत्तियों की अन्त:योजना रहना भी परमावश्यक है । ऐसे काव्य में यद्यपि उक्ति-वैचित्र्स प्रधानता प्राप्त कर लेता है, पर प्राण-तत्व के रूप में इसमें रस को ही परिव्याप्ति मिल पाती है । नायक विश्व-विख्यात होता है । उसके व्यक्तित्व एवं कृत्तित्व के माध्यम से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-इन चतुवर्गो की उपलब्धि दिखाई जाती है । महाकाव्यों का प्रारम्भ संस्कृत से किया जाता है । उसमें तत्सम और तद्भव आदि प्राकृतों का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए ।

इन लक्षणों में कुछ बातों का सम्बन्ध 'अग्निपुराण' के रचयिता ने अपने युग से ही जैसे 'संस्कृत' भाषा का प्रयोग आदि । शेष प्राय: बातें परवर्ती आचार्यो ने भी स्वीकार की है और आज भी किसी न किसी रूप में उन्हें मान्यता प्राप्त है । परवर्ती आचार्यो में से आाचार्य दण्डी ने अपने काव्यादर्श में महाकाव्य के लक्षण इस प्रकार दिए हैं-

'सर्गबन्ध महाकाव्यमुव्यते तस्य लक्षणम् ।
आशीर्नमस्किया वस्तुनिर्देशोवापि तत्मुखम् ।।
इतिहास कथोद्भूतमिरद्वारा सदाश्रयम ।
चतुर्वर्गफलोपेतं चतुरोदात्त नायकम् ।।
नगरार्णव शैलर्तु चन्द्रार्कोदय वर्णनै: ।
उद्यानसलिलक्रीड़ा मधुपानरतोत्सवै: ।।
विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनै: ।
मंत्र-द्यूत प्रयाणामि नायकाभ्युदैरपि ।।
अलंकृतमसक्षिप्तं रसाभाव निरन्तरम् ।

सगैरनति विस्तीर्णे: श्रव्यवृते सुसन्धिभि: ।।
सर्वत्र भिन्न वृत्तान्तैरुपेतं लोकरंजकम् ।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायेत सदलंकृति ।।

आचार्य दण्डी द्वारा प्रस्तुत इन लक्षणों में से अनेक तो ऊपर दिए 'अग्नि-पुराण' के लक्षणों के समान ही है । पर अनेक नई बातों का समावेश भी यहां निश्चय ही हुआ है । इस कारण महाकाव्य के स्वरूप एवं लक्षणों में पर्याप्त व्यापकता का समावेश हो गया है 1 वे नई बातें इस प्रकार हैं - काव्य के आरम्भ में नमस्कार स्तुति आदि का समावेश रहना चाहिए । कथावस्तु का संकेत भी हो सकता है । उसमें लोकरंजक विविध वृत्तों का समावेश भी रहना चाहिए । उसमें काव्यत्व का तत्व युग-युगों तक अमरत्व का विधान लिये हुए रहना चाहिए । इस प्रकार आचार्य दण्डी ने छंद-बंधन और रस की प्रधानता आदि के महत्व को नकार दिया है । इसी प्रकार संस्कृत-भाषा से काव्यारम्भ का बंधन भी दण्डी ने नहीं माना है । ही, दण्डी ने वियोग एवं विवाहादि अवसरों पर संयोग वर्मनों को अवश्य अपनी स्वीकृति प्रदान की है । नायक के अभ्युदय को दण्डी ने जो विशेष महत्व दिया है उसमें वीर-श्रृंगार आदि रसों को स्वत: ही मान्यता मिल जाती है । दण्डी ने महाकाव्यों में कल्पित वृतान्तों का समावेश निषिद्ध ठहराया है । उनके लक्षण महाकाव्यों के समाज पर पड़ने वाले प्रभावों को भी ध्यान में रखने वाले हैं ।

महाकाव्यों में सर्गो की संख्या कितनी होनी चाहिए, इस संबंध में मत-भेद पाया जाता है । 'ईशान संहिता के अनुसार महाकाव्य में आठ से कम और तीस से अधिक सर्ग नहीं होने चाहिए। उनके अंतराल में किसी महापुरूष का वर्णन किया जाना चाहिए । दण्डी ने जहाँ नायक के गुणों का प्रतिपादन करके उसके द्वारा शत्रु की पराजय का वर्णन किया है, साथ ही शत्रु पक्ष के पराक्रम, पाण्डित्य आदि के वर्णन के पश्चात नायक के उत्कर्ष को महत्व दिया है; वहाँ आचार्य रुद्रट ने नायक के साथ खलनायक के विराट वर्णन को भी महाकाव्य में व्यापक महत्व दिया है ।

संस्कृत के अन्य अनेक काव्य शास्त्रीय ग्रंथों के रचयिता आचार्यो ने भी तनिक से हेर-फेर के साथ प्राय: यही बातें कही हैं । ही, परवर्ती धारणाओं एवं मान्यताओं से काफी कुछ आगे बढ़ने का प्रयत्न किया है । लगता है उनके सामने जो अनेक प्रकार के लक्षण एवं स्वरूप विधायक तत्व आ चुके थे, उन्हीं सब का समन्वित सार लेकर उन्होंने निम्नलिखित रूप में अपने लक्षणों का प्रतिपादन किया है -

सर्गबन्धो महाकाव्य तंत्रको नायक: सुर: ।
सद्वंश: क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुण आन्वित: ।
एकवंश भवी भूपा: कुलजा वहवोSपि वा ।
श्रृंगारवीरशान्तानामेकोSङगी रस इष्टाते ।
अंगनि सर्वेSपि रसा:सर्वे नाटक संधय: ।
इहितहासोद्भवं वृत्तं अन्यद् वा सज्जनाश्रयम् ।
चत्वार तस्य वर्गा: स्युस्तेष्वेकं च फलं लभेत् ।
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तु-निर्देश एवं वा ।

क्वचित्रिन्दा खलादीनां सत्तां च गुणकीर्तनम् ।
एकवृत्तमयैः पद्यरवसानेऽअन्य वृत्तकैः ।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घा सर्गाः कश्चन दृश्यते ।
सर्गान्ते भावि--सर्गस्य कथायाः सूचन भवेत् ।
सख्या-सूर्येडरजनी प्रदोषधान्त वासराः ।
प्रातर्मध्याह्न मृगया शैलर्तु वनसागरा ।
संडोगविप्रलम्मौ च मुनिः स्वर्ग-पुराधराः ।
रणप्रयाणोपयममंत्र - पुत्रोदयादयः ।
वर्णनीया यथायोग्यं सांगोपांगा अमी इह ।
कर्वेवृर्त्तक्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ।
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्वनाम तु ।
अस्मित्रार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यानसंज्ञकाः ।
प्राकृतैर्निर्मिते तस्मिनस्र्ता आश्वास-संज्ञकाः ।
छन्दसा स्कन्धकेनैतत्वचिद् गलितकैरपि ।
अपभ्रंशः निबद्धेऽस्मिनसर्गा कुडवकाभिवाः ।
तथापभ्रंशयोग्यानिच्छन्दांसि विविधान्यपि । ।

अर्थात् जिस सर्जना से सगों का निबन्धन हो, वह महाकाव्य होता है । इसमें देवता या संद्वशीय क्षत्रिय धीरोदात्त गुणों से उपेत नायक होता है । कहीं-कहीं एकवंशीय सत्कुलीन अनेक भूप भी नायक रहा करते हैं । श्रृंगार, वीर और शांत में से एक रस अंगी रस हुआ करता है, जबकि अन्य रस भी यथास्थान गौण रूप से रहा करते हैं । इसकी वस्तु-योजना में समस्त नाट्य-सन्धियों का अन्तर्विधान हुआ करता है । कथावस्तु लोक-प्रसिद्ध सज्जन व्यक्ति से सम्बद्ध होती है । धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष - चतुवर्ग में से फलरूप में एक ही अवश्य प्राप्ति दिखाई जाती है । काव्य के आरम्भ में नमस्कार, आशीर्वचन और वर्ण्य विषय का निर्देश रहना चाहिए । सज्जन प्रशंसा और खल-निंदा का विधान भी रहा करता है न अधिक बड़े न अधिक छोटे कम से कम आठ या अधिक सर्ग कहते हैं । प्रत्येक सर्ग में एक ही छंद का प्रयोग होता है और सर्गान्त में ही छंद का परिवर्तन होकर अगले सर्ग के छंद का प्रयोग होने लगता है। सर्ग में कहीं-कहीं अनेक छंद भी हो सकते हैं । प्रत्येक सर्ग के अंत में आगामी सर्ग की कथा का निर्देश भी दिया जाता है । संध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रदोष, अंधकार, प्रातःकाल दिन, मध्यान्ह आदि के वर्णनों के साथ-साथ नगर, यज्ञ, संग्राम, विवाह-उत्सव, यात्रा, मंत्र, पुत्र और अनेक प्रकार के अभ्युदय का सांगोपांग वर्णन रहना चाहिए ।

काव्य का नामकरण कवि, चरित्र या चरित्रनायक के नाम के आधार पर किया जाना चाहिए। प्रत्येक सर्ग का नामकरण सवर्णनीय कथा-प्रसंग के नाम पर होना चाहिए । इसके साथ जल-विहार, मधुपानादि का भी सर्वागीण वर्णन आवश्यक है । इस प्रकार आचार्य विश्वनाथ द्वारा दिए गए महाकाव्य के ये लक्षण अपने आप में पूर्ण एवं समग्र कहे जा सकते हैं ।

प्राय: सभी संस्कृत आचार्यो ने कथावस्तु, नायक, रस, उद्देश्य आदि तत्वों को ही प्रमुखता प्रदान की है । सर्गब्द्धता एवं सानुबद्धता से भी सभी समान रूप से सहमत हैं । कथावृत्त की ऐतिहासिकता, यथास्थान, नव्य प्रसंग-योजना, मोहक काल्पनिक वृत्तों का अन्त:योजन सभी की दृष्टियों में प्राय: अनिवार्य है । वस्तु-योजना की ऐतिहासिकता पर सभी ने समान रूप से बल दिया है । इसका कारण एक तो आदर्श स्थापना हो सकता है और दूसरा सर्व-साधारण के लिए सहज सारणीकरण की आवश्यकता को स्वीकारा जा सकता है । इसी प्रकार सभी आचार्यो ने प्राय: धीरोदत्त कोटि के नायक को ही अधिक महत्व दिया है । सभी ने समान रूप से चतुवर्ग की समग्र रूप में या एक की प्राप्ति के रूप में उद्देश्य-संबंधी मान्यता भी स्वीकार की है । ही, आचार्य विश्वनाथ आदि ने आरम्भ में नमस्कार, मंगलाचरण और एक सर्ग में एक ही छंद प्रयोग संबंधी कुछ नवीन बातों का आधान भी अवश्य किया है । संस्कृत में उस समय तक जिस प्रकार के काव्य रचे गए और उपलब्ध हुए, उनकी दृष्टियों से इन लक्षणों को सर्वतोभावेन सम्पूर्ण एवं समग्र मान्य किया जा सकता है ।

2.5.2 महाकाव्य : पाश्चात्य स्वरूप

पाश्चात विद्वान महाकाव्य (Epic)ए के सम्बन्ध में किस प्रकार के विचार और धारणाएँ रखते हैं उनका सिंहावलोकन भी उचित रहेगा । मूलत: और मुख्यत: पाश्चात्य मनीषी महाकाव्यों को जीवन और समाज कार व्यापक चित्रण करने में सक्षम वर्णन-प्रधान काव्य रूप स्वीकार करते हैं । ऐसे काव्यों की कथा-वस्तु प्रसिद्ध और उनका नायक कोई शूर-वीर, चतुर्दिक् विजेता होना चाहिए । पाश्चात्य विद्वानों ने नायक का देवताओं के साथ सम्पर्क को भी प्राय: अवश्य स्वीकार किया है । उन्होंने पूरे काव्य में एक ही छंद के विधान को उचित स्वीकार किया है, भारतीय आचार्यो के समान प्रत्येक सर्ग में नये छंद-विधान की चर्चा नहीं की है । शैली की भव्यता एवं औदात्य पर विशेष बल दिया है । पाश्चात्य मनीषियों ने महाकाव्य के अनेक भेद-उपभेद भी स्वीकृत किए हैं, जिनमें प्रमुख रूप क्रमश: इस प्रकार है-

1. विकसनशील महाकाव्य (Epic of Growth)
2. कलात्मक महाकाव्य (Epic of Art)

उनके विचार में विकसनशील महाकाव्य वे हैं, जिनकी कथा का विकास कई चरणों में कई व्यक्तियों द्वारा होता है । इस प्रकार स्पष्ट है कि ऐसे काव्य अपने मूल रूप में निरन्तर वृद्धि पाते रहते हैं । पश्चिम का इलियड', हिन्दी का पृथ्वीराज रासो और संस्कृत में 'महाभारत (पहले जय', फिर 'भारत' और आज - महाभारत) आदि विकसनशील महाकाव्य ही स्वीकार किये जाते हैं । इसके विपरीत पाश्चात्यों की दृष्टि में कलात्मक महाकाव्य किसी एक ही कवि-प्रतिभा की देर हुआ करती है । अंग्रेजी में 'पैराडाइज लास्ट', हिन्दी में 'रामचरित मानस, 'कामायनी, और संस्कृत भाषा में 'रघुवंश' आदि इसी प्रकार के काव्य हैं । अत्यंत संक्षेप में पाश्चात्य विद्वानों की महाकाव्य के सम्बन्ध में इतनी ही धारणा है, फिर भी विभिन्न विद्वानों के उपलब्ध मतों का अलग से अध्ययन कर लेना उचित होगा ।

प्लेटो के शिष्य अरस्तु के अनुसार 'महाकाव्य ऐसे उदात्त व्यापार का काव्यमय अनुकरण है, जो स्वत: गंभीर एवं पूर्ण हो, वर्णानात्मक हो, सुन्दर शैली में रचा गया है, जिसमें आद्यन्त एक छंद हो, जिसमें एक ही काव्य की पूर्ति हो, स्पष्ट प्रारम्म मध्य और अंत हो, आदि-अंत एक ही दृष्टि में समा सके, जिसमें श्रेष्ठ चरित्र हो कथा संभावित और जीवन के किसी एक सार्वभौम सत्य का प्रतिपादन करने वाली हो, वह महाकाव्य होता है । स्पष्टत: इस कथन में महाकाव्य के सारे लक्षण और तत्व आ जाते हैं । कुछ बातों को छोड़कर अन्य सभी बातें प्राय: संस्कृत आचार्यो के मतों से मेल खाती हैं ।

श्री सी.एम. काबरा के अनुसार - 'महाकाव्य वह कथाक्क काव्य-रूप है, जिसका आकार वृहद् हो, जिसमें सम्पूर्ण महत्वपूर्ण और गरिमा मंडित घटनाओं का वर्णन हो और जिसमें कुछ चरित्रों की क्रियाशील जीवन-कथा, विशेषकर भयंकर कार्यो, जैसे युद्ध आदि से युक्त जीवन-कथा हो । उसे पढ़ने के बाद विशेष, आनंद प्राप्त होता है- क्योंकि उसकी घटनाएँ और पात्र हमारे भीतर मनुष्य की महानता, गौरव और अन्य उपलब्धियों के द्वारा दृढ़ आस्था उत्पत्र करते हैं ।

महाकाव्य के उद्देश्य के साथ-साथ उसके बाह्य स्वरूप पर भी विचार व्यक्त करते हुए एबर क्राम्बे ने लिखा है-

'बृहदाकार के कारण ही कोई काव्य महाकाव्य नहीं हो जाता, महाकाव्य जैसी शैली भी अनिवार्य है । वह शैली कविकल्पना, विचारधारा तथा उसकी अभिव्यक्ति से जुड़ी रहा करती है । उस शैली के महाकाव्य एक ऐसे लोक में पहुँचा देते हैं जहाँ कुछ भी महत्वहीन और निराधार नहीं रहा करता । महाकाव्य में एक संपुष्ट एवं प्रतीकात्मक उद्देश्य रहता है, जो आद्यान्त उसकी गति-विधियों का संचालन करता है ।' इन्होंने महाकाव्य के प्रमुखत: दो ही भेद स्वीकार किये हैं-

1. साहित्यिक महाकाव्य (Literary Epic) और 2. ऐतिहासिक महाकाक (Authenticv Epic) वाल्लेयर महान् घटनाओं वाले काव्यों को ही महाकाव्य मानते हैं । उन्होंने महान् घटनाओं को स्पष्टत: महत्त्व दिया है, क्योंकि यूरोप में महान होमर से लेकर आज तक अनेक-विधि महाकाव्य सिरजे गये हैं; उन्हीं के आधार पर विभिन्न विचारकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से परिभाषाएँ भी विभिन्न एवं विविध अंकित की हैं । उन समस्त पाश्चात्य दृष्टि के सार तत्व के रूप में हम महाकाव्य के निम्नलिखित प्रमुख लक्षण एवं तत्व स्वीकार सकते हैं -

वस्तु-विधान: इसमें ऐतिहासिकता के साथ-साथ कल्पना तत्व भी संयत रूप में रह सकता है। जीवन की व्यापकता का समावेश अनिवार्य रूप में होना चाहिए । संपूर्णता एवं समग्रता भी आवश्यक है । उस सबमें दैवीय (Supernatural) तत्व भी समाविष्ट रह सकते हैं या रहने चाहिए पर कुल मिलाकर समस्त तत्वों की एकान्विति अत्यंत आवश्यक रूप में रहनी ही चाहिए।

चरित्र-चित्रण: इनका महत्त्व भी प्राय: सभी पाश्चात्य विचारकों ने समान रूप में और समग्र रूप में स्वीकार किया है । महाकाव्य का नायक समग्र दृष्टियों से उदात्त चरित्र वाला होना

चाहिए । अन्य चरित्रों में भी विविधता के साथ महानता का समावेश आवश्यक है। सभी प्रकार के चरित्रों के चित्रण में गांभीर्य आवश्यक है ।

अभिव्यक्ति पक्ष: महाकाव्य का अभिव्यक्ति पक्ष या भाषा शैली प्राय: अलंकृत रहनी चाहिए। भाषा सामान्य बोल-चाल की भाषा से भिन्न होती है । छंदों की योजना गरिमामय लय से समन्वित होनी चाहिए । उसमें सरसता भी आवश्यक है । प्रसिद्ध पाश्चात्य विचारक एबर क्राम्बे ने इस तत्व पर विशेष बल दिया है ।

उद्देश्य एवं संदेश: महाकाव्यों का उद्देश्य नैतिकता को प्रश्रय देने वाला, महान धार्मिक तत्वों से समन्वित, पुष्ट, स्पष्ट एवं प्रतीकात्मक होना चाहिए । देश-काल की दृष्टि से वह गतिमय, सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक होना चाहिए ।

इन सबके अतिरिक्त एक प्रमुख लक्षण एवं तत्व के रूप में पाश्चात्य विद्वानों ने 'पृष्ठभूमि' को भी विशेष महत्व दिया है । वह अपनी समग्र व्यापकता में पात्रों के चरित्रों एवं घटनाओं के अनुरूप होनी चाहिए, ताकि उससे सम्बद्ध जाति और राष्ट्र का समग्र रूप-बिम्ब साकार हो सके । संक्षेप में महाकाव्य-संबंधी पाश्चात्य विद्वानों का विवेचित-समीक्षित सार तत्व यही है ।

महाकाव्य किसी भी राष्ट्र, जाति या धर्म के लिए गौरवपूर्ण रचना होती है । इसका जन्म तभी होता है जब जाति अपने वैचारिक उत्कर्ष पर पहुंचती है । किसी महत्वपूर्ण व्यक्ति के ऐतिहासिक महत्व के कार्य, किसी जाति के उत्थान-पतन आदि का वर्णन महाकाव्य में होता है । इसका प्रभाव अक्षुण्ण व वैयक्तिक होता है । महाकाव्य युग-युगों तक का प्रभाव डालने वाली क्लासिक कृति होती है जिसमें कथा-वस्तु व शैली दोनों दृष्टियों से उदात्तता के दर्शन होते हैं । संस्कृत के रामायण, महाभारत, ग्रीक के इलियड, ओडेसी, हिन्दी के साकेत कामायनी आदि प्रसिद्ध महाकाव्य है ।

2.6 संस्कृत काव्यशास्त्र के अनुसार महाकाव्य का रुप

प्राचीन भारतीय आचार्यो ने महाकाव्य के लक्षणों पर व्यापक विचार किया है । आचार्य दण्डी ने अपने ग्रंथ काव्यदर्श में महाकाव्य के लक्षणों का इस प्रकार निदर्शन किया है ।

1. महाकाव्य सर्गबद्ध होना चाहिए । प्रत्येक सर्ग में भिन्न छंद का प्रयोग होना चाहिए । सर्गो की संख्या आठ से अधिक नही होनी चाहिए ।
2. महाकाव्य का आरंभ मंगलाचरण से होना चाहिए । ईश्वर की स्तुति आदि अनिवार्य है।
3. महाकाव्य का कथावस्तु लोक-प्रख्यात, इतिहास-प्रसिद्ध पौराणिक वृहदाकार व क्रमबद्ध होनी चाहिए ।
4. महाकाव्य का नायक धीरोदात्त, गंभीर तथा उच्च मानवीय या दैवीय गुणों से युक्त होना चाहिए ।
5. इसमें नगर, पर्वत, चन्द्र-सूर्योदय, उपवन, सयोग-वियोज, उत्सव आदि का सांगोपांग वर्णन होना चाहिए । अर्थात जीवन के सभी पक्षों का समावेश इसमें होना चाहिए ।
6. महाकाव्य में श्रृंगार, वीर अथवा करूण रस (शान्त) का समावेश होना चाहिए ।
7. महाकाव्य का उद्देश्य 'फल-चतुष्टन्', (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति होनी चाहिए ।

8. महाकाव्य की भाषा गरिमा युक्त, उदात्त तथा शैली गंभीरता युक्त होनी चाहिए ।

9. महाकाव्य में संघर्ष, साधना व चरित्र के विकास को दिखाया जाना चाहिए ।

अंतत: महाकाव्य के तत्वों को निम्न भागों में बांटा जा सकता है:-

(1) कथावस्तु और उसका संगठन (2) नायक (3) रस (4) भाषा-शैली (5) वर्णन (6) नामकरण (7) उद्देश्य ।

महाकाव्य का नामकरण सामान्यत: नायक-नायिका या कथानक के नाम पर होता है यथा 'एपिक' कहा जाता है ।

2.7 महाकाव्य सम्बन्धी पाश्चात्य धारणा

महाकाव्य लेखन की परम्परा बड़ी प्राचीन है । इस काव्य को अंग्रेजी 'एपिक' कहा जाता है। महान् दार्शनिक, विद्वान व काव्यशास्त्र के प्रणेता अरस्तु ने ट्रेजडी (दु:खांत नाटक) और एपिक (महाकाव्य) के रचना विधान पर विस्तृत विचार किया उन्होंने इसके निम्न लक्षण बतलाये हैं:

(1) महाकाव्य विशालकाय प्रकथनात्मक (नेरेटिव) रचना होती है जो राष्ट्र की ऐतिहासिक, पौराणिक अथवा प्रसिद्ध गाथाओं पर आधृत होना चाहिए, कथा में क्रमबद्धता - अर्थात प्रारंभ, मध्य और अंत संगठन होना चाहिए ।

(2) नाटक के समान इसमें कार्य-व्यापार नहीं होता, पर कथा-संगठन नाटक के समान ही होता है । एपिक या तो चरित्र प्रधान होता है, या संघर्ष प्रधान ।

(3) महाकाव्य में प्रधानतया ओजपूर्ण छंद (हिरोइक मीटर) का प्रयोग होता है ।

(4) विचित्र व अलौकिक घटनाओं का चित्रण होता है, जिन्हें नाटक में नहीं दिखाया जा सकता । अतिमानवीय तत्व कथा में कौतूहल को सृष्टि करते हैं ।

(5) महाकाव्य की कथा में तारतम्यता होनी चाहिए । कथानक सरल या जटिल हो सकता है ।

(6) महाकाव्य का उद्देश्य है - नैतिक सत्यों की स्थापना तथा भावोद्रेक जिसकी परिणति आनंद में हो ।

(7) महाकाव्य के प्रमुख पात्र या विजयी व उच्च गुण संपन्न होने चाहिए ।

यूनानी काव्य-शास्त्री लोगिनुस ने महान कृत्ति के लिए उदात्त तत्व को होना अनिवार्य माना है । उदात्त को उन्होंने महान आत्मा की प्रतिध्वनि माना है । इसके लिए उन्होंने भव्य कथानक और उच्च शैली को अनिवार्य तत्व माना है ।

भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही मतों से महाकाव्य एक विशालकाय, भव्य, उदात्त, प्रकथनात्मक पद्यात्मक कृत्ति है जिसके सामान्यत: निम्नलिखित तत्व होते हैं -

(1) महान कथानक (2) उदात्त शैली (3) महान चरित्र और (4) महान संदेश

संस्कृत साहित्य के महाकाव्यों की एक सुदीर्घ समृद्ध परंपरा रही । रामायण, महाभारत के अतिरिक्त रघुवंश, कुमार संभव, नैषध-चरित, किरातार्जुनीय, शिशुवाल वध आदि संस्कृत के प्रसिद्ध महाकाव्य हैं ।

हिन्दी में वीरकाल में रासो ग्रंथ लिखे गये - यथा पृथ्वीराज रासो' हम्मीर रासो आदि जो हिन्दी के प्रारम्भिक महाकाव्य हैं । कालान्तर में रामचरित्र मानस, पद्मावत, रामचन्द्रिका आदि लिखे गये ।

आधुनिक काल में महाकाव्य लेखन में कवियों ने संस्कृत काव्य सिद्धान्तों का अक्षरश: पालन नहीं किया गया । उनमें अपनी मौलिक प्रतिभा के बल पर की परिवर्तन परिवर्धन किये ।

आचार्य शुक्ल जी ने महाकाव्य को उच्च स्थान प्रदान किया साथ ही मुक्तक कार की अपेक्षा प्रबंधकार कवि को श्रेष्ठ माना । उन्होंने महाकाव्य के चार तत्व माने इतिवृत्त, वस्तु व्यापारवर्णन, भाव-व्यंजना और संवाद ।

डी. नगेन्द्र ने महाकाव्य के छ: तत्व माने -

(1) इतिवृत्त (2) वस्तु व्यापार वर्णन (3) भाव-व्यंजना

(2) संवाद (5) भाषा शैली (6) उद्देश्य

अन्तत: महाकाव्य की सर्जना के लिए विराट प्रतिभा की आवश्यकता होती है । इसी कारण विश्व में महाकाव्य अपेक्षाकृत कम लिखे गये और उनमें से भी कालजयी रचनाएँ और भी कम हैं । इस प्रकार महाकाव्य किसी भी राष्ट्र की सभ्यता, संस्कृति, दर्शन, चिंतन-मनन तथा जीवन विधान के चरमोत्कर्ष के द्योतक होते हैं । जब कोई राष्ट्र विचारों की भव्यता तथा भाषिक गरिमा को व्यक्त करने में सक्षम हो जाता है तभी महाकाव्य लिखा जाता है । लोंजाइनस ने उसे उदात्त रचना बतलाते हुए महान आस्था की प्रतिध्वनि कहा है तो मैथ्यु अर्नाल्ड ने सभ्यता के चरमोत्कर्ष की अभिव्यक्ति कहा है ।

वस्तुत: महाकाव्य में राष्ट्र की आत्मा प्रतिध्वनित होती है जो परवर्ती चिंतन, मनन, जीवन विधान तथा सर्जना को प्रभावित करती है ।

2.8 खण्डकाव्य का स्वरूप

खण्डकाव्य प्रबंध काव्य का एक भेद है । तात्त्विक दृष्टि से इसमें महाकाव्य के सभी तत्व विद्यमान रहते हैं, पर आकार या स्वरूप की दृष्टि से यह छोटा होता है ।

महाकाव्य तथा खण्डकाव्य में वही अंतर है जो उपन्यास तथा कहानी में पाया जाता है । महाकाव्य विस्तृत वनस्थली है जो खण्डकाव्य एक उद्यान ।

खण्डकाव्य काव्य का कथानक सीमित होता है, पात्र कम होते हैं, चरित्रों के विकास की पूरी गुंजाइश नहीं होती । किसी चरित्र के या कथा के एक ही अंश को लेकर खण्डकाव्य लिखा जाता है जैसे - पंचवटी, रश्मि रथी, कुरुक्षेत्र आदि । महाकाव्य में श्रृंगार, वीर और शांत में से कोई एक रस अंगीरूप (प्रधान) और अन्य रूप अंगरूप (गौण) होते हैं । खंडकाव्य में इस प्रकार का कोई नियम नहीं है । खण्डकाव्य में - वर्गबद्धता तथा एक ही छंद के निर्वाह का निबंधन भी नहीं होता ।

इसमें भावानुकूल छंद योजना को महत्त्व दिया जाता है । खण्डकाव्य का प्रभाव तीव्र एवं तुरंत होता है । महाकाव्य का प्रभाव धीरे-धीरे पर स्थायी होता है ।

खण्ड का अर्थ है - 'टुकड़ा' । महाकाव्य में जहाँ जीवन के विशद्, व्यापक, वैविद्यपूर्ण रूप का, घटनाओं का चित्रण होता है । इसमें कथावस्तु सम्पूर्ण न होकर, खण्ड मात्र होती है । इसमें विस्तार के बदले संक्षिप्तता होती है, फिर भी इसमें कथा-संगठन आवश्यक होता है । एक ही कार्य योजना का कार्य व्यापार होना है ।

आचार्य विश्वनाथ ने खण्डकाव्य को रूपायित करते हुए लिखा है 'एक ही सर्ग से युक्त, एकार्थ व्यंजक, सन्धि आदि नियमों की समग्रता से विरहित - एक देशानुसारी खण्डकाव्य होता है। स्पष्टत: इस काव्य में वस्तु संघटन तो आवश्यक है, पर वर्ग संघटन नहीं । एक ही वस्तु, भाव, चरित्र, विचार एवं कार्य आदि का इसमें वर्णन होता बाबू गुलाबराय ने काव्य के रूप नामक अपनी पुस्तक में खण्डकाव्य के लक्षण देते हुए लिखा है - खण्डकाव्य में एक ही घटना को मुख्यता दी जाकर उसमें जीवन के किसी एक पहलू की झाँकी सी मिल जाती है ।

डी. भागीरथ मिश्र के अनुसार - 'खण्डकाव्य वह प्रबंध काव्य है जिसमें किसी व्यक्ति के जीवन का कोई अंश ही वर्णित होता है, पूरी जीवन गाथा नहीं । इसमें महाकाव्य के सभी अंग न रहकर, एकाध अंग ही रहता है ।' (हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास)

श्री बलदेव प्रसाद उपाध्याय ने संस्कृत आलोचना में खण्डकाव्य की परिभाषा देते हुए लिखा है: यह काव्य जो मात्रा में महाकाव्य से छोटा, परन्तु गुणों में उससे कथमपि शून्य न हो, खण्डकाव्य कहलाता है ।

हिन्दी में अनेक खण्डकाव्य लिखे गये जैसे सुदामा चरित, पंचवटी, जयद्रथवध, रश्मि रथी, कुरुक्षेत्र आदि । इन खण्डकाव्यों में विषयवस्तु के साथ-साथ अभिव्यंजना कौशल भी देखा जा सकता है ।

खण्डकाव्य की भाषा शैली भी महाकाव्य की तरह कलात्मक, उदात्त तथा गरिमामयी होनी चाहिए । उसमें सरसता, सरलता, सम्प्रेषणीयता तथा वास्तविकता होनी चाहिए ।

खण्डकाव्य की भाषा शैली भी महाकाव्य की तरह कलात्मक, उदात्त तथा गरिमामयी होनी चाहिए । उसमें सरसता, सरलता, सम्प्रेषणीयता तथा वास्तविकता होनी चाहिए ।

खष्ठकाव्य में समुचित प्रवाह होना चाहिए तथा भावानुकूल छंद विधान होना चाहिए । समर्थ कवि खण्डकाव्य के माध्यम से अपने अभिप्रेत विचार और भाव के प्रभावशाली ढंग से प्रेषित करता है । हिन्दी में पंचवटी, सिद्धराज, जयद्रथवध, स्वप्न, पथिक, राम की शक्ति पूजा, तुलसीदास, असाध्यवीणा आदि ऐसे ही खण्डकाव्य हैं ।

2.9 मुक्तक काव्य: गीति व प्रगीति काव्य

मुक्तक बहुत छोटी काव्य रचना है जो पूर्वापर संबंध निरपेक्ष अपने आप से पूर्ण अर्थ प्रदान करने वाली नमस्कार उत्पत्र करने वाली हो ।

मुक्तक के छंद मुक्त होते हैं - जैसे बिहारी सतसई के दोहे । ये दोहे अपने आप में पूर्ण है। एक दूसरे दोहों का क्रमिक या अर्थ संबंध होना आवश्यक नहीं ।

मुक्तक छंदों में किसी क्रमबद्धता, भाव सातत्य या विचार श्रृंखला का होना अनिवार्य नहीं । हर छंद स्वयं में 'मुक्त' अर्थात पूर्ण व स्वतंत्र होता है । उदाहरण - दोहा, सोरठा, पद गीत, शेर आदि एवं प्रभाव की दृष्टि से पूर्ण व स्वतंत्र होता है । एक ही छंद में अर्थ भाव व अभिव्यंजना के कई स्तर हो सकते हैं ।

प्रबंध काव्य यदि एक उपवन है तो मुक्तक एक 'गुलदस्ता' कहा जा सकता है । मुक्तक में निम्नलिखित गुण अपेक्षित हैं ।

1. संक्षिप्ता 2. स्वतंत्रता, 3. भाषाभिव्यंजना, 4. चमत्कार, 5. अभिव्यंजना कौशल

मुक्तक शब्द जिसका अर्थ है बंधन रहित साहित्य । निबंध रचना आनंदवर्धन के अनुसार - मुक्तक वह रचना है जो पूर्वापर निरपेक्ष होकर भी रसास्वादन में समर्थ हो - पूर्वापर निरपेक्षेणंSपि हि येन रस चर्वणा क्रियते तदैव मुक्ततम् ।।

प्रबंध और मुक्तक इन दो शीर्षकों के अन्तर्गत कविता के विविध प्रकारों को समाविष्ट कर दिया जा सकता है । जहाँ प्रबंध में विस्तार की पूरी गुंजाइश होती है, वहीं मुक्तक में संक्षेप: का पूरा प्रयत्न होता है । मुक्तक प्राय: एक छंद में ही अपेक्षित प्रभाव छोड़ जाता है ।

भारतीय वाङमय में प्राचीनतम मुक्तक रचना, ऋग्वेद । इसमें भिन्न-भिन्न मंत्रों में भिन्न-भिन्न देवताओं की स्तुति की गई है ।

प्राकृत व पाली भाषा का मुक्तक साहित्य काफी समृद्ध है । 'गाथा सप्तशती 'प्राकृत में लिखा प्रसिद्ध मुक्तक ग्रंथ है । कालान्तर में संस्कृत में 'अमरुक-शतक' श्रृंगार तिलक नीति-शतक, वैराग्य-शतक, आर्या-सप्तशती आदि ग्रंथ लिखे गये ।

हिन्दी में कबीर दादू, सुन्दरदास, मीरा, रहीम आदि ने मुक्तक काव्य लिखे । रीतिकाल में बिहारी, मतिराम, देव, पद्माकर, घनानंद आदि ने मुक्तक रचनाएँ की ।

साहित्य में प्रबन्ध काव्य का जितना महत्त्व है, उतना ही महत्व मुक्तक रचनाओं का भी है । दोनों भी प्रकार रचनाएँ हमें आनंद देने तथा शिक्षा व रसानुभूति कराने में सक्षम होती है । आचार्य वामन ने प्रबंध की तुलना में मुक्तक को हीन माना है । आचार्य शुक्ल ने भी प्रबंध को अधिक महत्व प्रदान किया है । अभिनव गुप्त के अनुसार मुक्तक में रस संचार कराना कठिन कार्य है । प्रबंध काव्य में कथाक्रम के प्रवाह में रस-संचार करना सरल होता है, पर मुक्तक में यह कार्य कठिन होता है ।

मुक्तक की रचना कवि के सामर्थ्य की कसौटी होती है । कवि का भाषा पर पूर्ण अधिकार एवं शब्दों की आत्मा से साक्षात्कार होना चाहिए । प्रबंध में रसधारा प्रवाहित होती है तो मुक्तक में रस के छींटे पड़ते हैं जिससे हृदय कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है । मुक्त सभा समारोहों में अधिक उपयुक्त होते हैं ।

सफल मुक्तक रचना में माधुर्य, हृदय ग्राह्यिता, सामासिकता मार्मिकता, स्पष्टता, सहज, सम्प्रेषणीयता तथा नाद सौन्दर्य होना चाहिए । मुक्तक की भाषा में चमत्कारिक्ता तथा अभिव्यंजना कौशल होने चाहिए ।

अंततः मुक्तक रचनाओं की आज के व्यस्त जीवन में बड़ी माँग है । कवि सम्मेलनों में सामान्यतः मुक्तककार सफल होते हैं । विषय की समसामयिकता, चारुता, मधुरता आदि के कारण मुक्तक को समझने में अधिक कठिनाई नहीं होती । कबीर, तुलसी, रहीम, वृंद, बिहारी आदि के दोहे शताब्दियों बाद आज भी उतने ही लोकप्रिय हैं ।

2.9.1 गीतिकाव्य

गीतिकाव्य मुक्तक का ही एक भेद है । गीत में सामान्यतः कवि का व्यक्तित्व अभिव्यक्ति पाता है । प्रबंध काव्य जहाँ निवैयक्तिक तथा वस्तुपरक (ऑब्जेक्टिव) होता है । वहीं गीत व्यक्तिपरक (सब्जेक्टिव) होता है । इसमें व्यक्ति के अपने सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, प्रेम-विराग, विरह-मिलन, आशा-निराशा आदि भाव व्यक्त होते हैं । प्रगीति वस्तुतः रचयिता के हृदय का स्पंदन होता है । आत्माभिव्यंजना तथा रागात्मकता गीत के अनिवार्य तत्व हैं ।

संस्कृत में गीतिकाव्य की सुदीर्घ परम्परा रही है जिसके प्रतिनिधि कवि 'जयदेव' कहे जा सकते हैं । जयदेव की रचना गीत-गोविन्द आज शताब्दियों बाद भी लोकप्रिय है । तुलसी की विनयपत्रिका, मीरा और सूर के पद, दादू रैदास आदि भक्तों के पद गेय हैं ।

गीतों में हमारे सहज संस्कारों, त्यौहारों, उत्सवों, समारोहों, उल्लासों, आशा-निराशा, करुणा आदि की सहज अभिव्यक्ति होती है । होली के गीतों की हमारे पास लम्बी परम्परा है ।

गीत वस्तुतः काव्य के सहज और प्रकृत रूप है ।

लोकगीत जन सामान्य के भावों की प्रकृत सहज मार्मिक अभिव्यक्ति होते हैं । इन गीतों में जीवन की अकृत्रिम सहजता झलकती है ।

गीतों में व्यक्ति के अपने सुख-दुख, हर्ष-विषाद, प्रेम-विराग आदि का भावनात्मक चित्रण होता है । प्रगीत में रचयिता के हृदय का स्पन्दन होता है । आत्माभिव्यंजना तथा रागात्मकता प्रगीत के अनिवार्य तत्व हैं ।

महादेवी के शब्दों में - 'साधारणतः गीति काव्य व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख-दुखात्म्क अनुभूति का वह शब्द रूप है जो अपनी ध्यन्यात्मकता में गेय हो सके । डॉ. नगेन्द्र ने भाव को गीत काव्य की आत्मा मानते हुए इसे तीव्र मनोवेगजन्य माना है ।

गीतिकाव्य के निम्नलिखित तत्त्व माने जा सकते हैं -

1. वैयक्तिकता
2. प्रबल-आवेग तथा रागात्मकता
3. सुसम्बद्धता व अन्विति
4. प्रवाह
5. संगीतात्मकता
6. लयबद्धता - धवन्यात्मकता

प्रगीति अपेक्षा छोटी रचना होती है । इसमें आद्यान्त एक ही अनुभूति अनस्यूत होती है । गीतिकाव्य में सहजता, सरलता, मधुरता तथा अभिव्यंजना का कौशल भी होना चाहिए । संक्षिप्तता मनोहारिता गीति के प्रधान गुण हैं । प्रगीति काव्य सहज संवेद्य व सम्प्रेषणीय होना चाहिए । इसके लिए उसमें तीव्र भावाभिव्यंजना की मार्मिक अभिव्यंजना होनी चाहिए। हिन्दी में गीति काव्य की सुदीर्घ परम्परा रही है । सूर, तुलसी, मीरा, गुप्त, प्रसाद, महादेवी वर्मा रामकुमार वर्मा, धर्मवीर भारती आदि प्रसिद्ध प्रगीतिकार हुए हैं ।

प्रबंध काव्य को अभिजात्य या क्लासिकी रचना कहा जाता है । अभिजात्य काव्य में निर्वैयक्तिकता, संतुलन, तर्क एवं उदात्तता के दर्शन होते हैं तो मुक्तक काव्य में विशेषत: गीति काव्य में वैयक्तिकता, भावुकता और अभिव्यंजना कौशल दिखलाई पड़ता है ।

तेलगु में ऐसे कवि जिनकी रचनाएँ गाई जा सकती हैं - उन्हें वाग्गेयकार कहते हैं । संत त्यागराज, रामदास आदि कवियों का काव्य गेय है ।

गीतिकाव्य के कतिपय भेद माने गये हैं - जैसे 1. भाव प्रधान गीति, 2. वर्णन प्रधान गीति, 3. रस प्रधान गीति ।

कवि जब गहन अनुभूति में डूब जाता है तब गीत का जन्म होता है । एक समर्थ सर्जक अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों को समष्टिगत बना देता है । उसके भाव श्रोताओं के भाव बन जाते हैं।

परिभाषा: सुख-दुख के क्षणों में स्वरों का स्वत: स्फूर्त रूप में स्वर संगीत से युक्त होकर, मुखरित हो उठना ही गीति काव्य है ।

जब शब्दों पर भावों का पूर्ण आधिपत्य हो जाता है तब तन्मयता के क्षणों में स्वर-लय के प्रवाह में जो काव्य जन्म लेता है, वही गीति काव्य है । एक परिभाषा के अनुसार - 'गीतिकाव्य वह अंतवृत्तिपूर्ण कविता है जो वैयक्तिक अनुभूतियों से पोषित होती है ।'

महादेवी वर्मा के अनुसार - 'सुख दुख की भावावेशमयी अवस्था को विशेषकर गिने-चुने शब्दों में स्वर संधान के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीति है ।'

गीति काव्य में धवन्यात्मकता और गेयता आवश्यक है । ऐसे काव्य में घटना, इतिवृत्त, वर्मन, विवरण, बौद्धिकता आदि के लिए कम ही स्थान होता है ।

डॉ. भागीरथ मिश्र के अनुसार - गीति काव्य अनुभूति प्रधान काव्य है । इसमें सामान्यत: किसी घटना, तथ्य आदि का वर्णन न होकर तीव्र अनुभूति की ही अभिव्यक्ति होती है ।

स्वानुभूति ही गीत काव्य के माध्यम से सर्वोत्तम अभिव्यक्ति पाती है ।

<u>गीति काव्य के तत्व</u>

रूप रचना और सम्प्रेषणीयता की दृष्टि से गीति काव्य के निम्नलिखित तत्व माने जा सकते हैं । 1. वैयक्तिकता 2. भावुकता 3. संक्षिप्तता 4. सहजता व सरलता 5. गेयता 6. सम्प्रेषणीयता इसके अतिरिक्त रसानुकूलता, मनोहारिता, प्रभाविष्णुता भी गीतिकाव्य के आवश्यक गुण हैं । भावों की स्पष्टता तथा सुसम्बद्धता भी अनिवार्य है । वैसे तो अनेक प्रकार के गीत होते हैं । पर मुख्यत: इन्हें निम्नलिखित रूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है ।

1. भावगीत, 2. प्रेम गीत, 3. रहस्यवादी गीत, 4. प्रकृति गीत, 5. दार्शनिक गीत, 6. राष्ट्रीय गीत तथा 7. शोक गीत

पाश्चात्य साहित्य में भी गीतों की सुदीर्घ परम्परा रही है । ग्रीक भाषा में गीत गाने की परिपाटी प्राचीन काल से प्रचलित थी ।

पाश्चात्य काव्याचार्यों ने गीतिकाव्य के निम्नलिखित भेद निरूपित किये हैं -

1. सानेट 2. ओड - बोधन गीत 3. शोक गीत, 4. सटायर - व्यंग्यगीत 5. रिफ्लेक्टिव - विचार प्रधान - स्मृति गीत तथा 6. उपदेशात्मक गीत

परम्परा

हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल पूर्व ही गीतों की परम्परा विकसित हो चुकी थी । विद्यापति तथा अमीर खुसरो के गीत आज तक गाये जाते हैं । संस्कृत के कवि जयदेव का 'गीतगोविन्द' गीति काव्य का श्रेष्ठ उदाहरण है । भक्तिकाल तो गीतिकाव्य का ही युग है । मीरा, सूर, तुलसी, आदि कवियों की रचनाएँ संगीत की विधि राग-रागनियों में बंधी हैं । इन्हें अवसरानुकूल गाया जाता है । अष्टछाप कवियों ने विपुल मात्रा में अत्यंत मनोहर गीतों की रचना की । भाव, भाषा एवं संगीत की दृष्टि से ये गीत हमारे साहित्य भण्डार की अमूल्य धरोहर है । आधुनिक युग में भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त, निराला, प्रसाद, महादेवी वर्मा आदि कवियों ने हिन्दी में मधुरतम गीतों की रचना की । कवि बच्चन के गीतों ने काफी लोकप्रियता अर्जित की । निराला की 'आराधना अर्चना आदि कृतियाँ गीतों से भरी हैं ।

2.9.2 प्रगीति काव्य

हिन्दी में कतिपय प्रगीति भी लिखे गये । प्रगीति वह रचना है जो आकार में दीर्घ हो तथा जिसमें एक ही भाव का संयोजन हो । 'नवगीत' हिन्दी में गीतिकाव्य का ही एक रूप है । राजेन्द्र सिंह द्वारा 1958 में इस शब्द का प्रचलन गीतांजली में हुआ ।

हिन्दी का गीतिकाव्य काफी समृद्ध है । अनेक कवियों ने कोमल-मधुर भावों की अभिव्यक्ति हेतु इस विशिष्ट विधा को अपनाया । हिन्दी गीतकारों के कुछ नाम इस प्रकार हैं - शंभुनाथ (जहां दर्द मिला है), वीरेन्द्र, मिश्र, देवेन्द्र शर्मा (पंख कटी महराबे) माहेश्वर तिवारी, रमेश रंजक, उमाकांत मालवीय, नीरज, रवीन्द्र भ्रमर, बाल स्वरूप राही, नईम, ठाकुर प्रसाद सिंह. राजेन्द्र प्रसाद सिंह, शेरजंग गर्ग, महेन्द्र भटनागर कुँअर बेचैन, दिनकर सोनवलकर, रामदरश मिश्र, राजेन्द्र गौतम आदि । जैसे छायावादी कवियों ने खड़ी बोली के कड़ेपन को दूर कर धवन्यात्मकता मधुर कोमलकांत पदावली

द्वारा भाषा को मधुर रूप प्रदान किया, उसी प्रकार हिन्दी के परवर्ती गीति काव्यकारों ने हिन्दी भाषा की कोमल-मधुर-ध्वन्यात्मक शब्द माधुर्य अभिव्यंजना कौशल को बढ़ाया ।

अनेक गीतकारों में ग्रामीण बिम्बों, पारिवारिक बिम्बों, शिशुओं, पेड़ो ताल-तलैयाओं, पक्षियों, नदियों, झरनों आदि विषयों का समावेश कर विषय - वैवैध्य द्वारा गीतों को व्याप्ति प्रदान की । गीतों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य रहा, हमारी रागात्मक संवेदनाओं को बचाये रखना । आज के युग में जबकि हमारे संवेदनात्मक संबंध क्षीण होते जा रहे हैं जबकि हमारे मानवीय

सरोकार खत्म होते जा रहे हैं प्रकृति के साथ हमारे रागात्मक संबंध उपयोगितावाद और उपभोगवाद की संस्कृति द्वारा आक्रांत होते जा रहे हैं, ऐसे में ये गीत हमारे भीतर की कोमलता को बचाये रखने का महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं ।

2.10 सारांश

- पद्य काव्य का आकार की दृष्टि से दो भेद माने गये हैं - महाकाव्य तथा खण्डकाव्य। छोटी रचनाओं को मुक्तक कहा गया । गीति तत्वों से युक्त रचना गीत कहलाती है।
- महाकाव्य को काव्य की सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं गौरव-गरिमा से मण्डित विधा के रूप में स्वीकार किया गया है । इसमें प्राय: जीवन-दर्शन की महत्वपूर्ण चेतनाओं, जीवन के समग्र ग्राह्य एवं काव्य रूपों का कलात्मक ढंग से चित्रण-विवेचन किया जाता है ।
- महाकाव्य सर्गो में बंधी सर्जना होती है । प्रत्येक सर्ग अपने विस्तृत रूप में अनेक वृतान्त अन्त:योजित किये रहता है । इसका कथानक किसी इतिहास-पुराण प्रसिद्ध महत्वपूर्ण व्यक्ति के घटित वास्तविक जीवन पर आधारित रहा करता है ।
- पाश्चात्य साहित्य में भी महाकाव्य लेखन की परंपरा बड़ी प्राचीन है । इस काव्य को अंग्रेजी में 'एपिक' कहा जाता है ।
- खण्डकाव्य प्रबंध काव्य का एक भेद है । तात्विक दृष्टि से इसमें महाकाव्य के सभी तत्व विद्यमान रहते हैं पर आकार या स्वरूप की दृष्टि से यह छोटा होता है ।
- महाकाव्य तथा खण्डकाव्य में वही अंतर है जो उपन्यास तथा कहानी में पाया जाता है। महाकाव्य विस्तृत वनस्थली है जो खण्डकाव्य एक उद्यान ।
- मुक्तक बहुत छोटी काव्य रचना है जो पूर्वापर संबंध निरपेक्ष, अपने आप से पूर्ण अर्थ प्रदान करने वाली चमत्कार उत्पन्न करने वाली हो । मुक्तक के छंद मुक्त होते हैं - जैसे बिहारी सतसई के दोहे ।
- गीतिकाव्य मुक्तक का ही एक भेद है । गीति में सामान्यत: कवि का व्यक्तित्व अभिव्यक्ति पाता है ।
- प्रगीति अपेक्षाकृत छोटी रचना होती है । इसमें शुरू से अन्त तक एक ही अनुभूति अनुस्यूत होती है ।

2.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. काव्य की परिभाषा देते हुए प्रबंध काव्य की विशेषताओं और भेदों का उल्लेख कीजिए
2. क्या गीति काव्य को मुक्तक काव्य माना जा सकता है? अपना मत प्रस्तुत करते हुए गीति काव्य की विशेषताएँ बताइए ।
3. महाकाव्य के संबंध में विभिन्न मतों को प्रस्तुत करते हुए हिंदी महाकाव्य परम्परा का परिचय प्रस्तुत कीजिए ।
4. महाकाव्य और खंडकाव्य का अंतर बताते हुए हिंदी के आधुनिक खंडकाव्यों का संक्षिप्त परिचय दीजिए ।
5. आपकी दृष्टि में हिंदी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य कौनसा है और क्यों?

2.12 संदर्भ ग्रंथ

1. आचार्य रामदहिन मिश्र – काव्यदर्पण
2. डॉगुलाबराय . – काव्य के रूप
3. डॉश्यामसुन्दर दास . – साहित्यालोचन
4. डॉभागीरथ मिश्र . – काव्यशास्त्र
5. डॉगोविन्द त्रिगुणायत . – साहित्यशास्त्र
6. डॉगणपति चन्द्रगु .प्त – हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास

इकाई -3 काव्य प्रेरणा व काव्य हेतु

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 सर्जना का उत्स क्या?

3.3 काव्य हेतु और संस्कृत काव्यशास्त्र परंपरा

- 3.3.1 प्रतिभा
- 3.3.2 क्या प्रतिभा ही काव्य सृजन का एकमात्र मूल कारण है?
- 3.3.3 व्युत्पत्ति
- 3.3.4 अभ्यास
- 3.3.5 समाधि

3.4 प्रतिभा और कल्पना में सम्बन्ध

3.5 पाश्चात्य काव्यशास्त्र में काव्य प्रेरणा

- 3.5.1 काव्य प्रेरणा और दैवी प्रेरणा
- 3.5.2 अनुकरण का सिद्धान्त
- 3.5.3 प्रतिभास का सिद्धान्त
- 3.5.4 आत्माभिव्यक्ति का सिद्धान्त
- 3.5.5 इच्छापूर्ति का सिद्धान्त
- 3.5.6 अधिकार भावना का सिद्धान्त
- 3.5.7 प्रजातीय स्मृति का सिद्धान्त

3.6 हिन्दी में काव्य प्रेरणा - काव्य हेतु का चिंतन

3.7 सारांश

3.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

3.9 संदर्भ ग्रंथ

3.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात आप :

- जानकारी ले सकेंगे कि साहित्यकार सृजन की ओर क्यों उन्मुख होता है?
- संस्कृत काव्य शास्त्र की परम्परा में काव्य प्रेरणा व काव्य हेतु के चिंतन से परिचित हो सकेंगे ।
- प्रतिभा के अलावा अन्य काव्य हेतुओं का महत्व समझ सकेंगे ।
- पाश्चात्य काव्यशास्त्र में काव्य प्रेरणा सम्बन्धी सिद्धान्तों को जान सकेंगे ।

- हिन्दी में काव्य हेतु और काव्य प्रेरणा के संबंध में किए गए चिंतन के विषय में जानकारी दे सकेंगे ।

3.1 प्रस्तावना

''वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान' यह पंक्ति काव्य प्रेरणा के सम्बन्ध में अत्यंत चर्चित रही है । आखिर कोई रचनाकार कविता. कहानी या साहित्य की किसी भी विद्या की ओर उन्मुख क्यों होता है? साहित्य सृजन की मूल प्रेरणा की तलाश उतनी ही पुरानी है जितना सृजन । इसे लेकर पर्याप्त वाद-विवाद भी हुआ है । प्रेरणा और प्रयोजन को एक ही अर्थ में ग्रहण किए जाने से विवाद और बढ़ा है क्योंकि वस्तुत: इनका अर्थ एक ही नहीं है । इस इकाई में इन सभी प्रश्नों पर चर्चा की गई है ।

3.2 सर्जना का उत्स क्या?

किसी भी कार्य के मूल में प्रेरणा तत्त्व उसका उद्गम स्त्रोत होता है जिसके बिना उसका जन्म ही संभव नहीं है । आदिकवि वाल्मीकि के संबंध में यह कथा बहुप्रचलित है कि उन्हें काव्य रचना की प्रेरणा कौंच-वध से हुई । बहेलिए द्वारा मैथुनरत क्रौंचयुग्म को तीर मारने पर एकाकी पक्षी को शोक में विह्वल देखकर वाल्मीकि का हृदय उद्वेलित हो गया और उनके मुख से 'मा निषाद' श्लोक फूट पड़ा ।

इस प्रसंग से ज्ञात होता है कि काव्य सृजन की प्रेरणा में जीवन की घटनाओं तथा अनुभूतियों का भारी महत्त्व है । ये अनुभूतियाँ विभिन्न प्रकार की हो सकती हैं । डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त लिखते हैं - घटना के अभाव में अनुभूति का उद्रेक नहीं होता और बिना अनुभूति के उद्रेक के घटना प्रभावशून्य सिद्ध होती है, अत: दोनों का ही महत्त्व है । जीवन में घटनाएँ तो बहुत होती हैं, किंतु वे सभी ऐसी अनुभूति प्रदान नहीं करती कि जिससे काव्य रचना की प्रेरणा मिले। अत: इन दोनों में समन्वय स्थापित करते हुए कहा जा सकता है कि मार्मिक घटनाओं की अनुभूति काव्य रचना की प्रेरणा प्रदान करती है । यहाँ आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा गोस्वामी तुलसीदास को बड़ा कवि मानने का वह तर्क सहज ही स्मरण हो आता है जिससे उन्होंने मार्मिक स्थलों की पहचान' में निपुण होने की चर्चा की थी ।

प्रसिद्ध हिन्दी आलोचक नंददुलारे वाजपेयी ने लिखा है ''काव्य की प्रेरणा अनुभूति से मिलती है, यह स्वत: एक अनुभूत तथ्य है ।'' डॉ. गुलाब राय ने आत्म विस्तार को काव्य का प्रेरक तत्व मानते हुए कहा है - ''भारतीय दृष्टि में आत्मा का अर्थ संकुचित व्यक्तित्व नहीं है । विस्तार में ही आत्मा की पूर्णता है । ये सभी हृदय के ओज को उद्दीप्त कर काव्य के प्रेरक बन जाते हैं ।''

भारतीय परंपरा में इसे दैवी प्रेरणा से जोड़कर देखने का प्रबल आग्रह भी रहा है । यही कारण है कि गोस्वामी तुलसीदास रामचरित मानस का प्रारम्भ ईश वंदना से करते हैं-

वर्णनामर्थसंधानां रसानां छंदसामपि ।
मंगलाना च कर्त्तारौ वन्दे वाणी विनायकौ ।।

भारतीय मनीषा के लिए काव्य के प्रेरणा स्त्रोत का विवेचन करना रूचिकर विषय रहा है । कवि कुलगुरू रविन्द्रनाथ ठाकुर ने इस भारतीय दृष्टिकोण को निम्न शब्दों में लिखा है -

1. हमारे मन के भाव की यह स्वाभाविक प्रवृति है कि वह अनेक हृदयों में अपने को अनुभूत करना चाहता है ।
2. हृदय जगत् अपने को व्यक्त करने के लिए आकुल रहता है । इसलिए चिरकाल से मनुष्य के अन्दर साहित्य का वेग है ।
3. बाह्य सृष्टि जैसे अपनी भलाई-दुराई तथा अपनी असंपूर्णता को व्यक्त करने की निरन्तर चेष्टा करती है वैंसे ही यह वाणी भी देश-देश में, भाषा-भाषा में हम लोगों के भीतर से बाहर होने की बराबर चेष्टा करती है । यही कविता का प्रधान कारण है ।

पश्चिमी काव्यशास्त्र में काव्य प्रेरणा पर चिंतन की लंबी परंपरा मिलती है । आचार्य अरस्तु ने अनुकरण की प्रवृत्ति को काव्य सृजन की मूल प्रेरणा माना है । अरस्तु के मतानुसार जे प्रवृत्ति बालक के अपने माता-पिता के भाषा व्यवहार आदि का अनुसरण करने को प्रेरित करती है वही प्रवृत्ति मानव को साहित्य रचना के लिए भी प्रेरणा प्रदान करती है । अरस्तु के बाद हीगल ने बताया कि मनुष्य की अलंकरण प्रवृत्ति (सौन्दर्य प्रेम की प्रवृत्ति) और आत्माभिव्यक्ति की कामना ही काव्य की प्रेरणा है । बेनेदेतो क्रोचे ने आत्माभिव्यंजना को काव्य का मूल प्रेरणा स्त्रोत मानते हुए उसे शुद्ध सहजानुभूति के रूप में प्रतिष्ठित किया । वहीं प्रसिद्ध जर्मन मनोविज्ञान शास्त्री फ्रायड ने जीवन की समस्त क्रियाओं का स्त्रोत काम को माना है । फ्रायड का मत था कि "हमारी अभुक्त या अतृप्त कामवासना स्वप्न या अचेतनावस्था में ओर काव्य सृजन की अर्द्धचेतनावस्था में परितृप्त होती है । यह अतृप्त कामना ही काव्य के मूलाधार भाव चित्रों की जननी है । अत: हृदय की दबी हुई वासनाएं अपने विकास का मार्ग खोजती हुई काव्य, कला तथा स्वप्न आदि की सृष्टि करती है । लेकिन एडलर ने साहित्य सृजन को मानव जीवन की अभावों की पूर्ति करने का उपादान बताया है । ऐसा नहीं है कि पाश्चात्य चिंतन में प्रेरणा को दैवी स्त्रोत से न जोड़ा हो । अनेक यूनानी तथा रोमन लेखकों की मान्यता थी कि प्रेरणा दैवी स्त्रोत से अवतरित होती है । इसे कला और ज्ञान की देवी 'म्यूस' का वरदान बताया गया । यही कारण है कि पाश्चात्य कृतियों में सर्वप्रथम जूस' की आराधना-वंदना का प्रचलन सामान्य रूढ़ि बनता गया ।

वस्तुत: पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य सृजन के मूल स्त्रोत की प्राप्ति मनुष्य की इन मानसिक प्रवृत्तियों में की है -

1. आत्माभिव्यक्ति की कामना ।
2. मानव क्रिया व्यापारों में अनुराग
3. कौतूहल प्रियता
4. सौन्दर्याभिलाषा
5. स्वाभाविक आकर्षण

डॉ. वेंकट शर्मा के अनुसार काव्य प्रेरणा का स्वरूप समझकर ही सहृदय पाठक अथवा काव्यालोचक उत्तम काव्य का परीक्षण कर सकता है । इस दृष्टि से काव्य प्रेरणाओं का अध्ययन एवं अनुशीलन काव्य वैभव के उपनिषद् का वह मूलमंत्र है जिसकी साधना के उपरांत ही काव्य शक्ति एवं कवि व्यक्तित्व के विश्लेषक का प्रकृत उपक्रम किया जा सकता है ।

3.3 काव्य हेतु और संस्कृत काव्य शास्त्र परम्परा

हिन्दी साहित्य कोष के अनुसार कवि शिक्षा के अन्तर्गत कवि में काव्य निर्माण की सामर्थ्य उत्पन्न करने वाले साधनों को काव्य हेतु, अथवा 'काव्य के कारण कहा जाता है ।' वामन ने काव्य हेतु का काव्यांग कहा है । संस्कृत काव्यशास्त्र की सुदीर्घ परंपरा में जिन चार काव्य हेतुओं का उल्लेख मिलता है वे हैं -

1. प्रतिभा
2. व्युत्पत्ति
3. अभ्यास
4. समाधि

इन काव्य हेतुओं में प्रतिभा का महत्त्व असंदिग्ध है और यही कारण है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रतिभा की विस्तृत विवेचना मिलती है ।

3.3.1 प्रतिभा

संस्कृत काव्शास्त्र के विद्वान आलोचक व कवि डॉ. मूलचन्द पाठक ने लिखा है - प्रतिभा तत्त्व की व्याख्या संस्कृत काव्यशास्त्र की एक महती उपलब्धि है । आचार्यो ने प्रतिभा को काव्य की मूल सर्जना-शक्ति माना है । इसके अभाव में काव्य का प्रर्वतन ही नहीं होता और यदि हठात् किया भी जाता है तो वह उपहास का ही पात्र होता है । ..... दार्शनिक दृष्टि से प्रतिभा ईश्वरीय सर्जन शक्ति का ही मानवगत प्रतिरूप है । वह कवि की सर्जना-शक्ति तो है ही, उसकी तत्त्व दृष्टि, अन्तर्दृष्टि, मानस-चित्रों का विधान करने वाली कल्पना, काव्यात्मक अभिव्यंजना के कौशल, सौन्दर्यानुभूति, प्रतिभाज्ञान, वस्तुओं में अपूर्वता का दर्शन करने वाली क्षमता आदि का पयार्य भी है ।

प्रतिभा के संबंध में विभित्र आचार्यो के मतों को जानना आवश्यक है । वामन ने इसे जन्मान्तर से प्राप्त संस्कार कहा है, जिसके बगैर काव्य-रचना नहीं हो सकती (काव्यलंकारसूत्र) । रूद्रट ने कहा कि मन की एकाग्रावस्था में जिसमें अभिधेय का अनेक रूपों में विस्फुरण होता है और जिसमें अक्लिष्ट पद सूझ पड़ते हैं उसे शक्ति कहते हैं (काव्यलंकार) । राजशेखर के अनुसार जो बुद्धि सार्थक शब्द समूह को, अलंकार तंत्र को, कहने के ढंग को तथा ऐसी ही अन्य बातों को हृदय में प्रतिभासित करती है, उसे प्रतिभा कहते हैं । मम्मट ने कहा है शक्ति कवित्व का बीजरूप कोई संस्कार विशेष है जिसके बिना काव्य प्रस्तुत नहीं होता और यदि हो भी तो उपहासनीय होता है । वाग्भट्ट ने इस विषय में लिखा कि प्रसन्न पदावली, नये-नये अर्थो तथा उक्तियों का उद्बोधन करने वाली कवि की स्फुरणशील सर्वतोमुखी बुद्धि को प्रतिभा कहते हैं। अंत में भट्टतौत की व्याख्या - ''प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता । तदनुप्राणनाजीवदवर्णनानिपुण: कवि ।'' अर्थात् नये नये भावों के उन्मेष से युक्त प्रज्ञा को प्रतिभा कहते है । उसमें अनुप्राणित जीवन्त वर्णन में निपुण व्यक्ति को ही कवि कहते हैं।

रुद्रट ने प्रतिभा के दो भेद किए - सहजा अर्थात् स्वाभाविक और उत्पाद्या अर्थात साधनों का उपयोग से उत्पन्न की जाने वाली । राजशेखर ने भी प्रतिभा के दो प्रकार बताए कारयित्री और भावयित्री'

कारयित्री - काव्य निर्माण में कवि को साहाम्य देने वाली प्रतिभा ।

भावयित्री - भावक को काव्यास्वादन में समर्थ बनाने वाली प्रतिभा ।

कारयित्री प्रतिभा के तीन भेद हैं - सहजा, आहार्या और औपदेशिकी । जन्मान्तर के संस्कारों की अपेक्षा रखने वाली सहजा, वर्तमान जन्म के संस्कारों से उत्पत्र आहार्या तथा मंत्र तंत्र जैसे साधनों से उत्पत्र औपदेशिक होती है । प्रतिभा के इन तीन भेदों को स्मृति, मति और प्रज्ञा भी कहा गया है । वहाँ स्मृति अतीत विषय का स्मरण कराने वाली विशेष बुद्धि है, मति वर्तमान का बोध कराने वाली बुद्धि तथा भविष्य का संकेत देने वाली बुद्धि प्रज्ञा के नाम से अभिहित की गई है । प्रज्ञा को उन्मेषशालिनी मानते हुए कहा गया है - ''ज्ञेया प्रज्ञा त्रैकालिकीमत'' प्रतिभा के कार्य क्या हैं? इन्हें मोटे तौर पर चार भागों में देखा जा सकता है -

1. कवि में नवीन कल्पना की उद्भावना करना ।
2. कवि को भावलीन होने व सौन्दर्य की अनुभूति करने की क्षमता देना
3. कवि की कल्पनाओं को मूर्त रूप देने के लिए उल्लेख या चित्र विधान करना ।
4. उल्लेख या चित्र विधान को संभव बनाने के लिए शब्द चयन, अर्थ योजना, अलंकार, उक्ति जैसे उपकरण जुटाना ।

वहीं भावयित्री प्रतिभा के फलस्वरूप 'कवि-व्यापार-तरु' की सफलता-सार्थकता का मूल्यांकन संभव होता है । उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साहित्य सृजन में प्रतिभा का क्या महत्व है। प्रतिभा को शक्ति कहना ही उसके महत्व का परिचायक है ।

3.3.2 क्या प्रतिभा ही काव्य सृजन का एकमात्र मूल कारण है?

संस्कृत काव्य शास्त्र में यह शाश्वत बहस का विषय है प्रतिभा ही एकमात्र काव्य हेतु है अथवा व्युत्पति व अभ्यास का सम्मिलित स्वरूप काव्य सृजन का सही आधार है । कुछ आचार्य इनकी पृथक-पृथक सत्ता मानते हैं और यहाँ तक कि समाधि को भी काव्य हेतु का दर्जा दिया गया। डॉ. वेंकट शर्मा ने लिखा है - 'काव्य सर्जना का मौलिक हेतु तो प्रतिभा-तत्त्व ही है जो समान उसके सहयोगी या शोभाधायक अंग बनते हैं । जिस प्रकार जड़ चेतन का संघात स्वरूप हमारा व्यक्तित्व भौतिक और आत्मिक चेतनाओं का सम्मिश्रण है जिसकी जड़ता और चेतना को तत्त्वतः पृथक-पृथक नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार काव्य रचना के अखंड स्वरूप में प्रतिभा आदि तत्वों का संयोजन ऐसी अद्भुत रासायनिक प्रक्रिया में होता है कि उनकी शल्य परीक्षा करना न तो समुचित ही है और न संभावित ही । साहित्य के समन्वयात्मक स्वरूप की भाँति उसमें भी प्रतिभा आदि तत्त्वों का सम्मिलन रहता है जिसमें किसी भी प्रेरणा के साहित्य की कल्पना नहीं की जा सकती ।

काव्य हेतु चिंतन की इस परंपरा में स्पष्टत: दो धाराए हैं पहली वह जो प्रतिभा-व्युत्पत्ति-अभ्यास तीनों को काव्य हेतु मानती है और दूस्मी स्प जो केवल प्रतिभा को ही श्रेय देती है।

अ. मम्मट, दण्डी और राजशेखर तीनों को समान महत्त्व देतें हैं ।

ब. वामन, आनन्दवर्धन, राजशेखर, केशव मिश्र, रुद्रट तथा पंडित जगत्राथ प्रतिभा की प्रधानता स्वीकार करते हैं ।

3.3.3 व्युत्पत्ति

राजशेखर ने कहा है कि 'उचित अनुचित का विवेक ही व्युत्पति है ।' उन्होंने प्राचीन आचार्यो के मतों पर विचार करते हुए व्युत्पति का अर्थ 'बहुज्ञता' माना है । संस्कृत काव्यशास्त्र के अधिकांश आचार्यो ने इस मत की पुष्टि करते हुए व्युत्पत्ति को प्रतिभा का संस्कारक अथवा पोषण करने वाला कारक माना है । इसके अपवादस्वरूप आचार्य मंगल ने व्युत्पति को प्रतिभा से श्रेष्ठ माना है । इस सम्बन्ध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा दी गई लोकनीति और लोकहृदय की अवधारणा प्रासंगिक हो उठती है । पाठक के मन को छू जाने के लिए कवि में सहृदयता की आवश्यकता होती है और इसके लिए कवि को लोक से गहरा सम्बन्ध होना अपरिहार्य है। अत: कहना न होगा कि कविप्रतिभा से व्युत्पति का निकट सम्बन्ध है ।

3.3.4 अभ्यास

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में अभ्यास की परिभाषा 'निरंतर प्रयास करते रहने' से दी है । प्रतिभाशाली होने पर भी अभ्यास की कमी से कवि द्वारा रचा गया काव्य उत्कृष्टता से वंचित रह जाता है । यही कारण है कि सभी आचार्यो ने अभ्यास को प्रतिभा का पोषक तत्त्व माना है । दंडी ने प्रतिभा का सर्वोच्च महत्त्व स्वीकार करते हुए भी लिखा है कि 'पूर्व-वासना-जन्म से अद्भुत प्रतिभा के न रहने पर भी शास्त्राध्ययन और अभ्यास से वाण की उपासना करने पर वाणी अवश्य ही अनुग्रह करती है ।' अत्यंत प्रचलित दोहा है - 'करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान, रस्सी आवत जात है सिल पर पड़त निसान ।'

3.3.5 समाधि

राजशेखर ने मन की एकाग्रता को समाधि कहा है । उन्होंने श्यामदेव का मत उद्धत कर लिखा है - काव्य कर्म में कवि की समाधि सर्वोत्कृष्ट साधन है और स्वयं समाधि को आभ्यान्तर प्रयास माना है । उन्होंने इसे शक्ति का एक कारण भी बताया है । वामन ने 'समाधि' को 'अवधान' शब्द की संज्ञा दी ।

3.4 प्रतिभा और कल्पना में संबंध

भारतीय काव्यशास्त्र में जिसे प्रतिभा कहा है क्या वही तत्व पाश्चात्य काव्यशास्त्र में कल्पना के नाम से अभिहित किया गया है । डॉ. बच्चन सिंह ने अपने ग्रंथ 'भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन' में इसका विवेचन किया है । उनके अनुसार पश्चिमी काव्यशास्त्र में जिसे कल्पना (इमेजिनेशन) कहा गया है उसे ही भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतिभा कहा गया है । प्लेटो कल्पना को फैंटेसिया कहता है । अरस्तु का कहना है कि कवि अपनी कल्पना से पात्रों की विभिन्न अवस्था में प्रवेश करके यह जानने की कोशिश करता है कि दर्शकों या पाठकों पर उसके नाटक का क्या प्रभाव पड़ेगा? रोमन युग में कल्पना वक्ता या लेखक

की वह विशिष्ट शक्ति मानी गई थी जो अदृश्य वस्तुओं का ऐसा वर्णन करती है कि वे श्रोताओं या पाठकों के सामने प्रत्यक्षीकृत हो उठती है । प्लेटो के अनुयायी प्लाटिनस ने प्रतिभा को ईश्वर की शक्ति-सहोदरा कहा है ।

पश्चिम में कल्पना का लंबा-चौड़ा विवेचन हुआ है । कॉलरिज कल्पना के दो भेद करता है - प्रारंभिक (प्राइमरी) और दूसरी (सैकेण्डरी) । यह फैंसी (निर्बल कल्पना) से भिन्न है । द्वितीय कल्पना भारतीय आचार्यो की कारयित्री प्रतिभा है । इसी के आधार पर कवि नूतन निर्माण करता है । द्वितीय कल्पना में ही विरूद्धों का सामंजस्य होता है । इसके माध्यम से नवीन प्राचीन, परिचित-अपरिचित, जड़-चेतन आदि सामंजस्यपूर्ण हो उठते हैं । वे आवयविक दृष्टि से संपूर्ण और अखंड हो जाते हैं । फैंसी में अनेक वस्तुओं का जो ऐक्य स्थापित होता है वह यांत्रिक होता है । वे मशीन के पुरजे की तरह एक दूसरे से संयुक्त होती हुई भी अलग होती है । द्वितीय कल्पना नियंत्रित होती है तो फैंसी अनियंत्रित ।

पश्चिम में प्रतिभा को जीनियस की संज्ञा भी दी गई है । डॉ. सिंह ने बताया है कि शैली जीनियस के महत्व का प्रतिपादन करता हुआ कहता है कि यह दुनिया के छिपे हुए सौन्दर्य का आवरण हटा देता है और परिचित वस्तुओं को इस तरह अनावृत करता है कि वे अपरिचित-सी प्रतीत हों । कॉलरिज का कथन है कि सुन्दर अर्थ कविता का षरीर है, फैंसी वस्त्र-विन्यास है, गति जीवन है और कल्पना आत्मा है ।

3.5 पाश्चात्य काव्यशास्त्र में काव्य प्रेरणा

पश्चिमी काव्य शास्त्रीय अध्ययन में काव्य प्रेरणा सम्बन्धी चिंतन निम्न है -

3.5.1 काव्य प्रेरणा और दैवी प्रेरणा

पश्चिम में काव्य प्रेरणा के सम्बन्ध में दो मत प्रचलित रहे हैं, जो इस प्रकार हैं -

(i) काव्य प्रेरणा रचनाकार को बाहर से प्राप्त होती है ।

(ii) काव्य प्रेरणा रचनाकार को स्वयं अपने भीतर से मिलती है ।

इसके साथ ही काव्य प्रेरणा के दैवी स्त्रोत से अवतरित होने की अवधारणा पल्लवित हुई । काव्य प्रेरणा को अलौकिक शक्तियों का आशीर्वाद माना गया । महाकवि होमर ने अपने विख्यात महाकाव्यों 'इलियड' और 'ओडेसी' का प्रारंभ ही 'म्यूस' अर्थात् विद्या की देवी की आराधना से किया है ।

प्लेटो ने काव्य सृजन की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए 'फीड्रस' नामक संवाद में अन्तःप्रेरणा सिद्धांत का प्रतिपादन किया था । उसने इसे दैवीय माना था । और इसे विक्षेप का श्रेष्ठतम रूप स्वीकार कर कहा कि 'यह विक्षिप्तता उन लोगों में होती है जो वाग्देवी से आविष्ट होते हैं । वह किसी सुकोमल एवं अक्षत आत्मा को अभिभूत कर लेती है और उसमें उन्माद का संचार करती हुई प्रगति एवं अन्य काव्यों के स्वर जगाती है ।

अरस्तु ने भी इस मत को स्वीकार किया है कि प्रेरणा दैवी होती है । उसने 'काव्यशास्त्र' में शिल्पविधि को विशेष महत्व देकर यह मान्यता दी है कि 'सफल काव्य की सृष्टि ईषत् विक्षेप अर्थात् प्रबल अन्तःप्रेरणा की अवस्था में ही सम्भव है । ऐसी स्थिति में ही कवि कि संवेदन-शक्ति व्यक्तिगत परिसीमाओं से मुक्त होकर साधारणीकृत हो जाती है ।'

सुकरात ने इस प्रसंग में इऑन से कहा - 'जो शक्ति तुम्हें प्राप्त है वह कला नहीं है । किन्तु जैसा कि मैंने अभी बताया है वह 'प्रेरणा' है ।. तुम्हें एक देवी-शक्ति परिचालित कर रही है, वह ऐसी शक्ति के समान है जो उस प्रस्तर-खण्ड में निहित रहती है, जिसे यूरूपिडिज ने 'चुम्बक' की संज्ञा दी थी । किन्तु जो सामान्यत: हेरेक्ली का प्रस्तर कहलाता है । यह प्रस्तर न केवल लोहे की अंगूठियों को स्वयं आकृष्ट करता है अपितु उन्हें अन्य लोहे की अंगूठियों को आकृष्ट करने की शक्ति भी प्रदान करता है और कभी-कभी हम कई लोहे के खण्डों, अंगूठियों को आकर्षण के द्वारा एक श्रृंखला में सम्बद्ध पाते हैं ।... इस भग़ेति म्यूस (विद्या की देवी) सर्वप्रथम कतिपय व्यक्तियों को प्रेरित करती है और इन अनुप्रेरित व्यक्तियों से अन्य प्रेरणा प्राप्त जनों की श्रृंखला जुड़ी रहती है, जो म्यूज द्वारा प्रेरित जनों से निरन्तर प्रेरणा प्राप्त करते रहते हैं क्योंकि सभी उत्कृष्ट कवि चाहे वे महाकाव्य प्रणेता हों या मुक्तक प्रणेता हों, अपनी सुन्दर कला की रचना कला द्वारा नहीं करते, बल्कि उस प्रेरणा द्वारा करते है । जो उन्हें प्रेरित और अभिभूत करती है । और जैसे कोरिवेष्टियन आमोद-प्रमोद करने वालों के मन में नृत्य करते समय विक्षेप होता है वैसे ही मुक्तक रचने वाले कवियों के मन में विक्षेप होता है ।.. कवि मनुष्यों के बारे में अनेक सुन्दर बातें कहते हैं, किंतु जैसा तुमने स्वयं होमर के विषय में बताया है, वे उनके बारे में कला के नियमों द्वारा कथन नहीं करते, वरन वहीं बातें कहते हैं जिनके जिए 'म्यूज' उन्हें प्रेरित करती हैं ।'

मध्यकाल में इस धारणा को रूढ़ि की तरह स्वीकार कर लिया गया था किंतु स्वच्छंदतावादी युग में कवियों-आलोचकों ने अन्तःप्रेरणा पर भारी बल दिया । विख्यात कवि शैली ने अपने निबन्ध 'इन डिफेंस ऑव पोयट्री' में कहा - 'कविता सचमुच एक दिव्य शक्ति है । कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि मैं कविता रचूँगा 1 बड़े से बड़ा कवि भी यह नहीं कह सकता क्योंकि सर्जक का मन बुझते हुए कोयले की तरह होता है जिसे कभी कभी आने वाली हवा के झोंके की भाँति कोई अदृश्य प्रभाव क्षणिक दीप्ति से मंडित कर जाता है, यह शक्ति अंदर से उद्भूत होती है.. और हमारे स्वभाव के चेतन अंशों द्वारा न उसके आविर्भाव के सम्बन्ध में पहले से कुछ कहा जा सकता है न तिरोभाव के ।'

बेनेदेतो क्रोचे ने इस सिद्धान्त को सहजानुभूति (इंट्यूशन) के आधार पर प्रस्तुत कर कहा कि सहजानुभूति में अलौकिक शक्ति होती है । वह किसी भी हृदय अथवा भावना को आत्मलीन कर उसे सुन्दर रूप में ढाल देती है । उसके शब्दों में 'प्रत्येक सत्य सहजानुशुतइ अथवा स्वयंप्रकाश्य ज्ञान की अभिव्यंजना है । जो अभिव्यंजना में सफल नहीं होता वह सहजानुभूति या स्वयं प्रकाश्य ज्ञान नहीं है, वह केवल अनुभूति और स्वाभाविकता है ।

3.5.2 अनुकरण का सिद्धान्त

अरस्तु काव्य को उपयोगिता, आदर्श, नैतिकता या किसी नीति के संदर्भ में न देखकर विशुद्ध कलात्मक दृष्टि से देखता है । उसका मत है कि अनुकरण जीवन की मूल प्रवृति है । वह कला को अनुकृति मानता है और उसे प्रकृति का अनुकरण बताता है, किन्तु यहाँ प्रकृति से

उसका अभिप्राय जड़ प्रकृति से न होकर प्रकृति की सम्भाव्यता, विकास और हास की क्षमता से है । जीवन की पुर्नरचना के अनुकरण का अर्थ मानते हुए अरस्तु उसे नकल से कहीं ऊँचा दर्जा देते हैं ।

पश्चिमी काव्य शास्त्र में अरस्तु के बाद भी अनुकरण की चर्चा निरंतर हुई है । होरेस का मत था कि 'नवीन रचनाकारों को प्राचीन कृतियों का दिन में अध्ययन और रात में इन कृतियों पर मनन-चिंतन करना चाहिए । ' पॉटस ने कहा 'यह आत्माभिव्यंजना से भिन्न, जीवन की अनुभूति का पुन: सृजन है । ' लेकिन कॉलरिज ने अनुकरण का अभिधार्थ ही स्वीकार किया और कल्पना पर अत्यधिक बल देते हुए अनुकरण को असम्भव माना ।

इस सिद्धान्त में वस्तु तत्व या अनुकार्य को वरेण्य माना गया है और आत्म तत्व को भी स्वीकृति दी गई है । भारतीय काव्य चिंतन परंपरा में 'अनुकरण के स्थान पर 'अनुकीर्तन' का प्रचलन मिलता है ।

3.5.3 प्रतिभास का सिद्धान्त

अनुकरण का सिद्धान्त स्वीकार कर लिए जाने पर अनुकरण को जीवन की पुर्नरचना के रूप में प्रतिष्ठा मिली । लेकिन कलाकृति (कविता, नाटक या चित्र) का तात्कालिक प्रभाव 'सत्य से पृथकता के रूप में बताया गया । उसे 'अदरनेस फ्राम रियलिटी' अथवा प्रतिभास के रूप में प्रवर्तित किया गया । शिलर ने कहा कि 'कलाकृति में जो भी व्यक्त होता है वह एक प्रकार का प्रतिभास है । यह प्रतिभास जीवन, संसार की कठोर और कड़वी सच्चाइयों के मध्य एक अपरिचित अभ्यागत के समान है ।' इसे ही अजनबीपन या पृथकता कहा जा सकता है । प्रसिद्ध मनोविश्लेषणशास्त्री युंग ने कला वस्तु को 'प्रतिभास' की संज्ञा देते हुए स्वप्न के दृष्टांत के माध्यम से अपना मत व्यक्त किया है । वस्तुत: इस प्रकार की भ्रांति उत्पन्न कर कला पाठक, श्रोता या दर्शक को यथार्थ का भ्रम देती है जो स्वप्न प्रभाव की भाँति होता है ।

3.5.4 आत्माभिव्यक्ति का सिद्धान्त

लिरिकल बैलेड्स की भूमिका में विलियम वर्डसवर्थ ने कहा है कि "कविता शक्तिशाली भावों का सहज उच्छलन है । इसका उद्भव प्रशान्त क्षणों में भावों के पुन:स्मरण से होता है ।" अनुभूति के आवेग को आत्माभिव्यक्ति से जोड़कर काव्य सृजन की व्याख्या की गई है । ऐतिहासिक दृष्टि से आत्माभिव्यक्ति सिद्धान्त का सम्बन्ध पश्चिमी रोमांटिक चिंतनधारा की काव्यरचना से जोड़ा गया है । अनुभूति के आवेग को लौंजाइनस ने उदात्त के सम्बन्ध में विवेचित किया है - 'मैं यह बात पूरे विश्वास से कह सकता हूँ कि जो आवेग उन्माद और उत्साह के उद्दाम वेग से फूट पड़ता है और एक प्रकार से वक्ता के शब्दों को विक्षेप से परिपूर्ण कर देता है, उसके यथास्थान व्यक्त होने से स्वर में जैसा औदात्य आता है, वह अन्यत्र दुर्लभ ही है ।' आत्माभिव्यक्ति सिद्धान्त में व्यक्ति के आंतरिक आवेग और आवेश को कला सृजन के लिए महत्वपूर्ण कारण माना गया है । इस सिद्धांत की अवधारणा के मूल में काव्य के स्थान पर 'कवि के होने का यही तर्क है ।

वस्तुत: अनुभूति या राग तत्व कवि की संवेदनशीलता से सम्बन्धित है । कवि जितना अधिक संवेदनासंपत्र और कल्पनाशील होगा उसकी कविता में भावों की अभिव्यक्ति उतनी ही सहज होगी ।

3.5.5 इच्छापूर्ति का सिद्धान्त

इच्छापूर्ति का सिद्धान्त काव्यशास्त्रीय चर्चा में मनोविश्लेषणवादी आचार्य सिगमंड फ्रायड ने दिया । फ्रायड के अनुसार दबी हुई इच्छाओं का मानव के व्यवहार की दृष्टि से भारी महत्व है । इसका मूल कारण उसने कामवृति में और अचेतन रूप में उसके दमन में खोजा है । कवि या रचनाकार दबी हुई इच्छाओं की पूर्ति का रचना में प्रयास करता है, अत: कला अतृप्तियों की तृप्ति का प्रयास है । फ्रायड ने रचनाकार को मनोरोगी कहते हुए स्वप्न सिद्धान्त की विस्तृत चर्चा की और काव्य या कला सृजन को फेंटेसी और शिशु क्रीड़ा से जोड़ दिया । कुण्ठाओं को अतृप्त इच्छाएं बताते हुए फ्रायड ने प्रतिपादित किया कि ये अतृप्त इच्छाएं ही मनुष्य को अभिव्यक्ति के लिए प्रेरित करती हैं । यह अभिव्यक्ति की प्रेरणा ही सृजन की मूल प्रेरणा है जिसकी गहराई में दमित या अतृप्त इच्छाएं विद्यमान है । इनकी अभिव्यक्ति से सर्जक (कवि, चित्रकार) को सहज ही तुष्टि प्राप्त हो जाती है और सहृदय भी आनंद प्राप्त करता है । इस प्रकार दोनों की काल्पनिक तुष्टि होती है । डी. बच्चन सिंह ने इस प्रसंग में फेंटेसी की व्याख्या इन शब्दों में की है- 'फ्रायडीय मनोविज्ञान ने फेंटेसी के अध्ययन की नयी दिशा खोज ली है । फ्रायड के मतानुसार, स्वप्नगत फेंटेसी जीवनगत अनुभवों का विघटित रूपांकन है । इनका अध्ययन मन की अतल गहराइयों को खोज निकालने का प्रयास है । मुक्तिबोध की फेंटेसी सामूहिक अवचेतन को ही प्रकाशित करती है । सारत: कहा जा सकता है कि कला सृजन यथार्थ से फेंटेसी और फेंटेसी से पुन: यथार्थ की ओर लौटने की मनोहारी यात्रा है ।

3.5.6 अधिकार भावना का सिद्धान्त

मनोविश्लेषणवादी एडलर ने जीवन की केन्द्रीय प्रेरणा शक्ति अधिकार भावना को माना है । एडलर की मान्यता है कि अहं की मांग मानसिक - स्नायविक रोगों में काम की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण कारण हो सकती है । समाज में स्वीकृति, सम्मान या अहंकार-स्थापना मानव की अत्यंत स्वाभाविक और जन्मजात प्रवृति है । यही जीवन की बड़ी समस्या भी है जो (1) समाज (2) व्यवसाय और (3) विवाह या प्रेम इन तीनों जीवन क्षेत्रों में व्यक्त होती है । आत्म स्थापना में विफल रहने पर मानव में हीन भावना बढ़ जाती है जिसका या तो दमन होता है या मुक्ति पाने का प्रयास । असहायता के तीन क्षेत्र बताए गए हैं - (1) विषम परिस्थितियां (2) अनुचित व्यवहार (3) विकलांगता या आगिक हीनता । इस हीन भावना की प्रतिक्रिया भी तीन रूपों में व्यक्त होती है -

(1) सफल क्षतिपूर्ति

(2) हार के बाद कर्म से पलायन कर जाना

(3) अति-क्षतिपूर्ति या समझौतापरस्ती

इस प्रकार एडर ने जीवन और सृजन की मूल प्रेरणा क्षतिपूर्ति को बताया है क्योंकि इससे अधिकार भावना की पूर्ति है ।

3.5.7 प्रजातीय स्मृति का सिद्धान्त

युंग ने फ्रायड के समान अवचेतन का व्यापक महत्व स्वीकार किया है, किंतु वह अपने अपने सिद्धान्त में फ्रायड की काम और एडलर की आत्म स्थापना की प्रवृतियों का समन्वय कर 'लिबिडो' को व्यापक अर्थ देता है । युंग की मान्यता है कि मानव के अवचेतन में ऐसे तत्व भी मौजूद होते हैं जो कभी व्यक्तिगत अनुभव की सीमा में नहीं आते यद्यपि ये तत्व चेतन नहीं हैं तथापि ये पुराने और सर्वव्यापी हैं । इसके लिए उन्होंने प्रजातीय स्मृति का सिद्धान्त (रेशियल मेमोरी) का सिद्धांत प्रतिपादित किया । युंग ने लोगों को दो वर्गो में बांटा है (1) वे जिनका संपूर्ण अवधान और ऊर्जा स्वयं पर ही केन्द्रित होती है, उन्हें अन्तर्मुखी कहा जाता है । ऐसा व्यक्ति अत्यधिक भावुक, कल्पनाशील, एकांतप्रिय, अव्यावहारिक और बेहद सृजनशील होता है । (2) दूसरे वे लोग, जिनमें यह शक्ति सामाजिक, भौतिक वातावरण की ओर उन्मुख करती है । इन्हें बहिर्मुखी कहा जाता है । इस प्रकार के व्यक्ति व्यवहारकुशल, समाजप्रिय सभा चतुर, क्रियाशील, खुले स्वभाव का होता है ।

इसी प्रकार युंग ने मन के तीन स्तर बताए (1) चेतन मन (2) वैयक्तिक अवचेतन मन (3) सामूहिक अवचेतन मन । युंग का मत है कि कला का सृजन सामूहिक अवचेतन की अभिव्यक्ति होता है, क्योकि कृति में कवि का व्यक्तित्व और युग ही नहीं बोलता बल्कि इतिहास और परंपरा भी बोलते हैं ।

पश्चिम कला सृजन की प्रेरणा से सम्बन्धित और भी सिद्धान्त प्रचलित रहे हैं जिनमें मार्क्सवादियों का 'द्वन्हात्मक भौतिकवाद' तथा कलावादियों का 'सौन्दर्य सिद्धान्त' भी है ।

3.6 हिन्दी में काव्य प्रेरणा - काव्य हेतु का चिंतन

भक्तिकाल से काव्य प्रेरणा व काव्य हेतु की चर्चा कवियों में मिलती है । तुलसीदास ने कहा है 'स्वान्तः सुखाय, तुलसी रघुनाथ गाथा' और उनके लिए 'एक भरोसो एक बल' और 'एक आस' उनके आराध्य देव रहे । मीरा के गीतो का उद्गम उनकी प्रणय वेदना और विद्रोही मन की सहज अभिव्यक्ति है । वे लिखती हैं - 'घायल की गति घायल जाने ।' डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त ने भक्त कवियों के काव्य का आधार इन चार प्रेरणाओं को बताया - (1) इष्टदेव या आराध्य का स्वरूप व चरित्र (2) आचार्य या गुरू का निर्देशन (3) भक्तिभाव और प्रणय वेदना की अनुभूति तथा (4) मित्रों की जिज्ञासा ।

रीतिकाल के अप्रतिम कवि घनानंद ने लिखा है - 'लोग हैं लागि कवित बनावत मोहिं तो मेरे कवित बनावत ।' इस युग में काव्य प्रेरणा और प्रयोजन इस तरह घुल मिल जाते हैं कि बहुधा भ्रम उत्पन्न होता है ।

आधुनिक काल में सर्वप्रथम बाबू श्यामसुन्दर दास ने 'साहित्यालोचन' में काव्य प्रेरणा के लिए निम्न मनोवृतियों की चर्चा की (1) आत्माभिव्यंजना की इच्छा (2) मानव व्यापारों में अनुराग (3) नित्य और काल्पनिक संसार में अनुराग (4) सौन्दर्यप्रियता । छायावाद के दौर में प्रेरणा का अभिप्राय आत्माभिव्यक्ति से लिया गया । इस काल में कविवर सुमित्रानन्दन पंत ने इस ओर गंभीर विचार किया है । उन्होंने लिखा है - 'एक विकसित कलाकार के व्यक्तित्व में,

स्वान्तः और बहुजन में, आपस में वही सम्बन्ध होता है जो गुण और राशि में और एक के बिना दूसरा अधूरा है ।' आगे वे विरह वेदना को भी काव्य रचना की मूल प्रेरणा बताते हैं -

वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान ।
निकलकर आँखों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान ।।

राष्ट्रकवि रामधारीसिंह दिनकर ने लिखा है 'मैं यह मानता हूँ बसन्त का गुलाब और कवि का स्वप्न अपने मन में पूर्ण होता है, वह किसी को कुछ सिखलाने के लिए नहीं होता ।" यह प्रकारान्तर से कवि जयशंकर प्रसाद के मत की ही पुष्टि है जिसमें उन्होंने कहा था - 'काव्यानुभूति स्वतः एक अखंड, आत्मिक व्यापार है जिसे किसी दार्शनिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक खण्ड व्यापार या वाद से जोड़ने की आवश्यकता नहीं है ।

कविता के सम्बन्ध में विचार करने वालों में बड़ा नाम गजानन माधव मुक्तिबोध का है । 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष' पुस्तक में उन्होंने लिखा है - "हृदय में संचित प्रतिक्रियाएँ, अनुभव, आवेशमय अनुरोध, अतृप्त स्वप्न-राशियाँ जो हृदय में संचित हैं - उत्थित, तरंगित और प्रवाहित होकर संवेदनात्मक उद्देश्यों की दिशा में, जब उमड़ने लगती है और साथ ही जीवन-दृष्टि से ज्योतित होकर अतर्नेत्रों के सम्मुख दृश्यमान होने लगती है, तब वस्तुतः हमें एस्थेटिक इमोशन प्राप्त होता है ।" वहीं वे अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में और स्पष्ट कहते हैं कि ' 'सक्षम, सुन्दर अभिव्यक्ति तो अविरल साधना और श्रम के फलस्वरूप उत्पन्न होती है ।"

तार सप्तक के प्रणेता अज्ञेय ने घोषणा की कि "काव्य प्रेरणा काव्य का आभ्यान्तरिक उपादान है" और कला "सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरूद्ध अपने प्रमाणित करने का प्रयत्न, अपर्याप्तता के विरूद्ध विद्रोह है ।" उन्होंने लिखा कि "सामाजिक उत्तरदायित्व ओढ़ लेने से ही कृतित्व के क्षेत्र में कोई समस्या नहीं हल होती" - इतना ही होता है कि रोजमर्रा जीवन में काम आने वाली 'प्रयोजनवादी भाषा का व्यवहार करते समय आप अधिक सतर्क हो जाते हैं - चाहे प्रयोजनों के सामाजिक मूल्यांकन में, चाहे अपनी बात और अपने काम (या अपनी नीयत) में सामंजस्य के मूल्यांकन में । यानी आप रह जाते हैं सामाजिक मूल्यों के क्षेत्र में ही, रचना-प्रक्रिया के क्षेत्र में प्रवेश नहीं पाते ।"

स्वातन्त्रयोत्तर हिन्दी आलोचना के शीर्षस्थ आचार्य नामवर सिंह ने अपने ग्रंथ 'कविता के नए प्रतिमान' में रेखांकित किया है कि रचनाकार की ईमानदारी वास्तव में एक मौलिक गुण है और वह उस बौद्धिक स्तर का पर्याय है जिस पर आकर हमारा तर्क पूर्वाग्रह और व्यक्तिगत रूचि से ऊपर उठ जाता है । नामवर जी का यहाँ ईमानदारी जैसे बड़े नैतिक मूल्य को साहित्य के विमर्श के केन्द्र में ले आना बड़े कौशल का काम था ।

इधर विमर्श की नयी चर्चाओं में दलित कवि ओमप्रकाश वाल्मीकी का कथन देखना उपयोगी होगा । वे कहते हैं - "दलित कविता सामाजिक संघर्ष से उपजी है जिसे कलावादी या सामंती काव्यशास्त्र के मापदंडों से नहीं परखा जा सकता ।" इसी अपरिहार्यता के चलते वाल्मीकी ने 'दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र" भी लिखा । उन्होंने अपने मत को स्पष्ट किया है 'दलित

विमर्श में कविता अपनी जीवन्तता और अपने सरोकारों से जुड़कर दायित्व के प्रति समर्पित है ।

3.7 सारांश

वस्तुत: युग बदलने के साथ-साथ साहित्य की जरूरत और महत्व पर भी नयी-नयी दृष्टियों का विकास होता है । आधुनिक काल में ही छायावाद के बाद प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता, अकविता और जनवादी कविता जैसे पड़ावों से पार करते हुए कविता ने लम्बी यात्रा रची है। इसकी प्रेरणा और इसके हेतु निश्चय ही सृजन के मर्म को जानने के लिए आवश्यक है ।

3.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भारतीय काव्यशास्त्र परंपरा में काव्य हेतु की चर्चा कीजिए ।
2. 'प्रतिभा एकमात्र काव्य हेतु है ।' कथन के सम्बन्ध में विचार कीजिए ।
3. फ्रायड और युंग के सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए ।
4. पाश्चात्य काव्यशास्त्र और भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य प्रेरणा के सिद्धान्तों की तुलना कीजिए ।

3.9 संदर्भ ग्रन्थ

1. डॉ. वेंकट शर्मा - 'काव्य सर्जना और काव्यास्वाद', आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली ।
2. डॉ. नामवर सिंह - 'कविता के नए प्रतिमान', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली ।
3. डॉ. बच्चन सिंह - 'भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन', हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला ।
4. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा - 'हिन्दी साहित्य कोष' (दो भाग), ज्ञाननमंडल, वाराणसी ।
5. Dr.R.C.Dwivedi-''Principles of Literary Criticism in Sanskrit'', Motilal Banarasi Das, Banaras.
6. अरूण कमल (सं.) - 'आलोचना', त्रैमासिक पत्रिका, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली ।

इकाई -4 काव्य प्रयोजन

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 संस्कृत के काव्याचार्यो द्वारा निरूपित काव्य प्रयोजन

4.3 हिन्दी के रचनाकारों-आलोचकों द्वारा निरूपित काव्य प्रयोजन

4.3.1 आदिकाल और मध्यकाल के कवियों की दृष्टि

4.3.2 आधुनिककाल के रचनाकारों-आलोचकों की दृष्टि में काव्य प्रयोजन

4.4 पाश्चात्य काव्य-चिंतकों द्वारा निरूपित काव्य प्रयोजन

4.4.1 पाश्चात्य काव्य में काव्य प्रयोजन का उद्भव

4.4.2 नवजागरण कालीन चेतना और काव्य-प्रयोजन

4.4.3 नव-आभिजात्यवाद और नव-प्लेटोवादी विचारधारा

4.4.4 स्वच्छन्दतावादी विचारधारा

4.4.5 'कला कला के लिए' का सिद्धान्त

4.4.6 'कला जीवन के लिए' का सिद्धान्त

4.4.7 मार्क्सवादी चिंतन और काव्य प्रयोजन

4.4.8 मनोविश्लेषणवादी चिंतन और काव्य प्रयोजन

4.5 सारांश

4.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

4.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- काव्य प्रयोजन के स्वरूप पर प्रकाश डाल सकेंगे,
- भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य चिंतकों के काव्य-प्रयोजन संबंधी विचारों को बता सकेंगे,
- यह स्पष्ट कर सकेंगे कि काव्य का प्रयोजन क्या है ।

4.1 प्रस्तावना

यह सत्य है कि बिना कारण के किसी कार्य का सम्पादित होना असंभव है । कार्य और कारण में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है । साहित्य का सृजन जब साहित्यकार द्वारा किया जाता है, तब उसमें कुछ न कुछ निहितार्थ अवश्य होते हैं । ये निहितार्थ क्या हैं, इन्हें जानना और समझना आवश्यक है मानव जीवन समस्याओं और संघर्षो की गाथा का पुंज है । इसी गाथा का कलात्मक रूप साहित्य है मनुष्य अपने सुख, दुख, चिन्ता, अभाव, द्वन्द्व, चुनौतियाँ, तनाव और इन सबसे संघर्ष करने की ऊर्जा साहित्य से प्राप्त करता है । साहित्य व्यक्ति को तमाम चुनौतियों

से सामना करने की प्रेरणा और शक्ति प्रदान करता है । इन चुनौतियों से साहित्य स्वयं सामना नहीं करता अपितु मनुष्य की चेतना को इनसे सामना करने के लिए समर्थ बनाता है ।

यह सत्य है कि पहले कार्य सम्पादित होता है, फिर उसके गुण-दोषों के आधार पर सिद्धान्तों की रचना होती है । काव्य या साहित्य-सृजन के सम्बन्ध में भी यही कथन किया जा सकता है । मिथुनरत क्रौंच पक्षी के बहेलिए द्वारा वध के दृश्य को देखकर जो करूणा-कलित काव्यांकुर का प्रथम श्लोक वाल्मीकि के मुख से निःसृत हुआ, वह किसी पूर्व सिद्धान्त से आबद्ध नहीं था । इस श्लोक के उद्गम से काव्य-सरिता का जब विस्तार हुआ, तब सिद्धान्तों के बाँधों से इसे आबद्ध करने का प्रयास हुआ । कालान्तर में ये सिद्धान्त काव्य के अंगों के रूप में स्थापित हुए और यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि काव्यसृजन का प्रयोजन अंततः क्या है? इस प्रश्न पर काव्याचार्यों ने अपनी-अपनी मति के अनुसार चिन्तन किया और निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया । तब से अद्यतन काव्य-प्रयोजन पर चिंतन-मनन हो रहा है । भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने इस विषय पर अपनी-अपनी संस्कृति के अनुसार विचार किया है और सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है ।

भारतीय काव्य-परम्परा में सृजन-कर्म को प्रारम्भ से ही अत्यधिक महत्व प्रदान किया जाता रहा है । भारतीय काव्य-परम्परा का प्रारम्भ संस्कृत काव्य-परम्परा से होता है । संस्कृत काव्य के सृजनकर्ता अपना काव्य-सृजन वन्दना या मंगलाचरण से प्रारम्भ करते थे और इसमें ही वे अपने काव्य-प्रयोजन को स्पष्ट कर देते थे । भारतीय संस्कृत काव्यशास्त्र का प्रारम्भ आचार्य भरत मुनि के 'नाटयशास्त्र' ग्रंथ से माना जाता है, पर इस ग्रंथ के आरम्भ में काव्य प्रयोजन का उल्लेख नहीं है । 'नाटयशास्त्र को 'पंचम् वेद' कहा गया है । शोकाकुल, दुखीजन, लोक कल्याणार्थ समर्पित जन, गृहस्थी के भार से बोझिल जन तथा तापाग्नि से दीपित समस्त जनों को यह पंचम् वेद अथवा नाटय वेद अथवा लोक वेद चित को कुन्तक, आनंदवर्धन, अभिनव गुप्त, राजशेखर, मम्मट, विश्वनाथ प्रमृति जितने भी आचार्य हुए हैं, उन सब ने ग्रंथारम्म में ही काव्य प्रयोजन को स्पष्ट कर दिया है ।

प्रस्तुत इकाई में काव्य प्रयोजन के स्वरूप पर दृष्टिपात किया जाएगा । सर्वप्रथमू संस्कृत काव्यशास्त्रियों तथा इसके पश्चात् हिन्दी और पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों द्वारा चिंतित काव्य प्रयोजनों का अध्ययन किया जाएगा । आधुनिक काल के हिन्दी रचनाकार व समीक्षक-पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों से किसी-न-किसी रूप में प्रभावित हुए है । इस प्रभाव को भी काव्य प्रयोजन के परिप्रेक्ष्य में रेखांकित किया जाएगा । इस प्रकार यह इकाई निम्नलिखित तीन चरणों में विभक्त होगी :

- संस्कृत काव्याचार्यो द्वारा निरूपित काव्य प्रयोजन
- हिन्दी के रचनाकारों-आलोचकों द्वारा निरूपित काव्य प्रयोजन
- पाश्चात्य काव्य चिंतकों द्वारा निरूपित काव्य प्रयोजन

4.2 संस्कृत के काव्याचार्यों द्वारा निरूपित काव्य प्रयोजन

भारतीय दर्शन में 'फल-चतुष्टय' की प्राप्ति को मानव जीवन का उद्देश्य माना गया है । प्रत्येक मनुष्य - धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का अभिलाषी होता है । यह और बात है कि विज्ञान, टेक्नॉलोजी तथा औद्योगीकरण की त्रिविध वायु से प्रभावित जन 'मोक्ष, 'निर्वाण, 'स्वर्ग', 'समाधि', 'चित्त समाधि' जैसे प्रयोजनों को सिरे से अस्वीकार करता है । पर, भारतीय काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक - संस्कृत काल के काव्यशास्त्रियों ने अपने देश, काल और सामाजिक व्यवस्था को दृष्टिगत रखते हुए काव्य को फल चतुष्टय की प्राप्ति का साधन माना है । काव्यशास्त्र के ज्ञात आद्याचार्य भरतमुनि से लेकर प्रमुख संस्कृताचार्यो के काव्य प्रयोजन संबंधी विचार निम्नानुसार हैं:

आचार्य भरत: भरत ने अपने ग्रंथ 'नाटयशास्त्र' में नाटय-प्रयोजन पर प्रकाश डाला है । उनका नाटय प्रयोजन ही काव्य प्रयोजन है । इनके अनुसार नाटय-रचना से धर्म, नौतिकता, साहस, यश व आयु में वृद्धि होती है । नाटकों की रचना से बुद्धि-वर्द्वन और लोक-हित होता है

धर्म्यशरयमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम् ।
लोकोपदेशजननं नाटयमेतद् भविष्यति ।। (नाटयशास्त्र)

आचार्य भामह: भामह का समय छठी शताब्दी (मध्यकाल) माना जाता है । इन्होंने अपने ग्रंथ- 'काव्यालंकार' में काव्य प्रयोजन की चर्चा की है । इनके काव्य प्रयोजन के चार चरण हैं:

1. अमर यश की स्थिरता श्रेष्ठ काव्य के सृजन में निहित है ।
2. कवि को समस्त विषयों का ज्ञान प्राप्त कर श्रेष्ठ काव्य सृजन करना चाहिए ताकि प्रलयपर्यत उसकी कीर्ति की रक्षा हो सके ।
3. निकृष्ट काव्य रचना से कवि उसी प्रकार निंदित होता है, जैसे कुपुत्र के कारण पिता ।
4. कुकवि होने की अपेक्षा कवि न होना कहीं अधिक अच्छा है, क्योंकि सुकवित्व से धर्म-प्रचार, व्याधि-रक्षा एवं दण्ड-रक्षा हो सकती है, परन्तु कुकवित्व को साक्षात् मृत्यु के समान है।

भामह अपने काव्य प्रयोजन के निष्कर्ष रूप में कहते हैं कि - श्रेष्ठ काव्य कवि के यश का विधायक है । कुकवित्व साक्षात् मृत्यु की भाँति है । कवि और काव्य रसिक जन काव्य के द्वारा चतुष्फल के साथ-साथ प्रीति और कीर्ति को प्राप्त करते हैं :

धर्मार्थ काममोक्षेपु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्ति प्रीति च साधुकाव्यनिबन्धनम् ।। (काव्यालंकार 1.2)

यहाँ आचार्य भरत के काव्य प्रयोजनों के समान ही भामह के काव्य प्रयोजनों का स्वरूप है। भरत ने 'नाटयशास्त्र के अपने सम्बन्धित श्लोक में 'धर्म्य' और 'यशस्य का उल्लेख किया है । भामह ने इन्हें 'धर्म' और 'कीर्ति कहा है । भरत का जो 'बुद्धि विवर्धन है, भामह ने उसे 'वैचक्षण्यं कलासु से अभिहित किया है । आचार्य भरत ने 'बुद्धि विवर्धन' तथा भामह ने 'वैचक्षण्यं कलासु के द्वारा कला की विलक्षणता की ओर संकेत किया है । इसी विलक्षण या अद्भुत कला से उसका रससिक्त होना काव्य प्रयोजन की 'कलासु को व्यंजित करता है । काव्य प्रयोजन में जब 'प्रीति और 'कीर्ति' का प्रसंग उपस्थित होता है, तब एक तथ्य उभरकर आता है कि

जब कवि का काव्य रससिद्ध होगा, तभी वह लोक में प्रशंसा प्राप्त कर सकेगा और तभी वह कीर्ति का पात्र बन सकेगा । भारतीय काव्य-परम्परा 'रस' की सृष्टि को मान्यता प्रदान करती है । ईश्वर लीलामय हैं, वह लीलाएँ करता है, इन लीलाओं में उसे आनन्द या रस की प्राप्ति होती है । अत: कला का प्रयोजन है - रस अथवा आनन्द का विस्तार । भारतीय रस-चिंतन परम्परा में प्राचीन धार्मिक एवं दार्शनिक तत्वों की पृष्ठभूमि है । शैव मत में 'कला का प्रयोग माया के कंचुक रूप में हुआ है किन्तु आगमों तथा तंत्र सिद्धान्तों में कला का प्रबल दार्शनिक पक्ष उपस्थित है । माया के जिन पाँच कंचुकों की चर्चा शैव सिद्धान्तों में प्राप्त होती है, वे हैं - काल, नियति, राग, विद्या और कला । जब व्यष्टि चेतना विखण्डित होकर समष्टि चेतना में समाहित होने का उपक्रम करती है, तब यही समाहित होने की कला आत्म-विश्रांति के आनन्द को व्यक्त करती है । भामह के पश्चात् संस्कृत के काव्याचार्यों ने इस विषय पर अत्यन्त गंभीरता तथा सूक्ष्मता से चिंतन किया और 'काव्य प्रयोजन' अथवा 'रस प्रयोजन' की सृष्टि को अपनी विश्लेषणात्मक दृष्टि प्रदान की ।

रूद्रट : रूद्रट ने काव्य का प्रयोजन चतुष्फ़ल की प्राप्ति तो बतलाया ही है, इसके अतिरिक्त विपत्तिनाश अलौकिक आनन्द, आप्त-कामना और विश्वव्यापी यश भी काव्य के प्रयोजन निर्धारित किये हैं । रूद्रट ने यश को विशेष महत्व प्रदान किया है । इनका समय 9 वीं शती (आरंभ) माना जाता है । इनका ग्रंथ 'काव्यालंकार' है ।

आचार्य वामन: वामन ने अपने 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' नामक ग्रंथ में काव्य प्रयोजन सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किये हैं । वामन के अनुसार काव्य प्रयोजन के दो प्राकर हैं - दृष्ट एवं अदृष्ट। प्रथम के अन्तर्गत् उन्होंने 'प्रीति' और द्वितीय के अन्तर्गत् 'कीर्ति को परिगणित किया है

काव्यं सदृष्टार्थ प्रीतिकीर्ति हेतुत्वात् । (काव्यालंकार सूत्रवृत्ति 1/1/5)

आचार्य कुन्तक: काव्य प्रयोजन की परम्परा में कुन्तक का मत अपने पूर्ववर्ती आचार्यो से कहीं अधिक व्यापक और मौलिकता से युक्त है । कुन्तक अपने ग्रंथ 'वक्रोक्तिजीवितम्' में लिखते हैं - काव्य का उद्देश्य उच्चकुलोद्भूत किन्तु मन्दबुद्धि राजकुमारों के हृदय को आहलादित कर धर्मादि चतुर्पुरूषार्थो से उन्हें परिचित कराना है :

धर्मादिसाधनोयाय: सुकुमार क्रमोदित: ।
काव्यबन्धोSभिजातानां हृदयाहलादकारक: ।।
कटुकोषध वच्छास्तमविद्या व्याधि नाशम ।
आहलादामृतवत काव्यम् विवेकगदापहम् ।। (वक्रोक्तिजीवितम् 1/3-4)

यहाँ कुन्तक ने चतुष्फ़ल की प्राप्ति के साथ-साथ काव्य के प्रयोजन को 'व्यवहार का साधक' तथा 'अलौकिक आनन्द का जनक' कहा है ।

आचार्य आनन्दवर्धन: आनन्दवर्धन का समय 9 वीं शताब्दी (प्रारम्भिक काल) है । इनके ग्रंथ का नाम है - 'ध्वन्यालोक' । ये ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तक हैं । आनन्दवर्धन ने काव्य प्रयोजन पर विचार करते हुए संकेत किया कि सहृदय काव्यानन्द का आस्वादन करता है । काव्य में अभिव्यक्त रस के साथ 'तन्मयीभवन योग्यता' एक महत्वपूर्ण तत्व है । इस तत्व में काव्यास्वाद या आनन्द का जो भोग है, वह प्रकारान्तर से कलात्मक आनन्द भोग का ही इतर

रूप है । तात्पर्य यह कि आनन्दवर्धन काव्य का प्रमुख प्रयोजन प्रीति अर्थात् हृदय के आहलाद को मानते हैं तेनब्रूम: सहृदयमनस: प्रीतये तट्स्वरूपम् ।

अभिनवगुप्त : दसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में उद्भूत अभिनवगुप्त आनन्दवर्धन की 'प्रीति' को ही काव्य प्रयोजन मानते हैं, परन्तु इनकी प्रीति रसानुभूतिपरक है । काव्य-रस से उत्पन्न आनन्द ही काव्य की आत्मा है और यही रसमय आनन्द चतुर्वर्ग फल प्राप्ति में उत्तम हैं राजशेखर : राजशेखर ने अपने ग्रंथ 'काव्यमीमांसा' में काव्य प्रयोजनों क विस्तार से चर्चा की है । राजशेखर साहित्य को सम्पूर्ण विद्याओं की भाँति धर्मार्थ प्राप्ति का मुख्य साधन स्वीकार करते हैं.

पंचमी साहित्यविद्या इति यायावरीय: ।
सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्पन्द: ।
अभिधाभिधर्मार्थौ यद्विद्यात्तद्विद्यानां विद्यात्वम् ।

राजशेखर ने अपने समय में प्रचलित उन अनेक मतों का उल्लेख अपने ग्रंथ में किया है, जिनमें काव्य की उपयोगिता पर प्रश्न चिहन लगाए गये हैं । परन्तु राजशेखर ने उनका खण्डन करते हुए काव्य की प्रयोजनीयता को स्थापित किया है । वे लिखते हैं - प्राचीनकाल के नरेशों के प्रभावशाली चरित्र, देवों की लीलाएँ एवं ऋषियों-तपस्वियों के अलौकिक प्रभाव - सब कुछ कवियों की वाणी से प्रसूत हैं और प्रसिद्ध है :

ख्याता नराधिपतय: कवि संश्रयेण ।
राजा श्रयेण च गता: कवय: प्रसिद्धि ।।
राज्ञा समोSस्ति न कवे परमोपकारी ।
राज्ञा न चास्ति कविना सदृश: सहाय: ।।

राजशेखर की दृष्टि में - "काव्य कवि की कीर्ति का विधायक है । काव्य विविध विषयों, शास्त्रों व विद्याओं से संस्कारित होने के कारण लोकोपयोगी है । काव्य से उत्पन्न आनन्द अनिर्वचनीय है ।" इस प्रकार राजशेखर ने काव्य के अनेक पक्षीय प्रयोजनों पर प्रकाश डाला है और इसकी व्यावहारिक निष्पत्तियों को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है ।

आचार्य मम्मट : मम्मट का काल 11 वीं शताब्दी के अंतिम चरण में ठहरता है । आचार्य भरत से लेकर उनके पूर्ववर्ती जितने भी काव्यशास्त्री हुए हैं, उन सबकी काव्य प्रयोजन सम्बन्धी मान्यताओं के निष्कर्ष रूप में मम्मट ने अपने मत का प्रतिपादन अपने ग्रंथ - 'काव्यप्रकाश' में किया है । काव्य प्रयोजन की विस्तार से चर्चा करते हुए मम्मट ने काव्य के छह प्रयोजन स्वीकार किए हैं :

काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्य: परनिर्वृतये कान्तासम्मिततपयोपदेशयुते । । (काव्यप्रकाश 1/2)

मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्य प्रयोजन के केन्द्र में मात्र कवि नहीं है, अपितु पाठक भी है। इनके छह काव्य प्रयोजनों में से तीन (यश, अर्थ, अभिष्ट निवारण) कवि निष्ठ तथा तीन (व्यवहार-ज्ञान, आनन्द, कान्तासम्मित उपदेश) पाठक निष्ठ हैं । मम्मट द्वारा प्रतिपादित इन छह काव्य प्रयोजनों का स्पष्टीकरण निम्नानुसार किया जा सकता है :

1. **यश:** यश प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति की स्वाभाविक इच्छा होती है । कालिदास, भारवि, भवभूति, भास से लेकर अधुनातन कवियों ने अपने काव्य का सृजन यश-प्राप्ति के लिए किया था । भर्तृहरि तो स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं कि कवि की भौतिक देह विनष्ट हो जाती है, परन्तु उसकी जरा-मरण से मुक्त कीर्ति अमर रहती है

   जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धा कवीश्वरा: ।
   नास्ति येषां यश: काये जरामरणज भयम् ।।

2. **अर्थ अर्थ (धन)** को चतुष्फल के अन्तर्गत् महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है । अर्थ काव्य का भौतिक प्रयोजन है, क्योंकि जगत्-व्यापार-संचालनार्थ प्रत्येक व्यक्ति को इसकी आवश्यकता होती है । नरेशगण प्राय: काव्य प्रेमी हुए हैं । इन्होंने कवियों के काव्य की सराहना तो की ही है, उन्हें सम्मान स्वरूप प्रचुर धन भी दिया है । अनेक राजाओं ने तो कवियों को अनेक ग्राम तथा भूमि दान में दी हैं । केशव को 21 ग्राम मिले हुए थे । एक दोहे पर एक अशर्फी बिहारी को प्राप्त होती थी । पद्माकर व भूषण को भी अनेक राजदरबारों से वृत्ति प्राप्त होती थी, पर सूर, तुलसी, कुंभनदास जैसे कवि इसके अपवाद रहे हैं, जिनकी काव्य-रचना ' 'स्वान्त:सुखाय' ' होती थी ।

3. **व्यावहारिक ज्ञान :** काव्य के श्रवण और पठन-पाठन से पाठक को व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त होता है । कवि का काव्य उसके जीवनानुभवों पर आधृत होता है । काव्य में कवि अपने अनुभवों को गहनता, सूक्ष्मता और कलात्मक ढंग से व्यक्त करता है तथा आदर्श उपस्थित करता है जो पाठक के हृदय पर गहरा प्रभाव डालता है । सूर, तुलसी, कबीर आदि के काव्य में वर्णित रीति-व्यवहार में निहित ज्ञान को जनसाधारण आज भी हृदयंगम करता है ।

4. **शिवेतरक्षतये :** इसका तात्पर्य है - अनिष्ट निवारण । काव्यमय स्तुतियों से अनेक कष्टों का निवारण होता है । दुर्गा सप्तशती, हनुमान चालीसा, रूद्राष्टक, राधाष्टक रामचरितमानस आदि काव्यों द्वारा पाठक गण अपने अनिष्ट निवारण का प्रयास करते हैं । मम्मट के 'काव्यप्रकाश' में इस घटना का उल्लेख प्राप्त होता है कि मयूर कवि ने सौ श्लोकों को सृजन कर सूर्य की प्रार्थना की थी और अपने कुष्ठ रोग का निवारण किया था । तुलसी ने 'हनुमानबाहुक' की रचना कर अपनी बाहु-पीड़ा दूर की थी । आज भी जनसाधारण काव्य के द्वारा अपने अनिष्ट निवारण पर विश्वास करते हैं ।

5. **सघ:** परनिर्वृत्ति. इसका तात्पर्य है - आनन्द प्राप्ति तथा दुखों से मुक्ति । काव्य का मूल उद्देश्य है - आनन्दानुभूतित । काव्यास्वादन से जो रस रूपी आनन्द प्राप्त होता है, यही काव्य का लक्ष्य है । भरत ने नाटक को थके-हारे, शोकार्त और असहाय जन को विश्रांति प्रदान करने वाला कहा है । यह विश्रांति नाटकों को देखकर आनन्दानुभूति द्वारा होती है । यही आनंद रस कहा गया है । अभिनव गुप्त ने भी रस को काव्य का प्रयोजन माना है । मम्मट ने इसीलिए कविता को 'नवरस रूचिरां एवं हलादैकमयी कहा है । काव्य से उत्पन्न आनन्द कवि और पाठक दोनों को प्राप्त होता है । इसी परम्परा का आगे चलकर विस्तार हुआ । हिन्दी के काव्यशास्त्रियों और आलोचको (अयोध्या सिंह उपाध्याय

'हरिऔध, जयशंकर प्रसाद, रामचन्द्र शुक्ल, नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेन्द्र आदि) ने भी रस को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है । यह और बात है कि नई कविता के दौर में रस और रस-सिद्धान्त को काव्य से बहिष्कृत-सा कर दिया गया है ।

6. कान्तासम्मितयोपदेश: शास्त्रों में तीन प्रकार के वचनों का उल्लेख प्राप्त होता है - प्रभुसम्मित, सुहृदसम्मित तथा कान्तासम्मित । प्रभुसम्मित उपदेश में आज्ञा का भाव तथा अच्छे-बुरे का निर्देश रहता है । सुहृदसम्मित उपदेश में भावना होती है तथा कान्तासम्मित उपदेश में प्रेमोपदेश होता है, जो सरस और सहज होता है । कविता का उद्देश्य भी ऐसा ही लोकहितकारी होता है ।

आचार्य विश्वनाथ: इनका समय 14 वीं शताब्दी माना जाता है । इनका ग्रंथ है - 'साहित्य दर्पण' । इन्होंने चारों पुरूषार्थो की (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) प्राप्ति को काव्य का प्रयोजन माना है:

चतुर्वर्गफल प्राप्ति सुखादल्पधियामपि ।
काव्यादेव यमरत्तेन तत्स्वरूपं प्रचक्षते । (साहित्य दर्पण)

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य प्रयोजनों पर अत्यन्त गहराई और सूक्षमता से विचार किया गया है और काव्यशास्त्रियों ने उसका विश्लेषण कर सटीक निष्कर्ष प्राप्त किये हैं । काव्य प्रयोजन को दोनों दृष्टियों से ग्रहण किया गया है अर्थात् कवि कविता क्यों लिखता है और पाठक क्यों सुनता और पढ़ता है । निश्चित ही इसमें यश और अर्थ का सम्बन्ध पूर्णरूपेण कवि से है । आनन्द या रस की प्रतीति कवि और सहृदय दोनों को होती है तथा व्यवहार ज्ञान या कान्तासम्मित उपदेश का सम्बन्ध लोक से जुड़ा है । सारांशत: कहा जा सकता है कि संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने काव्य के प्रयोजन चतुष्फल प्राप्ति के अतिरिक्त आनन्द अथवा रस की अनुभूति तथा लोकमंगल अथवा लोक शिक्षा नियत किये है ।

4.3 हिन्दी के रचनाकारों - आलोचकों द्वारा निरूपित काव्य प्रयोजन

4.3.1 आदिकाल और मध्यकाल के कवियों की दृष्टि में काव्य प्रयोजन

हिन्दी के आदिकालीन काव्य में संस्कृत काव्यशास्त्रियों की भाँति पृथक् से काव्य प्रयोजन पर विचार नहीं किया गया है । यह युद्ध काल था और कवियों का कार्य नरेशों की शौर्य-गाथाओं को काव्यबद्ध करना ही था । इसके अतिरिक्त ये कविगण युद्ध क्षेत्र में भी जाते थे और अपना रण-कौशल दिखलाते थे ।

हिन्दी साहित्येतिहास के मध्यकाल को पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल) और उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल) में विभक्त किया गया है । पूर्व मध्यकाल में भी स्पष्ट रूप से काव्य प्रयोजन पर चर्चा नहीं की गई है । इसका कारण यह है कि इस काल के कवि सन्त और भक्त थे, काव्यशास्त्री नहीं । इनका एकमात्र उद्देश्य था - भगवद्भभक्ति । जहाँ सूफी सन्तों ने यह भक्ति 'प्रेम की पीर' द्वारा प्राप्त करनी चाही, वहीं निर्गुण सन्तों ने ज्ञान का आश्रय लिया । तुलसी और सूर जैसे सगुण भक्त कवियों ने अपनी कविता को पूर्णरूपेण अपने आराध्य को समर्पित कर दिया । कबीर जैसे निर्गुण सन्त कवियों ने अपने काव्य के द्वारा सामाजिक विसंगतियों पर प्रहार किये । इसके उपरान्त भी कहीं-कहीं इस काल की काव्य प्रयोजन मूलक दृष्टि की

हल्की-सी झलक स्पष्ट हो ही जाती है । जायसी की निम्नलिखित पंक्तियों में स्पष्ट रूप से 'यश प्राप्ति की कामना प्रतिबिम्बित होती है:

कहाँ अलाउदीन सुलतानू ? कहाँ राघव जेइ कीन्ह बखानू ?
कहाँ रूप पदमावति रानी? कोई न रहा, जग रही कहानी ।
धनि सोई जस कीरति जासू । फूलमरै, पै मरे न बासू । ।
केइ न जगत जस बेंचा, केइ न लीन्ह जस मोल ?
जो यह पढै कहानी, हम्ह सँवरै दोई बोल ।

(पदमावत: उपसंहार)

तुलसी ने काव्य का प्रयोजन 'लोकमंगल' अथवा 'सर्वहिताय' घोषित किया है:

कीरति, भनिति भूति भलि सोई
सुरसरि सम सब कहँ हित होई । । (रामचरितमानस: बालकाण्ड)

तुलसी ने संस्कृत के काव्याचार्यो द्वारा स्थापित दोनों काव्य प्रयोजनों (यश-अर्थ) को झुठला कर इनके स्थान पर काव्य प्रयोजन की सर्वथा नवीन उद्भावना 'स्वान्त:सुखाय' की स्थापना की ।

उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल) में काव्य प्रयोजन सम्बन्धी पुरातन मान्यताएँ श्रृंगार में परिवर्तित हो गयीं । इस काल में कवि दोहरा कार्य कर रहे थे - एक कवि कर्म, दूसरा काव्याचार्यत्व का निर्वहन । इन कवि आचार्यो के सम्मुख संस्कृत काव्यशास्त्र की दीर्घ परम्परा थी । इन्होंने उसी का अनुसरण किया । किसी ने भामह, रुद्रट, कुन्तक का मार्ग ग्रहण किया तो किसी ने मम्मट, विश्वनाथ का । इस काल के कुछ कवि आचार्यो के काव्य प्रयोजन सम्बन्धी कतिपय उदाहरण ही पर्याप्त होंगे । आचार्य कुलपति मिश्र की दृष्टि में कीर्ति, अर्थ, आनन्द, दुख-निवारण तथा चतुरता (जगत का व्यावहारिक ज्ञान) ही काव्य के प्रयोजन हैं:

जस, सम्पति आनन्द अति दुरितन डारै खोई ।
होत कवित तें चतुरता, जगत राम बस होई ।। (रस रहस्य)

रीतिकाल के ख्यात कवि देव काव्य प्रयोजन केवल आनन्द और यश को मानते हैं । इनका आधार वामन तथा आनन्दवर्धन द्वारा निरूपित प्रीति तथा कीर्ति हैं.

ऊँच नीच अरू कर्म बस, चलो जात संसार ।
रहत भव्य भगवंत जस भव्य काव्य सुखसार । ।

काव्य के जो प्रयोजन मम्मट ने गिनाये हैं, कवि सोमनाथ ने उन्हें अपने इस दोहे में निबद्ध कर दिया है :

कीरति, बित्त, बिनोद अरू अति मंगल को देत ।
करै भलो उपदेस नित वह कवित्त चित चैत । । (रस पीयूष निधि)

रीतिकालीन कवियों में केशव, सूरति मिश्र, कुमार मणि, भिखारीदास, चिन्तामणि और मतिराम आदि ने भी काव्य प्रयोजन के वहीं प्रतिमान निर्धारित किये हैं, जो संस्कृत के काव्याचार्यो के हैं, इसीलिए एक-दो को छोड़कर इनमें कोई मौलिकता प्राय: परिलक्षित नहीं होती ।

4.3.2. आधुनिककाल के रचनाकारों-आलोचकों की दृष्टि में काव्य प्रयोजन

1857 की क्रांति यद्यपि विफल हुई, पर इससे अनेक बातें भारतीय राष्ट्रीय जीवन में उपस्थित हो गयीं । अंग्रेजी साम्राज्य पूरी तरह भारत में स्थापित हो गया । राजे-रजवाड़ों के दरबारों की रौनक लुप्त हो गयी और जिस श्रृंगार के काव्य-सरोवर में नायक-नायिका के भेदोपभेद डुबकी लगाते थे, वह सूख गया । काव्य-जगत् में भी आमूलचूल परिवर्तन दृष्टिगोचर हुए । पाश्चात्य साहित्य से भारतीय चिन्तकों का सम्पर्क हुआ और एक न्वजागरण की चेतना ने राष्ट्रीय सांस्कृतिक रूप धारण किया । सम्पूर्ण चिन्तन के केन्द्र में मनुष्य हो गया ईश्वर तथा धर्म के अर्थ बदल गये और इसका प्रभाव क्षेत्र व्यक्तिगत आस्था तक ही रह गया । अंग्रेजी शासनकाल में रेल, डाक, तार, प्रेस जैसी नवीन सुविधाओं का प्रादुर्भाव हुआ, परन्तु आमजन पर अत्याचार भी कम नहीं हुए । सोने की चिड़िया के पर अंग्रेजी सत्ता द्वारा नोंचे जाने लगे और भारतीय धन से विदेशी तिजोरियाँ भरी जाने लगी । भारतीय कवि का हृदय व्यथित हो गया और वह पुकार उठा:

अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी ।
पै धन विदेश चलि जात यै अति ख़्वारी । ।

इतना ही नहीं, इस काल का कवि देश की दुर्दशा देखकर रो उठता है :

आवहु सब मिलकर रोवहु भारत भाई ।
हा, हा, भारत दुर्दशा न देखी जाई । ।

भारतेन्दु युगीन काव्य का यही स्पष्ट प्रयोजन था । इस काल के कवि और लेखक अंग्रेजी साम्राज्य के भारतीयों पर हो रहे अन्याय से क्षुब्ध थे, इसी का चित्रण इस काल के काव्य में उपस्थित है । विदेशी साम्राज्यवाद के विरूद्ध विरोध, विद्रोह तथा बगावत की भावना व्यक्त करना इस कविता का प्रधान लक्ष्य रहा है ।

द्विवेदी युग तक आते-आते राष्ट्रीय परिस्थितियों में पर्याप्त अन्तर आ चुका था । इस समय तक काव्य भाषा हिन्दी स्थिर हो चुकी थी, परन्तु उसका परिष्कार नहीं हुआ था । आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने स्वयं तथा अपने काल के समर्थ लेखकों-कवियों को भाषायी शुद्धता पर ध्यान देने का आग्रह किया । इस समय तक काव्य के प्रतिमान परिवर्तित होने लगे थे। अंग्रेजी सभ्यता में डूबी भारतीय पीढ़ी अपने राष्ट्रीय गौरव को विस्मृत करती जा रही थी, परन्तु इसके साथ ही 'नवजागरण' की वायु देश में प्रवाहित होने लगी थी, जिसने पुरातन सड़ी-गली रूढ़ियों की दुर्गंध को दूर करने का प्रयास किया । भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के क्षितिज पर महात्मा गाँधी का उदय हो चुका था और उनके मानवतावादी दर्शन से हिन्दी काव्य अनुप्राणित हो रहा था । स्वत: सिद्ध है, काव्य के प्रयोजन की अवधारणा में परिवर्तन होना था और हुआ। द्विवेदी जी कठोर भाषिक तथा काव्यात्मक अनुशासन के प्रबल पक्षधर थे । इन्हें तथा इनके सहयोगी

लेखकों-कवियों को प्राच्य की लोक मंगलकारी परम्पराएँ तो श्रद्धास्पद थी, पर रीतिकालीन कुत्सित कविता पर इन्होने कठोर प्रहार किये हैं । इस काल के सर्वाधिक लोकप्रिय राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त काव्य प्रयोजन 'मनोरंजन तो स्वीकार करते ही हैं, 'उचित उपदेश को भी

वे मान्यता प्रदान करते हैं । यह 'मनोरंजन और 'उचित उपदेश संस्कृत काव्य परम्परा का क्रमश: प्रीति एवं कान्तासम्मित उपदेश (लोकहित) ही है । यहाँ काव्य प्रयोजन में 'कीर्ति तथा 'अर्थ की उपेक्षा की गयी है । गुप्त जी 'भारत-भारती में लिखते हैं :

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए ।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए । ।

गुप्त जी ने निम्नांकित पंक्तियों में भी लोकमंगल (लोकहित), सद्भावों का प्राकाटय, कान्तासम्मित उपदेश तथा विमल ज्ञान - काव्य प्रयोजन के रूप में स्वीकार किये हैं

है जिस कविता का काम लोकहित करना.
सदभावों से मन मनुज मात्र का भरना ।
पहले तो कांतासदृश हृदय का हरना,
फिर प्रकटित करना विमल ज्ञान का झरना । ।

इस काल के कवियों तथा गद्यकारों ने भी काव्य प्रयोजनों पर विचार किया है और अपने निष्कर्ष दिये हैं । यहीं एक तथ्य ध्यातव्य है कि संस्कृत वाड्मय में साहित्य तथा काव्य समानार्थक हैं। । इस काल तक आते-आते 'काव्य का अपना पृथक् अस्तित्व हो गया और इसका अर्थ कविता तक सिमट कर रह गया । 'साहित्य' शब्द का पल्लवन हुआ और इस शब्द में गद्य-पद्य दोनों का समावेश होने लगा ।" आज जब काव्य प्रयोजन की चर्चा की जाती है, तब इसमें गद्य व पद्य - दोनों का निहितार्थ होता है ।

हिन्दी साहित्य में छायावादी काव्य का विशिष्ट स्थान है । इस कविता के लेखन का क्या अभिप्राय था, इस प्रश्न का उत्तर देने ' का प्रयास स्वयं छायावादी कवियों ने ही किया है । इतना ही नहीं, इससे इतर काव्य की भूमिका को भी इन्होंने रेखांकित किया है । इन कवि चिंतकों में प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी वर्मा ने अपने काव्य प्रयोजन सम्बन्धी विचार व्यक्त किये हैं । जयशंकर प्रसाद ने अपनी कृति 'काव्य कला तथा अन्य निबंध के निबन्धों में रस की उस परम्परा का समर्थन किया है जो शैव दर्शन में द्वैतवाद और आनन्दवाद की सृष्टि है । प्रसाद जी ने कविता को 'श्रेयमयी प्रेय ज्ञानधारा से अभिहित करते हैं । इनका मानना है कि आनन्द और लोक मंगल दोनों का समन्वय ही सृजन का उद्देश्य है । यही कारण है कि अपने महाकाव्य कामायनी में जहाँ लोकमंगल की भावना की स्थापना की गयी है, वहीं उसका समापन 'अखण्ड घना' से किया गया है । सुमित्रानन्दन पन्त 'मुक्त जीवन सौंदर्य की अभिव्यक्ति' को काव्य का प्रयोजन स्वीकार करते हैं तो सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला रूढ़िवादी परम्परा का विरोध करते हुए नवजागरण से अनुप्राणित मूल्यों की स्थापना पर बल देते हैं । महादेवी वर्मा ने मानव करुणा के विस्तार को साहित्य का उद्देश्य माना है । यही कारण है कि इनके रेखाचित्रों व अन्य गद्य साहित्य में उपेक्षित पात्रों को महत्त्व प्रदान किया गया है ।

हिन्दी समीक्षा शास्त्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का महत्त्वपूर्ण स्थान है । इनके अतिरिक्त आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य विनयमोहन शर्मा, डॉ. रामविलास शर्मा, डी. नगेन्द्र आदि के नाम भी अग्रपंक्ति के आलोचकों में परिगणित होते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने काव्य में 'लोक मंगल की साधनावस्था', रसात्मक बोध के विविध रूप', साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्रयवाद तथा 'कविता क्या है जैसे निबन्धों में प्रकारान्तर से काव्य प्रयोजन पर विचार किया है । शुक्ल जी की रस विषयक दृष्टि संस्कृत के आनन्दवादी आचार्यो से भिन्न है । शुक्ल जी की रस सम्बन्धी धारणा स्पष्ट रूप से 'लोकमंगलवादी' है । शुक्ल जी का मत है कि - 'कविता वह साधन है, जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मानव के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और उसका निर्वाह होता है । जगत् के कुछ पदार्थो को देखकर भी रसानुभूति होती है और कविता पढ़ने से भी । यह स्थिति तभी उत्पत्र होती है जब कविता का आलम्बन व्यक्ति का अधिक-से-अधिक परिचित होता है । ' शुक्ल जी उसी कविता को श्रेष्ठ स्वीकार करते हैं, जो नैतिकता, संयम और आदर्श से युक्त हो तथा जो 'शिवत्व से अनुप्राणित हो । जिन कवियों को लोक-हृदय की पहचान होती है और जो लोक सामान्य आलम्बनों का सफल विधान करते हैं, शुक्ल जी उन्हें ही श्रेष्ठ कवि मानते हैं ।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी भी शुक्ल की भाँति काव्य का प्रयोजन लोक कल्याण ही मानते हैं । इसके साथ ही शुक्ल जी के साहित्य का उद्देश्य चरित्र-निर्माण को मान्यता देते हुए इसका विस्तार सांस्कृतिक चेतना प्रदान करने' तक करते हैं । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के काव्य सम्बन्धी विचार उनकी कृतियों (साहित्य का साथी, साहित्य का मर्म') में दृष्टव्य हैं । द्विवेदी जी साहित्य का लक्ष्य मनुष्य का हित साधन मानते हैं । वे कहते हैं - 'मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ । जो वाग्जाल को दुर्गति, दीनता और परमुखोपेक्षिता से न बचा सके. जो उसकी आत्मा को तेजोद्दीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को पर दुंखकातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है ।' स्पष्ट है कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की दृष्टि मानवतावादी है और वे काव्य या साहित्य का लक्ष्य मानवीय गरिमा के उत्कर्ष को मानते हैं ।

डॉ. नगेन्द्र ने भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धान्तों का समन्वय किया है । रस सिद्धान्त', 'विचार और विश्लेषण तथा 'नयी समीक्षा : नये सन्दर्भ' इनकी चर्चित कृतियाँ हैं । डॉ. नगेन्द्र आत्माभिव्यक्ति की निश्छलता को साहित्य का प्रथम तथा महत्वपूर्ण लक्षण मानते हैं । ये रसवादी आचार्य हैं । 'विचार और विश्लेषण में वे लिखते हैं कि - साहित्य का चरम मान रस ही है, जिसकी अखण्डता में व्यष्टि और समष्टि सौंदर्य व उपयोगिता एवं शाश्वत और सापेक्षता का अन्तर मिट जाता है । अन्य कथित मान या तो रस की एकांगी व्याख्या है या फिर असाहित्यिक मान हैं जिनका आरोप साहित्य के लिए अहितकर है । " डॉ. रामविलास शर्मा मार्क्सवादी आलोचक हैं और सर्वहारा के हितार्थ लिखित साहित्य को साहित्य का प्रयोजन मानते हैं । अपने एक लेख में वे लिखते हैं कि - 'साहित्य लिखते समय साहित्यकार को यह ध्यान रखना चाहिए कि वह सर्वहारा' का सहयोगी साहित्य निर्मित करें ।'

उपर्युक्त आलोचकों की आलोचना परम्परा में अनेक नाम हैं, जिनमें मुंशी प्रेमचन्द, अज्ञेय, मुक्तिबोध, धर्मवीर भारती, लक्ष्मीकान्त वर्मा, विजयदेव नारायण साही, निर्मल वर्मा, रामस्वरूप चतुर्वेदी, संतोष तिवारी, राजमल बोरा, नामवर सिंह आदि उल्लेखनीय हैं । इनमें

से अधिकांश आलोचक साहित्य के प्रयोजन को व्यक्तित्व के समग्र विकास. मानवीय स्वाधीनता की रक्षा, मानवीय गरिमा की रक्षा और मुक्त मानवीय चिंतन से संलग्न कर देखते हैं । इन आलोचकों ने पुरातन काव्य सिद्धान्तों और कवितयों की नई चिन्तन दृष्टि से समीक्षा की । इतना ही नहीं, वर्तमान त्रासदी और विभीषिकाओं के मध्य लिखे जाने वाले साहित्य की क्या भूमिका हो, इस प्रश्न पर भी इन आलोचकों के द्वारा गहन चिन्तन किया गया है ।

सारांशत: भारतीय काव्यशास्त्रियों ने काव्य के प्रयोजनों पर अत्यन्त गहराई एवं सूक्ष्मता से विचार किया है । यह चिन्तन धारा लगभग ढाई हजार वर्षो से निरन्तर प्रवाहमान हो रही है । प्रारम्भिक काव्य-प्रयोजन रस, आनन्द, यश और अर्थादि पर आधृत थे । समय चक्र घूमा और भौतिक परिवर्तन हुए परिणामत: विविध क्षेत्रों में भी परिवर्तन हुए । काव्यसृजन के प्रतिमान बदले और उनके सृजन-प्रयोजन में भी परिवर्तन हुआ । परन्तु यह तथ्य निर्विवाद है कि कला कोई भी हो, लोक-जीवन से तादात्म्य स्थापित किये बिना उसका अस्तित्व नहीं रह सकता है । काव्य का प्रयोजन भी लोकमंगल रहा है, वह किसी भी काल में सर्जित हुआ हो । देश, काल, परिस्थितियों के अनुसार इनकी संज्ञाएँ भले ही बदलती रहें, पर लोक-मंगल की भावना को कोई भी रचनाकार अनदेखा नहीं कर सकता । जब आचार्य भरत नाटक रचना का उद्देश्य बुद्धिविवर्धनम और लोकोपदेश घोषित करते हैं तब उनकी दृष्टि 'लोक' पर ही होती है और जब आधुनिक रचनाकार रचना का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए कहता है कि- रचनाकार किसी विचारधारा का भोंपू नहीं होता (विजय देव नारायण साही) तो इसके मूल में भी लोक-मंगल की भावना परिलक्षित होती है । यद्यपि आज व्यक्तिवादी विचारधारा से अनुप्राणित कविता लिखी जा रही है - (मैंने मैं' शैली अपनाई) और व्यक्तिगत राग-द्वेष, सुख-दुख इसमें प्रतिबिम्बित होते हैं, फिर भी यह व्यक्तिगत न होकर समष्टिगत है । इसमें समष्टिगत भावों का प्रतिरूप है । सत्य तो यह है कि सत्यम-शिवम्-सुन्दरम् की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति लोक-जागरण एवं लोक-कल्याण में ही सम्भव है और यही काव्य का प्रयोजन है ।

4.4 पाश्चात्य काव्य चिन्तकों द्वारा निरूपित काव्य प्रयोजन

4.4.1 पाश्चात्य काव्य में काव्य प्रयोजन का उद्भव

जितनी प्राचीन भारतीय काव्य और भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा रही है, पाश्चात्य काव्य तथा काव्यशास्त्र परम्परा भी लगभग उतनी ही पुरानी है । भारतीय आद्याचार्यों द्वारा जिस प्रकार गहन चिन्तन और मंथन कर काव्य-सृजन के प्रयोजनों को स्थिर किया है, उसी प्रकार पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने भी काव्य प्रयोजनों पर गहराई से विचार किया है । परन्तु भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य प्रयोजनों में एक मूलभूत अन्तर है । जहाँ भारतीय काव्यशास्त्री कला और लोक में समन्वय स्थापित कर चले हैं, वहीं पाश्चात्य काव्य-चिन्तकों में स्पष्ट रूप से इस तथ्य को लेकर विभेद है कि 'कला कला के लिए' है अथवा 'कला जीवन के लिए' ? भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य प्रयोजनों में भी एक अन्तर है । जहाँ भारतीय काव्यशास्त्री कवि-कर्म की प्रयोजनीयता पर ही दृष्टिपात करते हैं, वहीं पाश्चात्य विचारकों ने इस तथ्य पर भी अपना

ध्यान केन्द्रित किया है कि कवि के मानस में रचना का जन्म कैसे होता है? इस प्रश्न का उत्तर पाश्चात्य चिंतकों ने मनोवैज्ञानिक और मनोविश्लेषण के द्वारा देने का प्रयास किया है । यद्यपि भारतीय परम्परा का रस-निष्पत्ति सिद्धान्त भी मनोविश्लेषणात्मक और मनोवैज्ञानिक है जिसके द्वारा कवि की सृजन-प्रक्रिया को समझने का प्रयास किया गया है।

भारतीय काव्यशास्त्र परम्परा के ज्ञात आचार्य भरतमुनि हैं । पश्चिम की काव्यशास्त्रीय परम्परा भी प्लेटो से प्रारम्भ होती है । भरत के पश्चात् भामह, रुद्रट, आदि काव्यशास्त्रियों की दीर्घ परम्परा हैं, इसी प्रकार पलेटो के पश्चात् अरस्तू, लोंजाइनस होरेस, क्वंटीलियन, दाँते, सर फिलिप सिडनी, डॉ. जानसन आदि पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों की लम्बी शृंखला है । इसीलिए भरत की भाँति पाश्चात्य काव्यशास्त्र के आद्याचार्य प्लेटो से ही काव्य-सृजन का प्रयोजन ज्ञात करना चाहिए ।

यूनान के एथेन्स में प्लेटो का आविर्भाव हुआ था । प्लेटो का समय 427 ई.पू. से 348 ई. पू॰ के लगभग माना जाता है । यह वह काल था, जब यूनान में राजनैतिक और नैतिक पतन चरम पर था । ऐसी स्थिति में मूल्यों की स्थापना का प्रश्न सर्वाधिक अहम् था । प्लेटो दर्शनशास्त्र के महान ज्ञाता थे । प्लेटो का काव्यशास्त्रीय मान्यताओं से सम्बन्धित कोई पृथक् ग्रन्थ नहीं है । इन्होंने तीस से अधिक संवादों के द्वारा विषय की रचना की । ये ही संवाद तीन पृथक्-पृथक् ग्रंथों - 'द फेडरस (The Phaedrus), 'द रिपब्लिक (The Republic) तथा इओन (Ion) में संकलित हैं । प्लेटो विशुद्ध नैतिकतावादी थे और उनका मानना था कि आदर्श राज्य में कवियों के प्रवेश पर प्रतिबंध लगा देना चाहिए क्योंकि वह पाठकों की भावनाओं को उभारता है । कवि द्वारा रचित कविता का यह अनैतिक स्वभाव जन को सत्य से दूर ले जाता है । प्लेटो कहते हैं कि -कविता में वर्णित भाव या विचार सत्य नहीं हैं, क्योंकि उसमें जो वर्णित है, वह तो पूर्व से ही सृष्टि या स्वर्ग में उपस्थित है । कविता उस मूल पदार्थ या वस्तु की प्रतिच्छाया मात्र है - मूल वस्तु का अनुकरण । जब साहित्यकार इनका अनुकरण अपने साहित्य में करेगा तो वह सत्य को प्राप्त नहीं कर पाएगा । वस्तुतः प्लेटो के इस चिंतन मात्र से उसे कवि और काव्य विरोधी ठहराना उसका त्रुटिपूर्ण और एकांगी आकलन होगा जबकि वह स्वयं कवि था । वास्तविकता यह है कि प्लेटो ऐसी कविता को हेय और त्याज्य मानने के पक्षधर थे जो केवल आनन्द या मनोरंजन के लिए लिखी जाती है, जो सत्य से साक्षात्कार करने में समर्थ नहीं होती । प्लेटो के काव्य का प्रयोजन मानव चरित्र का निर्माण तथा उसमें श्रेष्ठ नैतिक गुणों का विकास करना है क्योंकि आदर्श और नैतिक मूल्यों के विकास से ही मनुष्य श्रेष्ठता को प्राप्त कर सकता है और आदर्श राज्य की स्थापना में वह सहायक हो सकता है ।

प्लेटो के पश्चात काव्यशास्त्रीय विकास परम्परा में महत्त्वपूर्ण नाम है अरस्तु का, जो प्लेटो के शिष्य और सिकन्दर महान के गुरु थे । काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में अरसा के दो प्रमुख सिद्धान्त हैं - अनुकरण सिद्धान्त (Theory of Imitation) तथा विरेचन सिद्धान्त (Theory of Catharsis) । अरस्तु का अनुकरण सिद्धान्त प्लेटो के अनुकरण सिद्धान्त का परिष्कृत संस्करण है । अरस्तु ने प्लेटो के अनुकरण सिद्धान्त का खण्डन करते हुए इसके दो प्रयोजन

मान्य किये हैं - ज्ञान का अर्जन तथा आनन्द । अरस्तु अनुकरण को नवीन अर्थ और संदर्भ में स्वीकार करते हैं और इसे सर्जनात्मक कार्य मानते हैं । अरस्तू का मानना है कि - कविता दो कारणों से जन्म लेती हुई प्रतीत होती है । इसमें से पहला कारण है अनुकरण की सहज वृत्ति, जो मनुष्य में शैशव काल से ही पायी जाती है । अनुकरण से उसे आनन्दानुभूति होती है । सामंजस्य और लय काव्योद्भव की दूसरी सहज वृत्ति है । इस वृत्ति से सम्पन्न मनुष्य अपनी विशिष्ट प्रवृत्तियों के विकास हेतु तत्पर होता है जिससे उसका सृजन सुन्दर बनता है । प्रोफेसर बूचर और अरस्तु के अनुकरण सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए कहते हैं अनुकरण से तात्पर्य है - सादृश्य विधान या मूल का उत्पादन । कला कृति इन्द्रियों को जैसी प्रतीत होती है, वैसा करती है । यह मूल उत्पादन नहीं होती । कला का संवेदन तत्वग्रहीता बुद्धि के प्रति नहीं, वरन् भावुकता और मन की मूर्ति विधायानी शक्ति के प्रति होता है । अरस्तु के इस सिद्धान्त का सीधा सा अर्थ यह है कि काव्य का आनन्द आध्यात्मिक आनन्द नहीं होता अपितु भौतिक आनन्द होता है । किन्तु यह आनन्द सामान्य न होकर अनुकरणजन्य होता है । अरस्तू का दूसरा सिद्धान्त है - विरेचन सिद्धान्त । अरस्तू का मानना है कि काव्य से मानवीय भावनाओं का पोषण नहीं, अपितु विरेचन होता है । अरस्तु त्रासदी (ट्रेजडी) मूलक काव्य को श्रेष्ठ मानते हैं क्योंकि इससे मनोभावों का विरेचन सफलतापूर्वक हो जाता है । अरस्तु कलाओं का लक्ष्य ही मनोविकारों का विरेचन मानता है । यह विरेचन मात्र मनोभावों से परिष्करण तक ही सीमित नहीं है अपितु इसमें भाव उन्नयन या भावोत्कर्ष भी निहित है । अरस्तू ने काव्य का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए इसका उद्देश्य उपदेश (शिक्षा) और आनन्द माना है किन्तु आनन्द को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है । अरस्तू यथार्थ सत्य की अपेक्षा संभाव्य सत्य को भी महत्त्व प्रदान करते हैं । अरस्तू ने अपने विरेचन सिद्धान्त के द्वारा पहली बार रचना-प्रक्रिया को मनोविश्लेषणात्मक स्वरूप प्रदान किया ।

यूनान के ही एक और काव्य चिंतक लोंजाइनस का नाम पाश्चात्य काव्य चिन्तकों की परम्परा में प्लेटो और अरस्तु के पश्चात् लिया जाता है । लोजाइनस का समय तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व माना जाता है । लोंजाइनस की कृति का नाम है - पेरिइप्सुस' (Hupsous) । जिसका अंग्रेजी अनुवाद 'ऑन द सब्लाइम (on the Sublime) के नाम से हुआ था । अपनी कृति में लोंजाइनस ने उदात्त सिद्धान्त का सूत्रपात किया । लोंजाइनस उदात्तता को काव्य की आत्मा मानते हैं । उदात्तता से लोंजाइनस का तात्पर्य है - अभिव्यंजना की श्रेष्ठता और विशिष्टता। उदात्त तत्त्व में अपार शक्ति होती है और काव्य का एक यही गुण श्रोता या पाठक को सहज ही अपने आकर्षण में आबद्ध कर लेता है । लोंजाइनस इस उदात्त तत्व के पाँच स्रोतों का उल्लेख करते हैं - विचारों की उदात्तता, भावों की उदात्तता, उदात्त शब्द-कौशल व उदात्त वाक्य योजना, अलंकारों की सहज योजना और इन सबमें सर्वोपरि - अभिव्यंजना की स्वाभाविक शक्ति । इनमें से दो (विचारों की उदात्तता, भावों की उदात्तता) का सीधा सम्बन्ध कवि की आत्म दशा से है । किन्तु शेष तीन भी मात्र शब्दाडंबर या वाग्जाल मात्र नहीं हैं । बाह्याडम्बर, भावाडम्बर, शब्दाडम्बर, नवीनता की तलाश, अस्त व्यस्त या शिथिल भाषा, शाब्दिक छुद्रता तथा संक्षिप्त उक्ति को लोंजाइनस ने उदात्त तत्व का विरोधी कहा है । लोंजाइनस का पश्चात्य काव्यशास्त्र के विकास में महत्त्वपूर्ण प्रदेय है । इनके सिद्धान्तों के विश्लेषण से लोंजाइनस

की काव्य प्रयोजन सम्बन्धी मान्यता स्पष्ट होती है । लोंजाइनस की दृष्टि में - उत्कृष्ट साहित्य की कसौटी यही है कि वह युगों तक आनन्द प्रदान- करता रहे तथा एक साहित्यकार के लिए मार्गदर्शक का कार्य करे - आनन्द और लोक मंगल यही काव्य का प्रयोजन है ।

उपर्युक्त चिंतकों के अतिरिक्त - सिसरो, लूक्रेटियस, बर्जिल, होरेस. प्लाटिनस आदि ने यूरोपीय या पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा को पुष्ट किया है । यद्यपि लोंजाइनस के पश्चात् यूनानी साहित्य-चिंतन का केन्द्र रोम हो गया ।

4.4.2 नवजागरणकालीन चेतना और काव्य प्रयोजन

ईसा की लगभग दूसरी शताब्दी के प्रथम चरण तक यूनानी-रोमन और लैटिन काव्यशास्त्रीय समीक्षा का दौर समाप्त सा हो चला था । यूरोपीय मध्यकाल में इसका समय ईसा की पाँचवी शताब्दी से लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी तक रहा । इसे बौद्धिक हलकों में अंधकार युग की संज्ञा से अभिहित किया गया । इस काल में अनेक घटनाएँ हुई । रोमन साम्राज्य पूर्वी व पश्चिमी- दो भागों में विभक्त हो गया । इस उथल-पुथल में रोम का महत्त्व लुप्त प्राय: हो गया । प्राचीन ग्रंथ और प्राचीन विद्या अपना अस्तित्व खो बैठी । ज्ञानार्जन की पुरातन परम्पराओं का हास हो गया । बौद्धिक किया-कलापों से लोगों ने मुँह फेर लिया । इस काल में इटली के महान कवि दाँते के अतिरिक्त कोई अन्य नाम प्राप्त नहीं होता, जो उल्लेखनीय हो ।

इंग्लैण्ड में सोलहवीं शताब्दी में नवजागरण युग का प्रारम्भ हुआ । नवजागरण काल में अनेक परिवर्तन हुए । विज्ञान के बढ़ते चरण ने पुरातन रूढ़ियों और मान्यताओं को ढहा दिया । ईसाई धर्म का इन्द्रजाल टूटा और धर्म तथा दर्शन की नवीन मान्यताएँ प्रस्थापित हुई । पादरीवाद, परलोकवाद और तत्सम्बन्धी थोथी मान्यताएँ भरभराकर गिरीं । इनके स्थान पर नवीन चेतना का उन्मेष हुआ - ऐसी चेतना जो पूर्णत: वैज्ञानिक और तार्किक दृष्टि से सम्पन्न और समृद्ध थी । इसी कारण यूरोप के इस काल को नवजागरण या पुनर्जागरण काल कहा जाता है । नवजागरण या पुनर्जागरण काल में केवल पुरानी शास्त्रीय विद्या के पुनरुद्धार का ही कार्य नहीं हुआ । प्राच्य ज्ञान के प्रति आकर्षण के साथ-साथ वर्तमान को भी जाँचने-परखने और निरीक्षण करने का कार्य भी हुआ । इस प्रकार नवजागरण काल में मानव की प्रतिष्ठा हुई । उसे उसकी मध्यकालीन चेतना के बंधनों से मुक्त कराने का प्रयास हुआ । धर्म निरपेक्ष मानववाद के श्रीगणेश ने नव बुद्धिजीवियों के लिए नव चिन्तन का नव पथ प्रशस्त किया । इस काल में सर्जित साहित्य इसी नवीन ऊर्जा से अनुप्राणित है और इसका प्रयोजन है - मानवीय संवेदनात्मक व ज्ञानात्मक चेतना का विकास और उसका परिष्करण ।

4.4.3 नय-अभिजात्यवाद और नव-प्लेटोवादी विचारधारा

नवजागरण काल के साहित्य में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-भावना का इतना अधिक विकास हुआ कि इसकी अति से साहित्य-जीवन में अराजकता फैलने लगी । परिणाम यह हुआ कि साहित्यकार इससे घबरा उठे और उनका झुकाव शनैः-शनै: अभिजात्यवाद की ओर होने लगा । नव-अभिजात्चवाद का उदय हुआ और इसका व्यापक प्रभाव साहित्य पर पड़ा । परिणाम यह हुआ कि फ्राँस में अरस्तु और होरेस के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों को नवीन व्याख्याओं की कसौटी

पर कसा जाने लगा । बुअलों कार्लीन रासीन आदि ने अरस्तू के सिद्धान्तों के दृष्टिगत नाट्य-लेखन के नये नियमों का निर्धारण किया ।

नव-अभिजात्यवाद का उदय इंग्लैण्ड में लगभग 18वीं शताब्दी में हुआ । जॉन ड्राइडन, जोसेफ एडिसन, अलेक्जेंडर पोप तथा सेम्युअल जॉनसन आदि ने इस विचारधारा को ऊँचाईयों पर पहुँचाया । इन सबकी आलोचना सम्बन्धी कृतियों के अध्ययन से एक ही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि काव्य प्रयोजन के रूप में इन सबका उद्देश्य आनन्द तथा नैतिक आदर्शों की शिक्षा रहा है ।

4.4.4 स्वच्छन्दतावादी विचारधारा

इंग्लैण्ड में जब नव-अभिजात्यवाद अपने चरम पर था, उसी समय नव-मानववाद का विकास भी हो रहा था । इस विचारधारा में विश्व मानव की परिकल्पना की गयी और इसके साथ ही आत्मवाद को भी प्रतिष्ठित किया गया । साहित्य जगत् में ऐसा होना ही था और हुआ। इसके कारण औद्योगिक क्रांति का प्रभाव बढ़ रहा था । इस प्रभाव तथा नवीन चेतना से सम्पृक्त दृष्टि के कारण सामंतशाही अपनी अन्तिम साँसें गिन रही थी । नव-अभिजात्यवाद के आगमन के कारण रचनाकार बँध-सा गया और आत्माभिव्यक्ति के लिए छटपटाने लगा । फ्राँस की राज्य क्रान्ति की स्वच्छन्दतावाद के पल्लवन का एक महत्त्वपूर्ण कारण बना, क्योंकि इस क्रान्ति की आधार भूमि समानता, स्वतन्त्रता और बंधुत्व की भावना थी । उक्त आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक परिवेश में स्वच्छन्दतावाद को जन्म दिया । नव अभिजात्यवादी रूढ़िवादिता के बंधन से छूटने का उपक्रम तो एक कारण था ही । स्वच्छन्दतावादी काव्य को उसकी स्वच्छन्द भावभूमि में विचरण कराने में जिन कवियों ने अपनी भूमिका का निर्वाह किया, उनमें विलियम वर्ड्सवर्थ (1770-1850) विलियम ब्लेक (1757-1827) कॉलरिज (1772- 1834), शैले, कीट्स, बायरन आदि के उल्लेखनीय नाम हैं। इस वाद का प्रभाव पाश्चात्य साहित्य जगत् में सन् 1850 के आसपास तक माना जाता है। स्वच्छन्दतावादी कविता में विद्रोह की प्रवृत्ति तो है ही, कृत्रिमता से मुक्ति, वैयक्तिक अनुभूति एवं आत्माभिव्यक्ति का चित्रण, प्रकृति से अनुराग, कल्पना लोक में विचरण, सौंदर्य-दृष्टि आदि ऐसी विशेषताएँ इस कविता के साथ गुम्फित हैं, जिनसे इसकी पाश्चात्य काव्य-जगत में पृथक् पहचान स्थापित हुई । भारतीय हिन्दी कविता का समूचा छायावाद इससे प्रभावित रहा ।

स्वच्छन्दतावाद के प्रवर्तन का श्रेय विलियम वर्ड्सवर्थ और इनके सहयोगी कवि कॉलरिज को दिया जाता है । इस काव्य के प्रवर्तक वर्ड्सवर्थ इस कविता की प्रयोजनीयता स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि -Every great Poet Is a Teacher, I Wish either to be considered as a teacher or as nothing. वर्ड्सवर्थ की मान्यता है कि पाठकों के हृदय में सद्भाव उत्पन्न करने, उनका ज्ञानवर्धन करने तथा उनके मानसिक और नैतिक स्वास्थ्य के उत्कर्ष में ही काव्य की उपयोगिता है । कवि-कर्म पाठकों की भावनाओं का परिष्करण करने वाला होना चाहिए ताकि उनकी भावनाएँ शुद्ध, संतुलित, विवेकपूर्ण और प्रकृति के अनुरूप बन सकें । अपनी कवि 'लिरिकल बैलेड्स' (1798) की भूमिका में वर्ड्सवर्थ ने कविता

को आनन्द प्रदायिनी बताया है । सारांशत: स्वच्छन्दतावादी कविता का प्रमुख प्रयोजन - आत्म साक्षात्कार, आत्माभिव्यक्ति तथा आत्म-सृजन ही है । इस कविता में जीवन के आनन्दवादी-सौंदर्यवादी तथा कलावादी मूल्य प्रधान हैं ।

4.4.5 'कला कला के लिए' का सिद्धान्त

स्वच्छन्दतावादी कविता की विशेषताओं ने 'कला कला के लिए' (Art For Art) सिद्धान्त को प्रतिपादित किया । एक और मान्यता के अनुसार काँट के 'Critic of Judgement' द्वारा सौंदर्यवादी सिद्धान्त की पुष्टि आध्यात्मिक शक्ति द्वारा हुई और इसे ही Art For Art का सिद्धान्त का मूलाधार माना गया । इस सिद्धान्त के अनुसार कला का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है, इसीलिए इसे किसी नैतिकता, आदर्श अथवा धार्मिकता से जोड़ना गलत होगा । कला की कसौटी केवल और केवल सौंदर्य चेतना की तृप्ति है । सौंदर्य की अनुभूति के उसी तत्व का नाम कला है, जिसका स्वयंभू साम्राज्य है । इसका एकमात्र प्रयोजन - आनन्द की सृष्टि है। कला और काव्य से जो आनन्द प्राप्त होता है, उस आनन्द की भी स्वतन्त्र सत्ता है । आस्कर वाइल्ड, ब्रैडले, ए.सी. स्विनबर्न, व्हिस्लर, वर्ली, वाल्टर पेटर तथा एडगर एलन पो जैसे साहित्यकारों ने इस सिद्धान्त को अपना समर्थन दिया है । ब्रैडले का तो यह कथन है कि - the experience is an end in itself, is worth having on its own account, has an intrinsiv value Poetry many have also an ulte roir value as a mens to culture or religion, because it conveys iostruction or softness the passion of further a good cause. Its nature is to be not a part nor yet a copy of the real word put to be a world by independent, Complete autononmous. अंग्रेजी के कवि स्विनबर्न का भी कथन है कि -कला के जो विशिष्ट नियम हैं, उनका पालन करना ही कलाकार का धर्म है । प्रस्तुत संदर्भ में यह उल्लेखनीय तथ्य है कि सौंदर्यवाद, कलावाद एवं स्वच्छन्दतावाद की एक भावभूमि होने पर भी इन तीनों में पर्याप्त वैचारिक अन्तर है । आगे चलकर बिम्बवाद या प्रतीकवाद का जो उदभव हुआ, वह कलावाद का ही विस्तारित रूप है ।

4.4.8 'कला जीवन के लिए' का सिद्धान्त

कला का प्रयोजन केवल कलाभिव्यक्ति के लिए नहीं होना चाहिए । यदि कोई कलाकार जीवन से इतर अपनी कला का प्रदर्शन करता है, तो वह कला त्याज्य है । इस विचार के पोषक चिन्तकों ने कलावादियों की मान्यताओं पर तीव्र प्रहार किये और कलावाद को जीवन से पलायन करने, भोगवादी प्रवृत्ति को बढ़ावा देने, व्यक्तिवाद को महत्त्व देने - जैसे आरोप उन पर आरोपित किये । मार्क्सवादी चिंतनधारा ने उसे विकृत सौंदर्य' अथवा 'विकृत रूपवाद' तक की संज्ञा दे डाली ।

यह विचार युगों से प्रचलित है कि कला या काव्य का मूल प्रयोजन शिक्षा या उपदेश देना है। प्लेटो से लेकर अरस्तु और आगे चलकर सर फिलिप सिडनी तक यह अवधारणा व्यापक रूप

से व्यक्त हुई है । परन्तु मैथ्यू आर्नल्ड (1822-1888) ने इस दिशा में तीखे तेवर अपनाये। मैथ्यू आर्नल्ड उन्नीसवीं शताब्दी के मूर्धन्य आलोचक यथार्थवादी काव्यशास्त्री तथा कवि थे। इंग्लैण्ड वासी आर्लल्ड के यथार्थवादी दृष्टिकोण को इंग्लैण्ड सरकार ने भी मान्यता प्रदान की थी । इसके साथ-साथ आर्नल्ड महान काव्य-आलोचक भी थे । आर्नल्ड मानते हैं कि कविता को जीवन से अलग नहीं किया जा सकता । कविता मनुष्य से अविच्छिन्न रूप से जुड़ी है। वे कहते हैं -काव्य जीवन की व्याख्या है (Poetry is at bottom a criticism of life)। वस्तुत: साहित्य और जीवन की समस्याओं को अलग-अलग विश्लेषित नहीं किया जा सकता इसीलिए साहित्य का मूल्यांकन भी जीवन के संदर्भ में होना चाहिए । इसीलिए आर्नल्ड साहित्य को जीवन की आलोचना स्वीकार करते हुए साहित्य का आधार तथा साहित्य की कसौटी लोक-मंगल एवं संस्कृति का विकास मानते हैं । आर्नल्ड की दृष्टि में काव्य का प्रयोजन कोरा आनन्द न होकर मानवीय पूर्णता का ज्ञान कराते हुए मानव का आत्म विकास और समाजोत्थान है । आर्नल्ड का विचार है कि जिस कविता में नीति के विरूद्ध विद्रोह है उसमें जीवन के विरूद्ध विद्रोह है और जो कविता उदासीन है, वह जीवन से भी उदासीन है । आर्नल्ड ने कविता में नीति को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है - The best poetry will be found to have a power of forming and delighting us, as nothing else can. इसीलिए इसने शैले, बायरिन आदि कवियों की निन्दा की है, परन्तु हिन्दी के आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि नैतिकतावादी आलोचकों ने आर्नल्ड की पर्याप्त सराहना की है ।

आई॰ए. रिचर्ड्स मूल्यवादी आलोचक थे और उन्होंने काव्य की उपयोगिता को मूल्यों से सम्बद्ध किया । रिचर्ड्स ने पहली बार काव्य को दर्शन के क्षेत्र से बाहर निकालकर मनोविज्ञान के क्षेत्र में लाने का प्रयास किया । इन्होंने यह स्पष्ट किया कि कला जन्य सौंदर्य बोध जीवन से अलग नहीं है, उससे सम्पृक्त है । मन को प्रभावित करने की क्षमता को ही रिचर्ड्स कविता का मूल्य निर्धारित करते हैं । इन्होंने मनोवेगों के दो प्रकार बतलाएँ हैं - भूख, वासना या एषणा (Appetency) और विमुखता (Aversion) । इनमें प्रथम प्रकार के मनोवेग प्रवृत्तिजन्य हैं और द्वितीय प्रकार के निवृत्तिजन्य । रिचर्ड्स की दृष्टि में काव्य का प्रयोजन इन दोनों संवेगों में सामंजस्य स्थापित करना है । इस प्रकार रिचर्ड्स की दृष्टि में साहित्य का प्रयोजन एक ऐसी मनःस्थिति उत्पन्न करना है जिसमें आवेगों का सन्तुलन हो । रिचर्ड्स सौंदर्य की विषय निष्ठता (Subjectivity) पर बल देते हुए भी इसे न तो पूर्णत: विषयनिष्ठ मानते हैं और न ही पूर्णत: वस्तुनिष्ठ । इसीलिए इन्होंने सौंदर्य' के स्थान पर 'अनुभूति का मूल्य' शब्द प्रयुक्त किया है । रिचर्ड्स कलात्मक परितोष और भाव-परिष्कार को ही काव्य का चरम मूल्य स्वीकार करते हैं । कला इसी अर्थ में अनुकरण है कि वह जीवन का पुन:सृजन करती है । टी.एस. इलियट (1888- 1965) श्रेष्ठ कवि, नाटककार और सफल आलोचक थे । इन्होंने स्वच्छन्दतावाद का घोर विरोध किया और शास्त्रवाद (classist) का समर्थन किया । इलियट मानते हैं कि काव्य-सृजन में परम्परा का प्रमुख स्थान है और कवि की प्रतिभा केवल मध्यस्थ रूप में परम्परा को काव्य में प्रतिफलन होने के कारण सहायता प्रदान करती है । परन्तु परम्परा से इलियट का अभिप्राय प्राचीन प्रवृत्तियों के अंधानुगमन से नहीं है अपितु समृद्ध संस्कृति

से है । इलियट अपने परम्परावादी दृष्टिकोण के कारण वस्तुनिष्ठ साहित्य को सर्वोच्चता प्रदान करते हैं और कवि को कविता का मात्र माध्यम मानते हैं । वे कविता को अचेतावस्था की उपज मानते हैं । इलियट की दृष्टि में कविता समाज को नूतन अनुभूतियाँ प्रदान करती है और परिचित अनुभूतियों का नवीन बोध करती है जिससे हमारी चेतना का विस्तार और संवेदन शक्ति का परिष्कार होता है ।

4.4.7 मार्क्सवादी चिन्तन और काव्य प्रयोजन

मूलत: जर्मनी का निवासी और कम्यूनिज्म विचारधारा का कट्टर समर्थक कार्ल मार्क्स (1818-1883) कोई साहित्यकार न था । समाजवादी विचारधारा के प्रतिष्ठाता के रूप में ही इसकी ख्याति है । यही कारण है कि इसके द्वारा व्यक्त साहित्यिक विचारों में भी समाजवादी विचारधारा का प्रबल प्रभाव है । मार्क्सवादी चिन्तनधारा साहित्य या काव्य को समाज में परिवर्तन लाने का एक माध्यम मानती है । साहित्य के द्वारा लोक चेतना का विकास होता है और वह जन जागरण का कार्य करता है । मार्क्स का घोषित राजनैतिक सिद्धान्त है - वर्ग-संघर्ष और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद । इन सिद्धान्तों ने साहित्य के क्षेत्र में विश्व व्यापी प्रभाव छोड़ा और आनन्दवादी मूल्यों पर भौतिक उपयोगितावादी मूल्य प्रतिष्ठित हुए । मार्क्स का मत है कि साहित्यिक आन्दोलन, साहित्यिक रूप अथवा साहित्यिक अवधारणा को आर्थिक तथा सामाजिक प्रवृत्तियों के आधार पर ही विश्लेषित किया जा सकता है और समझा जा सकता है ।

कार्ल मार्क्स की मान्यता है कि सामाजिक यथार्थवाद कलात्मक अभिव्यक्ति का पथ-प्रदर्शक सिद्धान्त है । कलाकार का यह शाश्वत धर्म है कि यथार्थ का उसके क्रान्तिकारी विकास के रूप में ऐतिहासिक, ठोस तथा वास्तविक अंकन करे । काव्य के सम्बन्ध में मार्क्स के विचार हैं कि वह पाठकों को बोधगम्य होनी चाहिए और उसका मूल विषय मानव होना चाहिए । मार्क्स ने कलावादियों पर तीखा हमला किया है । उसका मानना है कि कलावादी प्रवृत्ति वहीं प्रादुर्भूत होती है जहाँ कला का सामाजिक सरोकारों से विरोध हो । मार्क्स उपयोगितावादी कला को सार्थक मानते हुए कहता है कि जो कला सामाजिक संघर्ष में प्रेरणा प्रदान करती है और समाज निर्माण में सक्रिय हो, उसी कला की उपयोगिता है और वही कला श्रेष्ठ कला की श्रेणी में आती है। केवल कार्ल मार्क्स ही नहीं उसके पूर्ववर्ती फ्रेडरिक एंगेल्स एवं परवर्ती विचारक लियो टॉलस्टाय ने भी कला या काव्य का मुख्य प्रयोजन समाजवादी स्थापना को माना है । प्लेखोनेव लेनिन, जोसेफ रेवी, टाटस्की, क्रिस्टोफर कौडवेल आदि मार्क्सवादी साहित्य चिन्तकों ने कला एवं साहित्य में पूँजीवादी प्रवृत्तियों का विरोध किया है और कहा है कि काव्य का सत्य अनिवार्य रूप से सामाजिक होता है । तात्पर्य यह कि मार्क्सवादी साहित्य या काव्य का प्रयोजन मानवतावादी, नैतिक उपयोगितावादी और सामाजिक मूल्यों की स्थापना है । दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि साम्यवादी काव्यशास्त्र में साहित्य का प्रयोजन मानव कल्याण है ।

4.4.8 मनोविश्लेषणवादी चिंतन और काव्य प्रयोजन

मनोविश्लेषणवादी चिंतनधारा के जनक सिग्मण्ड फ्रायड मूलत: मनो चिकित्सक थे और अपने चिकित्सकीय व्यवसाय के द्वारा उसने रोगियों के अन्तश्चेतन को समझने का प्रयास किया।

इसी प्रयास में उन्होंने अपने सिद्धान्तों को खोज निकाला । फ्रायड ने मनुष्य के मस्तिष्क के विकास ग्रस्त होने का मूल कारण यौन कर्म और उसकी वर्जनाओं को माना । फ्रायड के अनुसार, सभ्यता और संस्कृति की जो भी श्रेष्ठ अभिव्यक्तियाँ हैं, वे वस्तुत: मनुष्य की काम प्रवृत्ति की ही विविध अभिव्यक्तियाँ हैं । कला या काव्य काम-वासना के उदात्तीकरण का माध्यम है । मनोविश्लेषणवादी काव्य का प्रयोजन है - मानवीय भावनाओं का उत्रयन, उसका परिष्कार तथा उदात्तीकरण । जब पाठक श्रृंगारपरक काव्य पढ़ता है या नाटक देखता है तब उसकी काम-भावना परिष्कृत होती है और उसके वेग का शमन होता है । फ्रायड यौन शक्ति को धर्म, अर्थ, साहित्य एवं संस्कृति का मूल प्रेरक मानते हैं ।

फ्रायड के दोनों शिष्यों (अल्फ्रेड एडलर, कार्ल युंग) की साहित्यिक मान्यताएँ फ्रायड के ही समान हैं परन्तु कुछ अर्थो में उससे भिन्न भी हैं । एडलर, फ्रायड के उस विचार से सहमत नहीं है कि मन की समग्र सृष्टियों का प्रयोजन अतृप्त कामनाओं की तृप्ति है । एडलर की दृष्टि में साहित्य और कला हीन भावना की क्षति-पूर्ति के साधन हैं तथा कला-कार इनके द्वारा दूसरों के हृदय पर अपना आधेकार करता है । एडलर कला के अन्तर्गत तादात्म्य और भाव विनियोग की आवश्यकता को शाश्वत मानता है । वह यह भी मानता है कि सामाजिक जीवन की आवश्यकताएँ मानव प्रेम और विश्व बन्दुत्व की भावनाओं को पुष्ट करती हैं । कार्ल युंग की मान्यता है कि किसी कलाकृति की विशेषता और उसका अर्थ स्वयं कलाकृति में निहित होता है । इसे किसी पूर्व अवस्था तथा पूर्व मिथकों में खोजा नहीं जा सकता । युंग कला को सौंदर्य मानकर उसी में उसका वास्तविक उद्देश्य निहित करता है । युंग के अनुसार कला-कृति में जो बिम्ब, प्रतीक और धारणाऐ प्रस्तुत होती हैं, उनके विश्लेषण से ही उनमें निहित अर्थ का उद्घाटन किया जा सकता है ।

मार्क्सवादी चिंतकों ने मनोविश्लेषणवादी साहित्य की घोर आलोचना की है, फिर भी मनोविश्लेषणवादी साहित्य का भरपूर सृजन हुआ । हिन्दी साहित्य में तो यह विचारधारा इतनी लोकप्रिय हुई कि जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, मन्नु भण्डारी, राजेन्द्र यादव प्रभृति लेखकों ने अनेक लोकप्रिय तथा चर्चित उपन्यासों एवं कहानियों का सृजन किया ।

4.5 सारांश

भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने इस बात पर गहराई से विचार किया है कि काव्य-सृजन का प्रयोजन क्या है और सर्जक, सृजन तथा पाठक के मध्य अन्तत: क्या और कैसा सम्बन्ध है? भारतीय काव्य-मनीषियों ने इसके उत्तर में चतुष्फल की प्राप्ति से लेकर यश, आनन्द, शिक्षा, अनिष्ट निवारण और लोक-मंगल को प्रस्तुत किया है, वहीं पाश्चात्य चिंतकों ने लोक-मंगल और आनन्द इन दोनों तत्वो तक काव्य प्रयोजन का क्षेत्र सीमित किया है । पाश्चात्य देशों में अलग-अलग समय पर काव्य जीवन के लिए, काव्य काव्य के लिए, सौंदर्यवादी अवधारणा, काव्य की समाजवादी अवधारणा, मनोविश्लेषणात्मक अवधारणा जैसे आंदोलन प्रारम्भ होते रहे हैं और इन आन्दोलनों के प्रवर्तकों ने काव्य प्रयोजनों को अपनी-अपनी चिन्तनधारा के अनुरूप व्याख्यायित किया है । पर इन सबका समाहार करते हुए दो प्रयोजन ही स्पष्ट रूप से सामने आते हैं - आनन्दवादी मूल्य और कल्याणकारी मूल्य । इन दोनों मूल्यों

का प्रयोजन मानवीय चेतना का विस्तार और विकास है । सृजन की प्रक्रिया इन्हीं प्रयोजनों को लेकर शताब्दियों से चली आ रही है, चल रही है और चलती रहेगी ।

4.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. संस्कृत आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य प्रयोजनों को स्पष्ट कीजिए ।
2. पाश्चात्य चिंतन परम्परा के काव्य प्रयोजन सम्बन्धी मतों की विवेचना कीजिए ।
3. आचार्य मम्मट द्वारा निर्दिष्ट काव्य प्रयोजनों को स्पष्ट कीजिए ।
4. हिन्दी विद्वानों की काव्य प्रयोजन सम्बन्धी दृष्टि पर प्रकाश डालिए ।
5. टिप्पणियाँ लिखिए:

क. नवजागरण कालीन चेतना और काव्य प्रयोजन

ख. मार्क्सवादी चेतना और काव्य प्रयोजन

ग. मनोविश्लेषणवादी चेतना और काव्य प्रयोजन

घ. कला कला के लिए' अथवा कला जीवन के लिए

4.7 संदर्भ ग्रन्थ

1. डॉ. नगेन्द्र - भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली, 1965
2. डॉ. नगेन्द्र एवं-पाश्चात्य काव्यशास्त्र, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय,
3. डॉ. सावित्री सिन्हा - दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 1968
4. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा (संपा) - हिन्दी साहित्य कोश भाग- 1, ज्ञानमण्डल, वाराणसी, 1985
5. बाबू गुलाब राय - सिद्धान्त और अध्ययन, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, 2004
6. डॉ. शोभाकान्त मिश्र - भारतीय काव्य चिंतन, अनुपम प्रकाशन, पटना, 2001
7. डॉ. सुरेश चन्द्र गुप्त -हिन्दी काव्यशास्त्र कवियों की अवधारणाएँ, ग्रंथ अकादमी. दरियागंज, दिल्ली, 1991
8. डॉ. भागीरथ मिश्र - काव्यशास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2004
9. डॉ. भागीरथ मिश्र - पाश्चात्य काव्यशास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2003
10. डॉ. तारकनाथ बाली - पाश्चात्य काव्यशास्त्र का इतिहास, शब्दकार, दिल्ली, 1999

इकाई - 5 भारतीय काव्यशास्त्र का परिचय

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 काव्य शास्त्र - एक परिचय

5.3 काव्य शास्त्र की उपादेयता

5.4 भारतीय काव्यशास्त्र : इतिहास व परम्परा

5.4.1 नाट्यशास्त्र

5.5 भारतीय काव्यशास्त्र : विविध सम्प्रदाय

5.5.1 रस सिद्धान्त

5.5.2 अलंकार सम्प्रदाय

5.5.3 ध्वनि सिद्धान्त

5.5.4 रीति सम्प्रदाय

5.5.4.1 गुण

5.5.5 वक्रोक्ति सिद्धान्त

5.5.6 औचित्य सिद्धान्त

5.6 सारांश

5.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

5.8 संदर्भ ग्रन्थ

5.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के, बाद आप -

- बता सकेंगे कि कव्यशास्त्र क्या है ।
- काव्यशास्त्र का महत्व बतला सकेंगे ।
- भारतीय काव्यशास्त्र का अभिप्राय समझ सकेंगे ।
- इसकी परम्परा और इतिहास को जान सकेंगे ।
- इसके विविध सम्प्रदायों को समझ सकेंगे ।
- इसकी विशिष्टताएँ दर्शा सकेंगे ।

5.1 प्रस्तावना

इस खण्ड की इकाई में आप काव्यशास्त्र का परिचय पा सकेंगे तथा इसकी उपयोगिता समझ सकेंगे ।

भारतीय काव्यशास्त्र लगभग 2500 वर्ष पुराना है । इसका आरम्भ भरतमुनि के नाट्य शास्त्र से होता है । इसका सभारम्भ संस्कृत में हुआ है । भारतीय काव्यशास्त्र में मूलत रस पर

चिंतन हुआ है, जो सौंदर्य चिंतन का मूल आधार है । रस की उत्पत्ति, रस के प्रकार, रस का आस्वादन, रसानुभूति आदि की चर्चा के साथ-साथ अलंकार, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति तथा औचित्य- इन छः सम्प्रदायों के अन्तर्गत गम्भीर चिन्तन हुआ है ।

भारतीय काव्यशास्त्र के विकास की परम्परा में अनेक आचार्यो का योगदान रहा है । इसके अन्तर्गत अनेक सिद्धान्तों का प्रणयन, विवेचन, विचार-विमर्श आदि होता रहा । अनेक काव्य सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव होता रहा, जिसके अन्तर्गत उसके हेतु प्रयोजन, भेद, उपभेद, प्रभाव, सम्प्रेषण, न्यूनताओं, विविध-आयामों आदि का सुविस्तृत विवेचन होता रहा । अध्यात्म, व्याकरण, मनोविज्ञान, भाषा, नाट्य, अभिनय, प्रेक्षक आदि सभी दृष्टियों से व्यापक विचार-विमर्श हुआ । आचार्य भरत, भामह, दण्डी, रुद्रट, उद्भट, लोल्लट, शंकुक, भट्नायक अभिनव गुप्त, आनन्द वर्धन, मम्मट, रुय्यक, महिम भट्ट, राजशेखर, भोजराज, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ तथा अनेक ऐसे आचार्य हुए जिन्होंने इस विषय में अपना योगदान दिया। इस परम्परा के अन्तर्गत सिद्धान्त प्रतिपादकों का ही नहीं, व्याख्याकारों का भी महत्त्व रहा।

इन आचार्यो ने सिद्धान्त निरूपण के साथ-साथ काव्यशास्त्र को सहज तथा सर्वसुलभ बनाते हुए सांगोपांग व्याख्याएँ भी की । इन व्याख्याओं में भी मौलिक उद्भावनाएँ मिल जाती हैं । यहाँ तक कि आज भी मराठी, हिन्दी, संस्कृत आदि भारतीय भाषाओं में काव्यशास्त्र के विविध सम्प्रदायों पर चर्चा जारी है । रस', 'ध्वनि' आदि सिद्धान्तों के विविध आयामों पर नये ढंग से विचार-विमर्श किया जा रहा है ।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र का विकास जहाँ अन्य शास्त्रों या विषयों पर विचार करते हुए आनुषांगिक रूप में हुआ, वहीं भारतीय काव्यशास्त्र का विकास एक सीधी रेखा में विषय-निष्ठ दृष्टि से हुआ । प्लेटो ने राजनीति पर बात करते हुए अरस्तु ने विज्ञान की चर्चा करते हुए लौंजायनस ने भाषण कला पर विचार करते हुए, टेन ने इतिहास पर विचार करते हुए, मार्क्स ने अर्थशास्त्र पर तो फ्राँयड ने मनोविज्ञान पर बात करते हुए, साहित्य पर विचार किया ।

भारतीय काव्यशास्त्र में इसके विपरीत सीधे काव्य, काव्य सर्जन, आस्वादन, प्रभाव जैसे विषयों पर ही चर्चा हुई । हमारी परम्परा सीधी, स्पष्ट व एक रेखीय रही । वहीं पाश्चात्य परम्परा बहुआयामी, विविध विषयाधृत रही । विषयबद्धता स्पष्टता तथा क्रमबद्धता, भारतीय काव्यशास्त्र की विशेषता रही । भारतीय काव्यशास्त्र आज भी प्रासंगिक है तथा काव्य के समझने, आस्वादन करने व मूल्यांकन करने की दृष्टि प्रदान करता है ।

5.2 काव्यशास्त्र : एक परिचय

मानव विचारशील प्राणी है । विचारों और भावों के विकास के साथ ही मानव सभ्यता का विकास होता है । वस्तुतः ज्ञान ही मानव के विकास का आधार है । ज्ञान के प्रमुखतः दो प्रकार हैं, बुद्धि प्रधान तथा भाव प्रधान । भाव प्रधान ज्ञान ही साहित्य है । विज्ञान जहाँ जीवन के बाह्य विधान को सजाता सँवारता है, नये-नये साधन उपलब्ध करवाता है, वहीं साहित्य मनुष्य के मनोजगत को व्यापक व स्पष्ट करता है । जीवन को अधिक नैतिक, नियमबद्ध, अनुशासित

व उदात्त बनाता है । अनुभूति के क्षेत्र को विस्तृत बनाता है । भावजगत् को पुष्ट करता है। साहित्य के नियमन व व्यवस्थापन का कार्य जो शास्त्र करता है, काव्यशास्त्र नियम-निर्धारण, सिद्धान्त निरूपण, विवेचन, समीक्षण आदि द्वारा उसका नियंत्रण करता है । दूसरी ओर पाठक या दर्शक के लिए सम्प्रेषण तथा आस्वादन की भूमिका तैयार करता है । साहित्य सर्जन जहाँ अधिक भावनात्मक या हृदय प्रधान होता है, वहीं काव्यशास्त्र तर्क प्रधान व बौद्धिक होता है।

डॉ. रामचन्द्र वर्मा के अनुसार- काव्य में भावाभिव्यक्ति होती है और शास्त्र में व्यवस्थापक विवेचन होता है । काव्य सौंदर्य प्रधान होता है तो शास्त्र व्यवस्था प्रधान होता है । काव्य, कवि प्रतिभा उद्भभूत होता है तो शास्त्र का जन्म प्रज्ञा से होता है ।

काव्यशास्त्र सर्जनशील साहित्यकारों का नियमन, संचालन व व्यवस्थापन कर उनका मार्गदर्शन करता है । अत: काव्य के व्यवहार सम्मत सैद्धान्तिक नियमन विवेचन का नाम ही 'काव्यशास्त्र' है ।

काव्यशास्त्र वस्तुत: सर्जक व पाठक के बीच के मध्यस्थ का कार्य भी करता है । साहित्य सर्जक उफनती हुई नदी है तो काव्यशास्त्र उसका नियंत्रण करने वाले दो किनारे हैं ।

पाश्चात्य वाङ्मय में काव्यशास्त्र के लिए 'पोएटिक्स या एस्थेटिक्स' शब्द व्यवहार में आते हैं । ऐस्थेटिक्स शब्द अधिक व्याप्ति लिए हुए है, जिसका हिन्दी पर्याय है सौन्दर्य शास्त्र ।

काव्यशास्त्र के प्रमुख कार्य हैं - सिद्धान्त-निरूपण, विवेचन, समीक्षण, विश्लेषण, वर्गीकरण तथा मूल्यांकन । काव्य के वास्तविक भावना, आस्वादन तथा रसानुभूति में सहायक होता है 'काव्यशास्त्र' ।

5.3 काव्यशास्त्र की उपादेयता

काव्यशास्त्र का ज्ञान साहित्य को समझने के लिए अत्यन्त आवश्यक है । वस्तुत: काव्यशास्त्र साहित्य का व्याकरण है । इस शास्त्र का ज्ञाता समीक्षक या आलोचक कहलाता है । आलोचक, सर्जक तथा पाठक के बीच की कड़ी होता है । वह कवि द्वारा रचित कृति का सम्यक् अध्ययन कर उसके भावों, विचारों, उद्देश्यों आदि का उद्घाटन करता है । कवि रचित कृति के अन्तःकरण में प्रवेश कर उसकी विशिष्टताओं और उसमें अन्तर्निहित सौन्दर्य से पाठक का साक्षात्कार कराता है । कवि की भाषा, शब्द शक्ति-सामर्थ्य, नाद-सौन्दर्य, छन्द, अलंकार, विश्लेषण कर पाठक के सम्मुख कृति सहज-गाह्य व संवेद्य हो जाती है । वह कवि के मूल अभिप्राय को समझने में सक्षम हो जाता है । अत: काव्यशास्त्र साहित्य के पूर्ण आस्वादन का वह विधान है जो पाठक की सहायता करता है । उदाहरणार्थ कविवर बिहारीलाल, केशवदास, पद्माकर भूषण आदि मध्यकालीन कवि तथा प्रसाद जी की 'कामायनी, निराला की राम की शक्ति पूजा मुक्तिबोध की 'अंधेरे में, नरेश मेहता की एक कण्ठ निषपायी जैसी कृतियों को समझने में काव्यशास्त्र सहायक होता है । काव्यशास्त्र की उपादेयता शोधकार्य में भी बहुत है । वस्तुत आलोचना प्रथम सोपान है जिस पर चढ़कर शोधकाकर्य में प्रवृत्त हुआ जा सकता है । शोधकार्य

के आधारभूत तत्व विश्लेषण-संश्लेषण का कार्य आलोचना द्वारा ही सम्भव है । अत: साहित्य के व्यापक क्षेत्र का अवगाहन करने में काव्यशास्त्र सहायक होता है ।

5.4 भारतीय काव्यशास्त्र : इतिहास व परम्परा

भारत में काव्यशास्त्र का विकास कब हुआ, यह निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता । फिर भी इस परम्परा का आरम्भ ढाई हजार वर्ष पूर्व तो माना ही जा सकता है । भारतीय काव्यशास्त्र के अन्तर्गत जिन समीक्षा सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ वे पूरी तरह से सूचिन्त्य, सुविचारित, स्पष्ट, तर्क सम्मत, वैज्ञानिक तथा परिपुष्ट व व्यवहार्य हैं ।

आनन्दवर्धनाचार्य ने जहाँ महर्षि वाल्मीकि को आदि कवि माना है, वहीं उन्हें आदि काव्यशास्त्री भी माना है।

भरत के नाट्यशास्त्र से एक स्पष्ट व सुनिश्चित काव्य-चिन्तन की परम्परा का आरम्भ हमें दिखलाई पड़ता है । आचार्य भरत से पूर्व भी काव्य-चिन्तकों की एक लम्बी परम्परा अवश्य रही होगी । भरत ने अपने नाट्य शास्त्र में पूर्ववर्ती आचार्यो की ओर संकेत किया है । भरत का काल ई.पू पाँच सौ वर्ष माना जाता है । आचार्य भरत ने पूर्ववर्ती आचार्यो की परम्परा में ब्रह्म, नन्दिकेश्वर, तुण्ड, वासुकि आदि का उल्लेख किया है । प्रसिद्ध वैयाकरण आचार्य पाणिनी ने भी अपने पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों का उल्लेख किया है, जिनमें सिलालि और 'कृशाश्व' का नाम विशेष उल्लेखनीय हैं । नाट्यशास्त्र में काव्य-सृजन, काव्य-प्रभाव, आस्वादन, काव्यभाषा, शब्द शक्ति, सम्प्रेषणीयता, काव्यदोष छन्द, अलंकार, गति, यति, लय तथा ऐसे अनेक काव्यतत्त्वो पर विस्तार से विचार हुआ । काव्य के विविध आयामों के साथ-साथ काव्य मनोविज्ञान-आस्वाद, अनुभूति, काव्य-प्रयोजन, हेतु, काव्यभेद आदि अनेकानेक तत्त्वों का सूक्ष्म अध्ययन, विवेचन, विश्लेषण किया गया ।

5.4.1 नाट्यशास्त्र

नाट्यशास्त्र 36 अध्यायों का एक विशाल ग्रन्थ है । यह नाटक, रंगमंच, नृत्य, गीत-संगीत. अभिनय, प्रशिक्षण. अभिनय के भेद, उपभेदों मंच, सज्जा आदि विषयों का सूचिन्त्य विश्वकोश है । 'नाट्यशास्त्र' सही अर्थों में एक शास्त्र है । शास्त्र का अर्थ है - शासन या अनुशासन करने वाला, नियंत्रण करने वाला ।

नाट्यशास्त्र एक प्रोक्त ग्रन्थ है । मुनिगण भरताचार्य को प्रश्न पूछते गये, भरत उनके उनके उत्तर देते गये । अत: नाट्यशास्त्र एक संवाद है । एक पूरी परम्परा है । नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति के विषय में एक कथा प्रचलित है - देवताओं के अनुरोध पर ब्रह्मा ने वेदों से कथा-संगीत, शिवजी से नृत्य, पार्वती से लास्य आदि तत्त्व लेकर नाट्य का निर्माण किया । नाट्यशास्त्र की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देन है- रस सिद्धान्त । इसी मूल सिद्धान्त से भारतीय काव्यशास्त्र का आरम्भ माना जाता है ।

इस प्रकार भारत में काव्यशास्त्र चिन्तन की सुदीर्घ इतिहास व परम्परा रही है जिसका क्षेत्र काश्मीर से कन्याकुमारी तथा गुजरात से बंगाल तक व्याप्त रहा है । आई.ए. रिचर्ड्स ने स्वीकार किया कि भारत में भाषा, शब्द तथा साहित्य विवेचन पर जितना कार्य हुआ है, पश्चिम अभी

उसके चरणों तक भी नहीं पहुँचा है । भारत का यह चिन्तन अत्यन्त व्यवस्थित तर्क-बद्ध व वैज्ञानिक रहा है ।

5.5 भारतीय काव्यशास्त्र : विविध सम्प्रदाय

5.5.1 रस सिद्धान्त

भारत में काव्यशास्त्र का आरम्भ संस्कृत भाषा में भरताचार्य के ग्रंथ नाट्यशास्त्र (2500 वर्ष पूर्व) माना जा सकता है, पर नाट्यशास्त्र में विविध विषयों का जो गहन, सूक्ष्म व विस्तृत विवेचन मिलता है उससे लगता है कि काव्यचिन्तन की यह परम्परा बहुत प्राचीन काल से चलती रही होगी । कालान्तर में ग्रंथ नष्ट हो गये होंगे ।

भरत के नाट्यशास्त्र द्वारा रस सिद्धान्त का सूत्रपात होता है । क्रमशः पाँच अन्य सम्प्रदायों का विकास हुआ । इन सम्प्रदायों का परिचय निम्न प्रकार है -

सम्प्रदाय	प्रवर्तक	ग्रंथ
रस सिद्धान्त	आचार्य	भरत नाट्यशास्त्र
	अन्य आचार्य	भट्टनायक, भट्टलोल्लट, शंकुक, अभिनव गुप्त ।
		भोजराज - श्रृंगार प्रकाश
		विश्वनाथ - साहित्य दर्पण 17 वीं सदी
		पण्डितराज जगन्नाथ - रस गंगाधर

भरताचार्य के सूत्र विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रसन्निष्पत्तिः पर परवर्ती आचार्यो ने काफी विचार विमर्श किया ।

भरताचार्य ने 'निष्पत्ति' शब्द की कोई व्याख्या प्रस्तुत नहीं की । अतः निष्पत्ति शब्द की व्याख्या कई आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से की । इनमें भट्टलोल्लट का 'उत्पत्तिवाद' आचार्य शंकुक का अनुमतिवाद भट्टनायक का 'भुक्तिवाद' जिसके अन्तर्गत उन्होंने अभिधा, भावकव्य तथा भोजकत्व की उदभावना की - अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद, विश्वनाथ का परिणतिवाद आदि प्रसिद्ध हैं । रसों की संख्या पर भी व्यापक चर्चा हुई । इस तरह रस के सारे अंगों-उपांगों पर व्यापक चर्चा हुई ।

रस निष्पत्ति, साधारणीकरण, रसानुभूति, ब्रह्मानन्द सहोदरत्व आदि पर लगातार चर्चा होती रही । आधुनिक युग में भी हिन्दी काव्यशास्त्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा डॉ. नगेन्द्र ने रस सिद्धान्त को नवीन दृष्टि से देखा । मराठी में सुरेन्द्र बारलिंग जैसे विद्वान ने इस सिद्धान्त पर व्यापक चर्चा की है ।

5.5.2 अलंकार सम्प्रदाय

अलंकार सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य भामह माने जाते हैं । जीवन में तथा साहित्य में अलंकारों का बड़ा महत्त्व है । काव्य में सौंदर्य तज का सन्निवेश करने वाले तत्व ही अलंकार हैं ।

'अलंक्रियते अनेन अलंकारः । अलम् का अर्थ है परिपूर्णता । पूर्णता ही सौन्दर्य है । अतः सौन्दर्य की सर्जना करने वाले तत्व ही अलंकार हैं ।

आचार्य भामह के बाद दण्डी, उद्भभट, रुद्रट, महिम भट्ट, कुंतक, आनंदवर्धन आदि ने अलंकारों पर चर्चा की । आचार्य वामन ने कहा - काव्य ग्राह्यमलंकारात् सौन्दर्यमंलकार, अर्थात् काव्य अलंकारों के कारण ही ग्राह्य होता है तथा सौन्दर्य ही अलंकार है ।

आगे चलकर आचार्य रुद्रट ने कथन विशेष भंगिमा को ही अलंकार स्वीकार किया - 'अभिधान प्रकार विशेष:' ।

आचार्य महिम भट्ट ने गुण और अलंकार दोनों को काव्य में चारुत्व का हेतु माना- चारुत्व हेतुचिडपिगुणानामलंकाराणाम् आचार्य रुद्रट ने कथन की विशेष भंगिमा को अलंकार माना - 'अश्विान प्रकार विशेषा एवंचालंकांरा: ।

आचार्य विश्वनाथ ने भी अलंकारों को काव्य की शोभा बढ़ाने वाले तत्व माना । कालान्तर में अलंकारों की संख्या में विस्तार । शब्दालंकार. अर्थालंकार, उभयालंकार आदि के भेदोपभेदों पर विचार किया गया ।

आधुनिक युग में भी अलंकारों के महत्व पर आचार्यो ने विचार किया । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार - 'भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और किया का अधिक तीव्र अनुभव करने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति अलंकार है । कविवर पंत जी ने छायावाद के दस्तावेज 'पल्लव' की भूमिका में अलंकारों की व्याख्या करते हुए लिखा है- 'अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं है । भावभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं । भाषा की पुष्टि के लिए राग की पूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं ।

संस्कृत में अलंकारों पर विस्तृत एवं व्यापक चर्चा हुई है । आज के हिन्दी काव्य में तो कतिपय विदेशी अलंकारों का समावेश भी हो गया है ।

5.5.3 ध्वनि सिद्धान्त

भारतीय काव्यशास्त्र में रस के बाद ध्वनि का महत्त्व है । इस सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य है । उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'ध्वन्यालोक में इस सिद्धान्त का अत्यन्त व्यवस्थित व्यापक व सूक्ष्म प्रतिपादन किया । ऐसा लगता है कि तत्कालीन विद्ध्त समाज में ध्वनि सिद्धान्त की काफी चर्चा रही होगी । ध्वनि का स्रोत अलंकारिकों का स्फोट सिद्धान्त है । वैयाकरणाचायों ने स्फोट रूप मुख्य अर्थ की अभिव्यक्ति करने वाले शब्द को ग्रहण कर इसका अर्थ विस्तृत बना दिया । आचार्य आनन्दवर्धन ने युक्तियों के सहारे रस से भिन्न 'ध्वनि की सत्ता सिद्ध की ।

आचार्य मम्मट ने इसकी शास्त्रीय व्याख्या की । ध्वनि के तीन मुख्य भेद हैं- रस, वस्तु तथा अलंकार । आनन्दवर्धन ने ध्वनि के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा- जहाँ शब्द और अर्थ अपने-अपने अस्तित्व को गौण बनाकर, विशिष्ट अर्थ या भावबोध को प्रकट करते हैं, वह विशिष्ट अर्थ 'ध्वनि कहलाता है ।

यथार्थ: शब्दौ वा तमर्यमुपसर्जनीकृत स्वार्थो । ।

व्यक्त: काव्य विशेष: स ध्वनिरिति सूरिभि: कथित । ।

- ध्वन्यालोक 1.13

अर्थात् जो अर्थ वाच्य अर्थ की अपेक्षा भिन्न होता है उसे 'ध्वनि कहते हैं । 'ध्वनि को ध्वन्यर्थ, व्यंग, व्यंगार्थ, प्रतीयमान, अवगामित द्योतित अर्थ आदि भी कहते हैं ।

ध्वनि वस्तुत: शब्दार्थ से भिन्न है । शब्दार्थ आधार एवं साधन है, 'ध्वनि साध्य है । एक अभिधा है, दूसरा व्यंजना है । ध्वनि काव्य को सर्वश्रेष्ठ माना गया है । ध्वनि काव्य के पुन: तीन भेद माने गये हैं - ध्वनि काव्य, गुणीभूत व्यंग काव्य और चित्र काव्य ।

भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में ध्वनि-सिद्धान्त का बड़ा महत्त्व है । अलंकार के बाद काव्य में 'ध्वनि' की कल्पना बड़ी सूक्ष्म है । ध्वनि के चमत्कार को पाश्चात्य समीक्षक भी स्वीकार करते हैं । ड्राइडन, कॉलरिज तथा अर्नाल्ड ने भी ध्वनि का उल्लेख किया
आनन्दवर्धन के 'धवन्यालोक' की समर्थ टीका अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक-लोचन के नाम से की । आचार्य अभिनवगुप्त शैव दर्शन के विद्वान आचार्य थे । जो दसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में कश्मीर में रहते थे । 'मंत्रलोक इनका प्रसिद्ध ग्रंथ है । साहित्य के क्षेत्र में इनकी दो कृतियाँ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं - 'अभिनव भारती, जो भरत के नाट्यशास्त्र की एक मात्र उपलब्ध टीका है । उनका दूसरा ग्रंथ है - 'ध्वन्यालोक लोचन, जो ध्वन्यालोक की प्रामाणिक टीका है । आनन्दवर्धनाचार्य तथा अभिनवगुप्त का भारतीय काव्यशास्त्र में बड़ा ही महत्वपूर्ण योगदान रहा है ।
इस रस सिद्धान्त की तरह ध्वनि सिद्धान्त पर भी शताब्दियों तक चर्चा होती रही ।

आचार्य मम्मट ध्वनि सिद्धान्त के समर्थक थे. जिन्हें 'ध्वनि प्रस्थान परमाचार्य की उपाधि दी गई । ये भी कश्मीर निवासी थे । क्षेमेन्द्र, रुय्यक, हेमचन्द, विश्वनाथ कविराज, पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने भी ध्वनि पर चर्चा की ।
वस्तुत: कामकाजी भाषा अभिधात्मक होती है पर ध्वनि के कारण ही काव्य में चमत्कार और सौन्दर्य की सर्जना होती है ।

5.5.4 रीति सम्प्रदाय

रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन माने जाते हैं । वामन के अनुसार विशिष्टा पदरचना रीति: विशेषो गुणात्मा अर्थात् विशिष्ट पद रचना रीति कहलाती है । यह विशेषता गुणों के समावेश के कारण आती है ।
वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना । वामन पूर्व आचार्य भरत. भामह और दण्डी ने भी रीति की चर्चा की । वामन के बाद आचार्य उद्भभट, रुद्रट. आनन्दवर्धन, कुन्तक, भोजराज, मम्मट और आचार्य विश्वनाथ ने भी रीति पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से चिन्तन किया । इनमें भी मम्मट और विश्वनाथ का प्रतिपादन महत्वपूर्ण है ।
काव्यशास्त्र में रीति का अर्थ है - काव्य निर्माण की पद्धति, मार्ग, काव्यमार्ग, काव्य पद आदि। रीति शब्द की व्युत्पति है - रीयते गम्यते अनेनेति रीति: ।

अर्थात् वह मार्ग जिसके द्वारा गमन किया जाए । जिस मार्ग के अनुसरण से उत्तम काव्य का निर्माण हो, उसे रीति कहते हैं । शब्द, अर्थ, अलंकार, छन्द, पद, गति, यति, लय, रस, ध्वनि आदि के ज्ञान से उत्तम कविता की सर्जना हो सकती है, इसी को रीति कहते हैं । हिन्दी साहित्य में तो रीतिकाल एक विशिष्ट युग ही माना जाता है ।

रीति में गुणों का समावेश स्वयं हो जाता है । अलंकार रीति के बाह्य तत्व हैं तो गुण आन्तरिक तत्व है । काव्य के शोभाकारक तत्व ही. गुण हैं ।

रीतियाँ तीन मानी गई हैं । वैदर्भी, गोडी और पांचाली ।

वैदर्भी माधुर्य गुण युक्त ललित पदावली सम्पन्न होती है । गौड़ी रीति परुषा तथा पौरुष गुण सम्पन्न होती है । पांचाली में माधुर्य और सुकुमार तत्व होते हैं । इन रीतियों में वैदर्भी ही श्रेष्ठ मानी गई है । यह सर्व गुण सम्पन्ना होती है । यह श्रृंगार और करुण जैसे कोमल रसों की अभिव्यक्ति के लिए योग्य है ।

5.5.4.1 गुण

काव्य के शोभा कारक धर्म हैं, जो संख्या में दस माने गये हैं । गुण शब्दगत तथा अर्थगत भी होते हैं । आनन्दवर्धन ने तीन गुण स्वीकार किये हैं - माधुर्य, ओज और प्रसाद । मम्मट और विश्वनाथ ने इसे स्वीकार किया । ये गुण चित्तवृत्ति के पर्याय माने गये हैं ।

रीति सिद्धान्त पर भी कालान्तर में व्यापक चर्चा हुई । पर रस या धनि की तरह इसे काव्यात्मा स्वीकार नहीं किया गया।

रीति सिद्धान्त वस्तुत: काव्य सर्जना अथवा काव्य समीक्षा का तकनीकी पक्ष है, जो काव्य के पठन-पाठन, आस्वादन, विश्लेषण तथा मूल्यांकन में अधिक सहायक होता है । जो भारतीय काव्यशास्त्र में रीति है, वही पाश्चात्य काव्यशास्त्र में शैली तत्व है ।

प्लेटो ने सहज, सरल, विचित्र और मिश्र - चार शैलियाँ मानी, तो अरस्तु ने स्पष्ट और औचित्यपूर्ण दो शैलियाँ स्वीकार की ।

होरेस ने शैली को विवेक सम्मत स्पष्ट शब्द योजना माना । अन्तत: दोनों दृष्टियों से रीति अथवा शैली के तीन प्रमुख तत्व माने जा सकते हैं - उपयुक्त शब्द चयन, विषयानुकूल पदबन्ध और स्पष्टता ।

रीति सिद्धान्त ने काव्य शास्त्र के अध्ययन को व्याप्ति प्रदान की तथा काव्य के सम्प्रेषण में सहायता पहुँचाई । हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल के बाद रीतिकाल में अनेक रीति ग्रंथों का निर्माण किया गया ।

5.5.5 वक्रोक्ति सिद्धान्त

वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रतिपादक आचार्य कुंतक हैं । उन्होंने वक्रोक्ति: काव्य जीवितम् नामक ग्रन्थ लिखकर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । उक्ति के दो भेद हैं - स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति । वक्रोक्ति का अर्थ है - 'टेढ़ी उक्ति या लोक प्रचलित सामान्य उक्ति से भिन्न-विलक्षण कथन । कवियों ने वक्रता सम्पन्न वस्तुओं की गणना कला में की है । घर में महिलाएँ भी वक्रोक्ति का प्रयोग अधिक करती हैं । वक्रोक्ति एक शब्दालंकार है. इसकी

उद्भावना रुद्रट ने की है । कालान्तर में आचार्य कुंतक ने पूरे सिद्धान्त का विकास किया । कुन्तक ने वक्रोक्ति को 'लोकोत्तर चमत्कारि वैचित्रय सिद्धि कहा । इसे असामान्य आह्लाद उत्पन्न करने वाली उक्ति कहा । कुंतक ने इसे विचित्रा अभिधा कहा । वक्रोक्ति: वैदग्ध्य भंगी भणिति कहा । भणिति का अर्थ है - विच्छिति चमत्कार अथवा चारुता । अर्थात् वक्रोक्ति, कवि कर्म कौशल ही वह तत्व है जो सामान्य को भी विशिष्ट बना देता है । कुंतक ने अपनी वक्रोक्ति के लिए विशिष्टा अभिधा शब्द का प्रयोग किया । वक्रोक्ति वस्तुत: कवि व्यापार वक्रता है।

कुंतक ने वक्रोक्ति की कल्पना भामह से ग्रहण की । वामन, आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त, भोजराज आदि ने भी वक्रोक्ति पर चर्चा की । रुद्रट ने इसे शब्दालंकार ही माना । कुन्तक ने इसे एक सिद्धान्त की व्याप्ति प्रदान की । वक्रता की परिभाषा है- कवि प्रतिभा से संस्कारित, कवि कर्म कौशलजन्य वाणी विलास की सौन्दर्यातिशयता का नाम ही वक्रता है ।
वक्रोक्ति के निम्नलिखित छ: भेदोपभेद हैं -

1. वर्ण विन्यास वक्रता 2. पद पूर्वार्द्ध वक्रता 3. पद पदार्थ वक्रता
4. वाक्य वक्रता 5. प्रक्ररण वक्रता 6. प्रबन्ध वक्रता

इनके और उपभेद भी माने गये हैं । वक्रोक्ति को वस्तुत: काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता । यह काव्य के शरीर अथवा काला पक्ष तक ही सीमित है । वक्रोक्ति काव्य के आनन्द प्राप्ति का एक साधन है, जो पर्याप्त विशद होकर भी काव्यात्मा नहीं है।

5.5.6 औचित्य सिद्धान्त

औचित्य सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र हैं । इनके पूर्व भी भरत. भामह, दण्डी, रुद्रट और आनन्दवर्धन ने इस पर चर्चा की ।
भरत ने नाट्यशास्त्र में पात्र के प्रसंग में प्रकृति वेशभूषा आदि में औचित्य का विस्तृत प्रतिपादन किया । भामह ने भी सौन्दर्य निरूपण में औचित्य को आवश्यक माना । आचार्य दण्डी ने देशगत कालगत औचित्य की चर्चा की ।
आनन्दवर्धन ने भी अलंकार. गुण संघटना प्रबन्ध रीति तथा रसौचित्य की चर्चा की है । आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य की विस्तृत चर्चा करते हुए उसे काव्यात्मा घोषित किया ।
औचित्य सम्प्रदाय के लक्षण-स्वरूप का अभिधान करते हुए आचार्य क्षेमेन्द्र ने कहा उचित प्राहुराचार्या: सदृश किल यस्य यत् । उचितस्य च यो भाव:, तदौचित्यं प्रचक्षते । । अर्थात् जो जिसके अनुरूप है, उसमें साम्य एवं उचित विधान का काव्य में ध्यान रखना ही औचित्य है।

औचितं रस सिद्धान्त स्थिर काव्यस्य जीवितम् । अर्थात् रस सिद्ध काव्य का प्राण औचित्य ही है । जिस प्रकार व्यवहार-जगत में विवेकपूर्ण ढंग से औचित्य का ध्यान रखा जाता है, उसी प्रकार काव्य में भी उचित का ध्यान रखना आवश्यक है ।
काव्य में और रसोई घर में - औचित्य के बिना रस सिद्धि नहीं हो सकती ।
आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य के सत्ताईस भेदोपभेदों का उल्लेख किया है, जो निम्न है - पद, वाक्य, प्रबन्ध. गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग. निपात,

देश, काल, कुल, व्रत, तत्व, अभिप्राय, सार संग्रह, प्रतिभा; अवस्था, विचार. नाम, आशीर्वचन आदि । औचित्य के बिना अलंकार सौन्दर्य का कारक नहीं होता ।

'औचित्येन बिना रुचि प्रतनुते नालकृतिनोर्गुणा: " अंतत: औचित्य भी वक्रोक्ति की तरह काव्य का बाद तत्व ही है, आत्मा नहीं ।

अन्तत: यह कहा जा सकता है कि भारतीय काव्यशास्त्र की ढाई हजार वर्षो की सुदीर्घ, सुचिन्तय अक्षुण्ण परम्परा रही है । यह परम्परा इतनी समृद्ध रही है कि आज भी इसके विविध आयामों पर चर्चा व विचार विमर्श जारी है ।

5.6 सारांश

भारतीय काव्यशास्त्र के विविध सम्प्रदायों का ज्ञान साहित्य के विद्यार्थी के लिए आवश्यक है । भारतीय काव्यशास्त्र की एक सुचिन्त्य व्यवस्थित परम्परा रही है । ये सम्प्रदाय संख्या में छ: हैं- रस, अलंकार. ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति तथा औचित्य । अनेक आचार्यो ने इन सम्प्रदायों के अंग उपांगों पर पर्याप्त चिन्तन किया है । इन सम्प्रदायों के ज्ञान से काव्य को समझने, उसका वर्गीकरण विश्लेषण करने तथा रसास्वादन करने में सहायता मिलती है ।

5.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. काव्यशास्त्र क्या है? इसकी उपादेयता क्या है?
2. भारतीय काव्यशास्त्र का संक्षिप्त इतिहास दर्शाइए ।
3. भारतीय काव्यशास्त्र के विविध सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचय दीजिए ।
4. भारतीय काव्यशास्त्र की क्या विशेषताएँ हैं?
5. साहित्य, के अध्ययन में काव्यशास्त्र का महत्व दर्शाइए ।

5.8 संदर्भ ग्रन्थ

1. डॉ. भागीरथ मिश्र - भारतीय काव्यशास्त्र
2. डॉ. सुरेश अग्रवाल - भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्त, अशोक प्रकाशन, दिल्ली
3. डॉ. शान्ति स्वरूप गुप्ता - भारतीय काव्यशास्त्र
4. डॉ. देवेन्द्र नाथ शर्मा - भारतीय काव्यशास्त्र

इकाई - 6 भारतीय काव्यशास्त्र के प्रमुख संप्रदाय - 1 : रस

इकाई की रूपरेखा

6.00 उद्देश्य

6.01 प्रस्तावना

6.02 रस का स्वरूप

6.03 रस सिद्धान्त

6.04 रस की व्याख्या

6.05 स्थायी भाव

6.06 विभाव

6.07 अनुभाव

6.08 संचारी भाव

6.09 रस की परम्परा

6.10 भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद

6.11 शंकुक का अनुमितिवाद

6.12 भट्टनायक का भुक्तिवाद

6.13 अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

6.14 सारांश

6.15 अभ्यासार्थ प्रश्न

6.16 संदर्भ गन्ध

6.00 उद्देश्य

आधार पाठ्यक्रम के एम० ए० पूर्वार्द्ध की इस इकाई के अध्ययन के बाद आप -

- भारतीय काव्यशास्त्र में रस की महत्ता से परिचित हो सकेंगे ।
- रस के विभिन्न अवयवों का अध्ययन कर सकेंगे ।
- भट्टलोल्लट के रस निष्पत्ति संबधी मत उत्पत्तिवाद के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद का अध्ययन कर सकेंगे ।
- रस निष्पत्ति के सन्दर्भ में शंकुक के अनुमितिवाद संबंधी मत का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- रस निष्पत्ति की व्याख्या में भट्टनायक के योगदान की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।

6.01 प्रस्तावना

संस्कृत में 'रस मीमांसा'' का प्रारम्भ कब से हुआ और उसके आदि-प्रवर्त्तक कौन थे, यइ प्रश्न विवादास्पद है । आचार्य परंपरा की दृष्टि से भरतमुनि कृत 'नाट्यशास्त्र'' ही रस-निरूपण का प्रथम ग्रंथ माना जाता है । वैसे रसों का व्यावहारिक रूप वैदिक वाङ्मय, रामायण तथा महाभारत में भी प्राप्त होता है तथापि उसके शास्त्रीय विवेचन व सैद्धान्तिक स्वरूप पर चर्चा

"नाट्यशास्त्र" में ही मिलती है । 'नाट्यशास्त्र' के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भरत से पूर्व रस-विवेचन का स्वरूप स्थिर हो गया था और उन्होंने पूर्वाचार्यो की समस्त मान्यताओं का उपयोग करते हुए अपने रस-विषयक मत को पूर्ण बनाने का प्रयास किया था ।

भरतमुनि का समय अनुमानतः ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी माना गया है । परन्तु 'रस' ' और रस सम्बन्धी विवेचन इससे भी अधिक प्राचीन है । भारतीय संस्कृति और साहित्य - दोनों में ही रसोपलब्धि को चरम लक्ष्य माना गया है । अध्यात्म से लेकर खाद्य-पदाथों और फलों तक के रस को 'आनन्द' का पयार्य मान कर स्पृहणीय कहा गया है - ' 'खाद्य-पदार्थो और फलों के क्षेत्र में रस मधुरतम तरल पदार्थ का द्योतक है । संगीत के क्षेत्र में कर्णेन्द्रिय द्वारा प्राप्त 'आनन्द' का नाम रस' है । चिकित्सा के क्षेत्र में सर्वोत्कृष्ट प्राणदायिनी औषधियों को रस' कहा जाता है । अध्यात्म के क्षेत्र में स्वयं परमात्मा को ही रस' या रस को ही परमात्मा' घोषित किया गया है ।

6.02 रस का स्वरूप

काव्य में व्यापक तत्व रस को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करके सर्वप्रथम भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में काव्यशास्त्रीय रस सम्प्रदाय को प्रतिष्ठित किया । यह रस तत्व सहृदयों के हृदय में काव्यत्वजन्य आहलाद की अनुभूति कराने वाला तथा चित्त को द्रवित करने वाला माना गया है रस की निष्पत्ति अथवा उत्पत्ति को लेकर कई सिद्धान्त परवर्त्ती काल में प्रतिष्ठित हुए किन्तु सब सिद्धान्तों के मूल मेंभरतमुनि का रससूत्र ही मूलतः गृहीत हुआ है। जो इस प्रकार है -

'बिभावानुमावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः " इति ।

उक्त भरतसूत्र के अनुसार रस की निष्पत्ति विभावों, अनुभावों तथा व्यभिचारी भावों की उपादेयता स्वयंसिद्ध है । काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य मम्मट ने रस के प्रति काव्य में विभावों को कारण, अनुभावों को सहकारी कारण तथा व्यभिचारी भावों को उपादान कारण माना है। इन तीनों प्रकार के कारणों से स्थायीभावरूप कार्य की उत्पत्ति होती है तथा वही स्थायी भाव रस की उत्पत्ति का मूल कारण होता है ।

इस प्रकार विभावादि का कारणत्व परम्परया कहा जा सकता है । जबकि स्थायीभाव का कारणत्व साक्षात् होता है । काव्य में आत्मरूप से अथवा प्राणरूप से प्रतिष्ठित रस के स्वरूप को अनुभूति या आस्वाद का विषय मानकर कई आचार्यो ने रस संबंधी विवेचना प्रस्तुत की है । आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में इसी परिप्रेक्ष्य में रस की विशेषताएँ बताते हुए लिखा है-

'सत्त्वाद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ।।
लोकोत्तरचमत्कारप्राण कैश्चित्यमातृभिः ।
स्वाकारवदभिन्नत्येनायमास्वाद्यते रसः ।।

उक्त वर्णन के अनुसार रस एक ऐसा तत्व है, जिसमें सदैव सत्त्व गुण का ही उदय होता है, जो कभी खण्डित नही होता । निरन्तर बहते हुए जलप्रवाह के समान निरन्तर रस का

आस्वादन सहृदय को अनुभूत होता है । वह कविनिष्ठ तथा काव्यनिष्ठ भावों का स्वयंप्रकाशक होता है । आनन्दस्वरूप तथा बुद्धिनिष्ठ होता है । वह प्राणी के अन्तस् का विषय है तथा रस से उत्पन्न आनन्द की तुलना योगियों के ब्रह्मानन्द के समान मूल्यांकित की गई है ।

इस प्रकार रस की प्रामाणिकता के रूप में उसे अलौकिक या चमत्कार से युक्त कहा जाना सर्वाधिक उचित है । अपने आकार या पदविशेष की भाँति न होने पर भी चर्वणा के माध्यम से उसके चमत्कार का ग्रहण रस की उत्कृष्टता का परिचायक है । रस के सम्बन्ध में यह विचारणीय है. कि रस आनन्द का जनक होता है, अत: इसमें दुःख का कोई स्थान नहीं है । करूण इत्यादि रसों में मर्मस्पर्शिता द्वारा सत्त्वप्रेरित बुद्धि से रसानेष्ठ आनन्द का अनुभव काव्यनिष्ठ रस के स्वरूप को लौकिक आनन्द से भिन्न रूप में अभिव्यक्त कर देता है । अत: अपनी अलौकिकता के प्रतिपादन में रस स्वयमेव प्रमाण कहा जा सकता है । जैसा कि किसी ने कहा है -

'करूणादायपि रसे जायते यत्परं सुखम् ।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ।। "

यह रस तत्व मानवीय संवेदना के विविध पक्षों के माध्यम से अनुभूत होने के कारण विविध प्रकार से काव्य में देखा जा सकता है । श्रृंगार, हास्य, वीर, वीभत्स भयानक, अदभूत, शान्त, वात्सल्य, करुण, रौद्र इत्यादि रस के ही विभिन्न रूप हैं, जो काव्य में अनुभूत किये जाकर सहृदयों के अलौकिक आनन्द के रूप में बदल जाते हैं । यद्यपि काव्य लोकविरुद्ध नहीं होता. तथापि तन्निष्ठ रस तत्व नितान्त अलौकिक होता है । यह चरम सत्य है ।

6.03 रससिद्धान्त

संस्कृत साहित्यशास्त्र के अन्तर्गत प्रमुख सम्प्रदायों में रस-सिद्धान्त सबसे अधिक विशिष्टिता और प्राचीनता रखता है । इस सिद्धान्त के प्रवर्तक मुनि भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र ' में इसकी सम्यक् व्याख्या की है । इसीलिये नाट्यशास्त्र को संस्कृत-रस-सिद्धान्त की प्रवर्तक कृति के रूप में मान्य किया जाता है । नाट्यशास्त्र में अनेक पूर्ववर्ती रसमर्मज्ञ आचार्यो का भी उल्लेख है, जिससे यह ज्ञात होता है कि उनसे बहुत समय पूर्व इस सिद्धान्त का अस्तित्व था और उसकी एक दीर्घ परम्परा थी । चूँकि भरत के पूर्ववर्ती विचारकों की रसविषयक धारणाओं का संयोजित रूप उपलब्ध नहीं होता, इसलिये भरतमुनि को ही इस सिद्धान्त का प्रवर्तक आचार्य मानना संगत प्रतीत होता है ।

भरत के समय से परवर्त्ती युगों तक रससिद्धान्त का जो विकास हुआ है, उसके मूल में भरत का रसनिष्पत्तिविषयक सूत्र रहा है । विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है । भरत की यह स्थापना परवर्त्ती युग में रससिद्धान्त की आधारभूमि रही। स्वयं भरत ने रस का जो सर्वागीण और सविस्तार विवरण प्रस्तुत किया है, उसका आधारभूत सिद्धान्त भी यही है । उन्होंने रस के विभिन्न अंगों, रस की निष्पत्ति, रस की संख्या, रस की विविध दशाओं आदि का समाहार करते हुए इसके स्वरूप का सम्पूर्णता के साथ विश्लेषण किया है ।

रस साहित्य की आत्मा है । इसके अभाव में कोई भी श्रेष्ठत्व को नहीं पा सकता है । आचार्य भरत ने तो रस के बिना किसी अर्थ की प्रवृत्ति भी नहीं मानी है -

'नहि रसाकृते कश्चिदर्थ: प्रवर्वते । "

अग्नि पुराण के रचयिता व्यास जी ने भी रस को काव्य का प्राणभूत तत्व मानते हुए कहा है कि " वाग्वैदग्ध्य प्रमाणेडपि रस रग्वीन्द्र जीवितम् । " रस की इस महत्ता का संकेत अलंकारवादियों, ध्यनिवादियों, रीतिवादियों आदि सभी ने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से किया है । भामह ने, रस-विरोधी आचार्य होकर भी. युक्त लोकस्वभावेन रसैश्च सकलै पृथक्' कहकर रस की महत्ता भी प्रतिपादित की । आनन्दवर्धन ने तो रस ध्वनि का नाम लेकर उसे महत्व दिया है और यह बताया है कि रस ध्वनि का प्रधान अंग है । अतः काव्य में रस की महत्ता स्वयंसिद्ध है । इसके अतिरिक्त एक बात और भी है और वह यह है कि काव्य की सुन्दरता ' साधारणीकरण' ' में दिखाई देती है । साधारमीकरण रस की ही दूसरी स्थिति उत्पन्न करता है । अत: इसकी अनिवार्यता और महत्ता इससे भी स्पष्ट हो जाती है ।

व्याकरण में इसकी व्यूत्पत्ति 'रस्यते इति रस: अथवा रस: आस्वादन स्नेहयों आदि के माध्यम से व्यक्त की गई है । पंडित जगन्नाथ ने रस को काव्य का प्राण तल माना है । डॉ. शंकरन के अनुसार 'जैसे भक्त उस सचिदानन्द का प्रकाश अपनी आत्मा और सत्ता में सहज साक्षात्कार कर, पूर्णत: तन्मय होकर ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है इसी प्रकार सहृदय भी अपने मानस में नाटक या काव्य के सौन्दर्य का सहज साक्षात्कार करता है ।

6.04 रस की व्याख्या

रस की व्याख्या में लिखा गया भरत मुनि का प्रसिद्ध सूत्र इस प्रकार है "विभावानुव्यभिचारि संयोगातरसनिष्पत्ति" - अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है । इस सूत्र को लेकर विद्वानों ने अपने-अपने मस्तिष्क के अनुसार अनेक मान्यताएँ और व्याख्याएँ की हैं-

(ख) रस की निष्पत्ति मूल पात्रों में होती है जिनका वर्णन काव्य में किया जाता है

(ग) लेखक के हृदय में रस-निष्पत्ति होती है ।

(घ) अभिनेताओं के हृदय में रस-निष्पत्ति होती है ।

(ङ) दर्शक के हृदय में रस-निष्पत्ति होती है ।

रस के विभिन्न अवयव इस प्रकार हैं -

6.05 स्थायी भाव

अविरूद्धा विरूद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमा : ।
आस्वादांकुरकन्दौध्सौ भाव: स्थायीति संमत. ।।

अर्थात् 'सहृदय के अंतःकरण में जो मनोविकार वासना रूप में सदा (स्थायी रूप से) विद्यमान रहते हैं, जिन्हें अन्य काई भी अविरूद्ध अथवा विरूद्ध भाव दबा नही सकता, उन्हें स्थायी भाव कहते हैं । यही स्थायी भाव (रस-रूप) आस्वाद का मूल है । " स्पष्ट है कि स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से उदबुद्ध होकर रसानंद में परिणत हो जाते हैं ।

भरतमुनि के द्वारा किए गए उक्त विवेचन के आधार पर स्थायी भाव को बिन्दु स्वरूप में यों रखा जा सकता है -

स्थायी भाव वे हैं -

1. जो अंततः रसत्व को प्राप्त करते हैं,
2. जो स्थायी रूप से या चिरकाल तक चित्त में रहते है,
3. जिनकी स्थिति काव्य में आद्यन्त बनी रहती है,
4. जिन्हें कोई विरूद्ध या समान भाव दबा न सके, तथा
5. जो अनादि वासना या संस्कार रूप में सहृदय के चित्त में सदैव विद्यमान रहते हैं ।

ऐसे स्थायी भावों की संख्या 9 मानी गई है । इनमें से प्रत्येक के आधार पर एक रस की परिकल्पना निर्धारित की गई है जिस कारण से रसों की संख्या 9 मानी गई है । ये स्थायी भाव तथा उन पर आधृत रस इस प्रकार हैं :-

स्थायी भाव	**रस**	**स्थायी भाव**	**रस**
1. रति	श्रृंगार	2. हास	हास्य
3. उत्साह	वीर	4. अमर्ष / क्रोध	रौद्र
5. भय	भयानक	6. विस्मय	अद्भभुत
7. शोक	करूण	8. जुगुप्सा	वीभत्स
9. निर्वेद	शांत		

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साही भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयंश्चेत्यमष्टा प्रोक्ता शमोऽपि च । ।

मूल रूप से नाट्यशास्त्र' में उपर्युक्त में से प्रथम आठ रसों को स्वीकृत किया गया था लेकिन प्रकारान्तर से नवें रस शांत' की भी चर्चा स्वयं भरत ने ही की थी । आगे चलकर परवर्ती आचार्यो में से अभिनव गुप्त ने "तत्व" ज्ञान' को शान्त रस का स्थायी भाव मानते हुए इसे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया । तदुपरांत "वात्सल्य' स्थायी भाव पर आधारित वात्सल्य रस' को भी स्थापित करने के प्रयास हुए हैं ।

6.6 विभाव

सामाजिक या सहृदय के हृदय में स्थित स्थायी भावों को उदबुद्ध करने में या जागृत करने में जो 'कारण रूप' तत्व हैं वे विभाव कहलाते हैं । अतः विभाव का अर्थ है- कारण । काव्य-नाटक आदि में वर्णित होने पर ये विभाव, हृदय में वासना रूप में स्थित विभिन्न स्थायी भावों को उत्तेजित या उदबुद्ध करते हैं । 'वे व्यक्ति या पदार्थ जो भावोत्तेजना के मूल कारण हैं, विभाव कहलाते हैं' :-

विभावः कारणः निमित्त हेतुरिति पर्यायाः ।
विभाव्यन्तेऽनेन वागंगसत्त्वाभिनया इति विभावः । ।
यथा विभावित विज्ञातमित्यर्थान्तरम् । (नाट्यशास्त्र)

कहने का तात्पर्य यह है कि ' 'लोक में जो पदार्थ सामाजिक के हृदय में वासना रूप में स्थित रति, हास, उत्साह. शोक आदि भावों के उद्‌बोधक कारण हैं वे काव्य-नाटकादि में वर्णित होने पर विभाव कहलाते हैं । "

विभाव के दो भेद -

"आलम्बन विभाव" और 'उद्दीपन विभाव" - विभाव के ये दो भेद हैं -

'उद्दीपन विभावास्ते रसमुद्दीपन्ति ये ।
आलम्बनस्य चेष्टा देशकालादयस्तथा । ।"

आलम्बन विभाव स्थायी भाव के' प्रकट होने का मुख्य कारण होते हैं । काव्य-नाटक आदि में वर्णित जिन पात्रों का अवलम्ब या सहारा लेकर सहृदय के रति आदि स्थायी भाव रस-रूप में अभिव्यक्त होते हैं, उन्हें आलम्बन विभाव कहा जाता है । उदाहरण के लिए. दुष्यन्त को देखकर शकुन्तला के मन में रति नामक स्थायी भाव का उद्रेक हुआ । अत यहीं दुष्यन्त, शकुन्तला के हृदयस्थ रति नामक स्थायी भाव के लिए आलम्बन हुए ।

आलम्बन विभाव में आलम्बन के साथ ही आश्रय भी आता है । जिन्हें देखकर रस का उद्रेक हो, वह आलम्बन है तो, आलम्बन को देखकर जिसके हृदय में रस का उद्रेक हो, वह आश्रय कहलाता है । उक्त उदाहरण में, शकुन्तला आश्रय है, जिसके हृदय में दुष्यन्त को देखकर स्थायी भाव रति का उद्रेक हुआ ।

उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत भी रसोद्रेक के कारण ही आते हैं, लेकिन ये उद्दीपन विभाव, आलम्बन विभाव के सहायक व अनुवर्ती रूप में होते हैं । उद्दीपन के अन्तर्गत, स्थायी भाव को और अधिक प्रबुद्ध, उद्दीप्त और उत्तेजित करने वाले कारण आते हैं । आलम्बन की चेष्टाएँ तथा बाह्य वातावरण उद्दीपनकारी प्रभाव उत्पन्न कर आश्रय के स्थायी भाव को रस के पूर्ण परिपाक तक पहुँचाने में सहायक होते हैं ।

अत: कहा जा सकता है कि उद्दीपन विभाव के भी दो अंग हैं - (i) आलम्बन गत बाह्य चेष्टाएँ, तथा (ii) बाह्य वातावरण । शकुन्तला (आश्रय) के हृदय में दुष्यन्त (आलम्बन) को देखकर, एकान्त, उपवन, कुंज, दुष्यन्त की शारीरिक चेष्टाएँ इत्यादि (उद्दीपन) द्‌वारा रति नामक स्थायी भाव श्रृंगार रस को प्राप्त करता है । भावोद्दीपन के लिए अनुकूल परिस्थितियों ही सहायक होती हैं, प्रतिकूल परिस्थितियों में रस उद्दीप्त नहीं होता ।

6.07 अनुभाव

रति आदि स्थायी भावों को उद्दीप्त करने वाली आलम्बन की चेष्टाएँ जहाँ उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत आती हैं वहीं स्थायी भावों को प्रकट करने वाली **आश्रय की बाह्य चेष्टाएँ** "अनुभाव' कहलाती हैं । ' नाट्‌यशास्त्र" में उद्धृत है-

वागंगाभिनयेनेह यतस्लर्थोऽनुभाव्यते ।
वागंगोपांगसंयुक्तस्तवनुभावसातः स्मृत: । ।

वाणी और अंगों के अभिनय द्‌वारा जिनसे अर्थ प्रकट हो, वे अनुभाव हैं ।

"अनुभाव' ' का शाब्दिक अर्थ है - भाव का अनुगमन करने वाला - अनुभावयन्ति इति अनुभाव:।

अर्थात् जिन कार्यो से रति आदि स्थायी भावों का अनुभव होता है, वे अनुभाव कहलाते हैं । "आलम्बन, उद्दीपन आदि कारणों से उत्पन्न काव्य-नाटक के अन्तर्गत विभिन्न भावों को बाहर प्रकाशित करने वाले कार्य अनुभाव हैं । "

अनुभाव के कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं, जैसे-रति स्थायी भाव के उत्पन्न होने पर शकुन्तला का दुष्यन्त की ओर सानुराग अवलोकन, अगसंचालन भू-निक्षेप, मंद-मंद मुस्कुराना आदि बाल चेष्टाएँ अनुभाव के अन्तर्गत आती हैं ।

अनुभाव चार प्रकार के होते हैं - 1. आंगिक या कायिक, 2. वाचिक, 3. आहार्य, तथा 4. सात्विक।

शरीर की चेष्टाओं या क्रियाओं से प्रकट होने वाले अन्तःकरण के भाव आंगिक या कायिक अनुभाव कहलाते हैं । वाग्व्यापार को वाचिक अनुभाव कहा जाता है । आहार्य का अर्थ है- ' ग्रहण किया गया' ' । पात्र द्वारा बाह्य रूप से ग्रहण किये गये वेशभूषा. अलंकार, साज-सज्जा आदि आहार्य अनुभाव के अन्तर्गत आते हैं । सात्विक अनुभाव उन्हें कहते है जिनमे सत्व के योग से उत्पन्न कायिक चेष्टाएँ आती हैं । यह अन्तकरण की वह स्थिति है जिसमे तमोगुण और रजोगुण का शमन होकर सत्त्व गुणों को उद्रेक होता है । ऐसे. सत्त्व-प्रधान मन में उत्पन्न मनोविकारों का स्वतः प्रादुर्भूत कायिक प्रतिक्रिया द्वारा बाह्य प्रस्तुतिकरण ही सात्विक अनुभावों के अन्तर्गत आता है । ये सात्विक अनुभाव संख्या में आठ माने गये हैं - 1. स्वेद, 2. कम्पन, 3. रोमांच, 4. स्तम्भ, 5. स्वरभंग, 6. अश्रु 7. विवर्णता, तथा 8. प्रलय ।

'क्रोध, हर्ष, लज्जा, दुख में स्वेद आना; शीत, भय. क्रोध में कम्पन होना; हर्ष. स्पर्श आदि से शरीर का पुलकित अर्थात् रोमांचित होना; विस्मय-विषाद. भय की स्थिति से अंग का स्तम्भित हो जाना; भय, क्रोध, वृद्धावस्था, मद की स्थिति में स्वर का गद्गद् होना अथवा बदल जाना, आनन्द, शोक, अमर्ष में आँसू गिराना; मोह, क्रोध, ताप आदि में मुख विवर्ण होना और मूर्च्छा, निद्रा, मोह आदि से निश्चेष्ट हो जाना- ये आठ सात्विक अनुभाव कहलाते हैं ।

6.08 संचारी भाव

भरतमुनि के रससूत्र- "विभावानुभावव्यभिचारि - संयोगाद्रस्सनिष्पत्तिः " का तीसरा संघटक है- व्यभिचारीभाव अथवा संचारी भाव ।

अस्थिर मनोविकारों अथवा चित्तवृत्तियों को संचारी भाव कहते हैं । ये मनोविकार-आश्रय और आलम्बन-इन दोनों के मन मे उठते और विलीन होते रहते हैं । 'संचारी' का अर्थ ही है- ' संचरणशील", "विचरण करने वाले" : जो स्थायी नहीं है । अतः ये संचारी भाव, स्थायी भावों के के बीच-बीच में प्रकट होते रहते हैं क्या क्षणजीवी होने के कारण शीघ्र ही विलीन हो जाते है ।

'संचारी भाव स्थायी भादों के सहकारी कारण हैं, उन्हें रसावस्था तक ले चलते हैं पर स्वयं बीच में जलतरंगवत् आविर्भूत और तिरोभूत होते हैं । संचारी भाव मनोविकार हैं, ये शरीर के धर्म नही ।"

संचारी भावों को व्यभिचारी भाव भी कहा जाता है क्योंकि किसी विशेष संचारी भाव का किसी रस-विशेष से ही सम्बन्ध नहीं रहता, अपितु एक संचारी भाव अनेक रसों में संचरण कर सकता है अथवा एक रस के स्थायी भाव के साथ अनेक संचारी भाव संयुक्त हो सकते हैं । यही इन संचारी भावों का व्यभिचरण है । उदाहरणार्थ, हर्ष वीर रस में भी आता है, श्रृंगार में भी और अद्भभुत रस में भी । शंका वियोग- श्रृंगार में आती है, करूण में भी और भयानक में भी ।

संचारी भावी की संख्या 63 मानी गई है, जो इस प्रकार हैं - 1. निर्वेद, 2. ग्लानि, 3. शंका, 4. असूया, 5. मद, 6. श्रम, 7. आलस्य, 8. दीनता, 9. चिन्ता, 10. मोह, 11. स्मृति, 12. धृति, 13. व्रीड़ा, 14. चापल्य, 15. हर्ष, 16. आवेग, 17. जड़ता, 18. गर्व, 19. विषाद, 20. औत्सुक्य, 21. निद्रा, 22. अपस्मार, 23. स्वप्न, 24. विबोध, 25. अविमर्ष 20. अविहत्था, 27. उग्रता, 28. मति, 29. व्याधि, 30. उन्माद, 31. मरण, 32. त्रास, 33. वितर्क ।

इस प्रकार स्थायी भाव आश्रय के हृदय में आलम्बन के द्वारा उत्तेजित होकर उद्दीपन के प्रभाव से उद्दीप्त होकर, संचारी भावों से पुष्ट होता हुआ, अनुभावों के माध्यम से व्यक्त होता है ।

भरत मुनि के सूत्र से यह तो स्पष्ट नहीं होता कि रस-निष्पत्ति किस प्रक्रिया से होती है । रस की स्थिति किसमें मानी जाए, इस विवेचन पर संयोग और निष्पत्ति के भिन्न-भिन्न अर्थ लेकर विभिन्न आचार्यो ने विवेचना की है । इस सिद्धान्त के मीमाँसक चार प्रसिद्ध आचार्य हैं ।
भरतमुनि के द्वारा रस का जो स्वरूप विवेचन प्रस्तुत किया गया है, वह मुख्यत: नाटक पर आधारित है । भरत ने नाटक के संदर्भ में ही रस की व्याख्या की है । उनका विचार है कि नाटक का प्रमुख तत्व रस ही है । आगे चलकर जब काव्य पर इस सिद्धान्त का आरोपीकरण हुआ, तब जहाँ एक ओर रससिद्धान्त को व्यापक क्षेत्रीय प्रसार एवं मान्यता मिली, वहीं दूसरी ओर इस सिद्धान्त का विरोध भी हुआ। अनेक शीर्षस्थ आचार्यों ने इस रस को काव्य की आत्मा मानना सर्वथा अस्वीकार कर दिया और अन्य तत्वों को इसकी अपेक्षा मुख्यता प्रदान की ।

भामह, दण्डी, वामन तथा उद्भभट जैसे उच्चकोटि के आचार्यो ने दूसरे तत्वों को काव्य में रस तत्व की अपेक्षा अधिक मुख्यता दी । इसमें प्राय: सभी ने रक को क्षेत्रीय सीमा में बन्द कर दिया तथा दूसरे सिद्धान्त का प्रवर्तन और मंडन किया । यद्यपि परवर्ती युगों में रससिद्धान्त के विरोधी अनेक सिद्धान्त जन्मे और विकसित हुए, परन्तु बहुत से पंडित ऐसे भी हुए जिन्होंने रससिद्धान्त की ही नवीन और खोजपूर्ण व्याख्या की । इस कोटि में आने वाले विद्वानों में भट्ट लोल्लट तथा शंकुक आदि के नाम विशेष रुप से उल्लेखनीय हैं । इनके पश्चात् भी राजशेखर, भट्टनायक, धनंजय. धनिक. पेज, महिमभट्ट मम्मट आदि आचार्यों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं ।

संस्कृत साहित्यशास्त्र में रससिद्धान्त की सुदीर्घ विकसित परम्परा दृष्टिगत होती है । रस शब्द सुख अथवा आनन्द का पर्याय ही जिसके लिए जीवमात्र अभिलाषा रखता है । प्राणिमात्र सुख सभाव वाला होता है । इसके अतिरिक्त विभिन्न युगों में विविध विद्वानों तारा रस का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है । 'अग्निपुराण में निन्दा रस, निद्रा रस, क्रीड़ा रस, विमर्द रस, सत्य रस, हिंसारस मदन रस, सुख रस, विषय रस तथा लावण्य रस आदि का उल्लेख मिलता है । प्रीति रस, वाचिक रस, नेपथ्य रस तथा स्वाभाविक रस आदि भी प्राचीन वाङ्मय में उल्लिखित हुए हैं ।

6.09 रस की परम्परा

वेदों में रस व प्रयोग जल, दुग्ध एवं सोम के लिए हुआ है । विभिन्न प्रसंगों में वीर, करूण तथा श्रृंगार रसों की व्यंजना भी हुई है । तैत्तिरीय उपनिषद् में रस शब्द का प्रयोग नित्य, सत्य तथा ब्रह्म के अर्थ में किया गया है, जिसकी अनुभूति मोक्षदायक होती है । वाल्मीकि रामायण' में रस की जो व्यंजना है, उसे ध्यान में रखते हुए परवर्त्तीकालीन संस्कृत-साहित्यशास्त्री आनन्दवर्धन तथा महाकवि कालिदास ने वाल्मीकि को ही रससिद्धान्त का आश्रयदाता बताया है । इसके सर्वप्रथम शास्त्रीय-निरूपणकर्ता भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र' में रस की उत्पत्ति, रस की प्रकृति तथा रस एवं भाव का वर्णन किया है । उन्होंने नाटक का प्रधान तत्व रस को मानते हुए रसानुभूति की सम्यक् व्याख्या की है ।
वष्णुधर्मोत्तर' नाम उस-पुराण में श्रृंगार, रौद्र, वीर तथा वीभत्स से क्रमश: हास्य, करूण, अद्भुत तथा भयानक की व्युत्पत्ति बतायी गई है और शान्त रस को सर्वथा स्वपन्त्र माना है ।

भारत के परवर्त्ती सस्कृत-साहित्याचार्यो ने जहाँ एक ओर अनेक रससिद्धान्तों का पुष्टीकरण किया, वही दूसरी ओर उसके खंडनकर्ताओं की संख्या भी कम नहीं है । इनमें सर्वप्रथम भामह का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने अलंकारसिद्धान्त की प्रतिष्ठा करते हुए रस को गौण महत्व दिया है और उन्हें 'रसवत्, प्रेय:' आदि अलंकारों के अन्तर्गत निर्दिष्ट किया है । दण्डी ने भी रसों को अलंकार के अन्तर्गत ही मान्य किया । वामन ने भी रस की व्याख्या रीति अथवा शैली के उपरान्त अप्रधान रूप में की है । इस वर्ग में जो भावी आचार्य आते हैं, उनमें उद्भट, रूद्रट तथा रूद्रभट्ट के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है ।

6.10 भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद

भट्टलोल्लट का रस सम्बन्धी सिद्धान्त उत्पत्तिवाद नाम से विख्यात हुआ । इनके मतानुसार संयोगात् का अर्थ त्रिमुखी है - विभावादि और स्थायीभाव में अनुमापक-अनुमाप्य सम्बन्ध तथा व्यभिचारी भाव और स्थायी भाव में पोषक-पोष्य सम्बन्ध तथा अनुभाव तथा रस में गमक-गम्य सम्बन्ध है ।
भट्टलोल्लट ने निष्पत्ति का अर्थ भी उत्पत्ति किया । उनके मतानुसार जिस प्रकार रज्जु में सर्प की प्रतीति भ्रम-जन्य होने पर भी सत्य-सी प्रतीत होती है, उसी प्रकार अभिनयादि में दर्शक (नट जो रज्जु के सदृश है) में रामादि का (जो सर्प की प्रतीति कराता है) आरोप कर बैठता

है । उस समय उसमें रस या चमत्कार की उत्पत्ति उसी प्रकार हो जाती है जिस प्रकार सर्प न होते हुए भी मिथ्या आरोप से उत्पत्ति हो जाती है । दर्शक में चमत्कार या रस की उत्पत्ति आरोपमूलक होने के कारण कुछ लोगों ने इसे आरोपवाद भी कहा है । नट में विभावादि के संयोग से रस-निष्पत्ति होने के कारण इसे उत्पत्तिवाद भी कहा जाता है । रस अनुकार्य में विद्यमान रहता है, किन्तु नट की अभिनय कुशलता से दर्शक की भ्राँति के कारण वह नट में उत्पन्न हुआ सा लगता है ।

इस मत पर कई आपत्तियाँ उठाई गई हैं । कुछ प्रमुख ये हैं -

(क) भावों का अनुकरण किस प्रकार सम्भव हो सकता है ? हाँ! बाहय बातों का अनुकरण किसी प्रकार भी हो सकता है पर अनुभूति का नहीं ।

(ख) उत्पत्ति में सदैव कार्य-कारण सम्बन्ध रहता है। इस सम्बन्ध को हम ठोस प्रत्यक्ष वस्तुओं में भी पाते हैं किन्तु अभिनयावसर पर विभावादि की प्रत्यक्षता सम्भव नहीं । कारण प्रत्यक्ष हो तो कार्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है?

(ग) कुछ विपक्षियों को आपत्ति है कि यदि भरत मुनि का निष्पत्ति से तात्पर्य रसोत्पत्ति से है तो हास्य के भेद स्वीकार क्यों किए गए?

(घ) भट्टलोल्लट का कहना है कि पाठक आनन्दित होकर चमत्कृत होता है वह स्वयं इस भाव का अनुभव नहीं करता । भला यह कैसे सम्भव है कि पाठक जिस भाव का स्वयं अनुभव नहीं करता उससे उसे आनन्द क्यों और किस तरह मिल सकता है?

6.11 शंकुक का अनुमितिवाद

भट्टलोल्लट के सिद्धान्तों का परिष्करण करने और रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया को स्पष्ट करने के कारण ही शंकुक ने अनुमितिवाद की स्थापना की । इस मत का आधार न्याय शास्त्र है। इसमें उन्होंने उत्पत्तिवाद का खण्डन भी किया । शंकुक ने 'चित्रतुरंगन्याय" से रस का अस्तित्व अनुमान द्वारा अभिनेता में ही स्वीकार कर लिया । इसके साथ ही वे मूलत: रस का अस्तित्व ऐतिहासिक नायक में ही मानते हैं । आपकी मान्यता है कि प्रेक्षक उसे देखकर आनन्द प्राप्त नहीं करता है किन्तु अनुमान से आनन्द उठाता है । यह स्थिति ठीक वैसी है जैसे दर्शक चित्र में चित्रित घोड़े को देखकर उस पर विश्वास कर लेता है, उसी प्रकार दर्शक नायक की वेशभूषा-वाणी तथा जीवन का अभिनय करने वालों को नायक ही समझ लेता है । भरत के निष्पत्ति का अर्थ इन्होंने अनुमिति माना है तथा न्याय शास्त्र का आश्रय लेकर अनुमाप्य और अनुमापक सम्बन्ध माना है । अनुमान के कारण ही यह वाद या सिद्धान्त अनुमितिवाद कहलाया। इस मत के विवेचन से स्पष्ट है कि रस की स्थिति मुख्यत: अनुकार्य में होती है और गौण रूप से सामाजिक की वासना में होती है । अनुकर्तक में केवल स्थायी भाव होता है, रस नहीं ।

वास्तव में शंकुक के दृष्टिकोण से भी रस की समस्या सुलझ न सकी तथा इसकी आलोचना हुई ।

(क) विभावादि की अप्रत्यक्ष स्थिति रस-निष्पत्ति में कैसे सहायक हो सकती है ?

(ख) रस की सत्ता को यदि दर्शक या पाठक में नहीं माना जाए तो वह दूसरे के भावों को कैसे चमत्कृत कर सकती है ?

(ग) रसानुभूति आनन्दमय होती है, करूण जिसका स्थायी भाव शोक है, रस किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है ?

6.12 भट्टनायक का भुक्तिवाद

भट्टनायक ने भट्टलोल्लट और शंकुक के मतों से असंतोष प्रकट किया और बताया कि ये दोनों मत ही भ्रामक हैं । अत: भुक्तिवाद के आधार पर ही रस-निष्पत्ति की समस्या सुलझ सकती है । भुक्तिवाद के समर्थक आचार्य भट्टनायक ने रस सूत्र में आए "सयोगाद्" शब्द का अर्थ भोज्य-भोजक सम्बन्ध किया । उनकी दृष्टि से रस भोज्य है और विभावादि भोजक है । निष्पत्ति का अर्थ मुक्ति मानकर उन्होंने अपने मत का प्रतिष्ठापन किया, अनेक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया । साथ ही कुछ मौलिक कल्पनाएँ भी की गई । मौलिक कल्पनाओं में दो रूप दिखाई पड़ते हैं । अभिधा-शक्ति को स्वीकार करके भी उन्होंने भावकत्व और भोजकत्व दो नये व्यापारों की कल्पना की तथा इन्हीं के सहारे रसानुभूति की प्रक्रिया को स्पष्ट किया । उन्होंने बताया कि अभिधा काव्य का बोधन कराती है, भावकृत्य साधारणीकरण में सहायक होता है और साधारणीकृत इस काव्यार्थ का सामाजिक रस रूप में भोग करता है ।

इस मत की समीक्षा भी हुई है, किन्तु यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि भट्टनायक ने साहित्य जगत् को साधारणीकरण के सिद्धान्त के रूप में एक बहुत बड़ी चीज दी है । साधारणीकरण जैसी निधि से रसविषयक अनेक भ्रामक धारणाएँ सुलझ गई हैं । इसके साथ ही एक दोष और भी बताया है, वह यह कि रस आनन्द रूप होता है या भोग सुख रूप । अत: रस के भोग की बात कुछ अटपटी-सी प्रतीत होती है । कुछ अभिव्यंजना पद्धति के मानने वालों की यह मान्यता भी रही है कि भावकत्व और भोजकत्व का कार्य व्यंजना के विभावन और अभिव्यंजन व्यापार से चल सकता है । अत: ऐसी स्थिति में इन नयी शब्द शक्तियों की मौलिक कल्पना की आवश्यकता ही क्या है?

6.13 अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

आचार्य अभिनवगुप्त ने भरतसूत्र की व्याख्या में प्रतिपादित पूर्वाचार्यो के सिद्धान्तों का खण्डन करके अभिव्यक्तिवाद की प्रतिष्ठापना की है । इन्होंने अपने सिद्धान्त का आधार व्यंजना को बनाया है तथा काव्य में साधारणीकरण की प्रक्रिया को व्यंजना से उत्पन्न मानकर भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित भावकत्व तथा भोजकत्य व्यापारों की अनायश्यकता प्रतिपादित की है ।

अभिनव गुप्त के मत में न केवल साधारणीकरण, अपितु रस निष्पत्ति की सम्पूर्ण प्रक्रिया व्यंजना-व्यापार के द्वारा ही सम्भव हो पाती है । क्योंकि विभावादि के संयोग तथा रस के बीच व्यंग्य-व्यंजक-भावरूप सम्बन्ध विद्यमान होता है, जिसके माध्यम से रसानुभूति के समानान्तर ही रसाभिव्यक्ति भी सम्पन्न हो जाती है । यह रसाभिव्यक्ति कई अवान्तर व्यंजना-व्यापारों पर आधारित होती है । उदाहरण के लिए सर्वप्रथम लौकिक विभावादि में सूक्ष्म रूप से विद्यमान स्थायी भावों की वासना अभिनयादि को देखकर विकासोमुखी होती है ।

तदुपरान्त रत्यादि भावों के कारण कार्य तथा सहकारी रूप में विभाव, अनुभाव तथा कभिचारी भावों की उत्पत्ति होती है । व्यंजना के द्वारा स्वत्व-परत्व भान का विनाश होने पर साधारणीकरण तथा साधारणीकरण होने पर चिदावरणभङ्ग सम्भव होता है. जिसके फलस्वरूप चर्वणा की किया सम्भव होती है । चर्वणा के द्वारा ही रसत्व का अनुभव तथा आस्वादन सम्भव होता है, जिसे अलौकिक या ब्रह्मानन्द के समान कहा गया है ।

अभिनवगुप्त का यह मत दार्शनिकता पर आधारित होने के कारण मनौवैज्ञानिक चिन्तन की पृष्ठभूमि उपस्थित करता है, अत: सभी काव्यतत्ववेत्ताओं ने यथार्थ रूप से रसविवेचना के प्रसंग में अभिनवगुप्त के मत को स्वीकार करते हुए उन्हें पर्याप्त आदर प्रदान किया है । आचार्य उद्भट ने रस के हाथ ही अलंकार को भी समान महत्व दिया है । रूद्रट ने भी रस को अलंकारों के अन्तर्गत स्वीकार किया है । यद्यपि रूद्रट के मत में काव्य का मुख्य लक्ष्य रसनिरूपण है तथापि वह रस अलंकार्य न होकर अलंकार ही है । रुद्दभट्ट ने रस का निरूपण नाट्यवत् मध्य में भी स्वीकार कर रस को पर्याप्त महत्ता प्रदान की है । प्रतिहारेन्दुराज काव्य के प्राणतत्त्व के रूप में रस को रसवत् अलंकार के अन्तर्गत निरूपित करते है । मट्टनायक ने भी रस को काव्य की आत्मा बताया है । धनजय तथा धनिक भी रस तत्त्व के ही पोषक आचार्य हैं ।

अभिनवगुप्त ने रसध्वनि को काव्य का प्राण तत्त्व निरुपित किया । आचार्य कुन्तक ने रसवत् अलंकार का विरोध किया और वक्रोत्कि को काव्य का रस बताया है। महिमभट्ट ने रस को ही काव्य प्राण तत्त्व मानते हुए रसानुभूति में ध्वनि की सत्ता का विरोध किया । भोज ने कहा कि श्रृंगार ही एकमात्र रस है और यह एक महान् असंलार है । क्षेमेन्द्र ने बताया कि रस की उपस्थिति औचित्य में सहायक सिद्ध होती है । रसों के मूलभूत रस शान्त को माना गया है ।

नारायणाचार्य ने रस में सार तत्त्व चमत्कार को माना है और इस मान्यता के अनुसार अद्भुत रस की स्थिति सर्वत्र होती है । भवभूति ने केवल करूण को ही एक रस माना है, जो अन्य रसों के मूल में विद्यमान होता है । भोज ने श्रृंगार को ही अन्यतम रस मान्य किया है । आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति, विश्वनाथ ने वात्सल्य रस रूप मोस्कभी तथा जीव गोस्वामी ने माधुर्य रस को प्रधानता दी है । इसी प्रसंग में अनेक आचार्ये ने रसदोषों की भी व्याख्या की है, जो आनन्दरूप रस के भंग का कारण होते है और अन्तरंग तथा बहिरंग कोटियों के होते हैं ।

साहित्य के क्षेत्र में रस का आशय काव्य की आनन्दानुभूति से समझा जाता है जिसे ब्रह्मानन्द के समकक्ष मान्य किया गया है । ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भरत मुनि द्वारा प्रणीत "नाट्यशास्त्र" नामक गन्ध ही रससिद्धान्त के क्षेत्र में सर्वप्रथम शास्त्रीय रचना है, यद्यपि विविध रसों का वर्णन पूर्व युगों में भी होता था । इस ग्रन्थ का प्रणयन-काल ई.पू. छठी शताब्दी से लेकर दूसरी शताब्दी ई. के मध्य अनुमानित किया जाता है । रससिद्धान्त की स्थापना का मूल आधार काव्य के सार अथवा प्राणतत्त्व के रूप में रस की स्थिति है । इस दृष्टि से रस दशा ही काव्य के उद्भव का मूल स्त्रोत है ।

भरत मुनि द्वारा रचित "नाट्यशास्त्र" में रस के विवेचन का मूल सन्दर्भ नाटकरूपी विधा ही है, जबकि परवर्त्ती काल में इसका क्षेत्रविस्तार होने पर रचनात्मक साहित्य की अन्य सभी विधाओं में भी इसकी निहित स्थिति विश्लेषित हुई । भरत मुनि ने अपने इस ग्रन्थ के छठे तथा सातवें अध्यायों में ही रस की सम्यक् व्याख्या की है । यह व्याख्या विशेषतः नाटक के सन्दर्भ में इस कारण से हुई है, क्योंकि उन्होंने नाटक का भी प्राण तत्त्व एस को माना है और नाटक को वाङ्मय की सर्वोत्तम विधा के रूप में स्वीकृति प्रदान की है ।

भरत मुनि के द्वारा प्रवर्तित रससिद्धान्त को जहाँ एक ओर अनेक विद्वानों का समर्थन मिला और इसकी परम्परा प्रशस्त हुई, वहाँ दूसरी ओर बहुत से आचर्यो ने इसका विरोध और सैद्धान्तिक खण्डन भी किया । इसके विरोध विद्वानों में सर्वप्रथम आचार्य भामह का नाम उल्लेखनीय है । आचार्य भामह ने छठी शताब्दी में रससिद्धन्त के विरुद्ध अलंकार सिद्धान्त की स्थापना करते हुए रस के स्थान पर अलंकार को काव्य का सार तत्व अथवा काव्यात्मा के रूप में मान्य किया, क्योंकि उनके विचार से काव्य शब्दार्थरूप ही है । भामह ने रसों का वर्णन रसवद् अलंकार के सन्दर्भ में किया है ।

आचार्य दण्डी ने भामह की भाँति ही भरत के रसक्षिद्धान्त का विरोध और खण्डन किया । उन्होंने काव्य की आत्मा अथवा प्राण तत्त्व के रूप में रस के स्थान पर रीति को मान्य किया । आचार्य वामन ने भी भामह और दण्डी की भाँति ही भरत के रससिद्धान्त का विरोध और खण्डन किया। उन्होंने काव्य की आत्मा अथवा प्राण तत्त्व के रूप में रस को अमान्य करते हुए रीति को ही मान्य किया । वामन ने रीति के मूल तत्त्वों के रूप में जिन बीस गुणों को निर्दिष्ट किया है, उनमें से एक रस भी है । परन्तु भरत और वामन के दृष्टिकोण में एक उल्लेखनीय साम्य यह अवश्य मिलता है, कि दोनों आचार्य वाङ्मय की विभिन्न विधाओं में नाटक को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं ।

उद्भट ने भरत मुनि के रस सिद्धान्त का विरोध करते हुए भामह द्वारा प्रवर्तित अलंकार सिद्धान्त का समर्थन किया है । उन्होंने अपने "काव्यालंकारसारसंग्रह" नामक ग्रन्थ में रस तथा भाव आदि का वर्णन मुख्यत अलंकार वर्णन के अन्तर्गत किया है । काव्य में वह अलंकार की तुलना में अप्रधान है । आचार्य रूद्रट ने भी भामह और उद्भट की भाँति भरत के रससिद्धान्त का विरोध करते हुए काव्य की आत्मा के रूप में रस तत्त्व को अस्वीकार करते हुए अलंकार को मान्यता दी, परन्तु उन्होंने भामह तथा उद्भट की भाँति रस की उपेक्षा नहीं की और उसके पृथक् महत्व का निरूपण किया ।

परवर्त्तीकाल में जिन साहित्याचार्यो ने रससिद्धान्त की परम्परा को प्रशस्त किया, उनमें सर्वप्रथम भट्टलोल्लट का नाम उल्लेखनीय है । इनका रचना काल नवीं शताब्दी का मध्य भाग अनुमानित किया जाता है । इन्होंने रससम्बन्धी भरत के प्रसिद्ध सूत्र की दार्शनिक आधारभूमि पर व्याख्या करते हुए काव्य की आत्मा के रूप में उसकी प्रतिस्थापना की । उन्होंने स्पष्टत: आठ रसों को मान्य करते हुए यह भी संकेत किया, कि मूलभूत रूप से रस अनन्त हैं । यहाँ पर इस तथ्य का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा, कि भट्टलोल्लट ने रस को मुख्यत: नाटक के सन्दर्भ में ही विवेचित और मान्य किया है । रसवाद के पोषक आचार्यो में भट्टलोल्लट के पश्चात् शंकुक का नाम उल्लिखित किया जा सकता है । इनका रचनाकाल नवीं शताब्दी का

उत्तरार्द्ध अनुमानित किया जाता है । इन्होंने रस-तत्त्व की सैद्धान्तिक व्याख्या करते हुए उसके स्वरूप का सम्यक् विश्लेषण किया है ।

शंकुक के उपरान्त रूद्रभट का नाम उल्लेखनीय है । इनका रचनाकाल दसवीं शताब्दी माना जाता है । इन्होंने अपने "श्रृंगारतिलक" नामक ग्रन्थ में विविध रसों का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया है । इन्होंने काव्य में रस का सर्वोपरि महत्व बताया है । भरत ने नाटक को वाङमय का सर्वश्रेष्ठ रूप मान्य करते हुए उसके प्राण तत्त्व के रूप में रस की प्रतिस्थापना की है । उनके विचार से रस के अभाव में कोई भी नाट्याङ्ग प्रवृत्त नहीं हो सकता ।

आचार्य रूद्रट ने अपने "काव्यालंकार" नामक ग्रन्थ में यद्यपि मूलत: भामह द्वारा प्रवर्तित अलंकारसिद्धान्त का ही अनुसरण किया है, परन्तु फिर भी उन्होंने काव्य में रस के महत्व को अस्वीकार नहीं किया । उनका विचार है, कि जब तक कवि को रस ज्ञान नहीं होगा, तब तक वह रमणीय काव्य के प्रणयन में असमर्थ रहेगा -

एते रसा: रसवतो रमयन्ति पुंस: सम्यग्विभाज्य रचिताश्चतुरेण चारू ।
ब्रह्मादिभानमधिगम्य न सर्वरम्य काव्यं विधातुमलमत्र तदाद्रियेत ।।

भट्टनायक की धारणा है कि हृदय की परिपूर्णता से ही काव्य का उद्भव होता है -

भट्टनायक ने विविध स्थलों पर रस की महत्ता का अनेक प्रकार से निरूपण किया है । उन्होंने केवल काव्य या नाटक के सन्दर्भ में ही रस के महत्व को नहीं स्वीकार किया है, वरन् सारे संसार को ही एक नाटक बताया है, जिसका सब प्राणी रसास्वादन करते है -

नमस्त्रैलोक्यनिर्माणकवये शम्भवे यत: ।
प्रतिक्षणं जगन्नाट्यप्रयोगरसिको जन: ।।

भट्टनायक ने साधारणीकरण सिद्धान्त की उद्भावना द्वारा काव्यास्वाद की मौलिक समस्या का अत्यंत मार्मिक समाधान प्रस्तुत किया और रस की सामाजिक अनुभूति को ही प्रामाणिक मानकर रस के आत्मगत स्वरूप का निर्भ्रान्त शब्दों में उद्घाटन किया । एक ओर जहाँ लोल्लट आदि के मत में रस का स्वरूप एकान्त वस्तुनिष्ठ है वहाँ भट्टनायक ने दोनों सीमाओं को बचाकर मध्यवर्ती दृष्टिकोण अपनाया है अर्थात् काव्यार्थ तथा प्रमाता के बीच अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक-भोज्य-भोजक सम्बन्ध स्वीकार किया है । अभिनवगुप्त के तर्को और सम्पूर्ण अद्वैत सिद्धान्त की विचारपद्धति के महत्व को स्वीकार करने पर भी जीवन्त काव्य में वस्तु-तत्त्व का नितान्त निषेध करना कठिन हो जाता है और इस दृष्टि से भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित रसभोगवाद अधिक व्यावहारिक है, इसमें सन्देह नहीं ।

रस सिद्धान्त के अनुयायियों के अनुसार रस अनुभूंति का विषय है । उसका आधार विविध विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव आदि द्वारा व्यंजित स्थायी भाव होते हैं । इस दृष्टि से स्थायी भाव और रस में अन्तर होता है । काव्य का भावमूलक सौन्दर्य भी कहा जा सकता है । रस की अनुभूति अलौकिक मानी जाती है और इसीलिये रस के आनन्द को ब्रह्मनन्द-सहोदर कहा गया है ।

रस को आनन्दस्वरूप ब्रह्म कहा गया है, चार अंग माने गए हैं- (1) स्थायी भाव, (2) विभाव, (3) अनुभाव तथा (4) संचारी भाव । रस की उत्पत्ति इन्हीं चारों भावों के संयोग से होती है।

स्थायी भाव रस का मुख्य तत्व है । स्थायी भाव मुख्य भाव को कहते हैं क्योंकि शेष सब भाव स्थायी भाव के ही सहायक होते हैं । तात्पर्य यह है कि स्थायी भाव विभावादि को अपने में आत्मसात् कर लेता है । उन विशिष्ट भावों को विभाव कहते हैं, जो स्थायी भाव को रस में परिणत करने में अपनी अहम् भूमिका निभाते हैं । विभाव दो प्रकार के होते हैं - (1) आलम्बन विभाव एवं (2) उद्दीपन विभाव ।

जिन विभावों के आश्रय से रस को स्थायित्व या स्थिरता प्राप्त होती है । वे आलम्बन विभाव कहलाते हैं । उद्दीपन वे विभाव होते हैं, जो रस को उद्दीप्त करते हैं । ये प्राय: आलम्बन विभावों के सहायक होते हैं ।

6.14 सारांश

जितना कठिन कार्य काव्य की रचना करना है । उतना ही श्रमसाध्य काव्य को समझना भी है । संस्कृत काव्य शास्त्र में काव्य रसिक के लक्षण बताये गये हैं । भारत में काव्य शास्त्र के सिद्धान्तों का विशद् विवेचन हुआ है । रस साहित्य की आत्मा है । इसके अभाव में कोई भी काव्य श्रेष्ठता को प्राप्त नहीं कर सकता । अग्नि पुराण के रचयिता व्यास जी ने भी रस को काव्य का प्राणभूत तत्व स्वीकार किया है । रस की महत्ता को ध्वनिवादियों, अलंकारवादियों, रीतिवादियो ने भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया है । अत: काव्य में रस की महत्ता स्वयंसिद्ध है ।

6.15 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भारतीय काव्य शास्त्र में रस की महत्ता स्पष्ट कीजिए ।
2. रस के विभिन्न अवयवों पर प्रकाश डालिये ।
3. भट्टलोल्लट के रस निष्पत्ति सम्बन्धी मत उत्पत्तिवाद की समीक्षा कीजिए ।
4. रस निष्पत्ति की व्याख्या में भट्टनायक के योगदान को स्पष्ट कीजिए ।
5. अभिनव गुप्त के अभिव्यक्तिवाद की समीक्षा कीजिए ।
6. शंकुक के रस निष्पत्ति सम्बन्धी मत अनुमितिवाद की व्याख्या कीजिए ।

5.16 संदर्भ ग्रंथ

1. डॉ नगेन्द्र – रस सिद्धान्त
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – रस मीमांसा
3. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – चिन्तामणि भाग-2
4. डॉत्रिगुणायत . – भारतीय साहित्य शास्त्र
5. डॉभागीरथ मिश्र . – काव्यशास्त्र
6. बाबू गुलाबराय – सिद्धान्त और अध्ययन
7. डॉश्यामसुन्दर दास . – रूपक रहस्य

इकाई-7 भारतीय काव्यशास्त्र प्रमुख सम्प्रदाय-II अलंकार, रीति व औचित्य

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 अलंकार-सिद्धान्त (अलंकार सम्प्रदाय)

- 7.2.1 'अलंकार' शब्द का आशय
- 7.2.2 अलंकारवादी काव्यशास्त्री और अलंकार-सिद्धान्त
- 7.2.3 अलंकार-सिद्धान्त का स्वरूप
- 7.2.4 काव्य में अलंकार-प्रयोग का औचित्य
- 7.2.5 काव्य में अलंकारों के निर्वहन की स्थिति
- 7.2.6 अलंकारों का वर्गीकरण
- 7.2.7 अलंकार और अलंकार्य
- 7.2.8 हिन्दी के काव्याचार्य और अलंकार-विवेचन

7.3 रीति-सिद्धान्त (रीति सम्प्रदाय)

7.1 'रीति' शब्द का अर्थ

- 7.3.2 काव्यशास्त्र में रीति का स्वरूप
- 7.3.3 वामन और रीति-सिद्धान्त
- 7.3.4 गुण का स्वरूप
- 7.3.5 रीति-सिद्धान्त का विस्तार
- 7.3.6 पाश्चात्य काव्यशास्त्र और रीति

7.4 औचित्य-सिद्धान्त (औचित्य सम्प्रदाय)

- 7.4.1 'औचित्य शब्द का तात्पर्य
- 7.4.2 औचित्य सम्प्रदाय का उद्भव और विकास
- 7.4.3 औचित्य काव्य की आत्मा
- 7.4.4 पाश्चात्य काव्यशास्त्र और औचित्य

7.5 सारांश

7.6 अभ्यासार्थ

7.7 संदर्भ ग्रन्थ

7.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप -

- भारतीय काव्यशास्त्र के अलंकार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय और औचित्य सम्प्रदाय के विषय में जानकारी दे सकेंगे,
- इन सिद्धान्तों से मिलते-जुलते पाश्चात्य काव्यशास्त्र के मतों के बारे में बता सकेंगे,
- इन सिद्धान्तों के महत्व को रेखांकित कर सकेंगे ।

7.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई के अन्तर्गत आप रस, ध्वनि और वक्रोक्ति सिद्धान्त के विषय में पढ़ चुके हैं। प्रस्तुत इकाई में आप अलंकार, रीति और औचित्य-सिद्धान्त अथवा सम्प्रदाय के विषय में पढ़ेंगे।

7.2 अलंकार-सिद्धान्त (अलंकार सम्प्रदाय)

7.2.1 'अलंकार' शब्द का आशय

'अलंकार' शब्द की निर्मिति 'अलं' (अलम् + कृ + घञ् प्रत्यय) शब्द से हुई है । इसका तात्पर्य है- वह साधन जिसके द्वारा शोभा में वृद्धि हो । 'अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति को दो प्रकार से समझा जा सकता है- प्रथम साधन परक और द्वितीय भाव परक । साधन से तात्पर्य उस माध्यम से है- जिसके द्वारा कोई कार्य सम्पादित किया जाता है । साधन परक व्युत्पत्ति के द्वारा अलंकार शब्द का अर्थ हुआ- जिसके द्वारा अलंकृत किया जाये अथवा शोभा वृद्धि हो- "अलक्रियतेध्नेन इति अलंकार: ।" अथवा जो अलंकृत करे या शोभित करे, वह अलंकार है : "अलंकरोति इति अलंकार: ।" भाव मूलक खुत्पत्ति के आधार पर अलंकार से तात्पर्य है- सौंदर्य, खजाना, शोभा- 'अलंकृति: अलंकार:' अर्थात् अलंकरण ही अलंकार है । वस्तुत: मानव की सहज प्रवृत्ति ही सौंदर्योंज़खी है । वह सौंदर्य को देखकर प्रफुल्लित होता है और स्वयं भी सौंदर्य वृद्धि चाहता है । इस सौंदर्य वृद्धि के लिए वह नाना प्रकार के आभूषणों का प्रयोग करता है । यही प्रयोग मनुष्य ने भाषा की सजावट के लिए किया और यहीं से काव्य में अलंकारों का प्रचलन प्रारम्भ हुआ ।

7.2.2 अलंकारवादी काव्यशास्त्री और अलंकार-सिद्धान्त

भारतीय काव्यशास्त्र का प्राचीनतम उपलब्ध और प्रामाणिक ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' है । इस ग्रंथ में आचार्य भरत ने केवल चार अलंकारों का उल्लेख किया है । ये चार अलंकार हैं- उपमा, रूपक, दीपक एवं यमक । भरत के उपरान्त आचार्य मेघाविन के नाम का उल्लेख परवर्ती ग्रंथों में मिलता है, परन्तु इनका कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है । छठी शताब्दी के दो प्रमुख काव्याचार्यों- भामह एवं दण्डी के नाम, आचार्य भरत के उपरान्त उल्लेखनीय हैं । इनमें से आचार्य भामह को अलंकार सिद्धान्त या अलंकार सम्प्रदाय का प्रवर्तक माना गया है । अपने ग्रंथ- 'काव्यालंकार' में भामह ने अड़तीस अलंकारों का उल्लेख किया है । इन्होंने अलंकार को काव्य का अनिवार्य तत्त्व घोषित किया :

न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् । (काव्यालंकार 1.13)

अर्थात् जिस प्रकार कमनीय ललना का सुन्दर मुख. आभूषणों के अभाव में शोभा हीन होता है, उसी प्रकार अलंकारों के अभाव में कविता सौंदर्य को प्राप्त नहीं कर पाती ।

भामह के पश्चात् दूसरे प्रमुख अलंकारवादी आचार्य दण्डी भी अपने ग्रंथ काव्यादर्श में उद्घोष करते हैं कि काव्य की शोभा के विधायक धर्म गुण हैं और गुणों के उत्कर्ष कारक धर्म का नाम अलंकार है- 'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते ।" दण्डी की अलंकार दृष्टि भामह से विस्तृत है । जहाँ भामह अलंकार को ही काव्य का सर्वस्व मानते हैं, वहीं दण्डी अलंकार के साथ गुण और रसादि को अलंकार के अन्तर्गत परिगणित करते हैं ।

दण्डी के उपरान्त आठवीं शताब्दी के काव्याचार्य उद्भट का नाम प्रमुख है । इनके ग्रंथ का नाम काव्यालंकार सार संग्रह है । इनके द्वारा विरेचित अलंकारों की संख्या इकतीस है । वामन (लगभग आठवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध) के अनुसार अलंकारों का काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है । वामन काव्य-सौंदर्य की प्रतिष्ठा अलंकारों से मानते हैं और अलंकारों के द्वारा ही काव्य को ग्राह्य मानते हैं :

काव्यं ग्राह्यमलंकारात् । सौंदर्यमलंकार ।।

वामन की अलंकार विषयक मौलिक विशेषता यह है कि वे गुण को काव्य का नित्य धर्म मानते हैं और अलंकारों को सहायक तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं । यद्यपि वामन रीतिवादी आचार्य थे और रीति को ही काव्य की आत्मा मानते थे तथापि उनकी अलंकार विषयक मान्यता पर्याप्त संतुलित है ।

वामन के उपरान्त अलंकार सिद्धान्तों के समर्थक आचार्यों में कमी परिलक्षित हुई क्योंकि नौवीं सदी के प्रारम्म में ध्वनि सिद्धान्त का प्रवर्तन हो चुका था, जिसमें रस, अलंकारादि ध्वनि के अन्तर्गत विवेचित किये जाने लगे थे ।

अलंकारवादी आचार्यो के सिद्धान्तों के विश्लेषण से विदित होता है कि:

- अलंकारवादी काव्यशास्त्री अलंकार का प्रयोग व्यापक अर्थों में ग्रहण करते हैं । इनका दृष्टिकोण संकुचित नहीं है । 'अलंकार काव्य-सौंदर्य या काव्य के चमत्कार के उत्पादकों के सभी साधनों के अर्थ का द्योतक है । केवल अलंकार का सूचक नहीं है ।
- अलंकारवादी आचार्यों के अनुसार अलंकार काव्य का सर्वस्व है । यद्यपि रस, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति सम्प्रदायों की भाँति अलंकारवादी, अलंकार को काव्य की आत्मा स्पष्ट रूप से घोषित नहीं करते तथापि उनकी मान्यता है कि अलंकार काव्य का प्राण तत्त्व है ।

7.2.3 अलंकार-सिद्धान्त का स्वरूप

भामह ने अलंकार के स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि- अलंकार काव्य का प्राण है और अलंकार का सर्वस्व वक्रोक्ति है । भामह रस और भाव के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते । वे इनका समावेश रसवत ऊर्जस्वित अलंकारों में करते हैं । दण्डी की अलंकारवादी दृष्टि कहीं अधिक व्यापक है- काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते" अपने अलंकार विषयक मत में ये अलंकार की श्रेणी में काव्य से सम्बन्धित समग्र सौंदर्य विधान" को समाहित करते है ।

भामह अपनी अलंकारवादी दृष्टि को और व्यापक करते हैं तथा गुण, दोषों का परिहार अलंकार के अन्तर्गत करते हैं । वे काव्य के गुण, रस, महाकाव्य की कथावस्तु नाटकीय संधियाँ वृत्ति, दोष आदि सभी का समावेश अलंकार के अन्तर्गत करते हैं ।

रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन की धारणा है कि काव्य के शोभावर्द्धक धर्म का नाम गुण है और गुणों के उत्कर्ष प्रदायक तत्त्वों का नाम अलंकार है :

काव्य शोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः ।

तदतिशथ हेतस्वस्तेघ्क्राराः ।। (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 3-99-2)

दण्डी डी धारणा को पुनर्वीवेचित करते हुए आचार्य वामन काव्य की समग्र रमणीयता की अलंकार कहते है:

काव्यं ग्राह्यामालंकारात् । सौंदयमलंकाप ।

यहाँ आचार्य वामन अलंकार की स्वतन्त्र सत्ता को अस्वीकार करते हुए उन्हें गुणों के मध्यम से काव्य के सौंदर्य विधायक धर्म स्वीकार करते हैं ।

नौवीं शताब्दी के प्रारम्म में काव्यशास्त्रीय जगत् में ध्वनि सिद्धान्त का प्रवर्तन आचार्य आनन्दवर्धन के द्वारा किया गया । ध्वनि सिद्धान्त ने अलंकार सिद्धान्त की प्रतिष्ठा को कम कर दिया । ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तक आनन्दवर्धन अलंकाआरवादियों की मान्यताओं पर प्रहार करते हुए कहते हैं कि अलंकारों का विधान रसादि के अंग के रूप में होना चाहिए । इसका विधान अंगी के रूप में नही होना चाहिए :

विवक्षा तत्परत्वेन लांगित्वेन कदाचन् । (ध्वन्यालोक 2 / 7)

आनन्दवर्धन की दृष्टि में अलंकार रस या काव्य का प्राण तत्व नहीं अपितु रस को प्रकाशित करने वाला धर्म है । प्रकाशित का तात्पर्य यह है कि जो अभ्यंतर को दीप्त करे । अलंकार अपने धर्म के द्वारा साधारणीकृत होने में सहयोग करता है ।

ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में प्रादुर्भूत आचार्य मम्मट की गणना रसवादी आचार्यो में होती है । मम्मट का योगदान यह है कि इन्होंने अपने समय तक प्रचलित समस्त काश्त सिद्धान्तों का समन्वय किया । आचार्य मम्मट अलंकारों का उद्देश्य रस को पुष्ट करना मानते हैं :

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित ।

हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादय ।। (काव्यप्रकाश 8 / 67)

अर्थात् अलंकार उसी भाँति हैं जैसे हार आदि आभूषण । ये अलंकार रस के उपकारक हैं । मम्मट तो- 'अनलंकृती पुनः क्वापि कहकर काव्य में अलंकारों की अनिवार्य उपयोगिता को ही समाप्त कर देते हैं । परन्तु जयदेव (तेरहवीं शताब्दी) ने मम्मट की मान्यता को स्वीकार न करते हुए उनके मत का पुरजोर विरोध किया है । वे कहते हैं कि जो काव्य में अलंकारों की उपस्थिति को स्वीकार नहीं करता, तो स्वयं को विद्वान समझने वाला वह व्यक्ति अग्नि को गर्मी से रहित क्यों नहीं मानता:

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थालकृती ।

असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती ।। (चन्द्रलोक 1 / 8)

चौदहवीं शताब्दी के आचार्य विश्वनाथ आनन्दवर्धन की ध्वनिवादी दृष्टि तथा मम्मट की रसवादी दृष्टि से प्रेरणा ग्रहण कर अलंकार को शब्दार्थ का अस्थिर धर्म मानते हैं । वे अलंकारों को केयुर की भाँति वृद्धि कारक तथा रस रूपी आत्मा का उपकारक मानते है ।

अलंकारों के स्वरूप निर्धारण में संस्कृत के विभित्र आचार्यो द्वारा जो मत व्यक्त किये गये हैं, सारत: निम्नानुसार हैं :

- अलंकारों से रहित कविता सौंदर्य को प्राप्त नहीं कर पाती, जिस प्रकार आभूषणों से हीन सुन्दर वनिता भी शन्नो हीन होती है ।
- अलंकार के अन्तर्गत गुण्-दोष आदि समस्त काव्यांग परिगणित हो जाते है।
- अलंकार काव्य को सीधे सौंदर्य प्रदान नहीं करते अपितु वे गुणों को उत्कर्ष प्रदान करते हैं और गुण काव्य को शोभा प्रदान करते है ।
- अलंकार रस या काव्य का प्राण तत्व नहीं, अपितु रस को प्रकाशित करने वाला धर्म है। अलंकार रस के उपकारक हैं ।
- अलंकार केयूर की भाँति शोभा वृद्धि कारक तथा रस के उपकारक हैं ।

उपर्युक्त मतों का निष्कर्ष यह है कि अलंकार काव्य का अनिवार्य तत्त्व नहीं है अपितु शब्दार्थ के साधन द्वारा वह रस का उपकारक है । मम्मट ने 'अनलंकृती पुन' क्वापि' के द्वारा यही सिद्ध किया है कि अलंकार काव्य के केवल बाह्म शोभा कारक धर्म हैं । आनन्दवर्धन, विश्वनाथ और मम्मट आदि काव्याचार्यो ने भी ऐसे ही मत अस्त किये हैं । इनके पूर्ववर्ती आचार्यो- भामह, दण्डी, उद्भट भी अलंकार को काव्य का अनिवार्य साधन तो मानते हैं, परन्तु इसे काव्य का बाह्य धर्म मानते हैं । यह दृष्टिकोण रसवादी और ध्वनिवादी काव्यशास्त्रियों का है । अलंकारवादी काव्याचार्यो का मत स्वभावत: रसवादी आचार्यो से भिन्न है और वे अलंकार को ही काव्य का सर्वस्व मानते हैं ।

7.2.4 काव्य में अलंकार-प्रयोग का औचित्य

उपर्युक्त विश्लेषण से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि अलंकार काव्य का अंगी नहीं है, सब इनका प्रयोग काव्य में कैसे और किस सीमा तक हो ? इसका उत्तर यही है कि अलंकारों का प्रयोग काव्य में चमत्कार उत्पन्न करता है । अत: इनका प्रयोग काव्य में उचित रीति से करने पर वह काव्य की सौंदर्य वृद्धि करता है । काव्य का चमत्कार क्या है और अलंकार क्या है? वस्तुत: शब्दान्तर से उक्ति चमत्कार का नाम अलंकार है । पर क्या प्रत्येक उक्ति-चमत्कार को काव्य माना जा सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर रसवादी आचार्य 'नहीं' में देंगे और अलंकारवादी हाँ में । डॉ. नगेन्द्र का मत इस सम्बन्ध में अत्यन्त सटीक है । वे अपने ग्रंथ 'रीतिकाव्य की भूमिका में लिखते है कि- "वही चमत्कारपूर्ण उक्ति काव्य हो सकती है, जिसका चमत्कार भाव की रमणीयता, कोमलता, सूक्ष्मता अथवा तीव्रता के आश्रित हो । ऐसी उक्ति जिसका चमत्कार बौद्धिक ग्रन्थियों के सुलझाने से सम्बन्ध रखता है या केवल कल्पना विधान के आश्रित है, काव्य की कोटि से बहिष्कृत कर दिया है । अतएव यह तो स्पष्ट है कि जहाँ चमत्कार भाव के आश्रित न होकर कोरे बौद्धिक विधान के आश्रित रहता है अर्थात् श्रोता के मन में हल्की से भी हल्की भाव-तरंग उस्पत्र नहीं करता, वहाँ हमारे ह्रदय में लेखक

के बुद्धि-विधान के प्रति आश्चर्य और विस्मय की भावना तो जाग सकती है, इसके अतिरिक्त किसी गूढ़ समस्या के सुलझ जाने से या बौद्धिक ग्रंथि के खुल जाने से जो एक प्रकार का बौद्धिक आनन्द मिलता है, उसका भी अनुभव हो सकता है, परन्तु काव्यानुभूति सम्भव नहीं हैं । सभी प्रकार का चमत्कार काव्यानन्द नहीं दे सकता । जिसमें भाव का योग नहीं, जो बौद्धिक विधान मात्र है, वह बौद्धिक आनन्द ही होगा, जिसमें एन्द्रियता का रस नहीं होगा ।" आचार्य रामचन्द्र शक्ल अलंकारों को वर्णन करने की चमत्कारपूर्ण शैली के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानते । वे लिखते है- में अलंकार को केवल वर्णन प्रणाली मात्र समझता हूँ जिसके अन्तर्गत चाहे किसी वस्तु का वर्णन किया जा सकता है । "आगे वे लिखते हैं- "अलंकार है या? वर्णन करने की चमत्कारपूर्ण शैलियाँ, जिन्हें काव्यों रो चुनकर प्राचीन आचार्यो ने नाम रखे हैं और लक्षण बनाये । ये शैलियाँ न जाने कितनी हो सकती हैं । अत: नहीं कहा जा सकता कि जितने अलंकारों के नाम ग्रंथों में मिलते हैं, उतने ही अलंकार हो सकते हैं । भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति अलंकार है । "वस्तुत: अलंकार कभी स्थिर रूप में कभी स्थिर रूप में और कभी प्रधान होकर काव्य में चमत्कार उत्पन्न करते हैं । उपर्युक्त तीनों स्थितियों को निम्नलिखित उदाहरणों द्वारा समझा जा सकता है:

प्रथम स्थिति: कहा लडैते दृग करै, परै लाल बेहाल ।
कहुँ मुरली कहुँ पीत पट कहुँ मुकुट बनमाल ॥ (बिहारी)

उपर्युका दोहे में सखी का कथन है कि तुम्हारे लड़ाके नैनों से घायल होकर कृष्ण बेसुध पड़े हैं, कहीं उनकी बाँसुरी पड़ी है, कहीं पीताम्बर पड़ा है, कहीं उनका मुकुट पड़ा है और कहीं वनमाल पड़ी है । इस दोहे में ब्याजनिन्दा अलंकार के रूप में व्यंग्यार्थ यह निहित है कि कृष्ण गोपी या राधा के सुन्दर नैनों से विरहाकुल हैं । यहाँ नैत्रों को लड़ाके कहना निन्दा है, किन्तु कवि उन नैनों की (सुन्दर नेत्र) स्तुति करता है । इस दोहे में व्याज निन्दा अलंकार अस्थिर रूप में या अप्रत्यक्ष रूप में प्रयुक्त हुआ है ।

दूसरी स्थिति: औरों के प्रति प्रेम तुम्हारा, इसका मुझको दुख नहीं ।
जिसके तुम हो एक सहारा, वही भूल न जाए कहीं ।। (जयशंकर प्रसाद)

उपर्युक्त पंक्तियों में "प्रेम की तीव्रता" व्यंग्यार्थ के रूप में निहित है । अब, "प्रति प्रेम', 'तुम्हारा-सहारा' तथा 'नहीं-कहीं' में अनुप्रास भी है, परन्तु जो व्यंग्य उपर्युक्त पंक्तियों में निहित है, उसे व्यक्त करने में अनुप्रास सहायक नहीं है । इसमें विभावना, विशेषोक्ति विषम और विरोध आदि अलंकारों को भी ढूँढा जा सकता है जो स्थिर रूप में विद्यमान नहीं हैं ।

तीसरी स्थिति: नाक का मोती अधर की कांति से,
बीज दाड़िम का समझकर भ्रांति से,
देखकर सहसा हुआ शुक मौन है,
सोचता है - अन्य शुक यह कौन है । (मैथिलीशरण गुप्त)

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि आभूषण का सौंदर्य व्यंजित करना चाहता है परन्तु यह व्यंजना भ्रांतिमान अलंकार के चमत्कार के कारण प्रधान बनकर रह गयी है ।

7.2.5 काव्य में अलंकारों के निर्वहन की स्थिति

काव्य में अलंकारों का प्रयोग किस सीमा तक हो और कैसा हो, इस सम्बन्ध में ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन के कुछ नियमों को निर्दिष्ट किया है । इन नियमों को संक्षिप्तत निम्नानुसार रखा जा सकता है :

1. काव्य में अंगी (प्रधान) रस है । अत: अलंकारों का प्रयोग उसके अंग रूप में (बाह्य रूप) ही करना श्रेयस्कर है ।
2. अलंकारों को समयानुकूल ग्रहण करना ही उत्तम है और समयानुकूल ही इनका त्याज्य उत्तम है ।
3. किसी अलंकार का प्रयोग यदि किया गया है तो उसके निर्वहन का प्रयास अन्त तक नहीं होना चाहिए । यदि ऐसा हो भी जाए तो उसे प्रधान रूप में रस का पुष्टिकारक बनाने का उपाय होना चाहिए ।

सारांशत: यह कथन किया जा सकता है कि अलंकार रस के उत्कर्ष में साधन बनकर उपस्थित रहें, कवि की चमत्कारप्रियता का विषय न बनें :

ध्वन्यात्मभूतमृंगारे समीक्ष्य वितिवेशत: ।
रूपकादिरलकारवर्ग एति यथार्थताम ।। (धन्यालोक 2-17)

7.2.6 अलंकारों का वर्गीकरण

संस्कृत काव्यशास्त्र के ज्ञात आद्याचार्य भरत ने अलंकारों की संख्या कुल चार निर्धारित की थी, किन्तु कालान्तर में इस संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी । पूर्व में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मत को उद्धृत किया जा चुका है कि "अलंकार-वर्णन करने की चमत्कारपूर्ण शैलियाँ हैं ... ये शैलियाँ न जाने कितनी हो सकती हैं।" विभित्र काव्याचायाँ ने भी अलंकारों की संख्या में न्यूनता की और वृद्धि की ।

अनेक आचार्यो ने अनेक अलंकारों को दोहराया है, अनेक नये अलंकारों की उद्भावना की है और अनेक पुराने अलंकारों का नवीन नामकरण किया है, जबकि उनके लक्षण यथावत् हैं । इस प्रकार काव्यशास्त्र की पुरातन परम्परा में जितने भी काव्याचार्यों का पदार्पण हुआ, प्राय: प्रत्येक ने अलंकारों की संख्या में न्यूनाधिक वृद्धि की ।

अलंकारों के वर्गीकरण का प्रश्न अलंकारों के अन्तर्गत उपस्थित होता रहा और इसे सर्वप्रथम आधार दिया गया- राजानक तिलक द्वारा । राजानक तिलक ने अपनी जो मान्यताएँ स्थापित कीं, उनके आधार पर अलंकार वर्गीकरण विषयक दो सिद्धान्त उभर कर आये- आश्रयाश्रित सिद्धान्त और अन्वय-व्यतिरेक सिद्धान्त ।

आश्रयाश्रित सिद्धान्त : 'अलंकार सर्वस्व' ग्रंथ के लेखक आचार्य रुय्यक (लगभग 12 वीं शताब्दी के अन्त में) ने इस सिद्धान्त को जन्म दिया । इस सिद्धान्त के अनुसार जो शब्दाश्रित हैं, वे शब्दालंकार और जो अर्थाश्रित हैं, वे अर्थालंकार हैं । यह वर्गीकरण ठीक उसी प्रकार है, जिस प्रकार कानों के आभूषणों को कर्णाभूषण तथा हाथों के आभूषणों को हस्ताभूषण कहा जाता है ।

अन्वय-व्यतिरेक सिद्धान्त : मम्मट ने इस सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए कहा है कि विशिष्ट शब्द होने पर अलंकार विशेष हो तो शब्दालंकार होगा और उस शब्द के न रहने पर शब्दालंकार नहीं होगा । अर्थालंकार में यदि शब्द परिवर्तन होता है तो अलंकारत्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा । अन्वय व्यतिरेक तर्क वाक्य का आधार है- पूर्ववर्ती अनार के रहने पर आधृत का रहना अथवा उसके अभाव में न रहना । इसके लिए 'परिवृत्ति सहत्व' साक्ष्य है । उदाहरण के लिए 'बंदहु गुरु पद पदुम परागा' में पद पदुम परागा में अनुप्रास है इसका तात्पर्य है- गुरु के चरण कमल का पराग । परन्तु इसके स्थान पर इसी अर्थ को ध्वनित करने वाले पद- चरण-कमल-मकरन्द को यदि प्रस्थावित कर दिया जाये तो अर्थ पर कोई असर नहीं पड़ेगा, परन्तु अनुप्रास (शब्दालंकार) का परिवृत्ति सहत्व समाप्त हो जाएगा ।

आगे चलकर अग्निपुराणकार ने स्पष्ट रूप से अलंकारों का वर्गीकरण शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार में किया।

रुद्रट ने समान विशेषताओं के आधार पर अलंकारों को- वास्तव्य, औपम्य अतिशय और श्लेष- चार वर्गो में विभाजित किया है । इनके अन्तर्गत रुद्रट ने क्रमश: 23, 21, 12 और 10 अलंकारों को समाविष्ट किया है । रुद्रट के उपरान्त, रुथ्यक ने अलंकारों के वर्गीकरण का प्रयास लिया। इनका वर्गीकरण अलंकारों के स्वभावानुकूल है जो सर्वथा वैज्ञानिक प्रयास है । इन्होंने अलंकारों को पाँच भागों में विभाजित कर पुन: उनके उपभेद हैं । रूय्यक का स्म्पूर्ण विभाजन निम्नानुसार है :

1. सादृश्य गर्भ : भेदाभेदतुल्य प्रधान, अभेदप्रधान, भेदप्रधान
   अभेदप्रधान के पुन: दो भेद : आरोपमूलक तथा अध्यावसायमूलक
2. विरोध गर्भ
3. श्रृंखलाबद्धं
4. न्याय मूलक - वाक्य न्याय, तर्क न्याय, लोक न्याय
5. गूढ़ार्थ प्रतीति मूलक

विश्वनाथ (14 वीं शताब्दी) ने कुल चार वर्गो- वस्तु प्रतीति मूलक, औपम्य प्रतीति मूलक, रसभाव प्रतीति मूलक और अस्फुट प्रतीति मूलक के अन्तर्गत अलंकारों को रखा है । इसी शताब्दी के आचार्य विधाधर ने अलंकारों को नौ वर्गो- साधर्म्य मूलक, अध्यवसाय मूलक, विरोध मूलक, वाक्य मूलक, लोक व्यवहार मूलक, तर्क न्याय मूलक, श्रृंखला वैचित्र्य मूलक, अपह्ना मूलक तथा विशेषण वैचित्र्य मूलक में विभक्त किया है ।

आचार्य भोज ने अग्निपुराण की मान्यता को स्वीकृति देते हुए समस्त अलंकारों को शब्दालंकार. अर्थालंकार तथा उभयालंकार में वर्गीकृत किया है । यह विभाजन अन्य वर्गीकरणों की अपेक्षा अधिक सुगम है और जनमानस में अब तक प्रचलित है । इनका वर्गीकरण निम्नानुसार है:

शब्दालंकार: जाति, रीति, गति, वृत्ति, छाया, उक्ति. मुद्रा भणिति गुम्फना, शय्या, पठिति यमक, श्लेष, अनुप्रास. चित्र, बको वाक्य. प्रहेलिका, गढ़ प्रश्नोत्तर, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य, अभिनय ।

अर्थालंकार : स्वभावोक्ति, विभावना, हेतु अहेतु सूक्ष्म, उत्तर, विरोध, सम्भव, अन्योन्य, निदर्शन, भेद, समाहित, भ्रांति, मीलित भाव, वितर्क, स्मृति, अनुमान, आप्त वचन, उपमा, अर्थापत्ति एवं अभाव ।

उभयालंकार : उपमा, रूपक, साक्य संशयोक्ति समाधि, युक्ति, अपहसुति, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा, तुल्ययोगिता उल्लेख, सहोक्ति, समुच्चय, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, विशेष, दीपक, कम, परिकर, अतिश्य पर्याय, संतुष्टि भाविक एवं श्लेष ।

आधुनिक काल में भी समर्थ आलोचकों द्वारा अलंकारों के वर्गीकरण का प्रयास किया गया। इनमें डॉ. नगेन्द्र द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण अत्यन्त प्रामाणिक माना गया है । उन्होंने अपने ग्रंथ- रीतिकाव्य की भूमिका में अलंकारों के वर्गीकरण को मनोवैज्ञानिक कारण माना है । व्यक्ति की मानसिक दशाओं- स्पष्टता, विस्तार, आश्चर्य, अन्विति जिज्ञासा और कौतूहल के आधार पर इन्होंने अलंकारों के छह वर्ग निम्नानुसार बताये हैं :

1. साधर्म्यप्रधान मान)सिक स्पष्टता(2. अतिशयमूलक वि)स्तार(
3. वैषम्यमूलक आश्च)र्य(4. औचित्यमूलश (अन्विति(
5. वक्रतामूलक जिज्ञा)सा(6. चमस्कारमूलक (कौतूहल(

7.2.7 अलंकार और अलकार्य

अलंकार सिद्धान्त के प्रारम्म से ही इस प्रश्न पर विचार-मंथन होता रहा है कि अलंकरण किसका? काव्य को देह मानकर यदि अलंकारों से उसके अलंकृत करने का प्रश्न है, तो शब्दार्थ अलंकार हुए और काव्य की आत्मा रस अलंकार्य हुई । इसका तात्पर्य यह हुआ कि अलंकार अंग है, अंगी नहीं । अलंकार रस तक पहुँचने का सअन (माध्यम) है, सभ्य नहीं । अलंकार रस को उपकृत (उत्कर्ष) करते हैं । रसवादी आचायां एवं अनिषादी आचार्यो की दृष्टि में अलंकार अलंकार्य नहीं है । पर, काव्य में कभी-कभी ऐसी स्थितियाँ निर्मित हो जाती है कि रसों में से कोई एक रस किसी अन्य रस को उपकृत करता है । ऐसी स्थिति में उपकारक रस 'रसवत्' अलंकार होता है । उदाहरणार्थ

जीवन है कुछ पल का,
यह जल का बुदबुद है ।
अपनी सुन्दर काज से तु ।
क्यों बेस्म है ।

उपर्युक्त पंक्तियों में श्रृंगार रस अलंकार्य या अंगी है और प्रारम्भिक दो पंक्तियों में निबद्ध शान्त रस मूल रस श्रृंगार का उपकारक है । यह उपकारक रस रसवत् अलंकार है । कभी-कभी स्थायी, संचारी और सात्त्विक भावों में से कोई एक अन्य भेद का अथवा किसी रस का उपकारक

होता है । ऐसी स्थिति में उपकारक तत्त्व अलंकार होता है और जिसका उपकार होता है, वह अलंकार्य कहलाता है । उदाहरणार्थ :

अमिय हलाहल मद भरे, स्वेद स्याम रतनार ।

जियत मरत, झुकि-झुकि परत, जेहि चितवन इक बार ।।

अर्थात्, नायिका के नेत्र अमृत, विष और मद (शराब) भरे होने के कारण सफेद (अमृत का रंग), श्याम (विष वर्ण) और लालिमा युक्त (शराब का रंग) हो रहे हैं । जो व्यक्ति इनका पान करता है (इन्हें देखता है), वह जीता है (अमृत पीकर), मरता है (विष प्रभाव) और उठता-गिरता (लड़खड़ाता) है । कवि रसलीन ने अपने उपर्युक्त दोहे में यथासंख्य अलंकार द्वारा मूलत: श्रृंगार (नेत्रों के सौंदर्य वर्णन से) चित्रण किया है । यहाँ यथासंख्य अलंकार के द्वारा श्रृंगार का उपकार हो रहा है । अत: श्रृंगार रस अलंकार्य है और यथासंख्य अलंकार है ।

काव्य में रस का वर्णन अंगी और अंग रूप में होता है । इसमें प्रधान रस अंगी होता है और गौण अथवा शेष रस अंग होते हैं । यह रस किसी मुक्तक काव्य के मुक्तकों में भी हो सकता है और प्रबन्ध काव्यों में भी । कालिदास कृत 'आभिज्ञानशाकुन्तलम्' का अंगी रस श्रृंगार है और शेष रस इसके अंग रूप में है । यहाँ अंगी रस अलंकार्य है. शेष रस अलंकार हैं ।

उपर्युक्त विवेचन का आशय यह नहीं है कि यही अन्तिम सत्य है । काव्यशास्त्रियों में विभिन्न सिद्धान्तों के खण्डन-मण्डन होते रहे हैं । आनन्दबर्धन के अलंकार्य-अलंकार सिद्धान्त का खण्डन आचार्य कुन्तक ने किया । कुंतक ने कहा कि श्रृंगारादि रसों को अलंकार्य नहीं माना जा सकता। अपने ग्रंथ- वक्रोक्तिजीवितम् में वे उल्लेख करते हैं सम्पूर्ण काव्यत्व 'अलंकार सहित में निबद्ध है । ग्रंथों में 'अलंकार्य-अलंकार' की योजना केवल समझने-समझाने भर की है । आभूषण तो अंग से पृथक् किये जा सकते हैं, पर उपमादि अलंकार शब्दार्थ रूपी काव्य देह से अलग नहीं किये जा सकते । इसीलिए काव्यत्व अलंकार सहित होता है;

आनन्दवर्धन रस-धनि को काव्य की मूल आत्मा घोषित करते हैं और इसे (अलंकार) भावोत्कर्ष के साधन के रूप में ही मान्यता प्रदान करते हैं । आनन्दवर्धन द्वारा अलंकार के इस स्वरूप के विवेचन को अभिनव गुप्त तथा मम्मट आदि ने पर्याप्त समादृत किया और कुंतक का मत इनके आगे शिथिल हो गया । आगे चलकर भोज, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित और पण्डितराज जगन्नाथ आदि भी आनन्दवर्धन के मत का अनुमोदन और समर्थन करते रहे ।

7.2.8 हिन्दी के काव्याचार्य और अलंकार-विवेचन

भारतीय काव्य के विविध सिद्धान्तों का जन्म संस्कृत की जिस गहन चिन्तन, तीव्रानुभूति और सूक्ष्म विश्लेषण-दृष्टि की उर्वर भूमि पर हुआ, वह हिन्दी काव्याचार्यों (जो वस्तुत: कवि थे, आचार्य नहीं) के पास न थी । हिन्दी के कवि आचार्य संस्कृत के किसी काव्यशास्त्री के सिद्धान्तों का दामन थामे हुए थे और उनके संस्कृत में लिखित सिद्धान्तों का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत कर आचार्य बन रहे थे ।

हिन्दी रीतिकाल में लक्षण-ग्रंथों के प्रणेताओं के संदर्भ में उपर्युका वक्तव्य अत्यन्त सटीक है। फिर भी कुछ लक्षण ग्रंथकार ऐसे थे जिन्होंने मौलिक शास्त्रीय अपने ग्रंथों में व्यक्त की । यह सत्य है कि केशव ने कवि प्रिया, प्रिया, छन्दमाला आदि ग्रंथों के द्वारा हिन्दी में रीति

ग्रंथों का सूत्रपात किया । इनके एक दोहे जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सहज सुवृत । भूषण बिनु न बिराजई कविता बनिता मित्त ।"- के आधार पर विद्वानों ने इन्हें हिन्दी का प्रथम अलंकारवादी आचार्य घोषित किया है और इनके काव्य विशेष रूप से रामचन्द्रिका में अलंकारों की भरमार के कारण इनका अलंकारवादी होना सत्य भी प्रतीत होता है । परन्तु इन्होंने अलंकारों के साथ रसादि को भी समादर दृष्टि प्रदान की है ।

केशव से प्रारम्भ हुई अलंकार निरूपण (अलंकारवादी नहीं) की परम्परा हिन्दी साहित्य के रीतिकाल में पर्याप्त फली-फूली । गोप (अलंकार चन्द्रिका), भान कवि (नरेन्द्र भूषण), गुमान मिश्र (अलंकार दर्पण), श्रीपति (अलंकार गंगा), गदाधर भट्ट (अलंकार चन्द्रोदय), पदमाकर (पद्माभरण), भोजराज (भोज भूषण), परमानन्द प्रधान (अलंकार दर्पण), प्रताप साही (अलंकार चिन्तामणि) आदि शताधिक कवियों ने अलंकार- निरूपण को अपना काव्य-विषय बनाया । इनमें चिन्तामणि, मतिराम, भूषण, भिखारीदास जैसे समर्थ कवि भी परिगणित हैं । भामह, दण्डी, उद्भट और विशेष रूप से अप्पय दीक्षित इन कवियों के आदर्श रहे हैं, जिनकी अलंकार विषयक चिन्ताओं को इन्होंने हिन्दी में दोहा और कवित्त छन्दों में ढालकर प्रस्तुत किया । संस्कृत में लिखित काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों को हिन्दी कविता के रूप में प्रस्तुत करने में भले ही कोई मौलिकता न रही हो, पर इस पृष्ठभूमि में इनके द्वारा दिये गये काव्यात्मक उदाहरण अत्यन्त मनोरम बन पड़े हैं ।

हिन्दी रीतिकाल की समय सीमा समाप्त होने के पश्चात् भी सर्वांग लक्षण निरूपक ग्रंथों का प्रणयन होता रहा और एकांग निरूपक ग्रंथों का भी । इन ग्रंथों में 'कविकल्पद्रुम (रामदास, वि.सं. 1901) 'काव्यप्रकाश की समालोचना (शालीग्राम शाकद्वीपी, वि.सं. 1920) 'प्रताप विनोद' (बलदेव, वि.सं. 1926) 'रावणेश्वर कल्पतरु' (लछिराम, वि.सं. 1947) जसवन्त जसौ भूषण (मुरारिदान, वि.सं. 1950) 'काव्य प्रभाकर (जगन्नाथ प्रसाद भानु वि.स.1967) 'साहित्य सिद्धान्त (सीताराम शास्त्री, वि.सं. 1980) 'रसमंजरी' (कन्हैयालाल पोद्दार, वि.सं. 1991) 'साहित्य सागर' (बिहारीलाल भट्ट, वि.सं. 1994) 'साहित्य पारिजात' (मिश्र बंधु, वि.सं. 1997) 'काव्यलोक' (रामदहिन मिश्र, वि.सं. 2001) आदि उल्लेखनीय हैं ।

आधुनिक गद्य साहित्य में भी अलंकार शास्त्र के सम्बन्ध में गहन चिन्तन किया गया है । इसमें सबसे प्रमुख तथ्य यह है कि अलंकारों के भारतीय और पाश्चात्य स्वरूप का तुलनात्मक अध्ययन किया गया । गद्य काल के प्रमुख काव्यशास्त्रियों में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू गुलाब राय, डी. नगेन्द्र आदि प्रमुख हैं । यहाँ कतिपय अलंकार समीक्षकों के विचार दृष्टव्य हैं: अलंकारों का प्रयोग नवयुग की चेतना के अनुरूप बलात् नहीं होना चाहिए ।। (रसज्ञ रंजन : महावीर प्रसाद द्विवेदी)

अप्रस्तुत-योजना प्रस्तुत के अनुरूप होनी चाहिए और उसमें वस्तु-गुण और क्रिया अथवा व्यापार-समष्टि का भाव जगाने की वैसी क्षमता होनी चाहिए जैसी प्रस्तुत में है ।

(चिन्तामणि भाग- 1. रामचन्द्र शुक्ल)

मन के उच्छ्वास के साथ वाणी अनिवार्यत: उच्छ्वसित हो जाती है । वाणी का यही उच्छ्वास उक्ति-वैचिव्य है, इसीलिए व्यापक अर्थ में अलंकार उक्ति-वैचित्र है ।

(रीतिकाव्य की भूमिका : डॉ. नगेन्द्र)

भारतीय काव्य-परम्परा में रस-सिद्धान्त सर्वाधिक प्राचीन है । शेष काव्य सिद्धान्तों- अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति एवं औचित्य का विकास रस-सिद्धान्त के पश्चात् ही हुआ है । काव्यांगों के विश्लेषण से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि अलंकार, रीति तथा वक्रोक्ति सिद्धान्तों का सम्बन्ध काव्य के बाह्यांग से है और रस, ध्वनि तथा औचित्य सिद्धान्तों का सम्बन्ध काव्य के आन्तरिक पक्ष से है । इस विश्लेषण के आधार पर बाह्य पक्ष से सम्बन्धित सिद्धान्तों को देहवादी अथवा वस्तुवादी कहा जा सकता है और आन्तरिक पक्ष से सम्बन्धित सिद्धान्तों को आत्मवादी सिद्धान्त अथवा आत्मवादी सम्प्रदाय की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है । वस्तुवादी आचार्यों की दृष्टि काव्य के बाह्य तत्त्व पर ही केन्द्रित होती है । यद्यपि ये भी भाव और विचार तत्त्व की उपेक्षा नहीं करते, परन्तु इनकी दृष्टि में काव्य के सौंदर्य विधायक तत्व अलंकार, रीति और वक्रोक्ति ही हैं । अलंकारवादी अलंकार को काव्य शोभा का कारण मानते हैं । हिन्दी काव्याचार्यो में अलंकारवादी आचार्य भी इसी मत के समर्थक हैं । आचार्य केशव तो कहते हैं कि:

जदपि सुजाति सुलच्छिनी, सुबरन सहज सुवृत्त ।
भूषण बिनु न बिराजई कविता वनिता मित्त ।।

7.3 रीति-सिद्धान्त (रिति सम्प्रदाय)

7.3.1 रीति शब्द का अर्थ

भारतीय संस्कृत काव्यशास्त्र में रस और अलंकार सिद्धान्तों के पश्चात् रीति सिद्धान्त (रीति सम्प्रदाय) का महत्त्वपूर्ण स्थान है । लगभग आठवीं शताब्दी का अन्तिम चरण आचार्य वामन का समय माना जाता है । आचार्य वामन ने जिस काव्यशास्त्रीय ग्रंथ का प्रणयन किया, उसका नाम है- 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति । इस ग्रंथ में इन्होंने रीति सिद्धान्त का प्रवर्तन किया । काव्य के दो अंग-गुण और रीति-परस्पर अन्योन्याश्रित हैं । रीति सिद्धान्त को समझने के लिए गुणों को समझना आवश्यक है ।

'रीति' शब्द का कोश मूलक और प्रयोग मूलक अर्थ है- ढंग, प्रकार, तरीका, मार्ग, प्रणाली। अंग्रेजी में इसे 'style' कह सकते हैं, जिसका हिन्दी अनुवाद है- शैली । त्युत्पत्ति मूलक अर्थ रीति को पथ, मार्ग, रास्ता-सिद्ध करता है- 'रियन्ते परम्परया गच्छन्त्यडनयेति करणसाधनोडयं रीति: शब्द: मार्ग पर्याय: ।' काव्यशास्त्र में रीति से तात्पर्य है- काय-रीति, काव्य-मार्ग, काव्य-पथ आदि ।

7.3.2 काव्यशास्त्र में रीति का स्वरूप

वामन द्वारा अपने ग्रंथ में रीति की मान्यता स्थापित किये जाने के पूर्व इसका उल्लेख अन्य नामों से आचार्य भरत, भामह और दण्डी कर चुके थे । आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में चार नाट्य प्रवृत्तियों- दाक्षिणात्य, गौड़ी-मागधी, पांचाली एवं अवंतिका का उल्लेख किया है । भरत की इन प्रवृत्तियों का सम्बन्ध प्रादेशिकता एवं रस मान्यता दोनों से युक्त है- “अत्राह,

प्रवृत्तिरिति कस्मादिति उव्यते, पृथिव्यां नानादेशवेषभाषाचारा: वार्ता ख्यापयतीति वृत्ति । प्रवृत्तिश्म निवेदने ।" आचार्य भरत द्वारा उल्लिखित प्रवृत्तियों का आधार प्रदेशाभिधान्यवाद रहा है । इनकी दाक्षिणात्य प्रवृत्ति विदर्भ देश से सम्बन्धित है औड्री-मागधी का सम्बन्ध बंगाल, उड़ीसा, मिथिला, मगध आदि प्रदेशों की भाषा-वेश आदि से है । पांचाली का सम्बन्ध पांचाल, कश्मीर, शूरसेन, भद्र आदि देशों से है और अवंतिका का सम्बन्ध- उज्जयिनी, मालव देश, विदिशा, मालवा, सिंधु, सौराष्ट्र आदि देशों में प्रचलित भाषादि व्यवहार से है । भरत के समय ये चार, काव्य या नाट्य-रचना की शैलियाँ थीं । इनके पृथक्-पृथक् गुण या लक्षण निर्धारित थे । इनका उल्लेख सर्वप्रथम आचार्य दण्डी ने किया । दण्डी भरत की 'प्रवृत्ति' के लिए 'मार्ग' शब्द का प्रयोग करते हैं । दण्डी का 'मार्ग, 'प्रदेशाभिधान्य और गुण सिद्धान्त का समन्वित रूप है । दण्डी ने मार्ग को गुणाश्रित माना है और गौड़ीय तथा वैदर्भी दो मार्गों की चर्चा की है । इन दो मार्गों के साथ दण्डी ने जिन दस गुणों की बात स्वीकार की है, वे हैं- श्लेष प्रसाद, समता, माधुर्य, सौकुमार्य अर्थव्याप्ति, उदारता, ओज, कांति तथा समाधि । आचार्य भामह ने भी दण्डी की भाँति दो 'प्रकार बताये हैं- गौड़ी तथा वैदर्भी । भामह के ये काव्य प्रकार की प्रादेशिकता पर आधृत हैं ।

7.3.3 वामन और रीति-सिद्धान्त

वामन से पूर्व किसी भी आचार्य- भरत, भामह और दण्डी ने रीति का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया। भरत, भामह और दण्डी का जो क्रमश: प्रवृत्ति, प्रकार और मार्ग है, वह वामन की रीति है। इस रीति को वामन ने व्यापक अर्थों में ग्रहण किया है । रीति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं- 'विशिष्टा पद-रचना रीति:।' रीति में यह विशेषता तब आती है, जब उसमें गुणों की प्रतिष्ठा "विशेषो गुणात्मा हो जाती है और गुण वे हैं जो काव्य का उत्कर्ष करते हैं- काव्यशोभाया: कर्तारो धर्मा गुणा: । (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 3 / 11) इन्हीं गुणों की विशेषताओं से युक्त रीति को आचार्य वामन काव्य की आत्मा मानते हैं- रीतिरात्मा काव्यस्य । रीति को काव्य की आत्मा मानने का आशय यह हुआ कि वे रीति को काव्य का मूल तत्त्व स्वीकार करते हैं । वामन ने अपने समय में प्रचलित अलंकार तथा गुण सिद्धान्त को भी रति सिद्धान्त से जोड़ने का प्रयास किया है ।

भामह और दण्डी जहाँ दो रीतियाँ ('प्रकार और 'मार्ग) स्वीकार करते हैं वहाँ वामन वैदर्भी और गौड़ीय के साथ-साथ तीसरी रीति- पांचाली भी मानते हैं ।

पांचाली रीति माधुर्य और सौकुमार्य से युक्त है । शेष दो रीतियों के लक्षण वामन के अनुसार निम्नानुसार हैं :

वैदर्भी : इस रीति में समस्त दस गुण विद्यमान होते हैं ।

गौड़ीय : इस रीति में केवल दो गुण- ओज और कांति होते हैं ।

आचार्य वमन के पश्चात् आचार्य रुद्रट ने रीतियों को समासयुक्त मानते हुए एक और चौथी रीति-लॉटीय को मान्यता दी है । रुद्रट का रीति निरूपण इस प्रकार है :

1. वैदर्भी - समास रहित 2. गौड़ी - दीर्घ समास

3. पांचाली - स्वल्प समास 4. लाटीय - मध्यम समास

इतना ही नहीं रुद्रट ने रीति को रसाश्रित भी किया है । उन्होंने वैदर्भी व पांचाली का सम्बन्ध करुण, भयानक तथा अद्भुत रस से और लाटीय व गौड़ीय रीति का सम्बन्ध रौद्र तथा यथोचित रसों से स्थिर किया है । आनन्दवर्धन रीति को संघटना से सखक्त करते हैं । संघटना से तात्पर्य है- वर्ण, वाक्यादि की काव्यात्मक प्रकृति ।

7.3.4 गुण का स्वरूप

वामन रीति को निरूपित करते हुए जब यह कहते हैं विशिष्ट पदरचना ही रीति है और इसमें यह विशिष्टता गुणों के करण आती है, तब यह जानना आवश्यक हो जाता है कि गुण क्या हैं? आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में सर्वप्रथम दस गुणों का उल्लेख किया है । ये दस गुण हैं- श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थव्याप्ति, उदारता और कांति । दण्डी भी इन्हीं दस गुणों को स्वीकार करते हैं । वामन ने भी ये ही दस गुण मान्य किये हैं :

(क) शब्द गुण

1. श्लेष : शब्दों की मसृणता अर्थात् अनेक पदों का एक पद के समान भासित होना ।

2. प्रसाद: ओज बन्ध की शिथिलता अर्थात् प्रसाद अर्थधारी पदों से जहाँ अनायास ही अर्थबोध हो ।-

3. समता : एकबन्धता अर्थात् जिस पदसे रचना का प्रारम्भ हो उसी बन्ध-से उसका समापन होना ।

4. समाधि : अर्थ की विशेषता अर्थात् काव्य के पदों में किसी अप्रस्तुत के धर्म का प्रस्तुत के अर्थ में आरोपण करना ।

5. माधुर्य : अनुद्वेजक पदावली अर्थात् यमक, अनुप्रासयुक्त पदावली और समास का अभाव ।

6. ओज : शब्दार्थ की उदात्तता अर्थात् जिसमें समास कम हों, उच्चारण और अर्थबोध में बाधा न हो-, पर संयुक्ताक्षर हों ।

7. सुकुमारता : अपरुष शब्द अर्थात् कठोर वर्णों का अभाव ।

8. अर्थव्याप्ति: रचना में ऐसे शब्दों का प्रयोग जिनसे शीघ्र अर्थबोध हो ।-

9. उदारता : उक्तियों का मनोहारी कथन ।

10. कांति: उज्ज्वलता अर्थात् पदों का ऐसा अर्थ विधान, जो लोक प्रसिद्ध अर्थ का परित्याग न करें और स्फुट चमत्कार से सबको चमत्कृत करे।

(ख) अर्थगुण-

1. श्लेष : अर्थ की ऋजुता का अभाव होना । (कुटिलता)

2. प्रसाद: अर्थ की परिशुद्धि या स्पष्टता ।

3. समता : अविषम बन्ध ।

4. समाधि . वक्तव्य अर्थ का दर्शन अर्थात् कवि या अन्य कवियों की मौलिक उद्भावना ।

5. माधुर्य : उक्ति की विचित्रता ।

6. ओज : प्रौढ़ युक्ति का विधान होना ।

7. सुकुमरता : कठोर वर्णो का अभाव

8. अर्थष्याप्ति : वस्तु की स्फुटता

9. उदारता : बन्ध की विकटता अर्थात् पदों का नृत्य करते प्रतीत होना ।

10. कांति : रस की दीप्ति होना ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वामन दस के स्थान पर बीस गुण मानते हैं । इनमें से दस शब्दगत हैं और दस अर्थगत । वामन मानते हैं कि गुण शब्दार्थ के नित्य धर्म हैं । इसीलिए दोनों के नाम वामन ने समान रखे हैं । पर नाम समान होने पर भी इनके लक्षण सर्वथा भिन्न हैं ।

वामन का रीति सिद्धान्त अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से इस अर्थ में भिन्न है कि इन्होंने सर्वप्रथम रीति को प्रदेशाभिधान्य से मुक्त रखा और काव्य पद्धति को प्रदेश सापेक्ष्य की अपेक्षा गुण सापेक्ष्य बनाया ।

7.3.5 रीति-सिद्धान्त का विस्तार

वामन द्वारा प्रवर्तित रीति सिद्धान्त और रीति को काव्य की आत्मा घोषित करने के बाद परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त की अपने-अपने ढंग से आलोचना की । पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि रुद्रट ने रीतियों की संख्या में वृद्धि करते हुए रीति को रसाश्रित मान्ना और आनन्दवर्धन ने इसे संघटना के रूप में स्वीकार किया । आनन्दवर्धन ने प्रथम बार गुण को रीति से मुक्त करने का प्रयास किया । आचार्य राजशेखर (दसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरण में) ने रीति का विवेचन विशुद्ध भाषिक संगठन के आधार पर किया । रीतियों की संख्या- वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली- तीन मानते हुए इनका सम्बन्ध दण्डी, भामह की भाँति प्रादेशिक मानते हैं । कुन्तक रीति को कवि मार्ग या कवि-स्वभाव के रूप में ग्रहण करते हैं । इनका कवि मार्ग- सुकुमार, मध्यम और विचित्र- तीन वर्गो में विभक्त है । सुकुमार में रस प्रवणता के साथ-साथ प्रसाद एवं माधुर्य गुणों का बाहुल्य होता है, मध्यम में इन दोनों गुणों के साथ-साथ रस और अलंकारों की प्रधानता होती

है तथा विचित्र में अलंकार व अर्थ रचना का चमत्कार होता है और यह वक्रता के स्वभाव से युक्त ओज गुण प्रधान होता है ।

आचार्य भोज रीति को कवि प्रणाली कहते हुए वामन की तीन रीतियों में तीन और- अवन्ती, मागधी, लाटीय जोड़कर रीति की संख्या छह तक पहुँचाते है । यद्यपि इसमें नया कुछ नहीं है । लाटीय की परिकल्पना रूद्रट कर चुके थे, मागधी का उल्लेख राजशेखर अपने नाटक कर्पूरमंजरी में कर चुके हैं तथा अवन्ती- 'आवतिका के नाम से आचार्य भरत की चार नाट्य

प्रवृत्तियों में से एक है । आचार्य मम्मट वर्णाधारित गुणों- प्रसाद, ओज, माधुर्य की चर्चा करते हुए तीन वृत्तियों-कोमला, परुषा और उपनागरिका का उल्लेख करते हैं और इन वृत्तियों में वैदर्भी, गौड़ी व पांचाली रीति का समावेश करते हैं । इनमें- कोमला प्रसाद गुण, परुषा ओज गुण तथा उपनागरिका माधुर्य गुण धारण करती है ।

7.3.6 पाश्चात्य काव्यशास्त्र और रीति

भारतीय संस्कृत काव्यशास्त्र की रीति, हिन्दी की शैली एवं पाश्चात्य काव्य की स्टाइल (style) का अर्थ लगभग एक-सा है । भारतीय काव्यशास्त्र में जिस प्रकार रीति पर गहन चिन्तन हुआ है, उसी प्रकार पाश्चात्य काव्यशास्त्र में 'स्टाइल' पर गहन विचार हुआ है । पाश्चात्य काव्यशास्त्र के आद्याचार्य प्लेटो स्वाभाविक और सरल, विचित्र एवं मिश्र ये तीन शैलियाँ मानते हैं । इनमें से प्लेटो ने मिश्रित शैली को सर्वोत्कृष्ट माना है, स्वाभाविक-सरल शैली को मध्यम तथा विचित्र शैली को निकृष्ट कोटि का माना है । प्लेटो कहते हैं कि परिष्कृत रुचि से ही जन तथा बच्चे विचित्र शैली को पसन्द करते हैं । अरस्तु शैली के दो प्रमुख गुण- स्पष्टता और विषय का औचित्य मानते हुए दो, प्रकार की शैलियाँ स्वीकार करते हैं- साहित्य शैली तथा विवाद शैली। विवाद शैली के दो उपभेद हैं-संसदीय तथा न्यायालयीन । अरस्तु शैली के चार प्रमुख दोषों की ओर भी संकेत करते हैं । ये दोष हैं- अधिक सामासिक पदों का प्रयोग, अप्रचलित शब्दों का प्रयोग, लम्बे, अनुचित एवं अधिक विशेषणों का प्रयोग तथा अनुपयुक्त रूपकों का प्रयोग।

सिसरो शैली के चार तत्त्वों को स्वीकार करते हैं- उचित शब्दों का चुनाव, स्पष्ट एवं मुहावरों से युक्त भाषा, चयनित शब्दावली द्वारा सामंजस्यपूर्ण रचना एवं कोमल शब्दों का प्रयोग । सिसरो ने शैलियों के दो प्रकार माने हैं- एटिक अर्थात्- सरल, सीधी अलंकार रहित तथा संयत और दूसरे, एशियाटिक शैली जिसमें अलंकारों की प्रधानता चमत्कारपूर्ण होती है । लोंजाइनस आत्मा की उदात्तता को काव्य की उत्कृष्ट शैली मानते हैं । इनके विचार आदर्शवाद से परिपूर्ण हैं । प्रख्यात साहित्यकार बेकन का शैली सम्बन्धी मत सर्वाधिक चर्चित और लोकप्रिय है । वे लिखते हैं- "style is the man himself) महान कवि गेटे के अनुसार- रचनाकार की अन्तरात्मा की छाप ही उसकी शैली है । लार्ड चैस्टरटन के अनुसार- शैली विचारों का परिधान है ।"

प्रसिद्ध दार्शनिक क्रोचे कहता है कि- कलाकार शैली के द्वारा विषय को प्रस्तुत नहीं करता, अपितु विषय ही शैली के रूप में अवतरित होता है । मैथ्यू अर्नाल्ड भी लोंजाइनस की भाँति उदात्त शैली को महत्त्व प्रदान करते हैं पर साथ ही वे काव्य-विषय की उदात्तता को भी महत्त्व प्रदान करते हैं । वर्ड्सवर्थ काव्य की सबसे अच्छी शैली उसे मानते हैं जो जनसाधारण के निकट हो । ऐसी शैली में उन्होंने आडम्बरयुक्त भाषा को त्याज्य माना है । वर्ड्सवर्थ का मत है कि सहज जन-भाषा ग्राम्य-जन के पास होती है । अत: काव्य से इस भाषा को बहिष्कृत नहीं करना चाहिए । आई.ए. रिचर्ड्स का मत है कि कोई भी शब्द स्वयं में सुन्दर और असुन्दर नहीं होता है । इसकी प्रभविष्णुता परिस्थितियों के अनुसार ग्रहण अथवा अग्रहणशील रुचि अथवा अरुचिशील तथा सुन्दर अथवा असुन्दर बनती रहती है ।

7.4 औचित्य-सिद्धान्त (औचित्य सम्प्रदाय)

7.4.1 'औचित्य' शब्द का तात्पर्य

साहित्यकार साहित्य या काव्य का सृजन करता है और सर्वथा नवीन भाव-भूमि की सृष्टि करता है । काव्य तभी रमणीक, रुचिकर और आकर्षक बनता है, जब वह हर दृष्टि से दोष रहित हो । यह काव्य औचित्य तत्त्व करता है । काव्य में शास्त्रीय आधार पर पाँच सिद्धान्त या सम्प्रदाय रस, अलंकार, रीति, ध्वनि एवं वक्रोक्ति के साथ छठा सिद्धान्त औचित्य माना गया। संस्कृत काव्यशास्त्र में इसका गहन विवेचन हुआ है । काव्य में रस, अलंकार, शब्द, पदबंध आदि का प्रयोग कर्ता के द्वारा किया जाता है । इन सबका उचित रूप से प्रयोग ही एवं उचित स्थान पर प्रयोग ही औचित्य सिद्धान्त का मूल है । काव्य के प्रत्येक पात्र, शब्द, पद, रीति, वृत्ति, गुण, वर्ण, लिंग, वचन, कारक वाक्य, रस, भाव, अलंकार, प्रबन्ध तथा विषय आदि में औचित्य का ध्यान रखा जाना अत्यावश्यक है । कवि को अपने काव्य में इनके उचित प्रयोग करने पर ध्यान केन्द्रित करना ही चाहिए । औचित्य का यही अभिप्राय काव्य-सम्प्रदायों के अन्तर्गत औचित्य सम्प्रदाय कहलाया । यद्यपि प्रत्येक रचनाकार अपनी रचना में उचित का ध्यान रखता ही है । कोई कवि अपने काव्य में इस प्रकार का वर्णन नहीं करेगा कि पात्र ने काजल दाँतों में लगाया अथवा ताम्बूल मुख के स्थान पर नासिका-छिद्रों में रखा (यहाँ हास्य रस तथा विदूषकों की क्रियाएँ अपवाद स्वरूप हैं) । किस वस्तु का स्थान कहीं है- यह सुकवि भली भाँति समझता है । इसीलिए रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि सम्प्रदायों की भांति औचित्य सम्प्रदाय लोकाप्रेय न हो सका ।

7.4.2 औचित्य सम्प्रदाय का उद्भव और विकास

नाट्यशास्त्रकार आचार्य भरतमुनि से लेकर भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, आनन्दवर्धन महिमभट्ट आदि संस्कृत के प्राय: सभी काव्यशास्त्री ने औचित्य के महत्त्व को स्वीकार किया है । लगभग नौवीं शताब्दी के काव्यशास्त्री आनन्दवर्धन ने रस का मूल रहस्य औचित्य को ही स्वीकार किया है:

अनौचित्यात्रृते नान्यद रस भंगस्य कारणम् ।
प्रसिद्धोचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषतपरा ।। (ध्वन्यालोक 3/15 वृत्ति)

उक्त श्लोक में आनन्दवर्धन औचित्य को रस का परम रहस्य ही स्वीकार नहीं करते, अपितु अनौचित्य को रस भंग का कारण भी मानते हैं ।

औचित्य सिद्धान्त की चर्चा यद्यपि पूर्व से चली आ रही थी, पर लगभग 11 वीं शताब्दी ईसा के अंत में हुए आचार्य क्षेमेन्द्र को इस सम्प्रदाय को काव्य में प्रतिष्ठित करने का श्रेय प्राप्त है । अपने ग्रंथ 'औचित्य विचार चर्चा" में आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपनी औचित्य सम्बन्धी मान्यताओं की स्थापना की है । आचार्य क्षेमेन्द्र लिखते हैं कि 'अलंकार बाह्य शोभादायक तत्त्व है, अत: अलंकार अलंकार है, अलंकार्य नहीं । इसी प्रकार सत्य शीलादि की भाँति गुण गुण है । परन्तु रस सिद्ध कार्य की आत्मा तो औचित्य ही है":

अलंकारास्ललकारा गुणा एवं गुणा: सदा ।

औचित्य रससिद्धस्य स्थिर कावस्य जीवितम् ।। (औचित्य विचार चर्चा 5)

अपने कथन को और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य क्षेमेन्द्र लिखते हैं देह की शोभावृद्धि करने के कारण ही अलंकार में अलंकारत्व है । यदि उसमें अंगों की शोभा बढ़ाने की क्षमता नहीं है तो वह कितना भी सुन्दर क्यों न हो, अलंकार नहीं कहला सकता । स्वर्ण निर्मित हार की सार्थकता तभी है, जब वह सुन्दरी के वक्षस्थल पर रहे । यदि यह हार उसके नितम्बों पर लटकाया जाए तो वह हार की उपयोगिता को ही समाप्त कर देगा । इतना ही नहीं यह कृत्य हार पहनने वाली ललना के अल्हड़पन को भी व्यक्त करेगा और उसे हँसी का पात्र बना देगा । इसी प्रकार जब काव्य में काव्य के विविध अवयवों रस, अलंकार, रीति, गुण आदि का उचित ढंग से या औचित्यपूर्ण प्रयोग किया जाता है, तभी उनकी सार्थकता है, तभी वे शोभा दायक बनते हैं अन्यथा नहीं । आचार्य क्षेमेन्द्र उदाहरण देते हुए अपने सिद्धान्त को और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि कोई सुन्दरी यदि अपने गले में मेखला (करधनी), नितम्बों पर हार, हाथों में खर और चरणों में केयूर (बाजूबन्द) धारण करे तो वह उपहास की पात्र होगी । ठीक इसी प्रकार काव्य में यदि कोई शरणागत पर अपना शौर्य प्रदर्शित करे और शत्रु पर करुणा प्रदर्शित करे तो ऐसे कृत्य की हँसी ही उड़ाई जाएगी । इसीलिए औचित्य भाव के अभाव में अलंकार वैचित्र उत्पन्न नहीं कर सकते और न ही गुण सौन्दर्य वृद्धि कर सकते हैं:

उचित स्थान विन्यासादलंकृतिरलकृति ।
औचित्यादत्युता नित्यं भवत्त्वेव गुणा-गुणा: ।।
कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा ।
पाणौ ग्ररबन्धनेन चरणे केयूर-पाशेन वा ।।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया तायान्ति के हास्यताम् ।
औचित्यैन बिना रुचि प्रतनुते नालकृतिलौगुणा । (औचित्य विचार चर्चा 6)

इसी क्रम में अपने अगले श्लोक में आचार्य क्षेमेन्द्र कहते हैं कि औचित्य की सीमा विस्तृत है । यह विस्तार इसलिए है कि प्रत्येक तत्त्व जो जिसके अनुरूप है, उसी स्थान पर उसका प्रयोग करना औचित्य पूर्ण है । उचित का यही भाव औचित्य है :

उचित प्राहुराचार्या: सदृशं किल यस्य यत् ।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ।। (औचित्य विचार चर्चा 7)

पूर्व में कथन किया जा चुका है कि आनन्दवर्धन ने औचित्य विषयक विचार का प्रतिपादन किया था, जिसे अभिनवगुप्त ने पुष्ट किया और क्षेमेन्द्र ने एक सम्प्रदाय के रूप में इसकी स्थापना की । क्षेमेन्द्र ने आनन्दवर्धन के मात्र औचित्य सम्बन्धी विचार को विस्तार दिया। इस विस्तार में पात्र, शब्द, पद, वृत्ति, वर्ण, रीति, गुण, लिंग, वचन, कारक, वाक्य, रस, भाव, अलंकार, प्रबन्ध विषय आदि सबका समाहार हो जाता है । औचित्य सिद्धान्त के विचारक आनन्दवर्धन, पुष्टिकर्ता अभिनवगुप्त तथा प्रतिष्ठापक क्षेमेन्द्र- तीनों ही रस की सत्ता में आस्था रखते हैं । पर इस आस्था में हल्का-सा भेद है । आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त रस-ध्वनि' को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हैं, जबकि क्षेमेन्द्र ध्वनि को मान्यता न देकर केवल रस को महत्त्व प्रदान करते हैं । क्षेमेन्द्र रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुए भी औचित्य को रस सिद्ध काव्य का प्राण घोषित करते हैं :

औचित्सरूस चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे ।
रसजीवितभूतस्य विचार कुरुतेऽधुना ।। (औचित्य विचार चर्चा 3)

आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य के 27 भेद किये हैं । ये भेद हैं- पद, वाक्य, प्रबन्ध, गुण, अलंकार, रस, किया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, देश, काल, कुल, व्रत, तत्व, सत्य, अभिप्राय, सारसंग्रह, स्वभाव, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम, आशीर्वचन । क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रंथ- 'औचित्य विचार चर्चा में इन भेदों का लक्षणों तथा उदाहरणों सहित विवेचन किया है। आचार्य क्षेमेन्द्र की दृष्टि में औचित्य के असंख्य भेद हैं, पर विस्तार भय से वे उनका उल्लेख नहीं करते ।

औचित्य सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा वर्णित औचित्य के 27 भेदों पर यदि सूक्ष्म दृष्टिपात करें तो विदित होता है कि इनमें तीन प्रकार के तत्त्व समाहित हैं- भाषा या व्याकरणिक, काव्यशास्त्रीय तथा वर्ण्य सम्बन्धी । इन तीनों आधारों के अन्तर्गत उपर्युक्त भेदों को निम्नानुसार रखा जा सकता है :

1. भाषा या व्याकरण से सम्बन्धित	पद वाक्य, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात एवं काल ।
2. काव्यशास्त्र से सम्बन्धित	प्रबन्ध, गुण, अलंकार, रस, नाम तथा अभिप्राय । इनमें नाम परिकर अलंकार तथा 'अभिप्राय' व्यंग्यार्थ का पर्याय है ।
3. वर्ण्य सम्बन्धी	देश, कुल, व्रत, तत्त्व, सत्य, स्वभाव, सारसंग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार एवं आशीर्वचन ।

आचार्य प्रवर ने उपर्युक्त तत्त्वों के द्वारा यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि काव्य तभी सुन्दर बनता है, जब इनका औचित्यपूर्ण प्रयोग हो । काव्य के प्रमुख अंग रस और अलंकार भी अपना-अपना नाम तभी सार्थक कर पाते हैं जब इनका काव्य में औचित्यपूर्ण प्रयोग हो । ठीक इसी प्रकार गुण भी वही है जो औचित्य से सम्पन्न हसे ।

अर्थ (वर्ण्य-विषय) के औचित्य के अनुरूप अलंकार-प्रयोग के द्वारा कवि का मनोरम कथ्य ऐसे शोभित हो उठता है, जैसे कोई सुन्दरी पीन स्तन पर हार धारण करने से शोभित हो उठती है:

अर्थौ चित्यवता सूक्तिरलंकारेण शोभते ।
पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा ।।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने रस के औचित्य के सम्बन्ध में दो बातें कही हैं:

1. मधुमास-बसन्त का आगमन जिस प्रकार अशोक को प्रफुल्ल कर देता है, उसी प्रकार रस के औचित्य पूर्ण प्रयोग से सहृदयों के हृदय आनन्दित हो जाते हैं ।
2. जब श्रृंगार आदि रसों का कुशलतापूर्वक संयोजन किया जाता है तब यह अपूर्व आनन्ददायी आस्वाद उत्पन्न करता है । यह आस्वाद वैसा ही होता है जिस प्रकार मधुर, तिक्त आदि

लौकिक रसों को उचित मात्रा में मिलाने से प्राप्त होता है । यदि इनके मिश्रण में औचित्य का ध्यान न रखा गया तो यह विकर्षण उत्पन्न करने का कारण बन जाता है ।

रसों के सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र ने जो बात कही है, वहीं अलंकारों के सम्बन्ध में भी उन्होंने दोहराई है और गुणों के सम्बन्ध में भी । वे कहते हैं कि 'अलंकार धारण करने वाले के शरीरी होने पर ही अलंकार का महत्त्व है । मृत शरीर को अलंकारों से सजाने पर वह औचित्य पूर्ण नहीं होता, अपितु अरुचि उत्पन्न करता है । अलंकार्य के अस्तित्व में भी औचित्य ही अलंकार का शोभादायक होता है । सन्यासी यदि अलंकार धारण करेगा तो उसकी स्थिति हास्यास्पद ही होगी ।'इससे सिद्ध है कि औचित्य अलंकारत्व का विधायक है, अत: रस के प्रतिकूल अलंकारों का प्रयोग नहीं होना चाहिए । उदाहरणार्थ- श्रृंगार अत्यन्त कोमल रस है, इसीलिए इसमें कोमल वर्णों से संवलित अनुप्रासों के प्रयोग से श्रृंगार का परिपाक होगा । परन्तु इसके विपरीत श्रृंगार में यदि कठोर वर्णो से युक्त अनुप्रास का प्रयोग किया जाये तो इससे रस का उद्रेक न होने के कारण यह प्रयोग औचित्यपूर्ण नहीं होगा । निम्नलिखित पद्यांश में भूषण कवि ने वीर रस के प्रसंग में अनुप्रास अलंकार का औचित्यपूर्ण प्रयोग किया है । इस पद्यांश में कवि ने बुन्देलखण्ड के प्रतापी महाराज छत्रसाल की तलवार के शौर्य का वर्णन किया है:

लाल छितिपाल छत्रसाल महाबाहु बली,
कहाँ लौ बखान करौं तेरी करताल को ।
प्रतिभट कटक कटीले केते काटि-काटि,
कालिका सी किलक कलेऊ देती काल को ।।

प्रस्तुत पद्यांश में 'ल' यद्यपि कोमल वर्ण है, तथापि कठोर वर्णो के साथ अनुप्रास में प्रयुक्त होने पर वह औचित्यपूर्ण बन गया ।

क्षेमेन्द्र औचित्य के 27 भेदों में पद और वाक्य आदि का उल्लेख भी करते हैं । आनन्दवर्धन ने भी यही कहा है कि- भाषा के भिन्न-भिन्न अंगों, यथा- सुबन्त (विभक्ति), तिडन्त (क्रिया रूप), वचन, कारक, तद्धित, कृदन्त, समास, निपात, उपसर्ग, काल आदि के औचित्य पूर्ण प्रयोग के द्वारा रस-परिपाक हो सकता है (ध्वन्यालोक 3- 16 वृत्ति) । आनन्दवर्धन ने संघटना या रीति के साथ प्रतिपादित औचित्य के सम्बन्ध को महत्वपूर्ण माना है । आनन्दवर्धन के अनुसार- पद रचना सम्यक् होने से अर्थात् औचित्यपूर्ण होने से रस के अनुकूल होती है, तब यह "संघटना" कहलाती है । संघटना में अपूर्व सौंदर्य की वृद्धि तभी हो सकती है, जब वक्तौचित्य, वाव्यौचित्य और विषयौचित्य में एकान्विति हो । यहाँ वक्तौचित्य से तात्पर्य है- कवि या कवि निबद्ध काव्य आदि का पात्र । वाच्यौचित्य से आशय है- विषय का प्रतिपादन और विषयौचित्य से आशय है- काव्य के प्रभेद । काव्य के प्रभेदों में खण्डकाव्य, दृश्यकाव्य, आख्यानक, मुक्तक, युग्मक, सकल कथा, विशेषक आदि का समावेश है । तात्पर्य यह कि संघटना के साथ औचित्य निर्वहन का उल्लेख आनन्दवर्धन ने किया था और संघटना अथवा रीति का नियंत्रण औचित्य तत्त्व के द्वारा किया था । सीधे और सरल शब्दों में आनन्दवर्धन का संगठना से तात्पर्य है- असमासा मध्य समासा तथा दीर्घ समासा रचना । संघटना का औचित्य पूर्ण प्रयोग इसमें है कि वह माधुर्यादि गुणों के आश्रित रहकर रस की अभिव्यक्ति

में सहायक बने । इसका प्रयोग वक्ता, वाच, विषय और रस के औचित्य को दृष्टिगत रखकर अपना श्रेयस्कर होता है ।

7.4.3 औचित्य, काव्य की आत्मा

"औचित्य रससिद्धस्य स्थिर कावस्य जीवितम्" - कहकर क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य का जीवित अर्थात् आत्मा घोषित किया है । यहाँ यह सहज प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या औचित्य को काव्य की आत्मा मानना संगत है? इस आधार पर औचित्य सिद्धान्त को एक काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय के रूप में स्वीकार किया जा सकता है? इस सम्बन्ध में उपलब्ध काव्यशास्त्रीय विवेचनों के निष्कर्ष और विद्वानों के अभिमतों का सारांश यह है स्थिय औचित्य सिद्धान्त कोई पृथक् सिद्धान्त नहीं है । यह तो काव्य के अंगों को परिष्कृत एवं उपादेय बनाने का केवल हेतु है । क्षेमेन्द्र ने जिन 27 भेदों की चर्चा औचित्य के संदर्भ में की है, उन सभी के सम्बन्ध में उनका मानना है कि इनका प्रयोग काव्य में उचित रूप में होना चाहिए तभी काव्यांगों का प्रस्तुतीकरण सौंदर्य प्राप्त कर सकता है । अत: क्षेमेन्द्र के जीवित शब्द का अर्थ किसी काव्यांग को उपदेयमूलक बनाने से है, न कि काव्य की आत्मा से । अत: औचित्य को काव्य की आत्मा नहीं कहा जा सकता ।

7.4.4 पाश्चात्य काव्यशास्त्र और औचित्य

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी औचित्य तत्त्व पर पर्याप्त चिंतन किया गया है । पाश्चात्य काव्यशास्त्र में औचित्य काव्य का बाह्य सौंदर्य के उपकरण के रूप में ग्रहण किया गया है, जबकि भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा में यह काव्य का आंतरिक तत्त्व है । अरसा की दृष्टि में गद्य को अलंकृत करने का मुख्य साधन फपक' का प्रयोग है । औचित्य से युक्त रूपक गद्य का अलंकार है, पर औचित्य से संवलित यदि रूपक नहीं है, तो वह गद्य अनलंकृत है । अरस्तु का मत है कि औचित्य काव्य रचना का एक महान तत्त्व है । औचित्य के आश्रय से रचना प्रभावशाली उत्तेजक तो। और समर्थ होती है । लोंजाइनस न अपने ग्रंथ- "on the sublime" में औचित्य तत्त्व को व्याख्यायित करते हु ए लिखा है । कि - शब्दौचित्य के विधान से काव्य को सोंदर्य-शक्ति प्रापा होती है तथा उसे प्रभाव, महत्त्व एवं भव्यता प्राप्त होती है। होरेस ने भी औचित्य के महत्त्व को स्वीकार किया है । इनका मत है कि कवियों को औचित्य का संरक्षण करना चाहिए।

7.5 सारांश

भारतीय काव्यशास्त्र की मान्यताओं का आधार शब्द, अर्थ और भाव गत रहा है । शब्द मतवादियों की दृष्टि में काव्य का मूल धर्म, भाषा के माधुर्य से युक्त रचना है । आचार्य वामन ने इस धारणा का विकास रीति-सिद्धान्त के रूप में किया । आचार्य भरत, भामह और दण्डी ने रीति के जिस स्वरूप को प्रादेशिकता से जोड़कर विवेचित किया, वामन ने इसमें गुणों की प्राण प्रतिष्ठा की । जब आचार्य वामन रीति को काव्य की आत्मा घोषित करते हैं, तब इसका तात्पर्य ही यह है, रीति तत्त्व काव्य की भाषा को समृद्ध करे और जीवन्त बनाए । काव्य की

भाषा के इस बाह्य तत्त्व, रीति के महत्त्व को, वामन के पश्चात्वर्ती आचार्यो ने भी न्यूनाधिक संशोधनों सहित स्वीकार किया है । आचार्य रुद्रट रीति को भाषा का प्रौढ़, मधुर, परुष एवं ललित स्वभाव कहते हैं और मम्मट ने इसे वृत्तियों के रूप में मधुर, परुष तथा कोमला का नाम दिया है । आनन्दवर्धन और .भोज की दृष्टि में रीति क्रमश: शब्द संघटना तथा योगवृत्तादि से समाविष्ट है ।

काव्य-रचना में काव्य की भाषा का स्वरूप क्या और कैसा हो, इस प्रश्न पर विचार किया जाना आवश्यक है और काव्याचार्यो द्वारा किया भी गया है । क्योंकि काव्य-रस या काव्यात्मा तक समृद्ध भाषा के द्वारा ही पहुँचा जा सकता है । रीति को गुणों से सम्पृक्त करने से वामन का आशय यही था कि काव्य भाषा गुणों के योग से समृद्ध होकर रस को उपकृत करे । भाव-भाषा का संगठन या अर्थ-शब्द का संगठन ही रस प्राप्ति का सफल माध्यम हो सकता है । भावानुकूल और विषयानुकूल काव्य भाषा की रचना काव्य में चमत्कार हेतु अपना अलग ही महत्त्व रखती है । यही व्यापक भाषा-प्रभाव क्षेत्र की कवि मार्ग या रीति है । यह बात अलग है कि वामन के पश्चात्वर्ती रस-मीमांसकों द्वारा इस भाषायी संगठन और उसकी संरचना के सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया गया ।

पश्चात्वर्ती विचारकों के मतों के अध्ययन से तथा भारतीय काव्यशास्त्रियों के रीति विषयक मतों के अध्ययन से एक तथ्य स्पष्ट है कि रीति और शैली (style) में कहीं कोई विशेष अन्तर और मतभेद नहीं है । दोनों काव्यशास्त्रों के अनुशीलन से निष्कर्षत: यह कथन किया जा सकता है कि रीति अथवा शैली ऐसी संतुलित शब्द योजना है जिसका प्रयोग विषय के अनुकूल करने पर ही सुन्दर होता है । श्रृंगार, करुण और वात्सल्य जैसे कोमल रसों में निबद्ध भावों की अभिव्यंजना में यदि ट वर्ग जैसे कदुवर्ण घोष और संयुक्त वर्ण तथा दीर्घ समासों का प्रयोग यदि किया जाएगा तो रस-प्रतीति और अर्थ-प्रतीति में बाधा उत्पन्न होगी तथा वांछित प्रभाव ही नष्ट हो जाएगा । इसीलिए वर्ण्य-विषय के अनुरूप और अनुकूल वर्ण और पद-रचना की योजना अत्यन्त आवश्यक है । इतना ही नहीं, style is the man himself ds अनुसार, शैली रचनाकर के व्यक्तित्व की द्योतक होती है । भारतीय एवं पाश्चात्य मूल्यांकन को विश्लेषित करने के पश्चात् रीति और शैली के तीन प्रमुख तत्त्व उभरकर सामने आते हैं- उचित शब्द चयन, विषय के अनुकूल पद-बंध एवं स्पष्टता । भारतीय रीति एवं पाश्चात्य शैली का सम्पूर्ण दर्शन इन्हीं में निहित है ।

ध्वनि सम्प्रदायवादी ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हैं किन्तु आधुनिक काव्यशास्त्री ध्वनि सिद्धान्त को रस सिद्धान्त के अन्तर्गत ही स्वीकार करते हैं । कुंतक भी वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा (वक्रोक्ति काव्यं जीवित) मानते हैं । वे कहते हैं कि अर्लका रूपिणी वक्रोक्ति ही काव्य का प्राण है । वक्रोक्ति का मुख्य तात्पर्य यही है कि काव्य प्रधानत: कला है, अनुभूति नहीं । यह अनुभूति नहीं है । इसकी रचना के लिए कवि शब्दार्थ की अनेक शक्तियों का प्रयोग करता है । काव्य की निधि रस है, परन्तु काव्य का प्राण वक्रता ही है ।

औचित्य सिद्धान्त के विश्लेषण से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त की कल्पना रस सिद्धान्त के परिवेश में ही की गयी है । अत: यह स्वतन्त्र सिद्धान्त न होकर रस का ही अंग है और औचित्य सिद्धान्त की सार्थकता रस की परिधि में ही सम्भव है । आचार्य क्षेमेन्द्र

ने दो ग्रंथों का प्रणयन किया- 'औचित्य विचार चर्चा तथा कवि कंठाभरण' । क्षेमेन्द्र के पूर्व औचित्य मत की मान्यताओं का अनेक काव्यशास्त्रियों ने समय-समय पर अपने काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में उल्लेख किया है । इस समय तक कवि शिक्षा भी सम्प्रदाय के रूप में पल्लवित हो रहा था । अत: यह निष्कर्ष निकालना अधिक कठिन नहीं है कि काव्य के व्यावहारिक पक्ष को ध्यान में रखकर अर्थात् काव्य शिक्षा को ध्यान में रखकर उन्होंने औचित्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया हो । इनके समय तक कवि शिक्षा और औचित्य की जो परिपाटियाँ प्रचलित थीं, उन दोनों व्यावहारिक मान्यताओं को प्रकाश में लाकर और गहन चिंतन कर क्षेमेन्द्र ने लगभग मौलिक कार्य किया और काव्य-रचना के क्षेत्र में चली आ रही विचारधारा को स्वतन्त्र मार्ग प्रदान किया ।

7.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. अलंकार सिद्धान्त का परिचय देते हुए काव्य में इसके महत्त्व पर प्रकाश डालिए ।
2. अलंकारों के वर्गीकरण को स्पष्ट कीजिए ।
3. अलंकार और अलंकार्य का सम्बन्ध निरूपण कीजिए ।
4. रीति सम्प्रदाय की स्थापनाओं पर विचार कीजिए ।
5. 'रीतिरात्मा काव्यस्य' की समीक्षा कीजिए ।
6. रीति एवं के पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन करते हुए बताइए कि क्या रीति है?
7. औचित्य सिद्धान्त की विवेचना कीजिए ।
8. 'औचित्य सिद्धान्त रस, अलंकार, रीति, ध्वनि आदि सिद्धान्तों का समन्वय मात्र है ।' इस कथन की व्याख्या कीजिए ।
9. औचित्य के संदर्भ में भारतीय एवं पाश्चात्य मान्यताओं को स्पष्ट कीजिए ।
10. टिप्पणियाँ लिखिए :
    क. हिन्दी के काव्याचार्य और अलंकार-विवेचन
    ख. पाश्चात्य काव्यशास्त्र और रीति
    ग. औचित्य के भेद

7.7 संदर्भ ग्रंथ

1. डॉ. सत्यदेव चौधरी - भारतीय काव्यशास्त्र, अलंकार प्रकाशन, दिल्ली, 1971
2. डॉ. नगेन्द्र - रीतिकाव्य की भूमिका, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दरियागंज, दिल्ली, 1977
3. डॉ. नगेन्द्र - भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस दरियागंज, दिल्ली, 1965
4. डॉ. विष्णुदत्त राकेश - रीति और शैली, साहित्य भवन, इलाहाबाद, 1989
5. डॉ. राम अवध द्विवेदी - साहित्य सिद्धान्त, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, 2000
6. डॉ. शोभाकान्त मिश्र - भारतीय काव्य-चिन्तन, अनुपम प्रकाशन, पटना, 2001
7. बाबू गुलाबराय - सिद्धान्त और अध्ययन, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, 2004

8. डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त - भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्त लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद. 2001
9. डॉ. करुणाशकर उपाध्याय - पाश्चात्य काव्य-चिन्तन, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2003

इकाई -8 भारतीय काव्यशास्त्र के प्रमुख सम्प्रदाय-III: ध्वनि व वक्रोक्ति

ध्वनि सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

8.1 उद्देश्य

8.2 प्रस्तावना

8.3 ध्वनि: परिभाषा और स्वरूप

8.4 ध्वनि और शब्द शक्तियाँ

8.5 ध्वनि और रस

8.6 ध्वनि और कल्पना

8.7 ध्वनि और कल्पना का सम्बन्ध

8.8 वक्रोक्ति : परिभाषा और स्वरूप

8.9 वक्रोक्ति के भेद

8.10 सारांश

8.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

8.12 सन्दर्भ ग्रन्थ

8.1 उद्धेश्य

एम. ए. पूर्वार्द्ध की इस इकाई में आप ध्वनि व वक्रोक्ति सिद्धान्त का अध्ययन करेंगे । इस इकाई के अध्ययन के बाद आप.

- ध्वनि व वक्रोक्ति के स्वरूप एवं परिभाषा को जान सकेंगे ।
- इस इकाई में आप ध्वनि और शब्द शक्ति, ध्वनि और रस, ध्वनि और कल्पना में सामंजस्य व भेद को जान सकेंगे
- वक्रोक्ति के भेद को समझ सकेंगे ।
- भारतीय काव्य शास्त्र में ध्वनि व वक्रोक्ति की महत्ता से परिचित हो सकेंगे ।,

8.2 प्रस्तावना

सामान्यत: कानों को सुनाई पड़ने वाले नाद को ध्वनि कहा जाता है । पारिभाषिक शब्द के रूप में ध्वनि के आचार्यो ने उसका व्यवहार कई अर्थो में किया है । इन विभिन्न विद्वानों के अनुसार ध्वनि शब्द का प्रयोग निम्नलिखित रूपों में हो सकता है - (1) वह व्यंजक शब्द जो ध्वनित करे या कराए । (2) वह व्यंजक अर्थ को ध्वनित करे या कराए । (3) वह (अर्थात रस वस्तु और अलंकार) जिसकी व्यंजना कराई जाए । (4) वह काव्य जिसमें रस, वस्तु और

अलंकार ध्वनित होते हैं । अत: ध्वनि शब्द व्यंजक शब्द, व्यंजक अर्थ व्यंजना व्यापार तथा व्यंग्य-काव्य के अर्थों में प्रयुक्त होता है ।

काव्य-सिद्धान्त के रूप में ध्वनि शब्द का पहले पहले प्रयोग "ध्वन्यालोक" ग्रन्थ में मिलता है । इस गन्ध की रचना लगभग 875 ई. या उसके कुछ बाद हुई थी । "ध्वन्यालोक" में ध्वनि की परिभाषा इस प्रकार दी गई है "जहाँ अर्थ अपने को अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके उसके प्रतीयमान को अभिव्यक्त करते हैं उस काव्य विशेष को विद्वान लोग ध्वनि कहते हैं" -

"यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थ श्रुप सर्जनीकृतवार्थो
व्यक्त: काव्य विशेष: स ध्वनिरिति सूरिभि कथित: ।"

वैसे तो किसी भी शब्द अथवा काव्य से कोई न कोई व्यंग्यार्थ निकल ही सकता है, किन्तु प्रत्येक व्यंग्यार्थ को काव्य नहीं कहा जा सकता । काव्य तो वह है जिसमें चमत्कारी व्यंग्य हो ।

भारतीय साहित्य-शास्त्र की परम्परा में आनन्दवर्द्धन का ठीक वही महत्व है जो ग्रीक साहित्य-शास्त्र में लौंजाइनस का । स्कार्ट जेम्स के शब्दों में लौंजाइनस यूरोप का प्रथम रोमांटिक आलोचक था तो आनन्दवर्द्धन भी भारत का प्रथम रोमांटिक आलोचक था ।

इस बात का निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ध्वनिवादी ने काव्य के चरमसौंदर्य ध्वनि की जो कल्पना की उस पर शैव वेदांतियों का प्रभाव था - जिसमें कहा गया है कि यह सारा दृश्यवान् जगत् वास्तविक होकर भी मूलशक्ति का ही आभास देता है । इस दृष्टि से जगत् के बहिपदार्थो का इतना महत्व नहीं जितना अन्तश्भाव का ।

आनन्दवर्द्धन के पूर्व काव्यालोचन, काव्य कृति के बाह्य उपकरणों के सौंदर्य तक ही सीमित था । अलंकारवादी आचार्यो ने केवल काव्य की परख बाह्य तत्वों के आधार पर ही की । यद्यपि वामन के समय तक ध्वनिवाद का सिद्धान्त जन्म ले चुका था, तथापि वामन ने इसका संकेत नहीं किया । डॉ. भोलाशंकर व्यास ने इन दोनों का सम-सामयिक माना है ।

"ध्वन्यालोक ' के लेखक आनन्दवर्द्धन उन महान् आलोचकों की श्रेणी में आते हैं जिन्हें T.S. Eliot ने क्रान्तिदर्शी आलोचक कहा था । आनन्दवर्द्धन के ध्वनिवादी सिद्धान्त में अलंकार, गुण तथा रीति का समाहार इस बात की पुष्टि करता है कि ध्वनिवाद पुराने सिद्धान्तों का Readjustment FKK Revolution नहीं ।

काव्य की आत्मा ध्वनि है । इस सिद्धान्त को लेकर चलने वाला सिद्धान्त ध्वनि सिद्धान्त कहलाया । ध्वनि सिद्धान्त को सबसे पहले प्रकाश में लाने वाले आनन्दवर्द्धनाचार्य हैं । ध्वनि का सिद्धान्त वैयाकरणों के स्फोटवाद के सिद्धान्त पर टिका हुआ है । ध्वन्यालोक में इसी मत का स्पष्ट उल्लेख है । प्राचीन वैयाकरणों का कथन था कि कानों तक पहुँचने वाली ध्वनियाँ शीघ्र नष्ट हो जाती हैं । अत: अनेक ध्वनियों के समूह से बने हुए दाक्यों से अर्थ का बोध कैसे होता है - जब तक पूरे शब्द अथवा वाक्य बने तब तक उनकी विभिन्न ध्वनियों के स्वरूप की स्मृति नष्ट हो जाती है । कमल कहने में "क" की ध्वनि नष्ट होने पर "म" की ध्वनि आती है फिर "ऊं" "म" के नष्ट होने पर आता है तब कमल बनता है । कुछ विद्वानों ने यह

तर्क दिया है कि "अमल" में भी "म" "ल" है फिर "अमल" हम क्यों नहीं बोलते? कमल को एक साथ भी नहीं बोला जा सकता । एक क्षण में तीनों ध्वनियों की एक साथ उपस्थिति संभव नहीं जान पड़ती है ।

वक्रोक्ति सिद्धान्त का प्रचलन ध्वनि सिद्धान्त के समय से ही प्रारम्भ हो गया था । इस सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्तक हैं । इन्होंने अपने ढंग से वक्रोक्ति की व्याख्या की और बताया कि काव्य की आत्मा वक्रोक्ति है । ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आनन्दवर्द्धन ने अपने से पहले के सभी आचार्यो द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का समाहार ध्वनि सिद्धान्त के अन्तर्गत किया और कहा कि ये सभी सिद्धान्त ध्वनि के अन्तर्गत आते हैं । आनन्दवर्द्धन द्वारा दिखाये गये इस मार्ग पर भी संस्कृत के आचार्य चलने लगे और उन्होंने यह स्वीकार कर लिया कि सभी के मूल में आनन्दवर्द्धन का ध्वनि-सिद्धान्त द्वारा प्रतिपादित ध्वनि-सिद्धान्त का विरोध किया और उन्होंने अपने वक्रोक्ति सिद्धान्त की स्थापना की और यहाँ तक कह डाला कि वक्रोक्ति ही काव्य का प्राण है ।" वक्रोक्ति काव्य जीवितन्" कह कर आचार्य की वाणी ने सबको अपने पक्ष में कर लिया ।

यद्यपि वक्रोक्ति भारत में प्राचीनकाल से ही चली आ रही है और सही रूप में तो नहीं किन्तु किसी न किसी रूप में इसका प्रचार रहा ही है । कुन्तक ने इसे व्यापकत्व प्रदान करके महत्वपूर्ण काव्य-सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया है ।

8.3 ध्वनि: परिभाषा और स्वरूप

भारतीय काव्य शास्त्र में ध्वनि का विशेष महत्व है । ध्वनि सम्बन्धी सबसे 'प्राचीन ग्रन्थ आनन्दवर्द्धन का "ध्वन्यालोक" है । आनन्दवर्द्धन ने लिखा है कि काव्य की आत्मा ध्वनि है और ध्वनि का सम्बन्ध व्यंजना से है । जहाँ अर्थ स्वयं तथा अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके प्रतीयमान अर्थ को प्रकाशित करते हैं उस काव्य विशेष को विद्वान् ध्वनि कहते हैं ।

वाच्यार्थ एक ही होता है जबकि व्यंग्यार्थ अनेक हो सकते हैं । वाच्यार्थ को समझने के लिए शब्द ज्ञान से ही काम चल सकता है जबकि व्यंग्यार्थ को समझने के लिए प्रतिभा और बुद्धि भी आवश्यक है । वाच्यार्थ केवल विषय का ज्ञान मात्र कराता है जबकि व्यंग्यार्थ आनन्द और चमत्कार भी उत्पन्न करता है ।

संस्कृत साहित्य में ध्वनि शब्द का प्रयोग लगभग पाँच अर्थों में किया गया है । डॉ. के. सी. पांडे ने अपने शोध-प्रबन्ध "Indian Aesthetics" में उन पाँच को इस प्रकार बताया है -

1. ध्वनि वह है जो ध्वनित करे या कराए ।
2. जो ध्वनि करे या ध्वनित करवाए वह 'व्यंजक अर्थ ध्वनि है ।
3. जिसके द्वारा ध्वनत किया जाय वह ध्वनि है । इसमें रस, अलंकार और वस्तु व्यंग्य अर्थ के यह तीनों रूप आ जाते हैं ।
4. जिसके द्वारा ध्वनित किया जाय वह ध्वनि है ।
5. जिसमें वस्तु अलंकार और रस आदि ध्वनित हों उस काव्य को ध्वनि कहते हैं ।

8.4 ध्वनि शब्द शक्तियाँ

वैयाकरण के स्फोट सिद्धान्त से ध्वनि शब्द को ग्रहण करके आनन्दवर्द्धन ने काव्य-शास्त्र में ध्वनि की महत्ता स्थापित की । वैयाकरण ने तो "तस्माद् ध्वनि शब्द" कहकर केवल शब्द को ही ध्वनि माना है किन्तु काव्य शास्त्र के अन्तर्गत ध्वनि शब्द और अर्थ दोनों का पयार्यवाची बनकर आया है ।

कुछ लोगो की धारणा है कि आनन्दवर्द्धन से पूर्व विद्वानों को ध्वनि के सम्बन्ध में कुछ भी पता नहीं था, किन्तु यह धारणा गलत है । इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि भरतमुनि ने काव्य में रस की महत्ता को स्वीकार करके प्रकारान्तर से ध्वनि को एक प्रकार से मान लिया था । ही यह बात मानी जा सकती है कि आनन्दवर्द्धन पहले व्यक्ति थे जिन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किया ।

ध्वनि सम्प्रदाय का प्रारम्भ 9 वीं शताब्दी में हुआ । आरम्भ में ही इस सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आनन्दवर्द्धक ने अपने पूर्ववर्ती सभी सिद्धान्तों को इसके अन्तर्गत समेट लिया और ध्वनि की विस्तृत व्याख्या व्यापक भूमिका पर की । वस्तुत: ध्वनि सिद्धान्त में काव्य-शास्त्र को नवीन मोड़ देकर रस को छीन के अन्तर्गत मान लिया ।

आनन्दवर्द्धन ने उस अर्थ के जो काव्य की आत्मा है दो भेद माने हैं - वाच्य और प्रतीयमान। वस्तुत: शब्द यदि शरीर है तो अर्थ आत्मा है । दूसरे शब्दों में शब्द ही वाच्यार्थ है और अर्थ ही व्यंग्यार्थ है और यही काव्य की श्रेष्ठता सिद्ध करने बाला यही व्यंग्यार्थ है और यही काव्य की आत्मा है । प्रतीयमान वाच्य से भिन्न है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार किसी तरूणी का सौंदर्य उसके मुख, नेत्र और कान से भिन्न है ।

ध्वनि सिद्धान्त की आधारशिला व्यंजना शक्ति है । व्यंजना के अभाव में काव्य का कोई मूल्य ही नहीं है "अभिधा और लक्षणा नामक शब्द शक्तियों की सीमा समाप्त होने पर जिस शब्दशक्ति द्वारा एक नए अर्थ की प्रतीति होती है उसे व्यंजना कहते हैं और जिस शब्द का व्यंजनावृत्ति द्वारा वाच्यार्थ और लक्षणार्थ से भिन्न अर्थ का मान होता है उसे व्यंजक अर्थ और उस अर्थ को व्यंग्यार्थ कहते हैं । अभिधा का सम्बन्ध शब्द मात्र से होता है जबकि व्यंजना का सम्बन्ध अर्थ से होता है ।

8.5 ध्वनि रस

ध्वनि और रस का घनिष्ठ सम्बन्ध है । "आनन्दवर्द्धन" ने तो इसी सम्बन्ध के कारण रस ध्वनि तक की कल्पना कर ली थी । काव्य में जो प्रतीयमान अर्थ होता है वह तो कुछ और हो जाता है जिसके लिए कहा गया है -

"प्रतीयमानम् पुनरूयदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यज्ञ तत् प्रसिद्धावय वातिरिक्तम् विभाति लावण्यमिवांगनासु ।"

अर्थात् प्रतीयमान अर्थ कुछ और ही वस्तु है । इस कुछ और के लिए संभवत: बिहारी ने "वह चितवन औरै कछु जेहि बस होत सुजान 'जैसे शब्द कहे थे । कुछ गहराई से, देखें तो स्पष्ट होता है कि यह "औरै कछू" व्यंजना ही है । बिहारी ने चितवन के लिए "औरै कहू" कह कर

व्यंजना का महत्व ही प्रतिपादित किया है । सच्चाई यह है कि व्यंजना और ध्वनी परस्पर सम्बन्धित हैं ।

ध्वनि का सारा महल जिस प्रकार व्यंजना पर आधारित है वैसे ही रस भी व्यंजित होता है । एक विचार से रस और ध्वनि परस्पर सम्बन्धित होकर भी थोड़े पृथक् पड़ते हैं क्योंकि जिस वाक्य में ध्वनि हो उस में काव्यत्व अनिवार्य नहीं । इसी प्रकार हर वाक्य में रस अनिवार्य नहीं । उदाहरण के लिए इस वाक्य को लीजिए - सूर्य अस्त हो गया । इस वाक्य में केवल अभिधा वाला अर्थ ही लगता है क्योंकि इसमें लक्षणा और व्यंजना काम नहीं देती । यदि कोई प्रंसग चल रहा हो तो यहाँ पर व्यंजना अवश्य हो सकती है, किन्तु साधारण व्यक्तियों के लिए तो यहाँ वाच्यार्थ ही होगा व्यंग्यार्थ नहीं ।

उपर्युक्त वाक्य को यदि कोई इस प्रकार कहे कि -

"अनुरागवती संध्या दिवस्तात् पुरस्परः ।
अहो विचित्रा देवस्य गतिश्र्नासति समागतः ।"

तो इसमें ध्वनि भी है और काव्य भी है क्योंकि यहाँ वाच्यार्थ से प्रतीयमान अर्थ का अधिक महत्व है । सचमुच जहाँ ध्वनि के साथ रस भी होता है वहाँ काव्यत्व आता है । रस और ध्वनि दोनों का सम्बन्धित रूप इन पंक्तियों में देखा जा सकता है -

'सुख में दुःख की स्मृतियाँ मधुर,
दुख में सुख की स्मृतियाँ शूल
विरह में किन्तु मिलन की आग
नहीं सकता मानव मन भूल ।

ध्वनि और रस की परस्पर घनिष्ठता भी स्पष्ट है । यद्यपि यह सही है कि ध्वनि के बिना तो काव्य सम्भव है पर रस के बिना नहीं । रस काव्य का प्राण है । आचार्य विश्वनाथ ने "वाक्य रसात्मकम् काव्यम्" कह कर इसी बात की ओर संकेत किया है ।

कुछ पंक्तियाँ देखिये -

"सांझ आते ही न जाने छा गई कैसी उदासी
क्या किसी की याद आई रे ! विरह व्याकुल प्रावासी ।"

इन पंक्तियों में कोई ध्वनि ही नहीं रस ही रस हैं । इससे भी स्पष्ट है कि दोनों की सत्ता पृथक्- पृथक् है ।

भरत मुनि ने रस की परिभाषा में यह कहकर कि विभाव, अनुभाव और संचारियों के संयोग से रस निष्पति होती है रस की सता को प्रतिष्ठापित किया है । इस सूत्र से एक बात और भी स्पष्ट है कि रस वाच नहीं होता है, व्यंजित होता है । इतना ही नहीं रस को हम शब्दों के माध्यम से कुछ भी नहीं कह सकते और यदि कहते हैं तो रस-दोष माना जाता है । ऐसी स्थिति में रस की व्यंजकता या प्रतीयमानता स्वत: स्पष्ट है । व्यंजना के विषय में कहा गया है कि वह भी अर्थ का बोध कराती है शब्द का नहीं । रस सहृदय की हृदय स्थिति वासना की आनन्दमय परिणति है जो अर्थ बोध से भिन्न है । अत: रस का प्रत्यक्ष बोध नहीं हो सकता अपितु अप्रत्यक्ष रूप से प्रतीति होती है । पारिभाषिक शब्दावली में कहें तो कह सकते हैं कि

रस का व्यंजन या ध्वनन होता है । इसी तर्क के आधार पर ध्वनिकार ने उसे रस न मानकर रस ध्वनि माना है । ध्वनि के अनुसार जो उत्तम, मध्यम और अधम काव्य माने गए हैं उनमें उत्तम काव्य के तीन भेद हैं- रस ध्वनि, वस्तुध्वनि और अलंकार ध्वनि । इनमें रस ध्वनि सर्वश्रेष्ठ है ।

रस भी व्यंजित होता है और ध्वनि भी । दोनों ही व्यंजना के आधार पर चलते हैं । ऐसी स्थिति में दोनों का सम्बन्ध हो जाना स्वाभाविक ही है । आनन्दवर्द्धन के पश्चात् ध्वनि के प्रस्थापक आचार्य मम्मट हैं । उन्होंने ध्वनि के ही अन्तर्गत रस को ले लिया है । निष्कर्ष यह है कि रस और ध्वनि अलग-अलग होकर भी सम्बन्धित हैं इसीलिये तो कुछ आधुनिक विद्वानों ने यहाँ तक कह डाला कि ध्वनि सिद्धान्त रस सिद्धान्त का ही विस्तार है । यह बात किन्हीं अंशों में ठीक भी है ।

8.6 ध्वनि और कल्पना

कवि की भावना साधारण व्यक्ति की अपेक्षा कुछ अधिक संवेदनशील होती है । कवि किसी मूर्ति के सामीप्य का अनुभव ही करके नहीं रह जाते वरन् उन भावनाओं के संयोजन से नए चित्रों की सृष्टि भी करते हैं । चित्रों की इस नवीन सृष्टि के लिए जिस शक्ति विशेष का प्रयोग किया जाता है उसे भारतीय विद्वानों ने प्रतिभा कहा है । आचार्य भामह ने कवि-मर्म का विधान करने वाली प्रतिभा का लक्षण इस प्रकार दिया है - "प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभामता ।" डॉ. के.सी. पाण्डे ने प्रतिभा के सम्बन्ध में लिखा है कि - "किसी सौंदर्यात्मक पदार्थ के स्पष्ट अन्तर्दशन करने वाली शक्ति को प्रतिभा कहते हैं ।"

भारतीय विद्वानों ने जिसे प्रतिभा कहा है उसे पाश्चात्य विद्वानों ने कल्पना कहा है ।

"मनोविज्ञान के अनुसार कविता वह साधन है जिसके द्वारा कवि अपनी रागात्मक अनुभूति को सहृदय के प्रति संवेद्य बनाता है । संवेद्य बनाने का अर्थ है कि वह उसको इस प्रकार अभिव्यक्त करता है कि सहृदय को केवल उसका अर्थ बोध ही नहीं होता वरन् उसके हृदय में समान रागात्मक अनुभूति का संचार भी हो जाता है । सहृदय की दृष्टि से इस प्रकार रस संवेद्य ही ठहरता है, वाच्य नही । कवि अपने हृदय रस को भाषा के द्वारा संवेद्य बनाता है और इस कार्य के लिए वह साधारण भाषा का प्रयोग नहीं करता वरन् असाधारण और चित्रमयी भाषा का प्रयोग करता है । यह कार्य कवि कल्पना की सहायता से करता है । शब्द की इस अतिरिक्त कल्पना जगाने वाली शक्ति को ही ध्वनिकार ने व्यंजना और रस के इस संवेद्य रूप को ही रस ध्वनि कहा है । ध्वनि स्थापना के द्वारा ध्वनिकार ने वास्तव में वाक्य में कल्पना तत्व की ही प्रतिष्ठा की है ।"

8.7 ध्वनि कल्पना का सम्बन्ध

डॉ0 नगेन्द्र के इस कथन से स्पष्ट है कि ध्वनि और कल्पना में परस्पर सम्बन्ध है । ध्वनि कल्पना के बिना सच्ची अनुभूति प्रदान नहीं कर सकती इसी प्रकार कल्पना भी जो ध्वनित और व्यंजित नहीं हो सकती सच्ची कवि कल्पना नहीं । जैसा कि ऊपर कहा गया है कि कल्पना का प्रभुत्व पाश्चात्य काव्यशास्त्र में प्रारम्भ से ही रहा है । पश्चिम के सबसे पहले आचार्य प्लेटो कहे जाते हैं । प्लेटों ने काव्य को अनुकृति माना है - वह भौतिक पदार्थो और घटनाओं का

अनुकरण करता है और भौतिक पदार्थ और घटनाएँ आध्यात्मिक पदार्थों और घटनाओं की प्रतिकृति मात्र है । दार्शनिक भूमिका पर प्लेटो का यह सिद्धान्त बहुत कुछ भारतीय साहित्यशास्त्र के अभिव्यक्तिवाद और वैयाकरणों के स्फोटवाद से मेल खाता है ।

प्लेटो ने जो अपनी मान्यता दी वह कुछ अशुद्ध व अपूर्ण थी, उसमें मौलिकता तो थी, किन्तु प्लेटो अपने मत को स्थिर नहीं कर पाए । प्लेटो की त्रुटियों का समाधान अरस्तु ने किया। यद्यपि अरस्तु ने भी काव्य को अनुकृति माना, किन्तु अनुकृति का अर्थ कल्पनात्मक पुनर्निमाण किया गया तथा बताया गया कि कवि कथन नहीं करता अपितु प्रस्तुत किया करता है और श्रोता या पाठक उसके अनुसार वस्तु के प्रत्यक्ष रूप को ग्रहण न करके कवि मानस में उत्पन्न रूप को ही ग्रहण करता है । वस्तुत: प्राचीन शब्द को नवीन अर्थ देना ध्वनिवाद का ही तो सिद्धान्त है । क्विटेलियन ने वाणी में चमत्कार लाने के लिए कला का गोपन होना आवश्यक बताया है । कला का यह अव्यक्त या गोपन रूप प्रकारान्तर से ध्वनि की ही तो स्वीकृति है ।

8.8 वक्रोक्ति : परिभाषा और स्वरूप

प्राचीन साहित्यिक ग्रन्थों में वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग क्रीड़ा-कलाप या परिहास के अर्थ में होता था । -अमरूकशतक ' तथा बाण की "कादम्बरी" में इसका प्रयोग यों मिलता है - "वक्रोक्ति निपुणेन विलासी जनेन ।" आगे चलकर भामह, दण्डी जैसे अलंकारवादी आचार्यों के हाथ में पड़कर वक्रोक्ति अपने व्यापक रूप में आई । भामह ने वक्रोक्ति को अतिश्योक्ति का पयार्य माना है । वे कहते थे कि वक्रोक्ति वाग-वैदग्ध्य का ही दूसरा रूप है । सभी अलंकारों की भूमिका में वक्रोक्ति विद्यमान रहती है -

"सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाSर्थो विभाव्यते
यस्त्रोSस्यां कविना कार्य कोSलंकारोर्थे विभाव्यते ।"

वक्रोक्ति की परिभाषा में उन्होंने कहा है कि "लोक की सामान्य कथन प्रणाली" से भिन्न ही वक्रोक्ति है - लोकातिक्रान्तिगोचर वचनम् ।"

दण्डी ने अपने "काव्यादर्श" में वक्रोक्ति का विवेचन कुछ स्पष्टतया से किया है । आचार्य वामन ने वक्रोक्ति को दूसरे ही रूप में व्यक्त किया । इन्होंने इसे अर्थालंकार विशेष के रूप में इसकी प्रतिष्ठा की और कहा कि -

"सादृश्याल्लक्षणावक्रोक्ति"

अर्थात सादृश्य पर आधारित लक्षण ही वक्रोक्ति है । कुछ विद्वानों की दृष्टि में यह शब्दालंकार है । इसे शब्दालंकार मानने वालों में रूद्रट, विद्याधर, मम्मट और हेमचन्द्र आदि हैं । आचार्य रूद्रक ने - श्लेष-वक्रोक्ति और काकु-वक्रोक्ति-दो भेद किए । भोजराज ने भी ध्वनि की प्रतिक्रिया-स्वरूप वक्रोक्ति की महत्ता प्रतिपादित की ।

सच तो यह है कि वक्रोक्ति का सही और विस्तृत विवेचन करने वालों में आचार्य कुन्तक का नाम ही प्रथम है । आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का प्राण स्वीकार किया और लक्षण यों दिया-

"वक्रोक्तिरैववैदग्ध्य भङ्गीभणितिरूच्चते"

तात्पर्य यह है कि वाग् विदग्धता से युक्त उक्ति ही वक्रोक्ति कहलाती है । इस "वैदग्धभङ्गीमणिति" चमत्कारमूलक होती है । वक्रोक्तिकार ने लिखा है कि -

"लोकोत्तर चमत्कारकारि-वैचि य सिद्धये ।
अन्यथैबोव्यते सोSर्थ:सा वक्रोक्तिरूदाहता ।।"

वक्रोक्तिवादी आचार्यो ने इस उक्ति वैचित्रय को शब्दगत, अर्थगत और उभयगत माना है । शब्दार्थ के वैचित्र के अभाव में काव्यानन्द की उपलब्धि संभव प्रतीत नहीं होती है । काव्य की परिभाषा में इसी शब्दार्थ समन्वय के लिए आचार्य कुन्तक की वाणी से ये बोल फूट पड़े थे -

"शब्दार्थो सहितौ वक्राकविव्यापारशालिनी:
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यम् ताद्विदालहादकारिणि:"

कुन्तक ने शब्द और अर्थ दोनों को अलंकार्य माना और इन्हें अलंकृत करने वाली शक्ति वक्रोक्ति को बतलाया है जो वग् वैदग्ध्यपूर्ण होती है ।

वक्रोक्ति का प्रयोग हमें अपनी रीति साहित्य में पूर्ण व्यापकता और अधिकता से मिलता है । बिहारी, देव, घनानन्द आदि कवियों की कविताओं में एक नहीं अनेक उदाहरण ऐसे मिल जाऐंगे जो वक्रोक्ति से युक्त हैं और श्रेष्ठ और मनोहर हैं । बिहारी का सारा काव्य एक दृष्टि से इसी "शब्दार्थ संयोग" से उत्पन्न वक्रोक्ति का उदाहरण प्रस्तुत कर सकता है । कुन्तक ने सहृदयाहलादकारक की जो बात कही है उसे हम इस दोहे में देख सकते हैं -

"कागद पर लिखत न बनत कहत संदेश लजात ।
कहिहै सब तेरी हियो मेरे हिय की बात ।"

रीतिकालीन कवियों के अतिरिक्त शब्द और अर्थ के संयोग से निर्मित वक्रोक्ति के उदाहरण स्वरूप प्रसाद और पंत की निम्नलिखित पंक्तियों को भी रखा जा सकता है-

अभिलाषाओं की करवट
फिर सुप्त व्यथा का जगना
सुख का सपना हो जाना
भीगी पलकों का लगना ।" (प्रसाद)

पंत के काव्य में भी "शब्दार्थो सहितम" के उदाहरण मिलते हैं -

"इन्द्र पर उस इन्द्रमुख पर साथ ही
थे पड़े मेरे नयन, जो उदय से,
लाज से रक्तिम हुए थे - पूर्व को
पूर्व था, पर वह द्वितीय अपूर्व था ।" (पंत)

आचार्य कुन्तक की मान्यता थी कि अर्थ सहृदयाहलादकारक हो तथा विवक्षितार्थवाचक शब्द हो तभी वक्रोक्ति होगी । इसके उदाहरणस्वरूप हम पंत की निम्नलिखित पंक्तियों को रख सकते हैं-

"शैवालिनि जाओ मिलो तुम सिन्धु से
अनिल आलिंगन करो तुम गगन का
चन्द्रिके चूमो तरंगों के अधर
उड्गनों गाओ पवन वीणा बजा
पर हृदय सब भांति तू कंगाल है ।"

आचार्य कुन्तक को पांचाली, वैदर्भी, गौणी शैली का विभाजन उचित नहीं लगा अत: उन्होंने शैली के तीन भेद किए -

(1) सुकुमार शैली - उदाहरणार्थ हिन्दी में पंत की कविता में ।

(2) विचित्र शैली - निराला की कविता ।

(3) मध्यम शैली - माखनलाल चतुर्वेदी की कविता ।

8.9 वक्रोत्कि

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के 6 भेद किए हैं । इस विभाजन में आचार्य कुन्तक की सूक्ष्म बुद्धि और विभाजन-कुशलता का पता चलता है । वक्रोक्ति के ये ही भेद आज भी मान्य है- (1) वर्ण-विन्यास-वक्रता, (2) पद पूर्वार्द्ध वक्रता, (3) पद पूर्वार्द्ध-वक्रता, (4) वाक्य वक्रता (5) प्रकरण-वक्रता, (6) प्रबन्ध-वक्रता।

वक्रोति के इन भेदों का विवेचन इस प्रकार है -

1. **वर्ण-विन्यास वक्रता -** यह वक्रता अन्य आचार्यो का अनुप्रास ही है । अनुप्रास में भी व्यंजन का साम्य अपेक्षित है स्वर का नहीं । कुन्तक के आधार पर यह वक्रता तीन प्रकार की है - एक वर्ण की आवृत्ति, दो वर्णों की आवृत्ति और तीन वर्णों की आवृत्ति । आगे चलकर कुन्तक ने यमक को भी इसके अन्तर्गत मान लिया है । यमक, यमकाभास अथवा यमक से सत्य रखने वाले अन्य वर्ण चमत्कार वर्ण-विन्यास वक्रता के अन्तर्गत आते हैं -

   "तू मोहन के उरबसी, हवै उरबसी समान ।"

   और पद्याकर की यह पंक्ति भी उल्लेखनीय है -

   "वनन में बागन में बगरयो बसंत है ।"

2. **पद-पूर्वार्द्ध वक्रता -** इस नाम से ही स्पष्ट है कि वक्रता पद के पूर्व भाग में होती है । इसके अन्तर्गत पर्याय, रूढ़ि, उपचार, विशेषण, संवृत्ति वृत्ति भाव,लिंग क्रिया आदि के प्रयोग की विधि आती है । "अक्षर समुदाय विभक्ति रहित होने पर प्रवृत्ति और विभक्ति युक्त होने पर पद कहलाता है ।" इस वक्रता के कई भेद किए गए हैं यथा - रूढ़ि वैचिव्य-वक्रता पयार्य- वक्रता, उपचार-वक्रता, विशेषण-वक्रता आदि । इनको इस प्रकार उदाहरण सहित स्पष्ट किया जा सकता है ।

   (क) **रूढ़ि-वैचिव्य वक्रता -** यह वहाँ प्रयुक्त की जाती है जहाँ लोकोत्तर तिरस्कार अथवा प्रशंसा कथन करने के अभिप्राय से वाच्यार्थ की रूढ़ि से असंभव अर्थ का अध्यारोप अथवा उत्तम धर्म के अतिशय का आरोप होता है । इसके प्रयोग से काव्य में एक अद्भुत सौन्दर्य आ जाता है -

   "तब" ही गुन सोभा लहै, सहृदय जबहि सराहिं,

कमल कमल है तबहि जब रविकरसौं विकसाहि ।।"

इन पंक्तियों में कमल के प्रथम रूढ़ अर्थ का विस्तार किया गया है और उस पर एक कमनीय रूप का अध्यारोप करना है जो इन पंक्तियों में है ।

(ख) **पयार्य वक्रता -** पंत की कृषक बालिका के जलधर में इस वक्रता का प्रयोग किया है । शब्द फलधर का प्रयोग बड़ा वक्रोतियुक्त है । इसमें चमत्कार भी आ गया है ।

(ग) **उपचार वक्रता -** उपचार-वक्रता काव्य में विशेष महत्व रखती है । लक्षणा के प्रयोगों में विशेषत: इस वक्रता को अपनाया जाता है । छायावादी कविता में इसके अनेक सुन्दर उदाहरण मिलते हैं । किसी अन्य वस्तु के सामान्य धर्म का लेशमात्र सम्बन्ध से भी दूरातर. वस्तु पर आरोप उपचार कहलाता है -

निरव संध्या में प्रशान्त
डूबा है सारा ग्राम प्राप्त
पत्रों के आनत अधरों पर
सो गया निखिल बन का मर्मर
ज्यों वीणा के तारों में स्वर ।"

(घ) विशेषण वक्रता - जिस स्थान पर कारक या क्रिया के महात्म्य या प्रभाव से वाक्य का सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है वहाँ वक्रता का यह रूप देखने को मिलता है । प्रसाद, पंत और गुप्त जी आदि कवियों की कविता में हम विशेषण-वक्रता का रूप पाते हैं -

(ङ) लिंग वैचित्र्य वक्रता - इस वक्रता का उदाहरण छायावादी कवि पंत की इन पंक्तियों में देखा जा सकता है । पंत ने "प्रथम रश्मि" कविता में लिखा है -

"प्रथम रश्मि का आना रंगिणि!
तूने कैसे पहिचाना?
कहाँ कहीं है बाल-बिहंगिनि!
सीखा तूने वह गाना ।"

इतना ही नहीं पंत की इन पंक्तियों में भी लिंग वैचित्र्य का रूप देखा जा सकता है-

सिखा दो ना हे मधुपकुमारि!
मुझे भी अपने मीठे गान ।

3. पद-परार्ध की वक्रता - वक्रोक्ति का तीसरा भेद पद-परार्ध वक्रता है । यह वक्रता-पद के बाद में प्रयुक्त होती है । इसे प्रत्यक्ष-वक्रता भी कहा जा सकता है । इसके भी कई प्रकार है - कालवैचित्र्य-वक्रता आदि । इस प्रकार की वक्रता का उदाहरण इन पंक्तियों में समझिए-

"नासा मोरि नचाय दृग करी ककासी सौंह
कांटे से कसकति हिए गड़ी कटीली भौंह ।"

4. वाक्य वक्रता - यह वक्रता कवि-प्रतिभा पर निर्भर है । प्रतिभा की भाँति ही यह प्रतिमा भी विविधि रूपिणी होती है । प्रधान रूप से इसमें अलंकारों का विवेचन किया जाता है।

कुन्तक ने अलंकारों का बड़ा सुन्दर विवेचन किया है । अलंकारों में चारूता ओर कवि प्रतिभा दोनों को कुन्तक ने आवश्यक माना है । वाक्य-वक्रता के अन्तर्गत ही वस्तु-वक्रता भी आती है । वस्तु का स्वरूप भी दो प्रकार का होता है - स्वभाव-प्रधान और रस-प्रधान । स्वभाव प्रधान में स्वभावोक्ति अलंकार की संयोजना होती और रस प्रधान में रस का चमत्कार होता है ।

5. प्रकरण वक्रता - वाक्य-वक्रता से थोड़ा विस्तृत रूप प्रकरण-वक्रता का होता है । वाक्यों की सम्मिलित स्थिति प्रकरण का निर्माण करती है । यह प्रकरण वाक्य से विशाल और प्रबंध का अंश मात्र है । प्रबंध में सौंदर्य भरने के लिए प्रकरण-वक्रता अत्यन्त आवश्यक है ।
6. प्रबन्ध वक्रता - वाक्य से प्रकरण और प्रकरण से सहयोग पाकर प्रबंध में आई वक्रता को प्रबंध-वक्रता का नाम दिया जाता है । जब समूचा प्रबंध इस वक्रता से युक्त होता है तो उसे प्रबंध-वक्रता कहा जाता है ।

8.10 सारांश

काव्य को पढ़कर अथवा सुनकर पहले तो सर्वथा भौतिक अथवा कर्णगोचर उत्पन्न होते है, उसके उपरान्त उनसे सम्बन्धित वाक्-चित्र । यह प्रक्रिया कुछ और आगे बढ़ती है और स्वतन्त्र चित्रजाल मन की आँखों के सामने आ जाता है । इसके पश्चात् सम्बन्धित विचार, फिर भाव तथा 'अंततोगत्वा एक विशेष रागात्मक दृष्टिकोण बन जाता है । Richards ने स्पष्ट कहा है कि इनमें से दो का सम्बन्ध शब्द से है और तीन का शब्द के अर्थ से । यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि इस विश्लेषण में ध्वनि का आभास है । रागात्मक प्रयोग भाव जगाने के लिए होता है और वैज्ञानिक प्रयोग ज्ञान उत्पन्न करने के लिए । आचार्य शुक्ल की शब्दावली में एक अर्थग्रहण है और दूसरा बिंबग्रहण । एक का सम्बन्ध अभिधा, दूसरे का सम्बन्ध व्यंजना से है ।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भारतीय काव्यशास्त्र में जिस प्रकार ध्वनि को विशेष महत्ता प्राप्त है उसी प्रकार पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र में कल्पना को । एक स्थल ऐसा आता है जहाँ पर दोनों का परस्पर सम्बन्ध ठीक बैठ जाता है । सच तो यह है कि काव्य-कला किसी न किसी रूप में ध्वनि रूप है और काव्य-कला का चरम उत्कर्ष भाषा की व्यंजना शक्ति और कल्पना शक्ति पर आधारित है । डॉ0 नगेन्द्र ने लिखा है कि "साहित्य का कार्य है अनुभूति का प्रेषण, परन्तु अनुभूति भाषा में घटित होती नहीं है अतएव कवि की अनुभूति इस प्रकार की प्रतीक भाषा में अनूदित होनी चाहिए जिसका सहृदय अपनी अनुभूति में अनुवाद कर सके। दोनों ही अवस्थाओं में अनुभूति भावित होती है ।" आगे डॉ0 नगेन्द्र ने स्पष्ट लिखा है कि ' 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अलंकार विधान में कल्पना और ध्वनि का सम्बन्ध स्पष्ट लक्षित होता है क्योंकि बिना कल्पना के काव्यात्मक भाषा सम्बन्ध नहीं है ।"

हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत वक्रोति का सुन्दर स्वरूप देखने को मिलता है । रीति-काल से लेकर छायावादी कविता तक में अनेक वक्रोतियों की योजना की गई है । इसका सुन्दर प्रयोग छायावादी कविता में देखने को मिलता है । डी. नगेन्द्र ने लिखा है कि 'महावीर प्रसाद द्विवेदी

के काल-चमत्कार के समर्थन में एक प्रकार से वक्रोति को मान्यता प्राप्त हुई है । आगे चलकर शुक्ल जी ने वक्रोक्ति का अर्थ संकुचित अर्थ में ग्रहण किया है तथा वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद का एकीकरण भी किया है पर इनमें मौलिक अंतर है ।. ... छायावादी कविता में इसको विशेष महत्व प्राप्त है । प्रसाद ने कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त को स्वीकार किया है । इस लावण्य को संस्कृत साहित्य में छाया और विच्छिति के द्वारा कुछ लोगों ने निरूपित किया ।" डॉ0 नगेन्द्र के अनुसार 'छायावाद में वक्रोक्ति के दोनों रूप, विद्ग्धता और चारूता मिलते हैं । प्रसाद और पंत में जहाँ चारूता है वहाँ निराला में विद्ग्धता तथा महादेवी का काव्य भाव प्रेरित वक्रता का अच्छा उदाहरण है ।"

8.11 अभ्यासार्थ प्रश्न-

1. "काव्य की आत्मा ध्वनि है" - कथन की व्याख्या कीजिए ।
2. ध्वनि की परिभाषा लिखिये ।
3. ध्वनि और कल्पना के सम्बन्ध की व्याख्या कीजिए ।
4. भारतीय काव्य शास्त्र में ध्वनि सिद्धान्त की महत्ता पर एक लेख लिखिये ।
5. ध्वनि एवं रस की तुलनात्मक व्याख्या कीजिए ।
6. आचार्य कुन्तक के वक्रोति सिद्धान्त की विवेचना कीजिए ।
7. वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रमुख; भेदों की व्याख्या कीजिए ।
8. पद पूर्वार्द्ध वक्रता को स्पष्ट कीजिए ।
9. "रीतिकालीन साहित्य में वक्रोक्ति सिद्धान्त की छाया दिखाई देती है ।" इस कथन की विवेचना कीजिए ।

8.12 संदर्भ ग्रन्थ

1. डीनगेन्द्र . – रीतिकाव्य की भूमिका
2. डी-नगेन्द्र . – भारतीय साहित्यशास्त्र
3. रामचन्द्र शुक्ल – चिन्तामणि भाग 1
4. रामचन्द्र शुक्ल – रस मीमांसा
5. डीनगेन्द्र . – वक्रोक्ति जीवितम
6. रामदहिन मिश्र – काव्य दर्पण
7. विश्वनाथ मिश्र – वाङ्मय विमर्श
8. भागीरथ मिश्र – काव्यशास्त्र
9. आनन्दवर्धन – ध्वन्यालोक
10. (व्याख्या – आचार्य विश्वेश्वर(
11. डीभोलाशंकर व्यास . – ध्वनि सम्प्रदाय व उसके सिद्धान्त

इकाई - 9 रस की परिभाषा, स्वरूप व रस निष्पत्ति

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 रस की परिभाषा

9.3 रस सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य भरतमुनि

9.4 रस चिन्तन की परम्परा

9.5 रस का स्वरूप

9.6 रस निष्पत्ति

9.7 रस के अवयव

9.8 रस निष्पत्ति का भाष्य

9.8.1 भट्ट लोल्लट का उत्पत्तिवाद

9.8.2 शंकुक का अनुमितिवाद

9.8.3 भट्टनायक का मुक्तिवाद

9.8.4 `अभिनवगुप्त अभिव्यक्तिवाद

9.9 सारांश

9.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

9.11 संदर्भ ग्रन्थ

9.0 उद्देश्य

प्राय: साहित्य पढ़ते या नाटक देखते समय हम कहते हैं - 'अहा! आनन्द आ गया या रस वर्णन हो रहा है । ' हमने कभी यह सोचने का प्रयत्न नहीं किया कि काव्य का 'आनन्द' क्या होता है? नाटकों में रस' की अनुभूति क्या है? काव्य का आस्वादन करते समय या नाट्य अवलोकन करते समय जब हम आत्म विभोर हो जाते हैं तब किस मनोदशा में हमारा संचरण होता है? इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप:

- रस की परिभाषा, स्वरूप तथा रस के अवयव से परिचित हो सकेंगे ।
- रस चिन्तन की परम्परा जान सकेंगे ।
- रस निष्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों को समझते हुए काव्यानन्द की प्रक्रिया के शास्त्रीय पक्ष से परिचित हो सकंगे।

9.1 प्रस्तावना

काव्यशास्त्र का अध्ययन करते समय यह प्रश्न बार-बार उभरता है कि रस दशा क्या है? रस निष्पत्ति क्या है? विभाव, अनुभाव, संचारी या व्यभिचारी किसे कहते हैं? स्थायी भाव से क्या तात्पर्य है? इत्यादि प्रश्नों को इस इकाई में सरल रूप में समझाने का प्रयास किया गया

है साथ ही हम आपसे यह भी अपेक्षा करते हैं कि उल्लिखित संदर्भ ग्रंथों का भी आप अध्ययन करेंगे ।

9.2 'रस' की परिभाषा

ईश्वर रचित भूतात्मक विश्व की सर्वोत्तम कृति मनुष्य है । यह मनुष्य समस्त जीवधारियों में २गर्वोच्च कोटि की दक्षता-क्षमता, प्रतिभा तथा निपुणता से युक्त कर्मशील प्राणी है । सभ्यता और संस्कृति के विकास का इतिहास मनुष्य के कर्मों का ही इतिहास है । जन्म से अन्तिम श्वास तक मनुष्य का लक्ष्य आनन्द की प्राप्ति ही रहा है । यह आनन्द चाहे सांसारिक पदार्थों से प्राप्त हो अथवा आध्यात्मिक साधन से, चाहे भौतिक आनन्द हो अथवा आत्मिक आनन्द। इस आनछ की उपलब्धि के लिए ही मनुष्य ने विभिन्न प्रकार की साधनाएँ की है । आनन्द की अनुभूति से मन को एक विशिष्ट प्रकार की आन्तरिक प्रसन्नता होती है । यह प्रसन्नता अनिर्वचनीय है, यह अभिव्यक्ति का नहीं, अन्तस में अनुभूति का विषय है । यह नितान्त वैयक्तिक है । ऐसी ही आन्तरिक आनन्द की अनुभूति का एक विशिष्ट क्षेत्र काव्यानन्द है। जब किसी काव्य को पढ़ते या सुनते या नाटकीय दृश्य को देखते-देखते हमारा मन एक ऐसी विलक्षण भाव दशा में पहुँच जाता है जहाँ सांसारिक द्वैत भाव विस्मृत हो जाते हैं, 'अहम्' की अनुभूति विलुप्त हो जाती है, ममत्व-परत्व, मैं-तुम, यत्र-तत्र का बोध अदृश्य हो जाता है, मन के समस्त भावों का उदात्तीकरण हो जाता है, उस आनन्दपूर्ण तन्मयता को 'दस-दशा कहा जाता है । यह हृदय की पूर्ण मुक्तावस्था होती है । इस अवस्था में मन सांसारिक अनुभूतियों की सीमा का अतिक्रमण करके उच्चतम लोकोत्तर अवस्था के सिंहासन पर प्रतिष्ठित हो जाता है । इस रस के ज्ञान का प्रमाण स्वयं रसास्वादन की प्रक्रिया व रससिद्धि ही होती है । इस रस सिद्धि की साधना में मन विरेचित हो जाता है, उदात्तीकृत हो जाता है तथा निर्वैयक्तिक बन जाता है । इसीलिए 'रस' को काव्य की आत्मा कहा गया है । 'रस' की सत्ता से विहीन काव्य भले ही अलंकारों से मण्डित हो, रीति से समृद्ध हो, वक्रोक्ति से चमत्कृत हो, ध्वनि से गढ़ हो लेकिन 'रस' के अभाव में रमणीय अर्थ की प्रतीति नहीं होगी। काव्य के आनन्द को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहा गया है तो इस आनन्द की आत्मा भी 'रस' ही है ।

प्राचीन काल में काव्य में व्यंजित 'रस' के अर्थ की प्रतिष्ठा के अतिरिक्त सामान्यतः रस तीन अर्थ में प्रयुक्त होता था - प्रथम-पदार्थ रस जैसे अम्ल, तिक्त, कषाय, द्वितीय-वनस्पतियाँ या जड़ी बूटियों का रस, जो आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति में प्रयुक्त होता है, तृतीय-दर्शनशास्त्र-जिसमें ब्रह्म को रसौ वै सः' कहकर सम्बोधित किया गया है । इन सबमें एक तथ्य तो समान रूपेण विद्यमान है, कि 'रस' की आस्वादक सत्ता प्रधान है । ऋग्वेद में रस' पदार्थों का सारभूत द्रव है । सोम रस का तो वैदिक साहित्य में प्रचुर उल्लेख है । उपनिषदों में 'रस' द्रव्य की पोषण करने वाली शक्ति तथा आस्वादन के अर्थ में चर्चित रहा है । छान्दोग्य उपनिषद् में रस' को ब्रह्मज्योतिरूप में वर्णित किया गया है ।

यह सत्य है कि उपनिषद् काल तक 'रस' पदार्थ रस से यात्रा करके 'परम तत्त्व' तक पहुँच गया था । इस प्रकार यह तो स्पष्ट है कि वैदिक वाङ्मय में रस' भले ही काव्यशास्त्रीय रूप में अंगीकृत न हुआ हो लेकिन परोक्ष रूप में'वाक्' के लिये स्वादु मधु, पीना इत्यादि विशेषणों का प्रयोग 'रस' की ही सत्ता की अनुभूति कराता है । रामायण तथा महाभारत कालीन साहित्य विशेष रूप में वाल्मीकि कृत रामायण' के बालकाण्ड में नव रस (श्रृंगार, करूण, हास्य, रौद्र, भयानक, वीर आदि) का संकेत प्राप्त होता है ।

9.3 'रस' सिद्धान्त के प्रवर्तक 'आचार्य भरत मुनि'

परम्परा अनुशीलन की दृष्टि से भले ही हम स्वीकार कर लें कि वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत तथा कामसूत्र में रस के विभिन्न अर्थो से युक्त प्रयोगों का संकेत मिलता हो लेकिन उसकी सम्प्रदाय गत प्रतिष्ठा स्थापित करने का श्रेय तो आचार्य भरत मुनि और उनके सुप्रसिद्ध नाट्यशास्त्र' ग्रन्थ को है । राजशेखर ने रस सिद्धान्त के संदर्भ में नन्दिकेश्वर का उल्लेख अवश्य किया है लेकिन उसके किसी प्रामाणिक ग्रंथ का उल्लेख कहीं नहीं मिलता ।

आचार्य भरतमुनि कृत 'नाट्यशास्त्र के लोक प्रचलित संस्करण के छठे तथा सातवें अध्यायों में रस, भाव इत्यादि का विस्तार से विवेचन किया गया है । छठे अध्याय में मुनि वृंद मुनियों के मुनि' भरत से रस और भाव के विषय में पाँच प्रश्न करते हैं और वे उनके उत्तर में रस-भावादि के स्वरूप, परस्पर सम्बन्ध तथा भेद-प्रभेदों का विस्तार से विवेचन करते हैं । रसों का वर्णन-विवेचन छठे अध्याय में है और संचारी तथा सात्त्विक भावों का निरूपण सातवें में । आचार्य भरतमुनि ने साहित्य की समस्त विधाओं में नाटक को सर्वोत्तम माना और यह स्थापित किया कि नाटक का प्राण तत्व रस है और उसके अभाव में किसी भी नाट्य अंग का प्रभावी प्रवर्तन नहीं हो सकता ।

भरतमुनि तो यह भी कहते हैं कि -

नाटक समस्त त्रैलोक्य के भावों का अनुकीर्तन का ही रूप है । स्वयं भरतमुनि कहते हैं-

दुःखार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम् ।
विश्रान्तिजननम् काले नाट्यमेतन्मया कृतम् ।।

डॉ. नगेन्द्र की स्पष्ट मान्यता है कि - "रस सिद्धान्त का सर्वप्रथम तथा स्वत: सम्पूर्ण प्रतिपादन नाट्यशास्त्र में मिलता है - भरत का मुख्य प्रतिपाद्य है नाट्य और अभिनवगुप्त की टिप्पणी के अनुसार भरत के मत से तेन रस एवं नांट्यम् ।"

सारांश यह है कि भरतमुनि ने ही नाटकों में प्रयुक्त समस्त काव्य तत्त्व, अभिनेयता वस्तुतत्त्व, संगीत और रस का विस्तार से विवेचन किया है ।

9.4 'सर' चिंतन की परम्परा

यह सत्य है कि आचार्य भरतमुनि के परवर्ती काल में रस' चिंतन की परम्परा के साथ-साथ अलंकार, वक्रोति ध्वनि एवं रीति की भी चर्चा होती रही, लेकिन फिर भी कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में, रस', चिंतन के केन्द्र में तो विद्यमान रहा ही है । 'रस' को लक्ष्य करके विरोध रूप में, एक ओर भामह, कुन्तक, दण्डी, रूद्रट एवं उद्भट इत्यादि थे तो दूसरी ओर भट्ट

लोलट, शंकुक, भटनायक आदि, जिन्होंने भरतमुनि के रस निष्पत्ति सूत्र की विस्तृत व्याख्याएँ की । आचार्य भामह ने छठी शताब्दी में अलंकारों को काव्य का प्राण तत्व बतलाया ।

'न कान्तमपिविर्भूषं विभाति वनिता मुखम् ।।

उन्होंने अलंकारों के अन्तर्गत रस' को समाहित कर लिया । भामह के लिए काव्य एक कला है जिसका प्रयोजन है - यश प्राप्ति - जिसके लिये सहृदय होना उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कौशल युक्त होना । आचार्य दण्डी ने भी शब्दार्थ के वैशिष्ट्य में काव्य का सौन्दर्य स्थापित किया । माधुर्य गुण की विवेचना में दण्डी ने अवश्य ही 'मधुर रसवद्' की चर्चा की है ।

"मधुरं रसवद् वाच वस्तुन्यपि रस स्थितिः ।
येन माद्यन्ति धीमन्तों मधुनेव मधुप्रताः ।।" (काव्य दर्पण 1.51)

आचार्य वामन ने काव्यालंकार सूत्र में केवल एक स्थान पर ही कहा है -

'दीप्त रसत्वं कान्तिः ।'

आचार्य वामन के रीति चिंतन में रस का स्थान गौण है । उद्भट के काव्यालंकार संग्रह में 'रस' की अत्यंत संक्षिप्त चर्चा है । आचार्य रूद्रट अलंकारवादी होते हुए भी रस के महत्त्व की ओर अनेक प्रकार से संकेत करते हैं । इसके समानान्तरण भटलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, अभिनवगुप्त ने रस की सत्ता को प्रधानता दी । अभिनवगुप्त ने तेन रस एवं वस्तुतः तथा आत्मा कहा । ध्वनिमत के प्रवर्तक आचार्य आनंदवर्धन तथा औचित्य सम्प्रदाय के आचार्य क्षेमेन्द्र ने रस' के प्रति गहरी आस्था अभिव्यक्त की थी । आचार्य कुन्तक के शुक्रोक्तिजीतिवतम् में रस का स्थान गौण नहीं है । आचार्य मम्मट ने काव्य प्रयोजनों की चर्चा करते समय सद्य' परनिवृतत्ति की व्याख्या में यह स्पष्ट किया कि -

"सकल प्रयोजन मौलिभूतं समनन्तरमेव ।
रसास्वादन समुद्भूतं विगलित वेद्यान्तरमान्दम् ।।"

अर्थात काव्यास्वाद में रसास्वादन के समय और सभी प्रकार का ज्ञान विगलित हो जाता है, यही परम आनन्द है । आचार्य हेमचंद्र, पण्डितराज जगन्नाथ, आचार्य रुय्यक, जयदेव, अप्पय दीक्षित की परम्परा में ग्यारहवीं शती के प्रारम्भ में रचित 'अग्निपुराण में रस की महत्ता प्रतिपादित की गई है -

'लक्ष्मीरिव बिना त्यागात्र वाणी भाति नीरसा ।'

(अग्निपुराण - 339.9)

यह भी कहा गया कि -

'वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम् ।'

(अग्निपुराण - 337.33)

शुक्ल जी की रसमीमांसा तथा डी. नगेन्द्र का रस सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त का प्रतिमान ही भारतीय रस-सिद्धान्त है । उन्होंने रीति, अलंकार, ध्वनि, वक्रोति व औचित्य सिद्धान्त को भी वहीं तक मान्यता दी, जहाँ तक वे रस के पोषक, उपकारक, आश्रित या संरक्षक बन कर प्रयुक्त हों । उनकी मान्यता के अनुसार काव्य का आभ्यंतर स्वरूप या आत्मा 'भाव' या 'रस' है । अलंकार उसके बाह्य रूप हैं । रस को परिभाषित

करते हुए शुक्ल जी कहते हैं- 'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है । उनके मतानुसार हृदय की अनुभूति ही काव्य में रस तथा 'भाव' बनाती है । शुक्ल जी ने रस' की उत्तम, मध्यम एवं निकृष्ट कोटि भी स्थापित की है । श्रीराम का पावन शील-स्वभाव व लोक मंगल की साधना को देखकर सहृदय उत्तम, रावण द्वारा सीता पर क्रोध मध्यम तथा चमत्कार प्रधान काव्य या कूट काव्य में निकृष्ट कोटि का रसानुभव होगा । आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी भी रसवादी समीक्षक हैं ।

इनके अलावा डॉ. श्यामसुन्दर दास - साहित्यालोचन', पं रामदीन मिश्र - काव्य-दर्पण, आचार्य बलदेव उपाध्याय - 'भारतीय साहित्यशास्त्र', पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र- वाङमय विमर्श, डॉ. आनंद प्रकाश दीक्षित - रस सिद्धान्त: स्वरूप विश्लेषण, डी. कृष्णदेव झारी - रसशास्त्र ओर साहित्य समीक्षा, डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी- रस विमर्श, डॉ. निर्मला जैन - रस-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र इत्यादि का चिंतन भी इस दिशा में उल्लेखनीय है ।

सारांश यह है कि भारतीय काव्यशस्त्र में 'रस' वादी चिंतन की समृद्ध परम्परा रही है ।

9.5 रस का स्वरूप

काव्य का आस्वादन करने वाले हृदय का यह प्रश्न स्वाभाविक है - रस क्या है? रस कैसा पदार्थ है अथवा रस को रस क्यों कहा जाता है? एक उत्तर तो यह है कि जिससे आस्वाद्य हो, वह रस है । डॉ. नगेन्द्र, भरतमुनि के रस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं- जिस प्रकार नाना विध व्यंजनों से संयुक्त अन्न का उपभोग करते हुए प्रसन्नचित्त पुरूष रसों का आस्वादन करते हैं ओर हर्षादि का अनुभव करते हैं, इसी प्रकार प्रसन्न प्रेक्षक विविध भावों एवं अभिनयों द्वारा व्यंजित, वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक (मानसिक) अभिनयों से संयुक्त स्थायी भावों का आस्वादन करते हैं तथा हर्षादि को प्राप्त होते हैं । इसलिए नाट्य के माध्यम से आस्वादित होने के कारण ये नाट्य रस कहलाते हैं ।

उपर्युक्त विवेचन का सारांश इस प्रकार है :-

1. रस आस्वाद नहीं है, आस्वाद्य है - अर्थात् अनुभूति नहीं है, अनुभूति का विषय है । नवीन शब्दावली में, रस विषयीगत नहीं है, विषयगत है ।
2. विविध भावों अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव से संयुक्त एवं त्रिविध अभिनयों द्वारा व्यंजित स्थायी भव ही रस (या नाट्यरस) में परिणित हो जाता है । यदि रस' की विषयगत परिभाषा की जाये तो विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों से संयुक्त होकर वाचिक, आंगिक एवं सात्त्विक अभिनय से व्यंजित स्थायी भाव ही रस' कहा जायेगा । शैवाद्वैतवाद के विख्यात आचार्य अभिनवगुप्त ने रस को 'आस्वाद्य' से 'आस्वाद बना दिया । उनकी मान्यता थी कि रस है आनंद और सदैव विषयगत न होकर आत्मगत होता है । विषय तो आत्मा स्वाद का एक निमित्त मात्र होता है । डॉ. नगेन्द्र इस संदर्भ में लिखते हैं - लोक सामान्य के प्रतिनिधि प्रधान पात्र की चित्तवृत्ति रूप स्थायी भाव काव्य सौन्दर्य और नाट्य सौन्दर्य के प्रभाव से साधारणीकृत होकर सामाजिक की चित्तवृत्ति

से तादात्म्य स्थापित करता हुआ, निर्विघ्न अर्थात देश-काल की सीमा से मुक्त, संविद्विश्रान्ति रूप में रसनीय होने के कारण रस बन जाता है ।. ... अभिनव के अनुसार नाट्यादि के सेवन से, भाव की भूमिका में आत्मविश्रान्तिमयी आनंद चेतना ही रस है।"

चौदहवीं शताब्दी के आचार्य विश्वनाथ ने रस के स्वरूप को इस प्रकार से व्याख्यायित किया है ।

सत्वोद्रेकादखण्ड स्व प्रकाशानंद चिन्मय: ।
वेद्यान्तर स्पर्श शून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदर: ।।
लोकोत्तर चमत्कार प्राण: कैश्चित्प्र मातृभि: ।
स्वाकारवद भिन्नत्वेनायमा स्वाद्यते रस: ।।'

रस का अनुभव स्वयं में पूर्ण है । इस अनुभूति की स्थिति में. शेष देश तथा काल का बोध समाप्त हो जाता है । सहृदय पूर्णत: आत्मलीन हो जाता है ।

रस की सत्ता स्वयं प्रकाशमय है । इस अनुभूति में सांसारिक भाव बोध की अनुभूति का अभाव रहता है । वैयक्तिक चेतना कुछ समय के लिये विलुप्त सी हो जाती है ।

'रस' की सत्ता अनिवर्चनीय है । वह अलौकिक, अनुपमेय व अतीन्द्रय है ।

'रस' को ब्रह्मास्वाद सहोदर इसलिये माना गया है क्योंकि इसकी अनुभूति मृन्मय नहीं बल्कि चिन्मय होती है । रस की सत्ता इन्द्रियों का विषय नहीं है, लेकिन यह विशुद्ध ब्रह्मानंद भी नहीं है । काव्य के आनंद में साधारणीकृत रति आदि भावों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है । संस्कृत काव्य शास्त्र के प्रतिनिधि आचार्यो के अनुसार: शब्दार्थ के माध्यम से विशुद्ध भाव-भूमिका में आत्म चैतन्य के (आनंदमय) आस्वाद का नाम रस है ।' सारांश यह है कि रस के स्वरूप को केन्द्र में रखकर संस्कृत के आचार्यो ने जो मत निर्धारित किये हैं उसका निचोड़ यही है कि रस काव्य की आत्मा है ओर विशिष्ट संस्कार युक्त सहृदयों की सत्वोद्रेक भाव भूमि पर ही इसका साम्राज्य है ।

9.6 रस निष्पत्ति

भारतीय काव्य शास्त्र का सर्वाधिक विवेच्य विषय रस निष्पत्ति है । आचार्य भरतमुनि ने रस' को परिभाषित तो नहीं किया लेकिन उसकी अनुभूति की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए कहा- "विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगाद्रस निष्पत्ति ।''

(नाट्यशास्त्र - काव्यमाला)

अर्थात विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी अर्थात् संचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है ।

(अब पहले तो हम इस सूत्र में प्रयुक्त रस के अवयव यथा - विभाव, अनुभाव तथा संचारी का अर्थ स्पष्ट कर लें तो रस निष्पत्ति को समझने में सुविधा रहेगी ।)

9.7 रस के अवयव

रसानुभूति की प्रक्रिया में जिन अवयवों की अहम् भूमिका होती है वे निम्नलिखित है -

स्थायी भाव. मनुष्य का मन भावों का अथाह सागर है फिर भी कुछ भाव स्थायी रूप से वासना रूप में हृदय में विद्यमान रहते हैं तथा अनुकूल परिस्थितियों में रस रूप में अभिव्यक्त हो जाते हैं । काव्य शास्त्र में इनकी संख्या नौ है - (1) रति, (2) हास, (3) शोक, (4) क्रोध, (5) उत्साह, (6) भय, (7) जुगुप्सा, (8) विस्मय तथा (9) निर्वेद अथवा शम ।

आश्रय : जिसके मन में भाव की अनुभूति होती है उसे आश्रय कहते हैं । श्रीराम द्वारा शिव का धनुष भंग करने पर सीताजी के हृदय में अनुराग उत्पन्न हुआ तो सीताजी आश्रय है । हल्दीघाटी में मुगल सेनानायक को देखकर महाराणा प्रताप के हृदय में क्रोध व युद्ध करने का उत्साह भाव जागृत हुआ तो प्रताप आश्रय है ।

विभाव : भावों का आस्वादन कराने वाले कारण तत्व को विभाव कहते हैं । भावों की जागृति स्वत: नहीं हो सकती, यदि प्रेम का भाव जागृत हुआ है तो अवश्य ही आश्रय के लिये कोई न कोई कारण, हेतु या निमित्त अवश्य ही उपस्थित होगा । आश्रय के हृदय में स्थायी भाव तो सुषुप्तावस्था में रहते हैं । केवल बीज का अंकुरण ही पर्याप्त नहीं होता उसे फलीभूत होने के लिये धूप, हवा, खाद, पानी की भी आवश्यकता होती है । ठीक इसी प्रकार रस की निष्पत्ति के लिये केवल आश्रय ही नहीं बल्कि 'विभाव भी अनिवार्य तत्व है । विभाव दो प्रकार के होते हैं-

(1) **आलम्बन विभाव :** जिसका आधार अथवा आलम्बन लेकर आश्रय के हृदय में स्थायी भाव जागृत होता है, उसे आलम्बन कहते हैं । जैसे नायक यदि आश्रय (भोक्ता) है तो नायिका आलंबन होगी ।

(2) **उद्दीपन विभाव :** स्थायी भावों को उद्दीप्त करने वाले सहायक कारण जिनमें देश, काल, वातावरण इत्यादि तत्व उद्दीपन व भाव कहलाते हैं । श्रृंगार रस के उद्दीपक, बसंत ऋतु, चाँदनी रात, खिला हुआ उपवन, सरिता का शांत किनारा, पक्षियों का कलरव, शीतल मंद, सुगंधित वायु प्रवाह आदि उद्दीपन विभाव होंगे, तो वीर रस के लिये युद्ध भूमि का कोलाहल, शत्रुपक्ष की ललकार, शस्त्रों की झंकार, प्रतिनायक की उपस्थिति आदि उद्दीपन विभाव होंगे जो नायक (आश्रय) के हृदय में प्रतिनायक (आलंबन) के विरूद्ध वीर रस की निष्पत्ति में सहायक होंगे।

अनुभाव : आश्रय अथवा आलम्बन के मनोगत भावों की अभिव्यक्ति के सोपान ही स्थायी भावों की निष्पत्ति के लिये सहायक बनाते हैं । अनुभावों से ही रसोद्रेक की पहचान बनती है जैसे द्वारिका श्रीकृष्ण राजसिंहासन पर विराजमान हैं । द्वारपाल ने जैसे ही यह कहा कि- द्वार ख्रयौ द्विज दुर्बल एक, बतावत आपनो नाम सुदामा ।" यह सुनते ही श्रीकृष्ण का रोमांचित होना मित्र स्नेह के वशीभूत होकर एकदम द्वार पर दौड़ कर सुदामा को गले लगाना इत्यादि चेष्टाओं से ही मैत्री भाव का उद्घाटन होता है । ठीक इसी प्रकार से विरह विदग्ध नायिका अपने सामने नायक को उपस्थित देखकर रोमांचित हो जाती है, एक दम मिलने के लिये आतुर हो उठती है, वाणी गद्गद् हो जाती है, यह सब आंगिक व मनोदशा अनुभाव का अंग होती है ।

अनुभाव चार प्रकार के होते हैं -

कायिक : आलंबन को देखकर आश्रय की शारीरिक चेष्टाएँ ।

वाचिक : आश्रय की वाणीगत अभिव्यक्ति ।

आचार्य : विभित्र भाव एवं परिस्थितियों के अनुरूप वेश विन्यास ।

सात्विक : रसानुभूति की अनिवार्य शर्त है - रज और तम से मुक्ति तथा सत्वोद्रेक होना । आचार्य भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में आठ प्रकार के सात्विक अनुभावों की चर्चा की है, वे निम्नलिखित हैं -

स्तम्भ : हर्ष, भय, शोक, विस्मय, विषाद तथा रोष आदि भावों से उत्पन्न स्तम्भ नामक अनुभाव में व्यक्ति की दैहिक चेष्टाएँ अवरूद्ध सी हो जाती हैं ।

स्वेद : लज्जा, हर्ष, दुःख, भय, क्रोधादि भावों से देह का पुलकित होना अथवा रोंगटे खड़े हो जाना रोमांच कहलाता है ।

रोमांच : प्रेमपूर्ण स्पर्श, शीत, क्रोधादि भावों से देह से पसीना छूटने लगता है ।

वेपथु : भय, क्रोध, ताप, शीत आदि से उत्पन्न शरीर के कंपन को वेपथु कहते है । वैवर्ण्य. प्रचण्ड शीत, क्रोध, श्रम, ताप इत्यादि से चेहरे पर हवाइयाँ सी उड़ने लगती हैं, उसे वैवर्ण्य कहते हैं ।

स्वर भंग : भावों के आवेग से शब्दों के उच्चारण में विकृति का आना तथा स्वरों का फटना या गद्गद् होकर वाणी का अवरूद्ध हो जाना स्वर भंग कहलाता है ।

अश्रु : हर्षाधिक्य या शोक की प्रबलता के कारण अश्रु आना ।

प्रलय : अतिशय विरहानुभूति शोक, भय, क्रोधादि के कारण देह का निश्चेष्ट निष्कंप व श्वास का अवरूद्ध होना, मूर्छित होकर धरती पर गिर जाना 'प्रलय' है ।

डॉ. वेकट शर्मा लिखते हैं - सात्विक अनुभावों के रूप में जिन आठ प्रकारों के लक्षण निरूपित किये गये हैं, वे सात्विक भाव भी कहलाते है । जिनकी स्थिति रस के अवयव के रूप में स्वतंत्र भी मानी गई किन्तु इन्हें भाव के स्थान पर 'अनुभाव' कहना अधिक व्यावहारिक समझा जाता है । सात्विक भाव 'अयत्नज भाव' भी कहलाते हैं क्योंकि उनकी उत्पत्ति सहज अथवा अनायास ही होती है ।"

संचारी (व्यभिचारी) भाव :

व्यभिचारी अथवा संचारी - वस्तुत : ये दोनों रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया में समानार्थक शब्द माने जाते हैं व्यभिचारी शब्द की उत्पत्ति वि+अभिचारी अर्थात् विशेष रूप से अभिचरण करने वाले भाव से हुई है । 'संचारी' का तात्पर्य भी संचरण करने वाला होता है । यहां 'व्यभिचारी' से तात्पर्य लम्पट अथवा विलासी व्यक्ति से न होकर अस्थिर मनोवृत्ति से है । काव्यशास्त्र में पानी के बुलबुले अथवा बदलों में चमकने वाली बिजली की कौंध की तरह चमक दिखला कर विलुप्त हो जाने वाले अस्थिर भावों को 'संचारी' कहा जाता है । संचारियों की भूमिका स्थायी भावों को पुष्ट करने की होती है । इनकी संख्या तैंतीस मानी गई है - निर्वेद, ग्लानि, शंका, मद, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, असूया, माह, त्रास, हर्ष, विषाद, व्रीडा, चपलता, धृति, स्मृति, स्वप्न, त्रास, जड़ता, आवेग, औत्सुक्या, निद्रा, गर्व, अपस्मार, विवोध अमर्ष, उग्रता, भरण, वितर्क, मति, अवहित्या उन्माद, व्याधि ।

9.8 रस निष्पत्ति का भाष्य

आचार्य भरतमुनि के रस सूत्र विभानुभाव व्यभिचारी संयोगाद्रस निष्पत्ति' की कालान्तर में जो विस्तृत व्याख्याएँ हुई उनमें दो शब्दों पर ही विद्वानों का ध्यान केन्द्रित हुआ- 'संयोग तथा निष्पत्ति । स्वयं भरतमुनि ने 'संयोग' को स्पष्ट करते हुए लिखा: "यथा हि नाना व्यंजन संस्कृतमत्र रसाना स्वदयन्ति सुमनसः प्रेक्षकः हर्षादीश्चाधिगच्छन्ति तथा नाना भावाभिनय व्यंजितान वांगगसत्वोपेतान् स्थायि भावाना स्वादयन्ति सुमनस: प्रेक्षका: हर्षादीश्चाधिगच्छन्ति। अर्थात् जिस प्रकार विविध प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजनों का उपभोग करते हुए सहृदय प्रसन्नता का अनुभव करते हैं ठीक इसी भाँति प्रेक्षक भी विविध भावों तथा अभिनयों द्वारा व्यंजित वाचिक, आंगिक एवं सात्विक भावों से संयुक्त स्थायी भावों का आस्वादन करके प्रसन्नता अनुभव करते हैं । यहाँ यह स्पष्ट है कि भोज्य रस तो नाट्यरस, अन्न स्थायी भाव तथा विभावानुभाव संचारी नाना प्रकार के द्रव्य, व्यंजन आदि हो गये । तो तात्पर्य यह हुआ कि विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों का स्थायी भाव के साथ संयोग होने से रस की सिद्धि होती है ।

जिस प्रकार विभिन्न प्रकार के व्यंजनों, औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से (भोज्य) रस निष्पन्न होकर षाडवादि रस बनता है ठीक इसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव भी रस रूप प्राप्त कर लेता है ।

आचार्य भरतमुनि ने इस रसनिष्पत्ति विषयक मौलिक सूत्र की बाद में अनेक प्रकार से व्याख्याएँ की जाने लगी और फलस्वरूप रस सिद्धान्तशास्त्र का विकास होने लगा । आचार्य भरतमुनि के इस निष्पत्ति सूत्र के व्याख्याताओं में सर्व प्रथम भट्टलोल्लट शंकुक, भट्ट नायक तथा अभिनवगुप्त का नाम उल्लेखनीय है ।

9.8.1 भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद'

यह आश्चर्यजनक बात है कि भट्टलोल्लट का ग्रंथ तो आज भी उपलब्ध नहीं है लेकिन उनकी इस विषयक अवधारणा का सर्वप्रथम उल्लेख अभिनवगुप्त कृत 'अभिनव भारती (ग्यारहवीं शताब्दी) तथा 'ध्वन्यालोक लोचन' में संक्षिप्त उद्धरण के रूप में मिलते हैं । भट्ट लोलट के मत को 'अभिनव भारती में इस प्रकार से कहा गया है कि - "विभावादि का जो संयोग अर्थात् स्थायिभाव के साथ (विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों का संयोग) उससे रस की निष्पत्ति अर्थात उत्पत्ति होती है ।. भट्ट लालट के मत को अभिनव ने है कि रामादावनुकार्ये, अनुकर्तरि नटे गुप्त इस प्रकार कहा -मुख्यया वृत्त्या रामादिरूपतानुसंधानबलादिति । भट्टलोल्लट की मान्यता है कि विभाव, अनुभाव आदि से पुष्ट किया गया स्थायी भाव ही रस है किन्तु वह रस मूल रूप में अनुकार्य अर्थात् मूल पात्रों में ही रहता है तथा गौण. रूप में अनुकर्त्ता अर्थात् नट (अभिनेता) में रहता है । नट द्वारा राम आदि का अभिनय करने के कारण गौण रूप में उसमें भी रस की प्रतीति होती है । आचार्य मम्मट ने भी 'काव्य प्रकाश' में भट्ट लोलट के सूत्र की व्याख्या करते हुए यही कहा है कि रस की सत्ता मूल रूप में अनुकार्य (राम आदि मूल पात्र) तथा उसके स्वरूप का अनुसंधान करके अभिनय के कारण नट में रस की प्रतीति

होती है । अर्थात् संयोग का तात्पर्य तो स्थायी भाव के साथ संयोग है, स्थायी भाव को अनुभव करने वाला आश्रय अनुकर्त्ता राम आदि हैं एवं सीता आदि आलम्बन है जो अनुकार्य (राम) के चित्त में रस 'उत्पन्न' करते हैं । अभिनेता (नट) अनुसंधाता हैं । 'अनुसंधान' के तीन प्रधान अर्थ हैं - (1) आरोप (2) अभिमान तथा (3) योजना इस दृष्टि से देखा जाये तो क्रमश: यह कहा भी जा सकता है - (1) नट स्वयं पर रामत्व का आरोपण करता है । (2) अभिनय काल में नट स्वयं को मूल पात्र (अनुकार्य) समझने लगता है तथा (3) वह यह समझता है कि पहले मैं नट (अभिनेता) था वहीं अब मैं राम हूँ । मम्मट की मान्यता है कि राम आदि अनुकार्य के स्वरूप एवं कर्म के अनुसंधान से नट में प्रतीयमान स्थायी भाव ही रस हो जाता है । अर्थात् रस की अनुभूति नट में सामाजिक (दृष्टा) करता है ।

सामाजिक नट पर राम का आरोपण कर लेता है । फलस्वरूप रंगमंचीय कौशल के कारण सामाजिक नट के वास्तविक रूप को भूलकर उसमें राम की प्रतीति कर लेता है । यह उसकी नाट्यकला का चमत्कार है ।

भट्ट लोल्लट की मान्यता थी कि मूल रस की प्रतीति जो मूल ऐतिहासिक राम ही कर सकते हैं, कवि कल्पित पात्र तो केवल उस भाव का अनुकरण कर सकता है । हमारे सामने मूल पात्र नहीं बल्कि कवि कल्पित पात्र होते हैं । मूल रस का आस्वाद तो मूल पात्र (अनुकार्य) ने ग्रहण किया है । इस प्रकार संयोग का तात्पर्य है - उपचेय - उपचायक (विभावादि) । विभावों से ही स्थायी भाव की उतपत्ति होती है । अत: अनुभावों के साथ उसका गम्य-गमक भाव है और व्यभिचारी भाव से पुष्टि होती है । अत: व्यभिचारियों के साथ पोष्य-पोषक संबंध बना है । इसे इस सूत्र के द्वारा भी समझा जा सकता है:

संयोग - उपचेय - उपचायक

संबंध - उत्पाद्य, उत्पादक, गम्य-गयक, पोष्य-पोषक

सीमाए :

आचार्य भरतमुनि की रस निष्पत्ति मान्यता को भट्टलोल्लट ने अस्वीकार किया । भट्ट लोलट ने संयोग तथा निष्पत्ति पर विचार किया - रस की स्थिति किसके हृदय में स्थित है? क्या नट (अभिनेता) रस की अनुभूति कर सकते हैं? मूल पौराणिक या ऐतिहासिक पात्र तो कभी नट (अभिनेता) के सामने उपस्थित नहीं होते तो उनकी अनुभूतियों का अनुकरण कैसे होगा? कृत्रिम प्रदर्शन अथवा मिथ्या आरोपण से क्या रस की प्रतीति संभव है? नट (अभिनेता) को क्या मालूम कि राम या अनुमान में, कितनी शक्ति है? सीताहरण के उपरान्त राम को कितनी पीड़ा हुई? केवल अभिनय, से किसी दूसरे का सुख: दु:ख दर्शकों के लिये आस्वादनीय कैसे हो जायेगा? श्रीराम एवं सीता के प्रेम संवाद दर्शकों के लिये रसानुभूति के आधार कैसे बन सकते हैं? दर्शक के मन में श्रीराम-सीता के प्रति श्रद्धा-भक्ति होती है ।

महत्त्व : भट्टलोल्लट की मान्यता के महत्त्व को रेखांकित करते हुए डॉ. मक्खनलाल शर्मा लिखते हैं - यह मत मूल के अधिक निकट है । रस को अनुकार्यगत मानकर काव्य ओर नाट्य सौन्दर्य का प्रत्यक्ष संबंध मूल-पात्र के भावों के साथ जोड़ दिया गया है । मूल-पात्रों के भावों तथा उनके कार्यो से ही काव्य अथवा नाटक की विषय-वस्तु निर्मित होती है । अभिनेता द्वारा रसानुभूति की बात कह कर अनुसंधान के नवीन क्षेत्रों का प्रारम्भ किया गया ।'

निश्चय ही भट्टलोलट का 'आरोपवाद' या उत्पत्तिवाद यथार्थवादी है । डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त लिखते हैं - "रस निष्पत्ति की प्रक्रिया में उन्होंने विभावों, अनुभावों, और संचारियों का योगदान स्पष्ट किया, निष्पत्ति की क्रिया के तीन रूपों - उत्पत्ति, पुष्टि और अभिव्यक्ति की कल्पना करके, इसे सहज बोधगम्य बनाया । भावानुभूति के तीन संस्कारों मूल पात्रों की अनुभूति, अभिनेताओं की अनुभूति और सामाजिक की अनुभूति के पारस्परिक सूक्ष्म अंतर का भी निर्देश सबसे पूर्व भट्टलोल्लट के द्वारा ही हुआ ।"

9.8.2 शंकुक : 'अनुमितिवाद'

भरतमुनि के रस सूत्र के भाष्यकारों में द्वितीय है - श्री शंकुक, जो न्याय मीमांसक थे ।

इस विषयक इनका स्वतंत्र ग्रंथ तो उपलब्ध नहीं है लेकिन तद्विषयक कुछ उद्धरण 'अभिनव भारती, 'ध्वन्यालोक - लोचन' तथा काव्य प्रकाश में अवश्य प्राप्त होते हैं । अभिनव गुप्त ने शंकुक के मत को इस प्रकार प्रकट किया है - "विभावादि कारण, अनुभावादि कार्य, व्यभिचारी भावादि संचारियों के द्वारा प्रयत्नपूर्वक अर्जित होने पर वास्तविक रामादिगत स्थायी भाव अनुमान के बल से अनुकरण रूप में अनुकर्त्ता में कृत्रिम होकर भी मिथ्या न भासते हुए प्रतीयमान होता है ।... राम के सुखी होने के अभिनय में नर्तक (अभिनेता) सुखी हैं, ऐसी प्रतिपत्ति नहीं होती । ये राम नहीं हैं अथवा ये राम के समान हैं, इस प्रकार की प्रतिपत्ति नहीं होती किन्तु सम्यक, मिथ्या, संशय तथा सादृश्यकमूलक जो प्रतिपत्तियाँ होती है । उनसे विलक्षण चित्र तुरंग आलिखित अश्व न्याय से जो सुखी राम है वह यह है इस प्रकार की प्रतीति होती है । आचार्य मम्मट ने शंकुक की मान्यता को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि उन्होंने अनुमितिवाद को प्रस्तुत करते हुए नट राम की प्रतीति की व्याख्या की है ।'यह प्रतीति चित्र तुरंग के समान न सम्यक प्रतीति है, न मिथ्या प्रतीति, न संशय प्रतीति और न सादृश्य प्रतीति, अपितु एक विलक्षण, अलौकिक, कलात्मक प्रतीति ही कही जा सकती है । काव्यार्थो के आधार पर भूत चरितनायक के रूप में अने आपको डालने की शक्ति रखने वाला नट अभिनय कला की शिक्षा और अभ्यास के बल पर जो प्रदर्शन करता है, वह जीन की दृष्टि से भले ही अवास्तविक अथवा अस्वाभाविक हो, पर सामाजिक कलात्मक दृष्टि से, जिसमें वह 'नट नहीं अपितु शम दिखाई दिया करता है, कृत्रिम नहीं । .... इसी प्रकार रंगमंच के नट नाम के हृदय के रत्यादिरूप स्थायी भाव के अनुमापक पदार्थो का साक्षात्कार रंगमंच पर हुआ ही करता है, क्योंकि नट राम के स्थायी भाव यदि गम्य' हैं, लोक विलक्षण अनुमेय हैं तो रंगमंच पर प्रदर्शित सीतादि रूप विभाव, अनुभाव और संचारी भाव उसके 'गमक' हैं । सामान्य जीवन में राम की चित्तवृत्ति का अनुमान रस' नहीं माना जाता, किन्तु नट राम के इत्यादि रूप स्थायी भाव का अनुमान एकमात्र रस' का आस्वादन होता है ।"

वस्तुत: शंकुक का रस निष्पत्ति विषयक अनुमान प्रभाव पर न्यायदर्शन सम्मत आधारित है। जिस प्रकार घोड़े के चित्र को देखते ही हम उसे घोड़ा कह देते हैं, जबकि वास्तव में वह घोड़े का चित्र ही तो होता है । डॉ. मक्खन लाल शर्मा लिखते हैं "श्री शंकुक के सिद्धान्त की सबसे

बड़ी विशेषता दो नए व्यापारों का आविष्कार है । उन्होंने अनुकृति और अनुमिति के द्वारा भरत-सूत्र की व्याख्या की । अनुकृति का सम्बन्ध निष्पत्ति से और अनुमिति का रस के आस्वाद से जोड़ा गया । उनके मत को अनुकृतिवाद कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। "अर्थात् नट तो मूल पात्रों की वाणी, वेशभूषा के साथ-साथ अनुभवों का अनुकरण करता है तथा दर्शक अपने अनुमान से उसे राम आदि मूल पात्र समझने लगता है । डॉ. तारकनाथ बाली के मतानुसार - "नट की दृष्टि से विभावादि अनुकारक है और रस अनुकार्य तथा सहृदय की दृष्टि से विभावादि अनुमापक या गमक है और रस अनुमेय या गम्य है ।"

आचार्य हेमचन्द्र ने शंकुक द्वारा स्थापित मान्यता की प्रक्रिया का स्पष्टीकरण यों किया "कोई व्यक्ति एक कषाय फल खा रहा है । उसके मुख की आकृति एवं चेष्टा हमें यह सूचना देती है कि वह व्यक्ति कषाय फल खा रहा है और उस समय हमारे मुख में उसी प्रकार पानी भर आता है जिस प्रकार का उस कषाय फल खाने वाले के मुख में भर रहा होगा, या यदि हम उस कषाय फल खा रहे होते तो भर आता । बस, इसी प्रकार राम रूप में अभिमत नट के स्थायी को देखकर सामाजिक वासना के स्थायी में भी चर्वणा का अवकाश हो जाता है । इस संदर्भ में डी. नगेन्द्र लिखते हैं - रस की प्रक्रिया का त्रिकोण इस प्रकार बरता है ।"

(1) अनुकार्यगत स्थायी भाव +

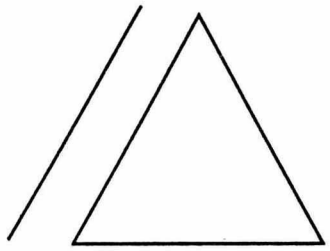

(2) नट द्वारा अनुक्रियमाण + स्थायी भाव – रस

(3) सहृदय द्वारा रस की अनुमिति

सीमाएँ :

श्री शंकुक के इस मत का खण्डन आचार्य अभिनव गुप्त के गुरू भट्ट तौत ने किया । वे कहते हैं कि प्रेक्षक नट एवं विषय आदि की दृष्टि से स्थायी भाव का अनुकरण नहीं हो सकता । नट की दृष्टि से कहें तो अनुकरण का अर्थ सहकरण हो जाएगा, जो मूल पात्र को देखे बिना संभव नहीं हो सकता । अनुकरण का अर्थ पश्चात्करण भी होता है । उस स्थिति में रसादि भी रस कही जाएगी । आनंद का विषय प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित होता है अनुमान पर नहीं । ..... अनुमान से होने वाला ज्ञान परोक्ष, साक्षात नहीं .... प्रेक्षक किस प्रमाण के आधार पर यह जानेगा कि अनुकर्त्ता नट अनुकार्य राम का अनुकरण कर रहा है; जबकि अनुकार्य की क्रियाओं का उसे कोई ज्ञान नहीं है, क्योंकि अनुकार्य को उसने देखा ही नहीं । डॉ. नगेन्द्र ने भट्टतौत द्वारा शंकुक के अनुकरणवाद के खण्डन को तीन दृष्टि से विवेचित करते हुए लिखा है -

प्रेक्षक की दृष्टि से :

प्रमाण के अभाव में प्रेक्षक यह कैसे अनुभव कर सकता है कि नट राम का अनुकरण कर रहा है? अनुकरण की प्रतीति के लिए तो अनुकार्य और अनुकर्त्ता की क्रिया-दोनों का ज्ञान अपेक्षित है, जिसने रामादि को देखा है वही उनके रूप-व्यवहार आदि के अनुकरण की प्रतीति कर सकता है, पर रामादि को किसने देखा?

नट की दृष्टि से :

यदि अनुकरण का अर्थ है सदृशकरण, तब मूल व्यक्ति को देखे बिना वह कैसे संभव है? और यदि उसका अर्थ पश्चादकरण तब नट ही क्यों कोई भी व्यक्ति जो रत्यादि का अनुभव करता है रामादि के स्थायी भाव का अनुकरण कर सकता है - फिर तो लौकिक भावानुभूति भी रस हो जायेगी । एक प्रश्न यह उठता है कि नट शोकादि स्थायी भाव का अनुकरण किस साधन के द्वारा करता है? अपने शोकादि के द्वारा अथवा अश्रुपात आदि से । किन्तु नट के अश्रुपात से तो अनुकार्य के अश्रुपात अर्थात अनुभाव का ही अनुकरण हो सकता है, स्थायी भाव का नहीं ।

सारांश यह है कि रस निष्पत्ति के लिए शंकुक ने अनुमितिवाद तथा अनुकरण का आधार लिया जो अपूर्ण है । पाश्चात्य काव्यशास्त्र में अरस्तू ने भी जिस अनुकरण की चर्चा की थी उसका मूल तात्पर्य कलात्मक पुन: सृजन ही था । अर्थात अनुकरण के द्वारा मूल सृजन के निकट पहुंचने की साधना । शंकुक ने रस के लिए अनुमान की कल्पना की । अनुमान बुद्धि का विषय है जबकि रस हृदय की मुक्तावस्था का । फिर भी यह तो कहना पड़ेगा कि लोल्लट ने रस को अनुकार्य की प्रत्यक्ष अनुभूति रूप मानकर नाट्यगत भाव और प्रत्यक्ष भाव में जो भ्रांति उत्पन्न कर दी थी शंकुक ने उसका निराकरण किया । उन्होंने यह स्पष्ट किया कि नाट्यगत भाव की प्रत्यक्ष अनुभूति का न होकर उसका अनुकरण अर्थात् कल्पनागत अनुभूति है । कला के मनोविज्ञान का यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है और रस के स्वरूप विश्लेषण में इसका महत्व असंदिग्ध है ।

9.8.3 भट्टनायक - 'भुक्तिवाद

आचार्य भरतमुनि के रस निष्पत्ति विषयक तीसरे प्रमुख व्याख्याकार भट्ट नायक है । अभिनवगुप्त ने 'अभिनव भारती तथा 'ध्वन्यालोक लोचन' में भट्टनायक के भुक्तिवाद की विस्तार से चर्चा की है । भट्टनायक की मान्यता के अनुसार निष्पत्ति का अर्थ 'भावित होना है, मुक्ति नहीं क्योंकि पहले प्रेक्षक 'भावित होना है तदुपरान्त उसका 'भोग करता है । अपने मत की पुष्टि के लिये उन्होंने तीन प्रकार के कार्य व्यापारों की कल्पना की - अभिद्या, भावकत्व तथा भोजकत्व । अभिद्या के द्वारा प्रेक्षक को इतिहास, पुराण, काव्य शास्त्र आदि का सामान्य परिचय होता है । दूसरे व्यापार 'भावकत्व' की साधना में सहृदय के चित्त का राग-द्वेष जनित अज्ञान दूर हो जाता है, आनंद की अनुभूति में ममत्व-परत्व की बाधा दूर हो जाती है एक प्रकार से विभाव आदि साधारणीकृत हो जाते है तथा तृतीय अवस्था में रस का भावित रूप अनुभूत होने लगता हैं भरतमुनि जिसे 'निष्पत्ति कहते हैं वह भट्टनायक की शब्दावली में स्थायी भाव का भावित होना है । इस संदर्भ में डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं - रस प्रकार भावकत्व व्यापार

का कारण है शब्दार्थ में दोष का अभाव तथा गुणालंकार का सद्भाव, आधुनिक शब्दावली में कल्पना तत्व का समावेश और कार्य है काव्य सामग्री का साधारणीकरण, परिणामत: सहृदय के चित्त की व्यक्तिगत संसर्गो से मुक्ति और अंत में इस त्रिविधि प्रक्रिया के फलस्वरूप सहृदय के स्थायी भाव की, भावित होकर रस में परिणति ।"

तीसरा व्यापार भोजकत्व है - जिसके द्वारा सहृदय भावकत्व द्वारा सिद्ध रस का भोग करता है । यह भोग अनुभव तथा स्मृति आदि अर्थात् प्रत्यक्ष तथा परोक्ष लौकिक अनुभव में विलक्षण है । इस समय तत्व का उद्रेक होने से यद्यपि सहृदय का चित्त चैतन्य के प्रकाश से परिपूर्ण एवं आनंदमग्न हो जाता है, फिर भी उसमें रजोगुण और तमोगुण के मिश्रण के कारण द्रुति विस्तार तथा विकास की स्थिति रहती है । रस भोग्य या आस्वाद्य है, आस्वाद्य रूप नहीं है । भावित होकर अथवा कल्पना का विषय बनकर सहृदय का स्थायी भाव रस बन जाता है और तब वह उसका भोग अर्थात आनंदमय आस्वादन करता है ।... निष्पत्ति का अर्थ हुआ भावित होना या भावितति । विभावादि के साथ संयोग होने से स्थायी भाव भावित होकर रस रूप में परिणित हो जाता है - यही रस की निष्पत्ति है । विभावादि भावन क्रिया के कारण या भावक हैं और स्थायी भाव भाव्य है । अत: संयोग का अर्थ हो जाता है भावक-भाव्य संबंध ।.... इस प्रकार भट्टनायक का अभिप्राय सहृदय के स्थायी भाव से है - सहृदय भावकत्व व्यापार के द्वारा अपने स्थायी भाव का साधारणीकृत रूप में - रस रूप में - अनुभव करता है और फिर इस प्रकार सिद्ध रस का भोजकत्व व्यापार द्वारा मांग करता है - रस का स्थान शब्दार्थ न होकर सहृदय चित्त ही है: काव्य के भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों की क्रिया भूमि वहीं है ।

भट्टनायक के मत की सर्वोत्तम देन काव्य जगत में साधारणीकरण के सिद्धान्त की है । काव्यास्वादन का यह मूलभूत प्रश्न है कि काव्य में प्रस्तुत व्यक्ति के भाव (कवि के अथवा कवि निबद्ध पात्र) - सहृदय के आस्वाद्य कैसे बन जाते है । इसका समाधान भट्टनायक ने साधारणीकरण सिद्धान्त के द्वारा किया है । रस की आनंद प्रदायक स्थिति का ऐसा स्पष्ट व मनोवैज्ञनिक विवेचन किसी दूसरे आचार्य ने पूर्व में नहीं किया ।

सीमाएँ:

परवर्ती आचार्यो ने भावकत्व तथा भोजकत्व को स्वीकार नहीं किया । पाश्चात्य विद्वान आई.ए. रिचर्डस का सम्प्रेषण सिद्धान्त तथा मुक्त बिंब विधान भट्टनायक के तीनों कार्य व्यापारों से साम्य रखता है ।

9.8.4 अभिव्यक्तिवाद

अभिनवगुप्त भरतमुनि के रस सूत्र के चौथे व्याख्याता हैं । इनका सिद्धान्त अभिव्यक्तिवाद कहलाता है । अभिनवगुप्त ने सामाजिकों के हृदय में वासना रूप से स्थायी भावों की उपस्थिति स्वीकार की है । उन्होंने सामाजिक अन्तःकरण में वासना रूप संस्कारों की कल्पना करते हुए रस और सामाजिक के भावों का प्रत्यक्ष संबंध स्वीकार किया । रसानुभूति के लिए सामाजिक के हृदय में अनादि वासना अनिवार्य है । ये संस्कार ही स्थायी भाव हैं । अभिनवगुप्त ने विभाग आदि के रसास्वाद के लिए भट्टनायक के साधारणीकरण सिद्धान्त को स्वीकार किया । इस संदर्भ में उन्होंने चार स्थितियों की कल्पना की । - (1) प्रथम अवस्था में दृश्य काव्य (रंगमंच)

व्यक्ति अथवा स्थिति विशेष का बोध होता है । (2) द्वितीय अवस्था में रंगमंचीय वातावरण अथवा काव्य की वर्णनकला से प्रेक्षक, पाठक या दर्शक कथावस्तु से दूरी समाप्त होने लगती है । (3) तृतीय अवस्था में चित्त में स्थिति स्थायी भाव साधारणीकृत होकर उद्बुद्ध होने लगते हैं तथा चतुर्थ अवस्था में सहृदय साधारणीकृत अवस्था में स्थायी रस का आस्वादन करने लगता है । अभिनवगुप्त ने निष्पत्ति का तात्पर्य 'अभिव्यक्ति' को माना है । विभावों के द्वारा स्थायी भाव अंकुरित, अनुभवों से पल्लिवित संचारियों से पुष्पित तथा समवेत रूप में रस रूप में फलित होते हैं । इस प्रकार स्थायी भाव रस रूप में सहृदयों के चित में अभिव्यक्त होते हैं ।

अभिनवगुप्त के सिद्धान्त को प्राय: सभी आचार्यो ने स्वीकार किया है । अभिनवगुप्त ने ही सर्वप्रथम रस के एकान्त सहृदयनिष्ठ रूप की सत्ता की परिकल्पना की । डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त से इस संदर्भ में सत्य ही लिखा है - रसानुभूति के ..... समय एक ओर तो हम प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, वास्तविक एवं अवास्तविक, अपने और पराये की भावना से भिन्न विलक्षण चमत्कार पूर्ण अनुभूति प्राप्त करते हैं, दूसरी ओर हमारी चेतना सभी प्रकार की वैयक्तिक चिंताओं से मुक्ति पाकर पूर्ण विश्रान्ति (शांति) की अनुभूति प्राप्त करती है जो आनंदमय होती है । इसलिए उसे चमत्कार, विश्रान्ति, रसनीयता आदि से उपमित किया गया है । इस प्रकार आचार्य अभिनवगुप्त ने रस के स्वरूप को अत्यन्त व्यापक रूप में प्रस्तुत करते हुए उसकी अनुभूति के विभिन्न पक्षों, तत्त्वों एवं रूपों का विश्लेषण सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में किया गया है । उनके विचार से लौकिक भावानुभूति एवं रसानुभूति में मुख्यत: कलात्मकता, सौन्दर्यात्मकता, साधारणीकरण, निर्विघ्नता एवं रसीनयता का अंतर है ।"

डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं - रस की अभिव्यक्ति ही होती है, यह निर्विवाद है । आस्वादात्मक एवं निर्विध्न प्रतीति से गाह्य स्थायी भाव ही रस है और स्थायी भाव अनादि वासना के रूप में प्रमाता के चित्त में विद्यमान रहता है । नाट्य तथा काव्य में प्रस्तुत विभावादि का सम्पर्क होने से वह अभिव्यक्त होकर रसनीय बन जाता है या रस में परिणित हो जाता है । इस प्रकार विभावादि व्यंजक है और (रस रूप में परिणत) स्थायी भाव व्यंग्य है - दूसरे शब्दों में रस भी व्यंजक है अत: निष्पत्ति का अर्थ हुआ अभिव्यक्ति और संयोग का अर्थ हुआ अभिव्यक्ति और संयोग का अर्थ हुआ व्यंग्य - व्यंजक संबंध । अभिनव का आधारभूत दर्शन शैवाद्वैत था .... वे प्रत्यक्ष विज्ञान दर्शन के प्रतिष्ठापकों में अग्रणी हैं ।

9.9 सारांश

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि रसनिष्पत्ति भारतीय काव्यशास्त्र का एक महत्वपूर्ण अध्याय है । रस का स्वरूप, रस निष्पत्ति जैसे महत्वपूर्ण विषय पर आचार्य भरतमुनि से लेकर वर्तमान में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी. डॉ. नगेन्द्र तथा डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त प्रभूति विद्वानों ने गंभीरतापूर्वक तथा विस्तार से आस्वादन चिन्तक अनुचिंतन किया है । काव्य आनंद को 'ब्रह्मानंद सहोदर काव्यास्वाद' कहा गया है, इसे समझने में भी भरतमुनि के रस निष्पत्ति विषयक सूत्र को समझना अनिवार्य है ।

9.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. 'रस' को विभिन्न संदर्भो में कैसे परिभाषित किया गया? समझाइये?
2. 'रस' का स्वरूप क्या है? 'ब्रह्मस्वाद सहोदर' से क्या आशय है?
3. 'रस' के विभिन्न अवयव क्या हैं? समझाइये?
4. 'रस' सूत्र के प्रमुख काव्यकारों के मत क्या है?
5. 'साधरणीकरण' की अवधारणा क्या है? समझाइये ।

9.11 संदर्भ ग्रंथ

1. डॉ. नगेन्द्र - रस सिद्धान्त
2. डॉ. गणपतिचन्द्र - रस सिद्धान्त का पुनर्विवेचन
3. रामचन्द्र शुक्ल - रस मीमांसा
4. डॉ. मक्खन लाल शर्मा - भारतीय काव्शास्त्र के सिद्धान्त
5. हिन्दी साहित्य कोष (प्रथम भाग) सं. - डॉ. धीरेन्द्र वर्मा (ज्ञानमण्डल, वाराणसी)

इकाई -10 साधारणीकरण

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 साधारणीकरण सिद्धान्त: विभिन्न आचार्य एवं उनके मत

10.2.1 प्रवर्त्तक आचार्य भट्टनायक

10.2.2 अभिनव गुप्त

10.2.3 धनञ्जय

10.2.4 आचार्य मम्मट

10.2.5 आचार्य विश्वनाथ

10.2.6 पंडितराज जगन्नाथ

10.2.7 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

10.2.8 आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

10.2.9 बाबू श्यामसुन्दर दास

10.2.10 डॉ. गुलाबराय

10.2.11 डॉ. नगेन्द्र

10.3 सारांश

10.4 अभ्यासार्थ प्रश्न

10.5 संदर्भ ग्रन्थ

10.0 उद्देश्य

आप इस पाठ के माध्यम से साधारणीकरण की पारिभाषिक अवधारणा से परिचित हो सकेंगे।

- रस सूत्र की व्याख्या के क्रम में भट्ट नायक और अभिनव गुप्त, मम्मट, आचार्य विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ की व्याख्या से अवगत हो सकेंगे ।
- साधारणीकरण किसका होता है? इस प्रश्न के उत्तर में विभिन्न विचारकों के मत का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे ।
- संस्कृत काव्यशास्त्र के पश्चात हिन्दी के आलोचकों के साधारणीकरण सम्बन्धी मतों का महत्त्व जान सकेंगे ।
- साधारणीकरण की व्याख्या और विवेचना के क्रम में अंतिम निष्कर्ष तक पहुँच सकेंगे ।

10.1 प्रस्तावना

साधारणीकरण सिद्धान्त का रस निष्पत्ति के साथ निकट संबंध है । इसके द्वारा काव्यास्वाद के महत्त्वपूर्ण प्रश्न का मनोवैज्ञानिक समाधान प्रस्तुत किया जाता है । साधारणीकरण सिद्धान्त: विभिन्न आचार्य एवं उनके मत साधारणीकरण शब्द व्याकरणिक दृष्टि से

साधारण-च्वि-करण के संयोग से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है असाधारण को साधारण करने की क्रिया । तदनुसार असाधारण या विशिष्ट को साधारण, सर्वसामान्य या सार्वजनीन बनाने की क्रिया का नाम साधारणीकरण है ।

काव्यशास्त्र में साधारणीकरण - सिद्धान्त का अपना महत्त्व है, जिसके अनुसार काव्य में वर्णित दुष्यंत आदि पात्रों के भाव किस प्रकार सर्वसाधारण के द्वारा ग्राह्य होने है, इसी तथ्य का निरूपण किया जाता है अर्थात् काव्यानुशीलन या नाट्यप्रेक्षण के समय सहृदय या सामाजिक को किस प्रकार कवि-निबद्ध भावों की अनुभूति होती है उस प्रक्रिया का ज्ञान साधारणीकरण द्वारा ही होता है ।

भारतीय साहित्यशास्त्र में इस सिद्धान्त के प्रवर्त्तक भट्टनायक माने जाते है, पर विद्वानों ने इसका आरम्भ कर भरत-कृत नाट्यशास्त्र में माना है । डॉ. नगेन्द्र के अनुसार इस सिद्धान्त का संकेत भरत के इस कथन से होता है कि जब इन भावों को सामान्य रूप से प्रस्तुत किया जाता है । तो रस की निष्पत्ति होती है ।

एभ्यश्च सामान्यगुण योगेन रसा निष्पते ।

10.2.1 प्रवर्त्तक आचार्य भट्नायक

इस सिद्धान्त के प्रवत्तक् भट्नायक का मत इस प्रकार है ।

(ख) भट्टनायक के अनुसार विभावादि का निविड़ निजत्व मोह से मुक्त होना ही साधारणीकरण है।

(ग) साधारणीकरण भावकत्व व्यापार द्वारा ही सिद्ध होता है । इसका अभिप्राय यह है कि काव्य में वर्णित राम-सीता या दुष्यंत - शकुंतला अपने निजी व्यक्तित्व या रामत्व या दुष्यंतत्व-संबंध का त्यागकर सामान्य पुरूष-स्त्री के रूप में उपस्थित होते है । उस समय प्रेक्षक उन्हें दुष्यंत या शकुंतला के रूप में न देखकर सामान्य पुरूष-स्त्री के रूप में तथा उनके द्वारा प्रदर्शित रति आदि स्थायी भावों को सामान्य रति आदि भाव के रूप में अनुभव करते हैं । इस स्थिति में दुष्यंत आदि का व्यक्तिवाद विशिष्टता का परित्याग कर सामान्य रूप में प्रतीत होने लगता है ।

(घ) भट्नायक के मत से विभावा आदि का ही साधारणीकरण होता है अर्थात् स्थायी, संचारी विभाग अनुभाव सभी का साधरणीकरण होता है ।

(ङ) भावकत्व व्यापार द्वारा भाव्यमान स्थायीभाव की परिणति रस-रूप में होती है । विभाव का साधारणीकरण पहले होता है और स्थायी भाव का बाद मे ।

10.2.2 अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के साधारणीकरण-सिद्धान्त को संशोधित रूप में स्वीकार किया तथा इसे व्यापक परिवेश प्रदान कर देश्काल की परिधि से परे मान लिया । इनके मत की विशेषताएँ इस प्रकार है

(क) इनके मतानुसार न केवल विभाव आदि का अपितु स्थायी भाव का भी साधारणीकरण होता है । स्थायीभाव के साधारणीकरण का अभिप्राय है देशकाल की परिधि का टूटना

या बंधन से मुक्ति । ऐसी स्थिति में व्यक्तिआत्मचेतना मुक्त हो जाता है, और सुख दुःख की भौतिक चेतना नष्ट हो जाती है ।

(ख) साधारणीकरण की अवस्था में सामाजिक या दर्शक भावमुक्त होकर एकाग्रचित से रस का अनुभव करता है अर्थात् भाव का साधारणीकरण वैयक्तिक क्रिया नहीं है, वह कला के क्षेत्र में सामूहिक किया है । परिणामत: साधारणीकरण का मूल स्थायी भाव का ही साधारणीकरण है ।

(ग) अभिनवगुप्त साधारणीकरण के दो स्तरों को स्वीकार करते हैं- एक स्थिति में विभावादि के विशेष संबंध का तिरोहित हो जाना तथा दूसरी स्थिति में सामाजिक के व्यक्तित्व बंधन का नष्ट होना । अभिप्राय यह है कि विभाव आदि के साथ स्थायी भाव के साधारणीकरण होने से सामाजिक की अनुभूति का साधारणीकरण होना । अभिनव ने वासना रूप में स्थायी भाव की स्थिति को मान्यता देकर उसका साधारणीकरण स्वीकार किया है ।

(घ) स्थायी भाव का साधारणीकरण मानने पर ही संबंधों का परिहार संभव है । इन्होंने कवि के समस्त व्यापार का साधारणीकरण स्वीकार किया है अर्थात् साधारणीभूत सहृदय प्रथमत: कवि के साथ तादात्म्य स्थापित कर प्रकारांतर से नायक (काव्य या नाटक) के साथ तादात्म्य स्थापित करता है ।

10.2.3 धनंजय

धनंजय रस की अवस्थिति सामाजिक में स्वीकार करते हैं । साधारणीकरण सिद्धान्त को अपनाते हुए इन्होंने कहा कि काव्य में वर्णित रामादि अपने विशेष व्यक्ति का त्यागकर साधारण पुरूष के रूप में उपस्थित होते है । धनजयनर्तक के रसास्वाद को भी स्वीकार करते हैं अर्थात अभिनय करते समय नर को भी रसास्वाद होता है ।

रसोत्पत्ति के संबंध में इन्होंने शंकुक के मत का ही समर्थन किया है । जिस प्रकार शिशु मिट्टी के घोड़े हाथियों को वास्तविक घोड़ा-ळाथी समझकर उनके साथ क्रीड़ा करता है, उसी प्रकार प्रेक्षक भी अवास्तविक अर्जुन आदि पात्रों तट के रूप मे) को ही वास्तविक पात्र मानकर उनसे आनन्द प्राप्त करते है, अथीनेता के उत्साह से स्वयं उत्साहित होने होते है ।

रस, रसिक सहृदय में ही होता है, अनुकार्य में नहीं । उसकी अनुभूति अनुकार्य या राम-सीता को नहीं होती, रसिकों, दर्शकों या सामाजिकों को होती है ।

10.2.4 आचार्य मम्मर

आचार्य मम्मर ने साधारणीकरण के संबंध में अपना कोई विचार प्रकट न कर अभिनवगुप्त के मत को ही स्वीकार किया है । इनके टीकाकार गोविन्द ठाकुर के अनुसार भावकत्व को साधारणीकरण कहते हैं जिसके द्वारा विभाव तथा स्थायी भाव का साधारणीकरण हो जाता है । इस स्थिति में (साधारणीकरण में) सीता आदि विशेष स्त्री पात्रों को कामिनी रूप में समझ लिया जाता है । स्थायी तथा अनुभाव आदि के साधारणीकरण सम्बन्ध का अर्थ, विशेष बंधन से मुक्ति है ।

इस मत के अनुसार विभाव (आलंबन, आश्रय और उद्दीपन), अनुभाव, स्थायी एवं संचारी सभी का साधारणीकरण होता है ।

10.2.5 आचार्य विश्वनाथ

आचार्य विश्वनाथ ने स्थायी तथा विभावादि का साधारणीकरण माना है । इनका कथन है कि रसास्वाद के समय इस विशेष सम्बन्ध का परिहार नही होता कि ये (विभावादि) मेरे हैं अथवा मेरे नहीं हैं- अन्य के हैं अथवा अन्य के नहीं है ।

श्रृंगार आदि रसों के रति आदि स्थाई भाव की काव्य या नाटक में सामान्य रूप से प्रतीत होती है । यही साधारणीकरण विभावादि का विभावन व्यापार कहा जाता है । इसी के प्रभाव से उस समय प्रभाता (दृष्टा या श्रोता) अपने को समुद्र पार करने वाले हनुमान आदि से अभिन्न समझने लगता है । यद्यपि समुद्र- लंघन मनुष्य के लिए संभव नहीं है, तथापि हनुमानादि के साथ अभेद स्थापन के द्वारा सामाजिकों के चित्र में वैसा ही उत्साह उत्पन्न हो जाता है । विश्वनाथ प्रभाता के साथ आश्रय के तादात्म्य का वर्णन साधारणीकरण के कारण ही करते है । साधारणीकरण व्यापार की विशेषता आश्रय के समझ प्रभाता का अभेद-स्थापित होने में ही है । विश्वनाथ विभावों का साधारणीकरण मानते हैं और उसी के साथ पाठक या दर्शक का आश्रय के साथ तादात्म्य भी उन्हें मान्य है ।

विश्वनाथ ने विभावादि के साधारणीकरण को स्वीकार किया है, साथ ही उन्हें स्थायी का भी साधारणीकरण मान्य है । वे प्रभाता के समय नायक के अभेदत्व की स्थापना करते है । उनके मतानुसार न तो प्रभाता विभावादि के संबंध को स्वीकार ही करता है और न उनका परिहार करता है । पंडितराज जगन्नाथ पंडितराज जगन्नाथ ने साधारणीकरण के संबंध में अपना मौलिक चिंतन प्रस्तुत किया है । वे सामान्य रूप से साधारणीकरण को स्वीकार नहीं करते और किसी दोष की कल्पना कर उसके द्वारा ही (दोषात्मक कल्पना से) प्रमाता की आत्मा में दुष्यंत आदि के साथ अभेद स्थापित करते हैं । प्रभाता की आत्मा कल्पित दुष्यंतत्व से आच्छदित हो जाती है । अर्थात वह अपने को दुष्यंत समझ लेता है तब उसे अपने को शकुंतला का प्रेमी समझने में कोई बाधा नहीं रह जाती । "उस दोष के कारण कल्पित दुष्यंतत्व से आच्छन्न में, कल्पित शकुंतला विषयक रति भी भासित होने लगती है, जैसे दूरत्व आदि दोषों के कारण जब सीप के टुकड़े अज्ञान से ढक जाते है । वास्तविक रूप में नहीं समझ पड़ते तब उन टुकड़ों में भी चाकचिक्य दोष से चाँदी के टुकड़े उत्पन्न हो जाते हैं- अर्थात वे सीप के टुकड़े चाँदी के टुकड़े प्रतीत होने लगते है, यद्यपि न हम में शकुंतला आदि की रति वास्तविक रूप में रहती है, न सीप के टुकड़ों में चाँदीपन तथापि आत्म उसका भान करा देती है ।

इस क्रम में प्राचीनों के इस मत को अमान्य घोषित करते हुए पंडितराज कहते हैं यद्यपि विभावादि के साधारणीकरण का कथन प्राचीन आचार्यो ने किया है तथापि उनका किसी भी दोष की कल्पना किए बिना सिद्ध होना कठिन है । क्योंकि काव्य में शंकुतलादि बोधक शब्दों के द्वारा पुन: कांता आदि के रूप में उनका बोध कैसे संभव है अर्थात् काव्य में शकुंतला आदि के वर्णन से उनका ज्ञान शकुंतला आदि के रूप में ही होता है । मात्र स्त्री के रूप में ही नहीं ।

पंडितराज, अभिनवगुप्त की भांति व्यंजना शक्ति के द्वारा विभावादि का साधारणीकरण स्वीकार करते हैं । दोषात्मक भावना की कल्पना कर इन्होंने साधारणीकरण के मत को वेंदात की पीठिका पर अधिष्ठित किया है । पर यह विचार किसी दार्शनिक (वेदांती) को ही मान्य हो सकता है, इससे सहृदय को आनंदोपलब्धि नहीं हो सकती ।

10.2.7 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

पंडितराज के पश्चात संस्कृत काव्यशास्त्र में मौलिक चिंतन की परम्परा निःशेष हो गई । हिन्दी आलोचकों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साधारणीकरण सिद्धान्त का विवेचन एवं पुनराख्यान किया । उन्होंने 'चिंतामणि' और रसमीमांसा में इस प्रश्न को नए सिरे से उठाकर इसका अपने ढंग से समुचित समाधान प्रस्तुत किया । शुक्ल जी के शब्दों में इसका विवेचन इस प्रकार है-

1. जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यत: सबके उसी भाव का आलंबन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूरी शक्ति नहीं आती । इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है ।
2. (क) काव्य का विषय सदा विशेष होता है सामान्य नहीं, वह व्यक्ति सामने लाता है, जाति नहीं ।

   (ख) साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु विशेष आती है वह जैसे काव्य में वर्णित आश्रय के भाव का आलंबन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलंबन हो जाती है ।

   (ग) जिस व्यक्ति विशेष के प्रति किसी भाव की व्यंजना कवि या पात्र करता है, पाठक या श्रोता की कल्पना में वह व्यक्ति-विशेष ही उपस्थित रहता है ।
3. कल्पना की मूर्ति तो विशेष को ही होगी पर वह मूर्ति ऐसी होगी, जो प्रस्तुत भाव का आलंबन हो सके, जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन में जगाए, जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि करता है । इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलंबनत्व धर्म का होता है । - चिंतामणि भाग-1, पृ. 227-230
4. व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है, जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है । इसका तात्पर्य यही है । कि रसमग्न पाठक के मन में यह भेद-भाव नहीं रहता कि यह आलंबन मेरा है या दूसरे का । थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है । वही
5. साधारणीकरण में आलंबन द्वारा भाव की अनुभूति, प्रथम कवि में चाहिए, फिर उसके वर्णित पात्र में ओर फिर श्रोता या पाठक में । विभाव द्वारा जो साधारणीकरण कहा गया है, वह तभी चरितार्थ होता है । - रस मीमांसा पृ. 99

शुक्ल जी के अनुसार कवि, विभाव तथा सहृदय तीनों में ही साधारणीकरण के तत्व विद्यमान है । इनके मत से वही रसानुभूति उत्तम है, जिसमें तीन तत्त्वों का साधारणीकरण होता है।

शुक्ल जी आलंबनत्व धर्म के साधारणीकरण तक ही अपने को परिमित न कर, सहृदय के साथ तादात्म्य की भी स्वीकृति देते हैं । आलंबनत्व धर्म के साधरणीकरण से उनका अभिप्राय यह है कि साधरणीकरण आलंबन के उन सामान्य गुणों का होता है, जिसके कारण शकुंतला दुष्यंत को प्रिय लगती है । काई आलंबन का इस प्रकार वर्णन करता है कि वह अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए भी साधारण धर्मो के कारण सभी पाठकों के मन में वैसा ही भाव उद्बुद्ध करता है, जैसा कि काव्य प्रसंग के अन्तर्गत आश्रय के मन में आता है । शुक्ल जी भाव के साधारणीकरण को स्वीकार करते हुए भी आलंबनत्व धर्म के साधारणीकरण पर अधिक बल देते हैं ।

शुक्ल जी के साधरणीकरण के संबंध में आलंबन के साधारणीकृत होने पर तो बल है ही एक अन्य बिन्दु भी उभरकर स्पष्ट होता है और वह है काव्य या नाटक में वर्णित आश्रय के साथ पाठक या सहृदय का तादात्म्य । पूर्ण रसानुभूति के लिए साधारणीकरण के ये दोनों पक्ष कहे जा सकते हैं । शुक्ल जी ने इस सिद्धान्त और साधारणीकरण का विवेचन करते हुए 'चिंतामणि भाग 2' में रसात्मक बोध के विविध रूप निबन्ध में रसानुभूति के विविध स्वरूप निर्धारित किए है । पहली कोटि में साधारणीकरण की रसानुभूति आती है किंतु दूसरी और तीसरी कोटि में शुक्ल जी के मतानुसार पाठक या सहृदय को पूर्ण रसानुभूति नहीं होती, वह मात्र शील दृष्टा बनकर रह जाता है । उदाहरण के लिए माइकल मधुसूदन दत्त द्वारा रचित मेघनाद वध द्वारा रचित काव्य में कवि ने मेघनाद का चित्रण नायक के रूप में भले ही किया हो किंतु सामान्य पाठक उसके साथ तादात्म्य नहीं स्थापित कर सकता वह तटस्थ बना रहता है तथा विस्मय और कौतूहल से नायक के शील या चरित्र को देखता रहता हे । शुक्ल जी के इस विवेचन में रसानुभूति की अलग-अलग कोटियाँ सामने आती हैं आगे चलकर डी. नगेन्द्र ने अपने विवेचन में शुक्ल जी के इस मत की समीक्षा की है ।

10.2.8 आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार साधारणीकरण का अर्थ रचयिता ओर उपभोक्ता (काई और दर्शक) के बीच भावना का तादात्म्य है । साधारणीकरण वास्तव में कवि-कल्पित समस्त व्यापार का होता है, केवल किसी पात्र विशेष का नहीं ।नया साहित्य, नए प्रश्न- पृ. 122 वाजपेयी जी ने कवि-कल्पित समस्त व्यापार का साधारणीकरण स्वीकार किया है, केवल किसी पात्र विशेष का नहीं । वे सहृदय की दृष्टि से ही काव्य-व्यापार का साधारणीकरण स्वीकार करते है, कवि और सहृदय के साधारणीकरण पर विचार नहीं करता देवताओं या पूज्य व्यक्तियों के रतिभाव के साथ दर्शक का किस प्रकार साधारणीकरण होगा इस पर विचार करते हुए उन्होंने कहा कि कवि या रचनाकार के लिए भी वे पात्र उतने ही पूज्य होते है, जितने कि दर्शक या प्रेक्षक के लिए, अत: ऐसी स्थिति में कवि द्वारा वर्णित पूज्य व्यक्तियों के प्रति रति-भाव दर्शक के मन में भी उसी भाव की सृष्टि करेगा ।

जैसा कि नाटककार या कवि के मन में उस भाव का अनुभव हुआ होगा । वाजपेयी जी रचनाकार तथा उपभोक्ता (प्रेक्षक एवं सहृदय) के बीच भावना के तादात्म्य को ही साधारणीकरण कहते हैं ।

10.2.9 बाबू श्याम सुंदर दास

श्यामसुन्दरदास ने साहित्यालोचन' में आचार्य केशव प्रसाद मिश्र के उद्धरण के आधार पर साधारणीकरण का विवेचन किया है । इनके अनुसार जब तक सांसारिक वस्तुओं का हमें अपर प्रत्यक्ष होता रहता है, तब तक शोचनीय वस्तु के प्रति हमारे मन में दुःखात्मक शोक अथवा अभिनदनीय वस्तु के प्रति सुखात्मक हर्ष उत्पन्न होता है । परंतु जिस समय हमकों वस्तुओं का परप्रत्यक्ष होता है । उस समय शोचनीय अथवा अभिनदनीय, सभी प्रकार की वस्तुएँ हमारे केवल सुखात्मक भावों का आलंबन बनकर उपस्थित होती हैं । उस समय दुःखात्मक क्रोध, शोक आदि भाव भी अपनी लौकिक सुखात्मकता को छोड़कर अलौकिक सुखात्मकता धारण कर लेने हैं । साहित्यालोचन पृ. 276 । बाबू साहब ने इसे अभिनवगुप्त का साधारणीकरण कहा है । उन्होंने मधुमती भूमिका तथा साधारणीकरण के अभिनत्व का कथन कर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात कही है । साधारणीकरण के संबंध में उनके विचार-सूच है ।

(क) रसानुभूति मधुमती भूमिका में होती है और मधुमती भूमिका में पर-प्रत्यक्ष होता

(ख) चित्तवृत्ति की इसी एकतानता का नाम साधारणीकरण है ।

(ग) इस रस दशा में सभी प्रकार की वस्तुएँ हमारे सुखात्मक भावों का आंलबन बन जाती है।

(घ) रसानुभूति कवि तथा सहृदय दोनों को होती है ।

इन्होंने कवि या भावक की चित्रवृत्ति के साथ साधरणीकरण को संबंद्ध कर अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य प्रस्तुत किया है । इनका विचार परम्परा समर्थित है ।

10.2.10 डॉ. गुलाबराय

डॉ. गुलाबराय ने सिद्धान्त और अध्ययन' नामक ग्रन्थ में साधारणीकरण का विवेचन किया है । इन्होने व्यक्ति का नहीं अपितु उसके संबंधों का साधारणीकरण माना है तथा कवि पाठक एवं भावों के साधारणीकृत होने की बात कही है । साधारणीकरण व्यक्ति का नहीं (आलंबन के सामान्य बन जाने के कारण उसका कोई अस्तित्व नहीं रह जाता है ।) वरन् उसके सबंधों का होता है । जल, वायु नीलाकाश की भाँति उस पर किसी का विशेषाधिकार नहीं रहता । उसमें न ममत्वजन्म दुःख और न परत्वजन्य ईर्ष्यादि भावों की गुजाइश रहती है । कवि भी अपने निजी व्यक्तित्व से ऊँचा उठकर साधारणीकृत हो जाता है । वह लोक का प्रतिनिधि होकर भावाभिव्यक्ति करता है । पाठक का साधारणीकरण इस अर्थ में होता है कि वह अपने व्यक्तित्व के क्षुद्र बंधनों को तोड़कर लोक सामान्य की भाव भूमि पर आ जाता है । उसका हृदय कवि और लोक हृदय के साथ प्रतिस्पंदित होने लगता है । अपने व्यक्तित्व की अनुभूति रसास्वाद में बाधा मानी गई है । सिद्धान्त और अध्ययन पृ. 215,217

भावों का साधारणीकरण इस अर्थ में होता है कि उनमें अय निज: परो वा की भावना जाती रहती है और इस कारण उनमें लौकिक अनुभव की स्थूलता, कटुता, तीक्ष्णता और रूक्षता नहीं रहती' - वहीं पृ.218

गुलाब राय जी साधारणीकरण को मानव की सामान्य प्रवृत्ति मानकर यह कहते हैं कि कवि अपने को व्यापक बनाने के लिए ही काव्य-रचना में प्रवृत्त होता है । वह साधारणीकरण के उद्देश्य से ही काव्य की रचना करता है । वे उपयोगिता की दृष्टि से ही साधारणीकरण पर

विचार करते है । और स्वीकार करते हैं कि इसमें सहानुभूति का विस्तार होता है और भावों का परिष्कार भी ।'

10.2.11 डॉ. नगेन्द्र का मत

डॉ. नगेन्द्र ने साधारणीकरण के संबंध में रीति काव्य की भूमिका तथा रस - सिद्धान्त नामक ग्रन्थों में अत्यन्त मौलिक विचार व्यक्ति किए हैं । इन्होने साधारणीकरण सिद्धान्त की विवेचना करते हुए दो तथ्यों पर विचार किया है साधारणीकरण किसका होता है? और साधारणीकरण किसे होता है?

(क) साधारणीकरण का अर्थ है काव्य के भावन द्वारा पाठक या श्रोता का भाव की सामान्य भूमि पर पहुँच जाना दुष्यंत की शकुंतला के प्रति रति का भावन करते हुए भाव की उस अवस्था पर पहुँच जाना जहाँ यह रति शकुंतला के प्रति दुष्यंत की रति न रहकर पुरूष की स्त्री के प्रति साधारण रति-मात्र रह जाती है । - रीति काव्य की भूमिका पृ. 44

(ख) साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है अर्थात जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति की इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के हृदयों में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कह सकते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है । अनुभूति सभी में होती है, सभी व्यक्ति उसे यत्किंचित् व्यक्त भी कर लेते है, परंतु साधारणीकरण करने की शक्ति सबमें नहीं होती । इसीलिए तो अनुभूति और अभिव्यक्ति के होते हुए भी सब कवि नहीं होते । कवि वह होता है जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सके, दूसरे शब्दों में जिसे लोक हृदय की पहचान हो ।

(ग) साधारणीकरण, भाषा या काव्य भाषा का धर्म है, साधारणीकरण का मूलाधार मानव-सुलभ सहानुभूति है जो सभी मनुष्यों के हृदय में एकतार अनुस्यूत है ।

(घ) अतएव साधारणीकरण का आधार है भाषा का भावमय प्रयोग । भाषा का भावमय प्रयोग प्रयोक्ता की अपनी भावशक्ति पर निर्भर करता है, और प्रयोक्ता के भावों की संवेदन शक्ति का आधार है मानव सुलभ सहानुभूमि । (रीति काव्य की भूमिका से उदधृत)

डॉ. नगेन्द्र के अनुसार कवि की अनुभूति का साधारणीकरण होता है और कवि की अनुभूति के प्रतीत विभाव (आश्रम और आलंबन) हैं । इन्होने साधारणीकरण का अभिप्राय तादात्म्य से लिया है । साधारणीकरण किसे होता है? इसके उत्तर में उनका कहना है कि सहृदय और सामाजिक तथा कवि साधारणीकरण करते हैं । वे मूल नायक का साधारणीकरण नहीं मानते, नटों और नटियों का साधारणीकरण होता है । उन्होंने कवि के समस्त काव्य व्यापार का साधारणीकरण होना स्वीकार किया है अर्थात कवि के समस्त काव्य व्यापार तथा अनुभूति का साधारणीकरण होता है ।

साधारणीकरण सिद्धान्त का विवेचन करने वाले हिन्दी साहित्य के आचार्यो में मुख्य रूप से आचार्य शुक्ल और डॉ. नगेन्द्र का ही विशिष्ट योगदान माना जाता है । शुक्लजी के द्वारा

प्रस्तुत की गयी साधारणीकरण की व्याख्या मौलिक होते हुए भी अपनी सीमाओं को लिये हुए है । उनका बल आलम्बन के साधारणीकरण एवं आश्रय के साथ पाठक को तादात्म्य पर केन्द्रित है । किन्तु काव्य में वर्णित जनक की पुष्प वाटिका का प्रंसग. जिसमें सखियों के साथ विचरण करती हुई

सीता के प्रति राम की जो रति जागृत होती है एक सामान्य पाठक सीता के प्रति पूज्य भाव रखते हुए आश्रय राम के साथ भला तादात्म्य कैसे स्थापित कर सकता है? शुक्लजी के मत में इस प्रश्न का समाधान नहीं है । इन सीमाओं का परिहार डॉ. नगेन्द्र के साधारणीकरण विवेचन में प्राप्त हो जाता है । उनका मानना है कि काव्य का पाठक केवल कवि हृदय से तादात्म्य स्थापित करता है, काव्य में वर्णित किसी पात्र से नहीं । उदाहरण के लिये रामकथा में वर्णित जिस पात्र के प्रति रचनाकार तुलसीदास का जैसा भाव रहा है पाठक भी उसी भाव डूब जाता है । इस प्रकार आधारणीकरण व्यापार का रहस्य कवि की अनुभूति से तादात्म्य स्थापित करने में है । अंततः यह कहना उचित होगा कि डी. नगेन्द्र ने एक प्रकार से साधारणीकरण सिद्धान्त का अर्वमान्य विवेचन प्रस्तुत किया है । यही उनकी विशिष्ट देन है।

10.3 सारांश

साधारणीकरण सिद्धान्त काव्यास्वाद के सार्वभौम तत्व को प्रस्तुत करने वाला भारतीय काव्य चिंतन का मधुर नवनीत है जिसमें सहस्त्रों वर्ष की चितना समाहित है । इसका संबंध काव्य संप्रेषण की प्रक्रिया से है जिसके अन्तर्गत यह विचार किया जाता है कि किस प्रकार काव्य में वर्णित विशिष्ट अनुभूति सहृदय की अनुभूति बन जाती है । इस स्थिति में कवि के भाव 'स्व' और 'पर' की चेतना से मुक्त होकर सहृदय की चेतना के रूप तादात्म्य स्थापित करते है । यह ऐसी भावना जिसमें विभिन्न मनुष्यों के बीच रागात्मक संबंध स्थापित होता है और मनुष्य दूसरों के सुख-दुख को अपना सुख-दुख मान लेता है ।

साधारणीकरण का मूल उद्देश्य है कवि के मूल भावों के साथ दर्शक या श्रोता का संबंध स्थापित होना । साधारणीकरण की अवस्था में देश-काल के बंधन समाप्त हो जाते हैं । इस की अनुभूति को पाठक तक पहुंचाकर कवि उसके हृदय की रसानुभूति को जगाकर स्वयं अखण्ड आनन्द की प्राप्ति करता है । और पाठक को भी आनन्दार्णव में डुबो देता है ।

10.4 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. रसानुभूति में साधारणीकरण सिद्धान्त का क्या महत्व है?
2. संस्कृत काव्यशास्त्र में साधारणीकरण का विवेचन करने वाले आचार्यो के मत का परिचय दीजिये।
3. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साधारणीकरण सिद्धान्त का विवेचन किस रूप में किया है? उदाहरण देकर समझाइये ।
4. शुक्लजी के अतिरिक्त किन प्रमुख हिन्दी आलोचकों ने साधारणीकरण सिद्धान्त की व्याख्या की है? बताईये ।
5. शुक्लजी के पश्चात् साधारणीकरण के विवेचन में नगेन्द्र जी के विचारों का क्या महत्व है ।? स्पष्ट कीजिये ।

10.5 संदर्भ ग्रन्थ

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - चिन्तामणि भाग - 1
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - चिन्तामणि भाग - 2
3. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - रस मीमांसा
4. डॉ. नगेन्द्र - रीतिकाव्य की भूमिका
5. डॉ. नगेन्द्र - भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका
6. डॉ. भगीरथ मिश्र - काव्यशास्त्र
7. आचार्य श्यामसुन्दरदास - साहित्य लोचन
8. आचार्य श्यामसुन्दर दास - रूपक रहस्य
9. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी - बीसवीं शती और हिन्दी साहित्य
10. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी - आधुनिक हिन्दी साहित्य
11. बाबू गुलाबराय - सिद्धान्त और अध्ययन

इकाई - 11 अरस्तू का साहित्य चिंतन

11.0 उद्देश्य
11.1 प्रस्तावना
11.2 अरस्तू का जीवन परिचय व कृतित्व
11.3 प्लेटो का काव्य - संबंधी मत
11.3.1 प्लेटो के आक्षेप व अरस्तू का निराकरण
11.4 अरस्तू के 'अनुकरण संबंधी विचार
11.4.1 कला की अनुकृति प्रकृति
11.4.2 अनुकरण की व्याख्या
11.4.3 विवेचन
11.4.4 अरस्तू के अनुकरण सिद्धान्त की शक्ति और सीमाएँ
11.4.5 आधुनिक काल में अनुकरण का महत्त्व
11.5 त्रासदी
11.5.1 त्रासदी की परिभाषा
11.5.2 त्रासदी के तत्त्व
11.5.3 त्रासदी का महत्त्व
11.6 विरेचन सिद्धान्त
11.6.1 विरेचन शब्द का अर्थ
11.6.2 विरेचन सिद्धान्त की व्याख्या
11.6.3 व्याख्याओं की समीक्षा
11.7 सारांश
11.8 अभ्यासार्थ प्रश्न
11.9 संदर्भ ग्रंथ

11.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- अरस्तू के व्यक्तित्व एवं कषतित्व की जानकारी दे सकेंगे ।
- अरस्तू के साहित्य चिंतन संबंधित विचारों के बारे में बता सकेंगे ।
- प्लेटो के आक्षेप और अरस्तू के अनुकरण संबंधी विचारों का अन्तर बता सकेंगे ।
- अनुकरण, त्रासदी एवं विरेचन सिद्धान्तों को स्पष्ट कर सकेंगे ।

11.1 प्रस्तावना

अरस्तू प्लेटो के शिष्य थे किन्तु काव्य चिंतन विषयक दोनों के विचारों में गंभीर अंतर है । प्लेटो ने अनुकरण अथवा अनुकृति को अनुकरण का अनुकरण कहा था । अरस्तू सबसे पहले

व्यक्ति थे जिन्होंने काव्य की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की थी । प्लेटो ने काव्य को अरस्तू, हीन और हानिकारक बताया किन्तु अरस्तू ने काव्य को सत. गंभीर और उपयोगी बताया था । अरसा मूलत: भौतिक विज्ञान और प्राणी विज्ञान के क्षेत्र के विशेषज्ञ थे । उन्होंने 400 ग्रंथों की रचना की थी जिनमें से निम्न दो ग्रंथ साहित्य संबंधी थे :

1. भाषा शास्त्र (तेखनेसरितोरिकेस) और
2. काव्य शास्त्र (पेरिपोइतिकेस) ।

काव्यशास्त्र ग्रंथ 26 अध्यायों में विभाजित ग्रंथ है । इस ग्रंथ में अरस्तू ने यूनानी काव्य का वस्तुगत विवेचन किया है और प्लेटो के काव्य संबंधी आक्षेपों का उत्तर भी दिया । किन्तु अरस्तू ने गुरू के आक्षेपों का निराकरण खंडन शैली में नहीं किया है । उनके तर्क काव्य पक्ष के समर्थन की चिन्ता से प्रेरित हैं । उनके काव्य सिद्धान्तों का अनुकरण सिद्धान्त, त्रासदी विवेचन एवं विरेचन शीर्षकों के अन्तर्गत मूल्यांकन किया जा रहा है ।

11.2 अरस्तू का जीवन परिचय एवं कृतित्व

अरस्तू का जन्म यूनान के उपनिवेश में मकदूनिया नामक स्थान पर 384 ई० पू० में एक राज परिवार के वैद्य के घर में हुआ था । अरस्तू बाल्यकाल से ही कुशाग्र बुद्धि, मेधावी एवं विद्याव्यसनी थे । जब वे किशोर हुए तो एथेंस में प्लेटो के विद्यापीठ में विद्या प्राप्त करने के लिए गए । वहाँ प्लेटो के शिष्य के रूप में उन्होंने बीस वर्ष तक दर्शन की शिक्षा ग्रहण की । प्लेटो अरस्तू की प्रतिभा से अत्यंत प्रभावित थे और वे उनके प्रिय शिष्य थे । विद्यापीठ से बाहर आने के पश्चात् वे मकदूनिया के राजपुत्र सिकन्दर के शिक्षक बन गए । आठ वर्ष तक सिकन्दर के शिक्षक रहने के पश्चात वे ऐथेंस लौट गए और एक विद्यापीठ की स्थापना कर ली । इस विद्यापीठ में अनेक विषयों की शिक्षा दी जाती थी । अरस्तू विद्यापीठ में स्वयं अनेक विषय पढ़ाते थे । 322 ई० पू० में 62 वर्ष की अवस्था में अरस्तू का देहान्त हो गया।

अरस्तू के लिए प्रसिद्ध है कि उन्होंने चार सौ ग्रंथों की रचना की थी । उनकी विद्वता का प्रसार ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में था । उन्होंने दर्शन, नीतिशास्त्र, राजनीति शास्त्र, अध्यात्म, प्राकृतिक विज्ञानों आदि पर अनेक ग्रंथों की रचना की थी । संप्रति इनके सब ग्रंथ उपलब्ध नहीं है । साहित्य से संबद्ध तेखनेस रितेरि केस' भाषण कला पर लिखा हुआ ग्रंथ है । इस ग्रंथ में भाषण कला के साथ भाषा तथा अभिव्यक्ति पर भी विचार किया गया है । उनका दूसरा ग्रंथ "पेरि पोइतिकेस" काव्यशास्त्र से संबद्ध ग्रंथ है । यह एक छोटी पुस्तक है जिसमें अध्यापन के लिए तैयार की गई सामग्री का संपादन किया गया है । इसमें सिद्धान्तों के व्यवस्थित विवेचन का अभाव है । संभवत: अरस्तू के शिष्यों ने उपलब्ध सामग्री को संपादित किया है, इसलिए इसमें सिद्धान्तों का व्यवस्थित विवेचन नहीं है । कुछ विषयों पर अधूरी चर्चा है और विषय के प्रतिपादन में भी संतुलन का अभाव है, किन्तु निस्संदेह पाश्चात्य काव्यशास्त्र का यह आदि ग्रंथ है ।

अरस्तू की प्रतिभा, मेधा और कुशाग्रता का अनुमान प्लेटो के उनके विषय में इस कथन से लगाया जा सकता है कि अरस्तू मेरे विद्यापीठ का मस्तिष्क है और शेष विद्यार्थी उसके शरीर

हैं । गुरू शिष्य में परस्पर तीव्र मत भेद था फिर भी परस्पर संबंधों में मधुरता बनी रही । प्लेटो के सम्मुख गणतंत्र का उच्च (वायवीय) आदर्श था जिसके आलोक में उन्होंने काव्य को अनुकृति की अनुकृति कहकर उसका तिरस्कार किया । अरस्तु ने. अपने गुरू के विपरीत काव्य की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार किया । गुरू ने जहाँ काव्य को असत्, हीन और हानिकारक कहा था, वहीं शिष्य ने काव्य को सत, गंभीर और उपयोगी कहा । अरस्तू मूलत: भौतिक विज्ञान और प्राणी विज्ञान के विशेषज्ञ थे किन्तु उन्होंने ज्ञान की एकाधिक शाखाओं में ग्रंथ लिखे । "पेरिपोइतिकेस या काव्यशास्त्र में 26 अध्याय हैं जिनमें अरसा ने यूनानी काव्य का विवेचन किया और प्लेटो के आक्षेपों का उत्तर भी दिया । अरस्तू के साहित्य चिंतन में उनके तीन सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है-

1. अनुकरण का सिद्धान्त, 2. त्रासदी या ट्रेजेडी और 3. विरेचन का सिद्धान्त

अत: अब इन तीनों का क्रमश: विवेचन किया जाएगा ।

11.3 प्लेटो का काव्य - संबंधी मत

कविता के संबंध में उसका मत था कि वह अनुकरण का अनुकरण है, सत्य से दुगनी दूरी पर है, अत: त्याज्य है । अपनी पुस्तक 'गणराज्य' में कविता पर आक्षेप करते हुए उसने लिखा है कि कविता हमारी वासनाओं का दमन करने के स्थान पर उनका पोषण और सिंचन करती हैं, क्योंकि वह तर्क या बुद्धि को प्रभावित करने के बजाय हृदय या भावनाओं को प्रभावित करती है । वह कला के अध्ययन को नीति-शास्त्र से संबद्ध मानता था । अरस्तू का कला-संबंधी मत सौन्दर्य-शास्त्र पर आधारित था । प्लेटो के सिद्धांत का विरोध करते हुए उन्होंने'भावों के विरेचन' की बात कही । चिकित्सा-पद्धति के शब्द 'कैथार्सिस' (Catharsis) के लाक्षणिक प्रयोग द्वारा प्लेटो के आक्षेप का उत्तर दिया ।

11.3.1 प्लेटो के आक्षेप व अरस्तू का निराकरण

प्लेटो के अनुसार सत्य वह है जो समाज व व्यक्ति के नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन को बल प्रदान करे । वह काव्य को इसी कसौटी पर कसते हैं । जो काव्य इस कसौटी पर सही उतरता है, वह सत्य है और शेष काव्य असत्य हैं ।

प्लेटो के अनुसार काव्य सत्य से दूर भी है और अनुकरण के सिद्धान्तानुसार समीप भी है । प्लेटो अनुकरण के सिद्धान्त को अज्ञानताजन्य मानते हैं, इसलिए कविता भी उन्हें अज्ञान से उत्पन्न तथा सत्य से दूर ज्ञात होती है । प्लेटो का मत था कि कवि, यश और कीर्ति के लिए पाठकों की वासनाओं को उत्तेजित कर आवेगपूर्ण व उन्मादग्रस्त प्रकषति का चयन करके उसका चित्रण करता है और लोकप्रिय बनता है । त्रासदी के संबंध में प्लेटो ने लिखा है, "ट्रैजेडी का कवि हमारे विवेक को नष्ट कर हमारी वासनाओं को जाग्रत करता है, उनका पोषण करता है और उन्हें पुष्ट करता है ।" प्लेटो के आक्षेप :

1. मूल सत्य एक है, अखण्ड है एवं उसका कर्ता है ।
2. यह वस्तु - जगत उस परम सत्य का अंश नहीं, अनुकरण है ।
3. कलाकार इस अनुकरण का भी अनुकर्ता है, अत: सत्य से तिगुना दूर है ।

4. अन्ततः सभी कलाकारों की भाँति त्रासदीकार भी अनुकर्ता सत्य से तिगुना दूर है ।

11.4 अरस्तू के अनुकरण - संबंधी विचार

अरस्तू ने काव्य-कला को राजनीति तथा नीतिशास्त्र की दषष्टि से न देखकर सौंदर्य शास्त्र की दषष्टि से देखा और इस प्रकार स्काट जेम्स के शब्दों में, उसने काव्य को दार्शनिक, राजनीतिज्ञ तथा नीतिशास्त्री के अत्याचार से मुक्त किया ।" उसने प्रत्येक कला-कृति को सौन्दर्य की वस्तु माना । इसी कारण 'अनुकरण के संबंध में अरस्तू का मत प्लेटो के मत से भिन्न है ।

अरस्तू ने प्लेटो द्वारा प्रयुक्त मिमेसिस (mimesis) शब्द को तो स्वीकार किया पर उसे एक नवीन अर्थ प्रदान किया । प्लेटो ने 'अनुकरण' शब्द का प्रयोग हू-ब-हू नकल करने के अर्थ में किया था, पर अरस्तू ने उसका एक सीमित तथा निश्चित अर्थ ग्रहण किया । बूचर के शब्दों में " अरस्तू ने अपने युग में प्रचलित कला अनुकरण है इस सूत्र को तो स्वीकार किया, किन्तु उसकी नवीन व्याख्या की ।"

11.4.1 कला की अनुकृति प्रकृति

अरस्तू कला को प्रकृति की अनुकषति मानता है । "कविता सामान्यतः मानवीय प्रकृति की दो सहज प्रवृत्तियों से उद्भूत हुई जान पड़ती है । इनमें से एक है अनुकरण की प्रवृत्ति । "कला प्रकषति का अनुकरण करती है ।" प्रकृति से अरस्तू का अभिप्राय जगत के बाह्य, स्थूल और गोचर रूप - पर्वत, नदी पशु आदि से नहीं है । उसके अनुसार प्रथम तो मानवेतर प्रकृति का अनुकरण करना 'अनुकरणात्मक कला का काम नहीं । दूसरे, कवि या कलाकार प्रकृति की गोचर वस्तुओं का नहीं, वरन् प्रकृति की सर्जन-प्रक्रिया का अनुकरण करता है ।' उसने अपने ग्रंथ 'पोइटिक्स' में लिखा है, ''प्रत्येक वस्तु पूर्ण विकसित होने पर जो होती है, उसे ही हम उसकी प्रकृति कहते हैं ।'' प्रकृति इसी आदर्श रूप की उपलब्धि की ओर निरन्तर कार्यरत रहती है; किन्तु कई कारणों से वह अपने इस लक्ष्य की प्राप्ति में सफल नहीं हो पाती । कवि या कलाकार उन अवरोधक कारणों को हटाकर प्रकृति की सर्जन-क्रिया का अनुकरण करता हुआ प्रकृति के अधूरे काम को पूरा करता है । वह प्रस्तुत वस्तु को ऐसा रूप प्रदान करता है कि उससे उस वस्तु के विश्वव्यापक (universal) और आदर्श (Ideal) रूप का बोध हो जाये ।

11.4.2 अनुकरण की व्याख्या

अरस्तु सिद्धान्त के विश्लेषक बूचर के अनुसार अनुकरण संबंधी मान्यता के चार चरण हैं-

1. कलाकृति मूल वस्तु का पुनरूत्पादन है ।
2. कलाकृति मूल वस्तु का पुनरूत्पादन तो है लेकिन उसके मौलिक रूप में नहीं, बल्कि उस रूप में जैसी वह ज्ञानेन्द्रियों को प्रतीत होती है । कलाकृति वस्तु का प्रतिफल नहीं, कलाकार के मनोगत बिंब का प्रतिफल है।
3. कलाकृति मानव जीवन के सामान्य पक्ष का अनुकरण करती है, विशेष या व्यक्तिनिष्ठ का नहीं।

4. कलाकृति मानव जीवन का आदर्शीकृत प्रतिरूपण है । इस प्रकार अनुकरण किसी एक अर्थ का वाचक नहीं है, उसका पूर्ण अर्थ कई तत्वों के योग से व्यक्त होता है, जिनमें प्रमुख हैं- पुनरुत्पादन, मानस बिंब, जीवन का सामान्य तथा आदर्श पक्ष । अरस्तु के मन में इन तत्त्वों के मिश्रित रूप का ही नाम अनुकरण है जो प्लेटो के अनुकरण से सर्वथा भिन्न है । अत: वह उस हीन अर्थ से भी मुक्त है, जो प्लेटो द्वारा व्याख्यायित था ।

अनुकरण की वस्तुएँ-

वे काव्य का विषय प्रकृति के प्रतीयमान, सम्भाव्य व आदर्श रूप को मानते हैं । कवि को स्वतन्त्रता है कि वह प्रकृति

को उस रूप में चित्रित करे जैसी वह उसकी इन्द्रियों को प्रतीत होती है अथवा जैसी वह भविष्य में प्रतीत हो सकती हैं अथवा जैसी वह होनी चाहिए । इस चित्रण में निश्चय ही कवि की भावना और कल्पना का योगदान होगा- वह नकल मात्र नहीं होगा । प्रतीयमान एवं संभाव्य रूप में यदि वह भावना और कल्पना का आश्रय लेगा, तो आदर्श रूप में वह अपनी रूचि, इच्छा तथा आदर्शो के अनुरूप चित्र प्रस्तुत करेगा । अरस्तु का अनुकरण - सिद्धान्त भावनामय तथा कल्पनामय अनुकरण को मानकर चलता है, शुद्ध प्रतिकृति को नहीं ।

कविता और इतिहास का परस्पर संबंध-

अरस्तू का मत है कि कविता इतिहास की अपेक्षा अधिक दार्शनिक एवं उच्चतर वस्तु है । ''कवि और इतिहासकार में वास्तविक भेद यह है कि एक तो उसका वर्णन करता है जो घटित हो चुका है और दूसरा उसका वर्णन करता है जो घटित हो सकता है । काव्य सामान्य की अभिव्यक्ति है और इतिहास विशेष की ।'' इतिहास का सत्य मूर्त एवं अव्यापक है और काव्य का सत्य अमूर्त एवं व्यापक है । मूर्त वस्तुपरक है जब कि अमूर्त का चित्रण कल्पना, अनुभूति तथा विचार पर आश्रित होता है ।

कार्य का अभिप्राय-

त्रासदी के विवेचन में अरस्तु ने लिखा है कि वह मनुष्यों का नहीं वरन् कार्य का (ड़en in action) और जीवन का अनुसरण करती है । 'कार्य' शब्द का प्रयोग उन्होंने मानव - जीवन के चित्र (image of human life) के अर्थ में किया है । जो कुछ भी मानव-जीवन के आन्तरिक पक्ष को व्यक्त कर सके, बुद्धि-सम्मत व्यक्तितत्त्व का उद्घाटन करे, वह सभी कुछ 'कार्य' शब्द के अन्तर्गत आएगा । अत: कार्य का अर्थ केवल मनुष्य के कर्म ही नहीं, उसके विचार, भाव, चरित्र आदि भी हैं जो कर्म के लिए उत्तरदायी होते हैं । अनुकरण का अर्थ नकल न होकर पुनर्प्रस्तुतिकरण है । काव्य में जिस मानव का चित्रण होता है, वह सामान्य मानव से अच्छा भी हो सकता है, उससे बुरा भी हो सकता है और वैसे का वैसा भी । पर उन्होंने तीसरे वर्ग की चर्चा न कर केवल सामान्य से अच्छे और बुरे की चर्चा की है ।

आनंद - संबंधी मत-

अरस्तू ने एक स्थान पर लिखा है, ''जिन वस्तुओं का प्रत्यक्ष दर्शन हमें दुःख देता है, उनका अनुकरण द्वारा प्रस्तुत रूप हमें आनन्द प्रदान करता है । डरावने जानवर को देखने में हमें भय एवं दुःख होता है, किन्तु उसका अनुकृत रूप हमें आनन्द प्रदान करता है ।''

अरस्तू का कथन है कि अनुकृत वस्तु से प्राप्त आनन्द कम सार्वभौम नहीं होता । यद्यपि इस कथन में अरस्तू का संकेत सहृदय के ही आनन्द से है, पर सहृदय को भी आनन्द तभी प्राप्त हो सकता है जब कवि के हृदय में आनन्द भाव की अनुभूति हो । इसका अर्थ यह हुआ कि अनुकरण में आत्म-तत्त्व का प्रकाशन अनिवार्य है, आत्माभिव्यंजन आवश्यक है, वह केवल वस्तु का यथार्थ अंकन नहीं है ।

11.4.3 विवेचन

अरस्तू के विविध कथनों की व्याख्या करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अनुकरण से अरस्तू का अभिप्राय भावनापूर्ण अनुकरण से था, यथार्थ प्रत्यंकन से नहीं । यह अनुकरण सुन्दर होगा, आनन्द प्रदान करेगा, पाठक के मन को उसकी वास्तविकता के प्रति आश्वस्त करेगा । उसमें आदर्श-तत्त्व भी होगा और व्यष्टि से संबद्ध होते हुए भी वह सार्वभौम और समष्टिगत सत्य का प्रतिपादन करेगा । इसी बात को विविध विद्वानों ने अपने-अपने शब्दों में कहा है।

11.4.4 अरस्तू के अनुकरण सिद्धांत की शक्ति और सीमाएँ

यह सत्य है कि अनुकरण को नया अर्थ प्रदान कर अरसा ने कला का स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित किया, सुन्दर को शिव से अधिक विशिष्ट माना, कला पर प्लेटो द्वारा लगाये पावित्र्त्यदूषकता के आरोप को वृथा बताया और कविता को दार्शनिक तथा नीतिज्ञ के चंगुल से छुटकारा दिलाया, तथापि उनका अनुकरण सिद्धान्त पूरी तरह निर्दोष नहीं है।

वह आत्म-तत्त्व तथा कल्पना-तत्त्व को स्वीकार करते हुए भी वस्तुतत्त्व को प्रधानता देता है ।

दूसरे, उसकी परिधि बड़ी संकुचित है । उसमें कवि की अंतश्चेतना को उतना महत्त्व नहीं दिया गया जितना दिया जाना चाहिये था । कवि जीवन में विभिन्न अनुभवों के बीच से गुजरता है, नाना प्रभाव ग्रहण करता है और इन सबसे उसकी अंतश्चेतना का निर्माण होता है ।

मनुष्य की पहली कलाकृति नकल पर आधारित है । गुहामानवों के भित्ति चित्र शिकार किये हुए पशुओं के चित्र हैं । परन्तु यथार्थ का निरा फोटोग्राफिक अनुकरण ऊँची कलाकृति नहीं होता, क्योंकि वह यान्त्रिक भी हो सकता है । अनुकरण में सत्य का आभास भी मिलता रहता है । नाट्य के सन्दर्भ में भरत ने 'अनुकृति' को ही अभिनय का आधार माना । अरस्तू ने अपने 'काव्य-शास्त्र' में 'अनुकरण' को ही कला की मूल आत्मा माना था, परन्तु यह विचार बाद में बदलता गया। कई कलाकृतियाँ ऐसी हैं, जो केवल कल्पना पर आश्रित हैं और उनमें सौन्दर्य अनुकरण पर आधारित नहीं होता।

किसी प्रत्यक्ष-गम्य वस्तु को अन्य माध्यम द्वारा प्रकट करने की क्रिया या प्रवृत्ति को अनुकरण कहा जाता है । जैसे, नदी, पर्वत, पुष्प आदि का रंग और रेखा द्वारा यथावत् पटपर चित्रण

करना अथवा मूल के अनुकूल कृति अनुकरण का परिणाम है । इसी प्रकार अन्य क्षेत्रों में भी। आचार्य भरत के अनुसार कला का केन्द्र नाट्य है और नाट्य का सार अनुकरण है। संस्कृत परम्परा के अनुसार 'अनुरणनं ध्वनि, अनुकरणं नाट्यम् ।' प्लेटो के अनुसार भी कला का सार अनुकरण है। सर्वमान्य न होते हुए भी इस मत में इतनी सत्यता है ही कि प्रत्येक कलाकार प्रकृति के प्रभावशाली रूपों का स्वक्षेत्र में अनुकरण करता है, यद्यपि कला प्रकृति की पूर्ण अनुकृति नहीं हो सकती ।

विश्व का गीति-काव्य, जो मात्रा में अब सबसे अधिक हो गया है, इसकी परिधि के भीतर नहीं समा सकता । गीति-काव्य की आत्मा है भाव (emotion), जो किसी प्रेरणा के भार से दबकर एक साथ गीति में फूट निकलता है । उसमें हार्दिकता तथा वैयक्तिक अनुभूतियों का प्राधान्य होता है जो अनुकरण की परिधि में नहीं आ सकता । इसका कारण कदाचित् यह है कि अरस्तू ने गीति-काव्य का गम्भीरतापूर्वक मनन और विवेचन नहीं किया था ।

अरस्तू के अनुकरण- सिद्धान्त पर यह भी आक्षेप लगाया गया है कि अरस्तू ने जो शब्द 'mimesis' या 'Imitation' चुना है वह उपयुक्त नहीं है । उस शब्द की अर्थ-परिधि में 'कल्पनात्मक', 'पुननिर्माण', 'पुन सृजन', 'सर्जना' के आनन्द की अवस्थिति आदि तना अन्तर्भाव नहीं हो सकता ।

इस प्रकार प्लेटो के अनुसार यदि 'अनुकरण' का अर्थ मूलादर्श का अनुकरण था, तो अरस्तू के अनुसार कल्पनात्मक पुननिर्माण ।

11.4.5 आधुनिक काल में अनुकरण का महत्त्व

आज कविता के विश्लेषण में अनुकरण- सिद्धान्त का महत्त्व काफी कम हो गया है और अनुकरण के स्थान पर कल्पना या नवोन्मेष को अधिक महत्त्व दिया गया है फिर भी अनुकरण का आग्रह आलोचना-जगत् से बिल्कुल हट गया हो, ऐसा नहीं है । वह कविता और नाटक में प्रगतिवाद के रूप में और कथा-साहित्य में यथार्थ, अतियथार्थवाद और प्रकृतिवाद के रूप में विद्यमान है ।

11.5 त्रासदी

अरस्तू के साहित्य चिंतन में त्रासदी की विस्तार और गंभीरता से चर्चा मिलती है । वस्तुतः अरस्तू के युग के पहले ही यूनान में त्रासदी का रूप विकसित हो चुका था और वही अरस्तु के विवेचन का आधार बना ।

त्रासदी ग्रीक साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विधा थी । इसका आरंभ मद्य देवता दिओनिसिअस के सम्मान में होने वाले समारोह से माना जाता है । इस समारोह में कलाकार बकरे के सिर जैसा मुखौटा धारण करके नाचते-गाते थे ।

उस युग में त्रासदी के अतिरिक्त कामदी, महाकाव्य, गीतिकाव्य आदि विधाएँ भी प्रचलित थीं किन्तु अरस्तू के 'पेरिपोइतिकेस' में सबसे अधिक महत्त्व त्रासदी को ही दिया है और एक प्रकार से यही पश्चिमी काव्य-चिंतन की आधार शिला थी ।

11.5.1 त्रासदी की परिभाषा

अरस्तू ने त्रासदी को 'किसी गंभीर स्वत: पूर्ण निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति' माना है । 'यह समाख्यान रूप में न होकर कार्य-व्यापार रूप में होती है । इसका माध्यम नाटक के विभिन्न भागों में तद्नुरूप प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत भाषा होती है । त्रासदी की प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं

- त्रासदी 'कार्य की अनुकृति' है ।
- इसमें वर्णित कार्य गंभीर होता है, स्वत: पूर्ण होता है (अर्थात पूर्ण होने के लिए उसे किसी अन्य तत्व पर निर्भर नहीं रहना पड़ता), और उसका आयाम, अर्थात क्षेत्र तथा विस्तार निश्चित रहता है ।
- यह समाख्यानात्मक (वर्णनात्मक) रूप में नहीं, बल्कि कार्य-व्यापार के रूप में प्रस्तुत की जाती है ।
- कार्य-व्यापार की प्रधानता होते हुए भी इसका माध्यम भाषा होती है और वह भाषा नाटक के लिए उपयुका अलंकारों से युक्त होती है ।
- इसमें करूणा और त्रास का उद्वेग होता है, और
- इस उद्वेग के द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है ।

11.5.2 त्रासदी के तत्त्व

अरस्तु ने त्रासदी के छ: अनिवार्य तत्व माने हैं- 1. कथानक (Plot), 2. चरित्र (Character), 3. विचार (Thought), 4. पदविन्यास (Diction), 5. दृश्य-विधान (Spectacle), और 6. गीत (Song) । इन सभी तत्त्वों का उन्होंने कमोबेश विस्तार से विवेचन किया है और इन सभी का संबंध अनुकरण से है ।

1. कथानक- कथानक का अर्थ है त्रासदी की विषयवस्तु या घटना-विन्यास । अरस्तू ने त्रासदी में सबसे अधिक महत्त्व इसी तत्त्व को दिया और इसी पर सबसे अधिक विस्तार से विचार किया है ।

   त्रासदी कार्य की अनुकृति है और कथानक उसी कार्य-व्यापार को प्रस्तुत करता है । यह व्यक्ति-चरित्र का नहीं घटना युक्त जीवन के कार्य-व्यापार का, सुख-दुःखमय प्रसंगों का अंकन है । त्रासदी का प्रभाव कार्य-व्यापार पर ही निर्भर करता है।

   अरस्तु की मूल दृष्टि वस्तुपरक (Objective) थी, इसीलिए वस्तुजगत तथा इसमें घटने वाली घटनाओं के प्रति उनका झुकाव स्वाभाविक ही था तथा उसने त्रासदियों को सामने रखकर ही काव्यशास्त्र की रचना की थी ।

(क) कथानक के स्त्रोत- अरस्तू ने कथानक के तीन स्त्रोत माने हैं- दंतकथा, कल्पना और इतिहास। इनमें से वे कल्पना और इतिहास को हालाँकि उपेक्षणीय नहीं मानते किन्तु दंतकथा या लोक प्रचलित कथा को वे सर्वश्रेष्ठ मानते थे क्योंकि उसमें एक ओर इतिहास का सत्य होता है और दूसरी ओर कल्पना की सृजनशीलता । इसलिए इसका क्षेत्र अधिक व्यापक होता है और

इसका प्रभाव अधिक सघन । कल्पनाप्रसूत कथानक तभी ग्रहणीय होता है जब वह संभाव्य भी हो।

(ख) कथानक के प्रकार- शिल्प की दृष्टि से अरस्तु ने कथानक के दो प्रकार माने हैं- सरल और जटिल ।

1. सरल कथानक एक सूत्री होता है और उसमें कथा महान त्रुटि, स्थिति विपर्यय तथा अभिज्ञान जैसी किसी बड़ी उथल-पुथल के बिना ही अपनी परिणति तक पहुँच जाती है।

2. जटिल कथानक में मुख्य कथा कें साथ प्रासंगिक कथाएँ भी चलती हैं और घटनाक्रम में अनेक आकस्मिक, अप्रत्याशित स्थितियाँ तथा मोड़ आते हैं । ऐसे कथानक में स्थिति-विपर्यय तथा अभिज्ञान की योजना के माध्यम से नायक के जीवन की विडंबनाओं तथा उसके भाग्य-परिवर्तन को दर्शाया जाता है ।

(ग) नाटकीय युक्तियाँ- अरस्तू के अनुसार त्रासदी में महान त्रुटि, स्थिति -विपर्यय तथा अभिज्ञान की भूमिका बड़ी महत्वपूर्ण होती है इसलिए इन नाटकीय युक्तियों से संबद्ध अवधारणाओं का स्पष्ट होना बहुत जरूरी है ।

1. महान त्रुटि (हमरशिया)- त्रासदी का नायक अतिमानव नहीं मानव होता है अत: उसमें मनावोचित गुण-दोष भी होते हैं । त्रासदी में उसके चरित्र में कोई ऐसी त्रुटि दिखाई जाती है जिसके कारण उसके जीवन में स्थिति-विपर्यय घटित होता है । यह कोई नैतिक दोष नहीं होता । दुष्ट पात्रों की दुर्दशा प्रेक्षकों में आनंद और संतोष जगाती है लेकिन जो पात्र दुष्ट नहीं होते उनकी दुर्दशा से प्रेक्षकों के मन में करूणा उपजती है । यह दुर्दशा उनकी किसी त्रुटि या चारित्रिक भूल या कमजोरी के कारण होती है जो अपने दुखद परिणाम के कारण 'महान त्रुटि' कहलाती है ।

2. अभिज्ञान (अनाग्नोरिसिस)- इस शब्द का अर्थ है कि किसी अज्ञात तथ्य का सहसा ज्ञान होना । त्रासदी में यह ज्ञान अपने साथ अनेक नाटकीय संभावनाएँ लेकर आता है । अभिज्ञान के कारण स्थिति-विपर्यय घटित हो सकता है; जैसे कालिदास के ''अभिज्ञान शाकुंतलम्'' में ।

3. स्थिति विपर्यय (प्रेरिपेसेइया)- विपर्यय का अर्थ है उलट-फेर और स्थिति विपर्यय का अर्थ है नाटक की स्थितियों में अप्रत्याशित रूप से ऐसा परिवर्तन जिससे कार्य व्यापार एक दिशा में अग्रसर होते-होते अचानक विपरीत दिशा में मुड़ जाता है । यह परिवर्तन अप्रत्याशित तो होता है मगर असंभाव्य नहीं । यह पात्रों को ऐसी स्थिति में ले आता है जहाँ उनके भाग्य और भविष्य के प्रति पाठकों/दर्शकों की उत्कंठा बढ़ने लगती है । राम के वन गमन में इस स्थिति को देख सकते हैं जहाँ राज्याभिषेक जैसी परम सौभाग्य की स्थिति में आते-आते उन्हें सब कुछ त्यागकर बन का मार्ग लेना पड़ता है ।

इस प्रकार स्थिति- विपर्यय और अभिज्ञान में आकस्मिकता का आधार रहता है । ये युक्तियाँ त्रासदी के कथानक को गंभीर, रोचक तथा महत्वपूर्ण मोड़ देती हैं किन्तु

अरस्तू सावधान करते हैं कि इनकी योजना कथानक के सहज तथा अभिन्न अंग के रूप में ही होनी चाहिए ।

(घ) कथानक का आयाम- अरस्तू मानते हैं कि दर्शक पर त्रासदी के समुचित प्रभाव के लिए उसका एक सुनिश्चित आयाम होना जरूरी है । यदि यह आयाम बहुत विस्तृत हुआ तो दर्शक उसे समुचित रूप से आत्मसात नहीं कर पाएगा और यदि यह सूक्ष्म हुआ तो दर्शक कथानक को ठीक से समझ नहीं पाएगा । इसलिए उसका आकार इतना होना चाहिए जिसे दृष्टि एक साथ समग्र रूप में ग्रहण कर सके और उसे स्मरण रखना आसान हो ।

(ङ) कथानक की संरचना के अनिवार्य गुण- एक आदर्श कथानक में कुछ गुण अनिवार्य रूप से होने चाहिए । ये गुण हैं :

1. अन्विति- अन्विति का अर्थ है कि कथानक के विभिन्न अंग परस्पर सुंसंबद्ध हों और एक ही लक्ष्य की ओर अग्रसर हों । इस प्रकार स्थान और समय की अन्विति की आगे चलकर काफी चर्चा हुई किन्तु अरस्तूका पूरा बल कार्य और प्रभाव की अन्विति पर था ।
2. पूर्णता- कथानक पूर्ण होना चाहिए । अर्थात् उसमें आदि, मध्य और अंत सुसंबद्ध तरीके से नियोजित हों।
3. संभाव्यता- कथानक में केवल आवश्यक तथा संभाव्य प्रसंगों का ही चित्रण होना चाहिए। त्रासदी के पात्र तथा प्रसंग, दोनों ही संभाव्य तथा विश्वसनीय होने चाहिए।
4. सहज विकास- कथानक को सहज तथा विश्वसनीय ढंग से आगे बढ़ना चाहिए, उसकी घटनाओं के बीच सहज कार्य-कारण संबंध होना चाहिए, और उसमें कुतूहल तथा विस्मयजनक घटनाएँ भी ऐसी होनी चाहिए कि वे अनपेक्षित या अविश्वसनीय प्रतीत न हों ।
5. करूणा तथा त्रास की योजना- इन तमाम बातों के साथ ही त्रासदी की प्रधान विशेषता है उसमें करूणा और त्रास की योजना । कथानक का जो अंश इन भावों को उद्‌बुद्ध करता है, वही त्रासदी का सबसे प्रमुख अंश होता है । ये भाव प्राय: तब जागते हैं जब त्रासदी में प्रधान पात्र का अपकर्ष दिखलाया जाता है ।

(2) चरित्र चित्रण- अरस्तू ने त्रासदी के तत्वों में सबसे अधिक महत्त्व कथानक और कार्य-व्यापार को दिया है । गतिशील चरित्रों में जो परिवर्तन दिखलाए जाएँ वे असंगत या अस्वाभाविक न हों । चरित्रांकन के लिए अरस्तू ने निम्न आधारभूत सिद्धांतों पर बल दिया है :

- चरित्र भद्र होना चाहिए और उनके माध्यम से नैतिक उद्देश्य की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। प्रत्यक्ष रूप से कथन के माध्यम से और अप्रत्यक्ष रूप से कार्य-व्यापार के माध्यम से उसकी अभिव्यक्ति हो सकती है ।
- चरित्रों के अंकन में औचित्य तथा एकरूपता या अन्विति भी होनी चाहिए ।
- चरित्रों में स्वाभाविकता तथा संभाव्यता होनी चाहिए । गतिशील चरित्रों में दिखाए जाने वाले परिवर्तन भी असंगत या यथार्थ विरोधी न हों ।

- इसी से यह बात जुड़ी है कि चरित्रों में आए परिवर्तन उनकी मूल प्रकृति के अनुरूप तथा स्वाभाविक हों ।
- चरित्रांकन में अरस्तू ने चित्रांकन को अपना आदर्श माना । जिस प्रकार चित्रकार बाह्य जगत को अपने विषय के तौर पर लेते हुए भी उसके अधिक सुंदर रूप में प्रस्तुत करता है, उसी प्रकार रचनाकार को भी स्वाभाविकता तथा यथार्थ की रक्षा करते हुए भी चरित्रों को अधिक सुंदर तथा परिष्कृत रूप में प्रस्तुत करना चाहिए ।

1. त्रासदी का नायक-नायक त्रासदी का केंद्र होता है । त्रासदी की सभी घटनाओं तथा कार्यों का संबंध प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से नायक से होता है और वही नाटक की अन्विति का सूत्र होता है । उसी के माध्यम से त्रासदी में करूणा तथा त्रास के भाव उदबुद्ध होते हैं ।

(3) विचार- अरस्तु ने विचार के अंतर्गत केवल बुद्धितत्त्व को ही नहीं बल्कि भावतत्व को भी समाविष्ट किया है । बुद्धि के स्तर पर विचार सामान्य सत्य की व्यंजना करता है । वह सामान्य सत्य का संकेत करता है, साथ ही प्रमाणों तथा तर्क द्वारा यह किसी वस्तु के भाव (होने) या अभाव (न होने) को भी सिद्ध करता है । भाव के स्तर पर यह करूणा, त्रास, क्रोध आदि की व्यंजना करता है और उनका मूल्यांकन भी । विचार के अंतर्गत चिंतन और तर्क आ जाते हैं । इसका साधन वाणी या भाषा है इसलिए विचारों को व्यक्त करने वाली भाषा विशिष्ट होनी चाहिए ।

(4) पदविन्यास- अरस्तू के युग में भाषण कला महत्वपूर्ण मानी जाती थी । इसका विकास एक शास्त्र के रूप में हो गया था और वाणी, भाषा एवं उसके विन्यास को उस युग में बहुत महत्व प्राप्त था । त्रासदी में जो विचार तत्व निहित था उसे अभिव्यक्त करने का माध्यम भी भाषा ही है ।

अरस्तू के अनुसार पदविन्यास का अर्थ था शब्दों द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति । त्रासदी की भाषा मूलतः प्रचलित भाषा होते हुए भी विशिष्ट होती है ताकि वह त्रासदी के विचार तत्त्व में निहित सत्य को अभिव्यक्त कर सके। भाषा अलंकृत होनी चाहिए, अर्थात् उसमें 'लय, सामंजस्य और गीत का समावेश हो । वह प्रसाद गुण संपन्न, प्रसन्न, समृद्ध और उदात्त होनी चाहिए । उसमें त्रासदी के विषय के अनुरूप गरिमा हो ।

अरस्तू त्रासदी के लिए छंदोबद्ध भाषा या पद्य को अधिक उपयुक्त मानते हैं, हालाँकि गद्य का भी वे विरोध नहीं करते। गीत को भी वे त्रासदी का अभिन्न अंग मानते हैं । उनके समय में त्रासदी में वृंदगान (कोरस) की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण थी ।

(5) दृश्य-विधान- त्रासदी के कार्य-व्यवहार का संचालन यदि चरित्रों के माध्यम से होता है तो उसकी प्रस्तुति दृश्य-विधान के माध्यम से । दृश्य-विधान का अर्थ है रंगमंचीय साधनों का प्रयोग । अरस्तू मानते थे कि इन साधनों के कुशल प्रयोग से त्रासदी के प्रभाव को सघन करने में सहायता मिलती है, किन्तु इसे उन्होंने त्रासदी का अनिवार्य या महत्त्वपूर्ण अंग नहीं माना । क्योंकि एक तो, दृश्य-विधान रंगमंच से जुड़ा है, रचना के लेखन से नहीं । यह मुख्य रूप से मंचशिल्पी का काम है । दूसरा कारण यह है कि अरसा के अनुसार त्रासदी की प्रभावात्मकता मात्र उसकी अभिनेयता में न होकर काव्यात्मकता में भी निहित होती है ।

(6) गीत- अरस्तू गीत को त्रासदी का अनिवार्य अंग मानते हैं । ग्रीक नाटकों में गायकों का समूह होता था जो 'कोरस' कहलाता था जिसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती थी । कोरस अपने गीतों के माध्यम से पूर्व घटित स्थितियों और घटनाओं का परिचय देता और उन पर टिप्पणी करता था, आगे आने वाली घटनाओं तथा नाटक की कथा के रिक्त स्थानों की पूर्ति करता था ।

11.5.3 त्रासदी का महत्त्व

अरस्तू ने सभी विधाओं में त्रासदी को सर्वोच्च स्थान दिया है । कामदी, महाकाव्य आदि अन्य विधाओं पर बातचीत में भी उन्होंने त्रासदी को ही संदर्भ बनाया है ।

पहले महाकाव्य को त्रासदी से श्रेष्ठ माना जाता था क्योंकि महाकाव्य केवल काव्य के माध्यम से अपना पूर्ण प्रभाव छोड़ सकता है जबकि नाटक / त्रासदी में पूरा प्रभाव डालने के लिए काव्य के अतिरिक्त अभिनय, संगीत तथा मंच आदि का भी सहारा लेना पड़ता है । अरस्तू ने इस बात का खंडन किया । अरस्तू ने त्रासदी को महाकाव्य से श्रेष्ठ माना ।

अरस्तू त्रासदी को महत्वपूर्ण मानते हैं क्योंकि यह हमारे त्रासदायक मनोभावों को उकसाकर उनका विरेचन कर देती है जिससे हमारा उद्वेग दूर हो जाता है और हमारे मनोभावों में संतुलन आ जाता है । यह कला का प्रभाव है कि दुखद स्थिति भी हमारे आनन्द का कारण बन जाती है । यह प्रक्रिया विरेचन (Catharsis) कहलाती है ।

11.6 विरेचन सिद्धान्त

'कैथार्सिस' या विरेचन नाम से अरस्तू ने यह सिद्धान्त सबसे पहले प्रचलित किया । अरस्तू के शब्दों में- ''ट्रैजेडी वह क्रिया है- जो करूणा और भय की भावना जाग्रत करके हमारी भावनाओं को एक राह, एक प्रकार का व्यंजना मार्ग (आउटलेट) प्रस्तुत कर देती हैं ।'' जर्मन काव्य शास्त्री लेसिंग (सन् 1929-81) ने इस शब्द का अर्थ 'शुद्धि' के अर्थ में लिया । सामान्य जनों के मन में भय और अनुकम्पा कभी अधिक मात्रा में होती है या कम, परन्तु ट्रैजेडी के दर्शन से उसकी भावनाएँ सन्तुलित हो जाती हैं । कुछ और आलोचकों के मत से हमारी भय और करूणा की भावनाएँ ट्रैजेडी-दर्शन से उदातीकृत हो जाती है । मूल शब्द "कैथार्सिस'' वैद्यक के विरेचन का शब्द है, जिसमें यूनानी दवाफरोशों में यह आम रिवाज था कि शरीर में से उस चीज को बाहर निकाल दिया जाय, जो जरूरत से ज्यादा हो । आधुनिक मनोविश्लेषण के द्वारा यह सिद्ध होता है कि मन में दबी, उमड़ी और कुंठित भावनाओं को राह देना, उस भावना के त्रासद दबाव से मुक्ति पाने जैसा ही है ।

ट्रेजेडी (दु:खान्त नाटक) का उद्भव आदिम जातियों में प्रचलित विभिन्न धार्मिक कृतियों से हुआ है, जो कि सामाजिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण थे ।

11.6.1. विरेचन शब्द का अर्थ एवं परिभाषा

अरस्तू द्वारा प्रयुक्त मूल शब्द 'कैथारसिस (Catharsis) है । हिन्दी में इसका अनुवाद 'रेचन', 'विरेचन' तथा 'परिष्करण' शब्दों द्वारा किया गया है, पर 'विरेचन' शब्द सर्वाधिक प्रचलित है । 'कैथारसिस (Catharsis) शब्द यूनानी चिकित्सा-पद्धति से संबद्ध माना जाता है, उसी

प्रकार विरेचन शब्द भारतीय आयुर्वेदिक-शास्त्र से संबंधित । चिकित्सा-शास्त्र में इसका अर्थ है- रेचक औषधियों द्वारा शरीर के मल या अनावश्यक एवं अस्वास्थ्यकर पदार्थ का निकालना। वैद्य के पुत्र होने के कारण अरस्तू ने यह शब्द वैद्यक-शास्त्र से ग्रहण किया और काव्य शास्त्र में उसका लाक्षणिक प्रयोग किया । त्रासदी करूणा तथा त्रास के कृत्रिम उद्वेग द्वारा मानव के वास्तविक जीवन की करूणा और त्रास भावनाओं का निष्कासन या विरेचन करती है । अरस्तु के परवर्ती व्याख्याकारों ने लक्षण के आधार पर विरेचन के तीन अर्थ किये हैं-

1. धर्म-परक अर्थ- यूनान में नाटक का आरम्भ धार्मिक उत्सवों से ही हुआ । प्रो. मरे का मत है कि वर्षारंभ पर दिओन्यसस नामक यूनानी देवता से संबद्ध उत्सव मनाया जाता था । इस उत्सव में देवता से विनती की जाती थी कि वह उपासकों को विगत वर्ष के पापों, कुकर्मों तथा कालुष्यों से मुक्त कर दें तथा आगामी वर्ष में उन्हें इतना विवेकपूर्ण तथा शुद्ध-हृदय बना दें कि वे पाप, कलुष, मृत्यु आदि से बचे रहें । इस प्रकार यह उत्सव एक प्रकार से शुद्धि का प्रतीक था । अरस्तू ने 'विरेचन' का लाक्षणिक प्रयोग धार्मिक आधार पर किया और उसका अर्थ था- बाह्य उत्तेजना और अन्त में उसके शमन द्वारा आत्मिक शुद्धि और शान्ति ।
2. नीति-परक अर्थ- मानव-मन में अनेक मनोविकार वासना रूप में स्थित रहते हैं । इनमें करूणा और त्रास नामक मनोवेग मूल होते हैं । त्रासदी रंगमंच पर ऐसे दृश्य प्रस्तुत करती है जिनमें ये मनोवेग अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं, उसमें ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित की जाती हैं जो त्रास और करूणा से भरी होती हैं । प्रेक्षक उन परिस्थितियों के बीच मानसिक रूप से गुजरता है तो उसके मन में भी त्रास और करूणा के भाव अपार वेग से उद्वेलित होते हैं और तत्पश्चात् उपशमित हो जाते हैं । विरेचन का नीति-परक अर्थ हुआ- मनोविकारों के उत्तेजन के बाद उद्वेग का शमन और तज्जन्य मानसिक शान्ति और विशदता ।
3. कला-परक अर्थ- पहले मानसिक संतुलन और बाद में कलात्मक परिष्कार । ट्रैजेडी यूनानी शब्द 'ट्रैगास' से आया है, जिसका शाब्दिक अर्थ है- अजागीत । प्राचीन काल में बकरे की बलि देने की प्रथा से इसका संबंध प्रतीत होता है । अरस्तू ने ट्रैजेडी का संबंध उन नाट्य-रचनाओं से स्थापित किया है, जिनके नायक आदि आधे मनुष्य और आधे बकरे होते थे । ट्रैजेडी शब्द का व्यवहार समस्त गम्भीर नाटकों के लिए होता था, उनका त्रासद अन्त आवश्यक नहीं था । पौराणिक नाटकों के चित्रण में अतिरंजना और रूढ़िगत काव्यात्मक शैली का व्यवहार होता था, परन्तु बाद में चलकर यूरिपिडेस की कृतियों द्वारा यथार्थवादी विवरण भी नाटक में आये, स्वच्छन्द एवं रूढ़ि-विरूद्ध कथानक अपनाये गये। अरस्तू ने अपने काव्य शास्त्र में ट्रैजेडी की व्याख्या करते हुए कहा है- ''अत: ट्रैजेडी उस कार्य की कलानुकृति है, जो गम्भीर एवं स्वत: पूर्ण एवं भव्य हो ।'' ट्रैजेडी की विशद विवेचना करते हुए अरस्तु ने फिर कहा है- ''ट्रैजेडी उस व्यापार-विशेष का अनुकरण है जो गम्भीर हो, पूर्ण हो, एक निश्चित परिमाण का हो, प्रत्येक प्रकार के कलात्मक अलंकारों से सजी हुई भाषा से युक्त हो और ये सब प्रकार, नाटक के भिन्न-भिन्न भागों में पाये

जाते हों, जो वर्णनात्मक न होकर दृश्यात्मक हो' जो करूणा और भय का प्रदर्शन करके इन मनोविकारों का उचित सुधार और परिष्कार कर सके' ।

कार्य (घटनाएँ) और इतिवृत्त ही ट्रैजेडी के अन्त या परिणाम हैं और अन्त या परिणाम ही सब बातों में मुख्य माना जाता है । अरस्तू के सिद्धान्त के अनुसार ट्रैजेडी में दु:खानुभूति (मृत्यु, शारीरिक कष्ट आदि) का अत्यधिक महत्त्व है ।

इस प्रकार की ट्रैजेडी के लिए अरस्तू ने ऐसे नाटक का विधान किया है, जो न तो असाधारण रूप से महान् हो और न पूर्णत: बुरा ही हो, वरन् जो किसी त्रुटिवश पतन का भागी बन गया हो । चरित्र-चित्रण तथा कथानक की दृष्टि से इस प्रकार की त्रुटियों का बहुत महत्त्व है । आधुनिक सामाजिक नाटकों में यह त्रुटि नायक की अपेक्षा, जो कि केवल बाह्य परिस्थितियों का शिकार होता है, समाज में ही अधिक दिखायी जाती है । अत: अरस्तू के अनुसार ट्रैजेडी का उद्देश्य प्रेक्षकों में करुणा एवं भय की अनुभूति इस प्रकार कराना है कि धार्मिक अपवित्रताओं की परिशुद्धि (कैथासिस) हो जाय ।

कालान्तर में ट्रैजेडी का एक और लक्षण पाया जाने लगा वह है कार्य की एकता- अर्थात् घटनाओं का ऐसा संघटन कि एक भी घटना के हटाने या बदलने से सम्पूर्ण घटना-क्रम छिन्न-भिन्न एवं क्रमहीन जान पड़े । बाद में चलकर (यूरोप के पुनर्जागरण- काल में) फ्रांस में स्थान एवं समय की एकताओं के सिद्धान्त भी अपनाये जाने लगे, जो कि सम्पूर्ण यूरोप में मान्य हो गये । कार्य के अतिरिक्त इन दोनों एकताओं की अरस्तू के काव्य शास्त्र में चर्चा नहीं है ।

18वीं शताब्दी के बाद से ट्रैजेडी में भव्यता वाले सिद्धान्त में भी परिवर्तन हुआ । इस सिद्धान्त के अनुसार केवल उच्च कोटि के ही पात्र ट्रैजेडी के नायक हो सकते थे, किन्तु 18वीं शताब्दी के बाद की ट्रैजेडी में सामान्य व्यक्ति भी नायक होने लगे । सामान्य व्यक्ति को महत्त्व प्रदान करने का फल यह हुआ कि सामाजिक यथार्थवाद का विकास हुआ और सामाजिक संघर्ष वाले ट्रैजेडी नाटकों का प्रादुर्भाव हुआ ।

यथार्थवादी नाटकों में कुछ ऐसी भी स्थितियाँ एवं पात्र होते हैं, जो वास्तविक अर्थ में दुखान्त नाटक की सृष्टि नहीं करते । वे ट्रैजेडी एवं कामेडी दोनों के बीच की कोटि में आते हैं । ऐसे नाटकों को ट्रैजेडी की अपेक्षा गम्भीर नाटक (सीरियस ड्रामा) कहना ही उपयुक्त होगा । इस प्रकार के नाटकों को सामाजिक नाटक (सोशल ड्रामा) तथा समस्या-नाटक (प्राब्लम प्ले) भी कहा गया है ।

भिन्न-भिन्न युगों के दु:खान्त साहित्य में भिन्न-भिन्न दार्शनिक धारणाएँ मिलती हैं । युनानी नाटकों में हमें नियतिवाद मिलता है । आधुनिक युग में दु:खान्त की सृष्टि, व्यक्ति तथा समाज एवं उसकी रूढ़ियों, पूर्वाग्रहों, नियमों आदि से, उसके संघर्ष द्वारा की जाती है । एमिली जोला ने ट्रैजेडी का कारण मनुष्य में काम (यौन) वृत्तिका होना बताया है । उसके अनुसार इस काम (यौन) वृत्ति के कारण ही समस्त पाप होते हैं । इस प्रकार नियतिवाद वाली प्राचीन धारणा का अभिनवीकरण हो गया है ।

बीसवीं शताब्दी में राष्ट्रीय एवं वर्गीय संघर्षों तथा उनके साथ-साथ बौद्धिक एवं संवेगात्मक संघर्षों पर श्रेष्ठ नाटकों की रचना हुई, किन्तु उनमें अरस्तू के सिद्धान्त के अनुसार

घटना-संघटन अथवा कार्य की प्रधानता बराबर बनी रही । महान् दार्शनिक हीगेल के शब्दों में कार्य की प्रगति, मनुष्य की इच्छा तथा उसके वातावरण- अर्थात् अन्य मनुष्यों की इच्छाओं, समाज एवं प्रकृति की शक्तियों आदि के बीच होने वाले संतत संघर्ष द्वारा होती है ।

11.6.2 विरेचन सिद्धान्त की व्याख्या

व्याख्याकारों द्वारा प्रस्तुत 'विरेचन' के सभी अर्थ अरस्तू को अभिप्रेत थे अथवा नहीं, यह कहना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि इस विषय पर उनकी अपनी व्याख्या अपर्याप्त है । अत: इस विषय में हम केवल अनुमान या तर्क से काम ले सकते हैं । धार्मिक संगीत की ओर तो स्वयं अरस्तु ने संकेत किया ही था, मानसिक शुद्धि की चर्चा भी उनके राजनीति में उपलब्ध होती है । अत: वे इसका नैतिक अर्थ भी करते होंगे । प्रश्न है कि क्या वे उसका कला-परक अर्थ भी ग्रहण करते थे? धर्म-परक, नीति-परक तथा कला-परक तीनों अर्थों में निश्चय ही सत्य का अंश वर्तमान है ।

कुछ व्याख्याकारों ने अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त में अभिप्रेत से अधिक अर्थ भरने का प्रयास किया है । उदाहरण के लिये प्रो. मरे ने यूनान की प्राचीन प्रथा के साथ विरेचन सिद्धान्त का सीधा संबंध स्थापित किया है । यद्यपि यह सत्य है कि अरस्तू अपने युग की परिस्थितियों से अवश्य प्रभावित हुए होंगे और विरेचन सिद्धान्त की उनकी परिकल्पना पर भी युगीन धार्मिक प्रथा का प्रभाव पड़ा हो, पर यह प्रभाव अप्रत्यक्ष ही रहा होगा । विरेचन के धर्म-परक अर्थ का तात्पर्य है कि धार्मिक संगीत, श्रोता के भावों को उत्तेजित कर फिर शान्त करता है । परन्तु काव्य धनात्मक होता है, नकारात्मक नहीं । काव्य का उद्देश्य केवल अस्वास्थ्यकर भावनाओं या रुग्ण मनोवृत्तियों का विवरण नहीं है, स्वास्थ्यकर भावनाओं का अभिवर्धन करना भी होता है ।

आधुनिक मनोविश्लेषणशास्त्र नीतिपरक अर्थ की पुष्टि करता है । आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ता फ्रायड, एडलर, युंग आदि यह स्वीकार करते हैं कि हमारी वासनाएँ जब परितृप्त नहीं हो पातीं तो हमारे मनोवेग कुण्ठित हो जाते हैं और वासनाएँ अवचेतन मन में जाकर जम जाती हैं । यदि उनकी उचित परितुष्टि न हो, तो वे मानसिक रुग्णता का रूप ग्रहण कर लेती हैं । अभुक्त मनोवेग या कुण्ठा मनोग्रन्थि में परिणत हो जाती है । ऐसा कुण्ठा-ग्रस्त व्यक्ति तभी मानसिक स्वास्थ्य-लाभ कर पाता है, जब उसका वह मनोवेग या अतृप्त-कामना उचित रीति से परितृप्त हो जाय । जिस प्रकार आधुनिक मनोविश्लेषण, मानसिक रोगों का उपचार मनोवेगों की उचित अभिव्यक्ति द्वारा मानता है, उसी प्रकार अरस्तू का मत था कि विरेचन-प्रक्रिया द्वारा प्रेक्षक के मन की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, घुटन दूर हो जाती है । विरेचन से अरस्तू का तात्पर्य भावों का दमन या निष्कासन नहीं, वरन् उनका सन्तुलन था । मानसिक स्वास्थ्य के लिये भावातिरेक अनिष्टकर है । इसके कारण मनुष्य अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठता है । अरस्तू का अभिप्राय यही था कि त्रासदी करूणा तथा त्रास के अवांछित अंश को उभारकर निकाल देती है, फलत: मनोभावों में सामंजस्य स्थापित होता है जो मानसिक स्वास्थ्य के लिए हितकर

है । काव्य एक ओर दमित भावनाओं को उत्तेजित करता है तथा दूसरी ओर अमर्यादित भावों को मर्यादित करता है । अत: विरेचन का अर्थ हुआ भावगत सन्तुलन ।

अब प्रो. बूचर द्वारा प्रस्तुत विरेचन की व्याख्या पर विचार करें । उनके अनुसार विरेचन के दो पक्ष हैं- एक अभावात्मक और दूसरा भावात्मक । उसका अभावात्मक पक्ष तो यह है कि वह पहले मनोवेगों को उत्तेजित करे और तदुपरान्त उनका शमन कर मन: शान्ति प्रदान करे । उसका भावात्मक पक्ष है कलात्मक परितोष । प्रो. बूचर द्वारा प्रस्तुत विरेचन का भावात्मक पक्ष अरस्तू के शब्दों की परिधि से बाहर है । अरस्तु का अभीष्ट केवल मन का सामंजस्य, तज्जन्य विशदता और भावनाओं की शुद्धि था । कला-जन्य आस्वाद अरस्तू के विरेचन की परिधि से बाहर की बात है । अरस्तू को विरेचन से इतना ही अभिप्रेत था। डॉ. नगेन्द्र विरेचन सिद्धान्त की यह सीमा बताते हैं कि उस प्रक्रिया द्वारा प्रेक्षक मन: शान्ति का अनुभव करता है पर आनन्द का उपभोग नहीं कर पाता । भारतीय दर्शन के अनुसार यह स्थिति आनन्द की भूमिका-मात्र है, आनन्द नहीं ।

11.6.3 व्याख्याओं की समीक्षा

अनेक आलोचकों ने विरेचन-सिद्धान्त पर आक्षेप किए । उन्हें विरेचन-प्रक्रिया के अस्तित्व में विश्वास ही नहीं है । उनका मत है कि वास्तविक अनुभव में विरेचन होता ही नहीं । त्रासदी को देखकर करूणा, भय आदि मनोवेग तो जाग्रत हो जाते हैं परन्तु उनके रेचन से मन: शान्ति सदा नहीं होती । उनका तो यहां तक कहना है कि बहुत से नाटक तो केवल प्रेक्षक के भावों को क्षुब्ध करके रह जाते हैं ।डॉ. नगेन्द्र इस आक्षेप को अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि सफल त्रासदी का चमत्कार मूलत: रागात्मक है, वह विरेचन-प्रक्रिया द्वारा भावों को उद्बुद्ध करती है, उनका समंजन करती है और इस प्रकार आनन्द की भूमिका प्रस्तुत करती है । यही विरेचन सिद्धान्त की महत्त्वपूर्ण देन है । यदि ऐसा न होता, त्रासदी केवल भावों को विक्षुब्ध कर छोड़ देती, तो प्रेक्षक समय और धन कर खर्च त्रासदी देखने क्यों जाते?

दूसरा आक्षेप कि त्रासदी में प्रदर्शित भाव अवास्तविक होते हैं, अत: वे हमारे भावों को उत्तेजित नहीं कर पाते, विरेचन की तो बात ही नहीं । नाटक में हम केवल कला का (अभिनय, रंग-सज्जा, संगीत आदि ही आस्वादन करते हैं । अनुभव यह बताता है कि यह आक्षेप भी बड़ा दुर्बल है। भावोद्रेक निश्चय ही कला-चमत्कार का प्रतिफल नहीं है, रागात्मक प्रभाव की परिणति है । विरेचन सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक आधार भी अत्यन्त पुष्ट है । अत: ये दोनों आक्षेप निराधार हैं ।

विरेचन और आनन्द-

त्रास और करूणा दोनों ही कटु भाव हैं । अरस्तू की अपनी परिभाषा के अनुसार भी दोनों ही दुखद अनुभूति के भेद हैं । त्रास में किसी आसन्न, घातक, अनिष्ट से उत्पन्न कटु अनुभूति होती है, तो करूणा उस समय उत्पन्न होती है जब हम किसी निर्दोष व्यक्ति को अनिष्ट में पड़ा देखते हैं । अरस्तू का मत है कि मानसिक विरेचन के द्वारा यह कटुता अथवा दंश नष्ट हो जाता है, उत्तेजना समाप्त हो जाती है, मन सर्वथा विशद हो जाता है और यह मन स्थिति निश्चय ही सुखद होती है । प्रो. बूचर ने 'दुख से सुख' के प्रतीयमान विरोध की शान्ति के

लिये दो कारण और भी दिये हैं- 1. 'स्व' की क्षुद्रता से मुक्ति और 2 कलात्मक प्रक्रिया । उनका कथन है कि प्रत्यक्ष जीवन में त्रास और करूणा दुःखद अनुभूतियाँ हैं, पर त्रासदी में वे वैयक्तिक दंश से मुक्त हो साधारणकृत रूप में उपस्थित की जाती हैं । संकुचित 'स्व' क्षुद्र और कटु है 'स्व' विशाल और सुखद होता है । राम का दुःख हमारा अपना संकुचित दुःख नहीं है, उसके दुख को देख हमारा हृदय विस्तीर्ण हो उठता है । हमें अपने दुःख क्षुद्र प्रतीत होने लगते हैं । हमें विश्वास होने लगता है कि भय या त्रास से भी अधिक श्रेष्ठ जीवन-मूल्य है । हम अपने 'स्व' को भूलने लगते हैं, 'स्व' का पाश टूट जाता है और आत्मविकास होने लगता है । प्रो. बूचर का दूसरा तर्क है कि त्रासदी कलात्मक सृजन है जो सुखद होता है । कलात्मक प्रक्रिया में पड़कर त्रास और करूणा का दंश नष्ट हो जाता है, दुःख सुख में बदल जाता है । डॉ० नगेन्द्र का मत है कि प्रो॰ बूचर द्वारा प्रस्तुत दोनों कारण विरेचन-प्रकिया से संबद्ध तो हैं, पर उसके अंगभूत नहीं ।डॉ. नगेन्द्र के अनुसार 'विरेचन' आनन्द की भूमिका है, आनन्द नहीं । क्योंकि उसमें, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, सुख का केवल अभावात्मक रूप रहता है अर्थात् मन: शान्ति और विशदता ।

विरेचन और करूण रस-

अरस्तू प्रतिपादित त्रासद-प्रभाव तथा भारतीय काव्य-शास्त्र के करूण रस के आस्वाद वाले सिद्धान्त में पर्याप्त साम्य भी है और वैषम्य भी । दोनों के आधार दुःखद मनोवेग हैं, एक में, अर्थात् त्रासदी में, करूणा और त्रास हैं, तो दूसरे, अर्थात् करूण रस में, शोक है । करूणा और त्रास में पीड़ा की अनुभूति का प्राधान्य है, उधर करूण रस में भी स्थायी भाव शोक है।

अरस्तू के त्रासद-प्रभाव तथा भारतीय काव्य-शास्त्र के करूण रस में समानता है, पर उनमें वैषम्य भी है । प्रथम अंतर तो यह है कि अरस्तू के करूणा तथा त्रास को सदैव युग्म के रूप में स्वीकार किये जाने पर भी भिन्न-भिन्न रस माने गये हैं । त्रासदी का प्रभाव मिश्र भाव होता है, तो शोक अमिश्र भाव है। डॉ. नगेन्द्र ने इसी अन्तर को बताते हुए कहा है, ''अरस्तू प्रतिपादित विरेचन-जन्य प्रभाव तथा भट्ट नायक-अभिनवगुप्त के रस में यही अन्तर है और यह अन्तर साधारण नहीं है-क्षतिपूर्ति और लाभ का अन्तर है ।''

विरेचन-सिद्धान्त का उल्लेख-

अरस्तू ने केवल दो स्थानों पर इस शब्द का प्रयोग किया है- प्रथम तो अपने ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' में जहाँ उन्होंने त्रासदी की परिभाषा तथा उसका स्वरूप निश्चित करते हुए कहा है कि ''त्रासदी किसी गंभीर, स्वत: पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है, जिसका माध्यम नाटक के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत भाषा होती है; जो समाख्याम रूप में न होकर कार्य-व्यापार रूप में होती है और जिसमें करूणा तथा त्रास के उद्वेग द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है'' (डॉ. नगेन्द्र का अनुवाद) । अरस्तू ने प्लेटो के आक्षेप का उत्तर देने के साथ-साथ यह भी स्पष्ट किया है कि त्रासदी के मूलभाव त्रास और करूणा होते हैं और इन भावों को उद्बुद्ध कर विरेचन की पद्धति से मानव-मन का परिष्कार त्रासदी का मुख्य उद्देश्य होता है ।

दूसरा स्थल, जहाँ 'विरेचन' शब्द का उल्लेख है वहाँ अरस्तू ने 'राजनीति शास्त्र' नामक गन्थ में लिखी है, ''किन्तु इससे आगे हमारा यह मत है कि संगीत का अध्ययन एक नहीं, वरन् अनेक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए होना चाहिए- 1. शिक्षा के लिए 2. विरेचन (शुद्धि) के लिए 3. संगीत से बौद्धिक आनन्द की भी उपलब्धि होती है । धार्मिक रागों के प्रभाव से- ऐसे रागों के प्रभाव से, जो रहस्यात्मक आवेश को उद्बुद्ध करते हैं- वे शान्त हो जाते हैं, मानो उनके आवेश का शमन और विरेचन हो गया हो । करूणा और त्रास से आविष्ट व्यक्ति- प्रत्येक भावुक व्यक्ति इस प्रकार का अनुभव करता है, और दूसरे भी अपनी-अपनी संवेदन-शक्ति के अनुसार प्राय: सभी इस विधि से एक प्रकार की शुद्धि का अनुभव करते हैं, उनकी आत्मा विशद और प्रसन्न हो जाती है'' (डॉ. नगेन्द्र का अनुवाद) । विरेचन से अरस्तू का तात्पर्य शुद्धि से है । वे मानते हैं कि यद्यपि शिक्षा में नैतिक रागों को प्रधानता देनी चाहिये, परन्तु आवेग को अभिव्यक्त करने वाले रागों का भी आनन्द लिया जा सकता है क्योंकि करूणा, त्रास अथवा आवेश का प्रभाव न्यूनाधिक मात्रा में सभी व्यक्तियों पर होता है । ऐसे संगीत के प्रभाव से विरेचन द्वारा उनका आवेश शान्त हो जाता है । इस विधि से वे अपनी-अपनी संवेदन-शक्ति के अनुसार एक प्रकार की शुद्धि का अनुभव करते हैं ।

11.7 सारांश

'विरेचन सिद्धान्त', अपनी समस्त शक्ति तथा सीमाओं सहित पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में अरस्तू की एक महत्त्वपूर्ण देन है । अपने ग्रंथों में 'विरेचन' शब्द का प्रयोग कर अरस्तू ने प्लेटो के आक्षेप का उत्तर दिया, काव्य की महत्ता स्थापित की, त्रासदी के प्रभाव को गौरवपूर्ण बनाया तथा फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिकों के लिए आधारभूत सिद्धान्त स्थापित किया। इस प्रकार अरस्तू द्वारा अनेक परवर्ती एवं आधुनिक पाश्चात्य एवं पौर्वात्य आलोचकों- आई. ए. रिचर्ड्स तथा आचार्य शुक्ल का मार्ग प्रशस्त हुआ है, क्योंकि अरस्तू के 'विरेचन', रिचर्ड्स के 'अन्तर्वृत्तियों के सामंजस्य' और शुक्ल जी द्वारा प्रतिपादित 'हृदय की मुक्तावस्था' में कोई भेद नहीं है । अत: विरेचन सिद्धान्त अरस्तू की और उसके साथ ही पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की स्थायी उपलब्धि कहा जा सकता है।

त्रासदी देखकर प्रेक्षक को यह प्रतीति होने लगती है कि दुःख अटल है, उसे जीवन की उस अन्तर्वस्था का ध्यान भी होने लगता है जिसके आगे मानव विवश है । त्रासदी के मुख्य पात्र को दुर्धर्ष परिस्थितियों के साथ साहसपूर्वक संघर्ष करते हुए देखकर भी पाठक उत्साह, सहिष्णुता, साहस, गरिमा आदि भावों से अनुप्रेरित होता है, मानव की महानता और मानवता की विजय में उसका विश्वास दृढ़ होता है । सच्ची त्रासदी श्रेष्ठ जीवन-मूल्यों से भी पाठक को परिचित कराती है, उसके मन में असहायता का भाव उत्पन्न नहीं होने देती, बल्कि उसे सबल बनाती है ।

11.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. प्लेटो के द्वारा काव्य पर लगाए गए आक्षेपों का उल्लेख कीजिए और अरस्तू द्वारा किए गए निराकरण प्रस्तुत कीजिए।

2. अरस्तू के अनुकरण सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए और इसकी शक्ति और सीमाओं पर प्रकाश डालिए ।
3. त्रासदी की परिभाषा देकर उसके तत्त्वों पर प्रकाश डालिए ।
4. विरेचन की परिभाषा दीजिए और इसकी व्याख्या कीजिए ।

11.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. निर्मला जैन - प्लेटो के काव्य सिद्धान्त, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ।
2. निर्मला जैन, कुसुम बाँठिया - पाश्चात्य साहित्य चिंतन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली ।
3. देवेन्द्रनाथ शर्मा - पाश्चात्य काव्यशास्त्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ।
4. राम अवध द्विवेदी - साहित्य सिद्धान्त, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना ।
5. डॉ. नगेन्द्र और डां. सावित्री सिन्हा (संपा.) - पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।
6. डॉ. नगेन्द्र - अरस्तू का काव्यशास्त्र, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।
7. डॉ. राम अवध द्विवेदी - साहित्य सिद्धान्त, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना ।

इकाई-12 टी.एस.इलियट' का साहित्य चिन्तन

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 टी.एस.इलियट का सामान्य परिचय

12.3 टी.एस.इलियट का काव्यचिन्तन

12.3.1 परम्परा और वैयक्तिक प्रज्ञा

12.3.2 निर्वैयक्तिकता का सिद्धान्त

12.3.3 वस्तुनिष्ठ समीकरण या मूल विधान

12.3.4 संवेदनशीलता का असहाचर्य

12.3.5 इलियट का अभिजात्यवाद

12.3.6 इलियट की अन्य प्रमुख मान्यताएँ

12.3.7 काव्य और नैतिकता

12.3.8 काव्य भाषा

12.3.9 आलोचना का उद्देश्य

12.4 सारांश

12.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

12.6 संदर्भ ग्रन्थ

12.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ कर आप

- टी.एस. इलियट का सामान्य परिचय दे सकेंगे ।
- टी.एस. इलियट के आलोचनात्मक सिद्धांतों को स्पष्ट कर सकेंगे ।

12.1 प्रस्तावना

पाश्चात्य साहित्य सिद्धांत के अध्ययन के क्रम में आप यूनानी, रोमी आचार्यो की मान्यताओं से परिचित हुए होंगे, साथ ही आपने नवजागरण काल की स्थितियों का भी अध्ययन किया होगा । नवशास्त्रवाद एवं स्वच्छन्दवाद का अध्ययन करते समय आप अंग्रेजी, फ्रांसीसी एवं जर्मन आलोचकों की मान्यताओं से परिचित हुए होंगे । नयी समीक्षा के इतिहास से परिचय के समय पृष्ठभूमि के रूप में टी.एस. इलियट का नाम भी आपके सामने आया होगा । प्रस्तुत इकाई में आपका टी.एस.इलियट की साहित्यिक मान्यताओं से परिचय कराया जायेगा ।

12.2 टी.एस.इलियट का सामान्य परिचय

बीसवीं शताब्दी के अंग्रेजी आलोचकों में टी०एस०इलियट (टॉमस स्टर्न्स इलियट) एक महत्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं । इलियट का जन्म सेंट लुई (अमेरिका) में 26 सितम्बर 1888 ई० को हुआ था।

उन्होंने हावर्ड वि0वि0 से 1910 ई०में एम०ए० किया । हावर्ड वि0वि0 में इलियट को इविंग बैबिट जैसे मानवतावादी आलोचक एवं जार्ज सांतायना जैसे सौन्दर्यशास्त्री के शिष्य होने का गौरव प्राप्त हुआ । इलियट ने वहाँ संस्कृत और पालि का भी अध्ययन किया । उन्होंने सॉबोर्न (फ्रांस) फिलिप्स (जर्मनी) तथा ऑक्सफोर्ड (इंग्लैण्ड) विश्वविद्यालयों में भी अध्ययन किया। 1915 में इलियट लंदन पहुँचे और वहीं बस गये । उन्होंने लंदन के निकट एक स्कूल में कुछ दिनों तक अध्यापन कार्य किया; उसके बाद लॉयड्स बैंक में लिपिक की नौकरी की । 1917 से वे पूर्णत: लेखन कार्य में लग गये । 1925 में वे 'फेबर एण्ड फेबर' नामक प्रसिद्ध प्रकाशन संस्थान में जुड़े और उसके निदेशक बने । वहीं से उन्होंने 'दि क्राइटेरियन' (The Crieterian) नामक त्रैमासिक पत्रिका का सम्पादन आरम्भ किया । इलियट की प्रसिद्धि में इस पत्रिका का बहुत बड़ा योगदान है ।'द वेस्टलैण्ड' नामक चर्चित कविता पहले 'क्राईटेरियन' मे ही प्रकाशित हुई थी । 1927 में उन्होंने ब्रिटिश नागरिकता तथा चर्च ऑफ इंग्लैण्ड की सदस्यता स्वीकार की और इंग्लैण्ड के स्थायी निवासी हो गये । 1948 में इलियट को नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया । जीवन के अंत तक वे साहित्य-साधना में संलग्न रहे । 4 जनवरी 1965 में उनकी मृत्यु लंदन में हुई ।

इलियट की गणना बीसवीं शताब्दी के प्रभावशाली एवं समर्थ आलोचकों में की जाती है । यद्यपि उन्होंने आलोचना पर कोई स्वतंत्र पुस्तक नहीं लिखी है, पर विभिन्न लेखों, व्याख्यानों और समीक्षाओं में विकीर्ण विचारों से इनके आलोचनात्मक व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है । इन विभिन्न लेखों को संकलित कर प्रकाशित कराया गया है । इनमें प्रमुख हैं- 'द सेक्रेड वुड' (1920), 'होमेज टु जॉन ड्राइडन' (1924), 'द यूज ऑफ पोयट्री एण्ड द यूज ऑफ क्रिटिसिज्म (1933), सेलेक्टेड एसेज (1934), 'एसेज एंसेन्ट एंड माडर्न' (1936) ।

इलियट का लेखन 1915 से आरंभ होता है । यह समय अंग्रेजी काव्य के लिए ह्रास का और आलोचना की दिशाहीनता का समय था । स्वच्छंदतावादी कवियों (वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, शेली आदि) की आलोचना में वैयक्तिकता, भावना और कल्पना की प्रधानता थी । मैथ्यू ऑर्नल्ड ने वैयक्तिकता के अतिरेक को नियंत्रित करने का प्रयास किया, पर उन्हें अपेक्षित सफलता नहीं मिली । उन्नीसवीं शताब्दी में कलावादी चिंतन (कला के लिए) अपनी अतिवादी भूमिका के साथ साहित्यिक मंच पर आया । इन प्रचलित आलोचना पद्धतियों में कृति के स्थान पर कृतिकार को अधिक महत्व दिया गया था । इलियट ने इन सबका विरोध किया और कृति को महत्त्व दिया । उसके महत्त्वपूर्ण वाक्य सच्ची आलोचना और सूक्ष्म प्रशंसा का लक्ष्य कवि नहीं काव्य हैं ने न केवल व्यक्तिवादी आलोचना का प्रत्याख्यान किया अपितु उसे दूसरी दिशा की ओर मोड़ दिया । उसने व्यक्तिवादिता के स्थान पर परम्परा को महत्त्व दिया और उसके अंतर्गत ही वैयक्तिक प्रज्ञा की सार्थकता स्वीकार की । इलियट की आलोचना में तीन प्रमुख तत्त्वों पर बल दिया गया है । पहला यह कि इलियट काव्य में आत्माभिव्यक्ति का विरोध करते हैं । दूसरी बात यह है कि उन्होंने इतिहास और परम्परा को अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना है। तीसरी उल्लेखनीय बात यह है कि उन्होंने काव्य के वस्तु पक्ष पर, उसकी संरचनात्मक स्थिति पर बल दिया है और काव्य में भाषा, बिम्ब आदि की भूमिका को रेखांकित किया है। इलियट की मान्यताओं में परम्परा का महत्त्व अन्यतम है। उनकी मान्यताओं को समझने

के लिए संस्कृति और परम्परा सम्बन्धी उनके विचारों को जानना जरूरी है । इलियट संस्कृति की स्थिति व्यक्ति, समूह तथा समाज में मानते हैं और ये तीनों अन्योन्याश्रित हैं । इलियट की दृष्टि में समाज की संस्कृति का अर्थ है पूरे समाज की जीवन पद्धति जिसके घटक तत्त्व हैं- नागरिकता, भद्रता, ज्ञान, दर्शन और कला। चूँकि संस्कृति का सम्बन्ध समाज की समग्र जीवन पद्धति से है अत: उसका सम्बन्ध धर्म से भी है क्योंकि धर्म भी जीवन पद्धति का अन्यतम अंग है । इलियट का यह भी मानना है कि संस्कृति का निर्माण सचेत प्रयत्न से नहीं होता। संस्कृति स्वयं समाज की योजनाओं की पृष्ठभूमि में परोक्ष रूप में विद्यमान रहती है । संस्कृति की अवधारणा से ही इलियट की परम्परा सम्बन्धी अवधारणा विकसित हुई है । इलियट सारे यूरोप को एक सांस्कृतिक इकाई के रूप में देखते हैं, जिसकी दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं-एक यूनान और रोम का दाय और दूसरा ईसाई धर्म । ये दोनों यूरोप की सम्मिलित परम्परा के अंग हैं । इन तत्त्वों का सम्बन्ध अतीत से ही नहीं प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में वर्तमान से भी है । इलियट ने परम्परा को परिभाषित किया है । उनके अनुसार परम्परा मतांध विश्वासों का रक्षण नहीं है । ये विश्वास तो परम्परा के निर्माण-क्रम में आकार ग्रहण करते हैं । परम्परा का सम्बन्ध उन सभी क्रियाओं, आचारों, प्रथाओं से हैं जिनमें महत्त्वपूर्ण धार्मिक कृत्यों से लेकर किसी अपरिचित के अभिवादन की औपचारिक रीति तक सम्मिलित है और जो एक ही स्थान में रहने वाले लोगों के रक्त सम्बन्ध को द्योतित करते हैं । परम्परा की व्याख्या करते हुए इलियट कहते हैं कि परम्परा जीवित संस्कृति का वह अंश है जो अतीत से दाय के रूप में प्राप्त होकर वर्तमान का निर्माण और भविष्य का दिशा निर्देश करती है । परम्परा और अतीत समानार्थी नहीं हैं, निर्जीव और अनुपयोगी अतीत परम्परा नहीं, परम्परा अविच्छिन्न प्रवाह है जिसमें अतीत, वर्तमान और भविष्य परस्पर सम्बद्ध हैं ।

12.3 टी.एस. इलियट का काव्य चिन्तन

12.3.1 परम्परा और वैयक्तिक प्रज्ञा

'ट्रैडिशन एंड दि इंडिविजुअल टैलेंट' टी.एस. इलियट का प्रसिद्ध आलोचनात्मक निबंध है और उनकी ख्याति का आधार भी । इस निबंध में कवि के वैशिष्ट्य को परम्परा के परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयास किया गया है । इलियट के अनुसार परम्परा और वैयक्तिक प्रज्ञा का परस्पर विरोध नहीं है । वैयक्तिक प्रज्ञा परम्परा से असम्बद्ध और अविच्छिन्न होती ही नहीं । परम्परा से जुड़ा रहकर ही कवि अपनी वैयक्तिक क्षमता को अधिक सफलता तथा सुन्दरता से उजागर कर सकता है । अर्थात परम्परा कवि की वैयक्तिक प्रज्ञा के विकास में बाधक नहीं बल्कि साधक और सहायक है । हिन्दी में इसके सर्वोत्कृष्ट उदाहरण गोस्वामी तुलसीदास हैं । तुलसीदास के समक्ष रामकाव्य की एक लम्बी परम्परा थी । उन्होंने उससे बहुत कुछ ग्रहण भी किया पर इससे उनके काव्योत्कर्ष में कोई आँच नहीं आयी ।

परम्परा सम्बन्धी इलियट की एक महत्त्वपूर्ण अवधारणा यह है कि परम्परा के प्रति आसक्ति का अर्थ अंधानुकरण नहीं है । इलियट ने परम्परा के व्यापक अर्थ की ओर संकेत किया । उनके अनुसार परम्परा विरासत के रूप से प्राप्त नहीं होती उसे परिश्रमपूर्वक अर्जित किया जाता है । इसके लिए कवि में इतिहास बोध का होना आवश्यक है । इतिहास बोध ही वह

सूत्र है जिससे वह कालातीत और सामयिक में अंतर कर पाता है और केवल अपने समय के संदर्भ में ही नहीं अपितु अविच्छिन्न सांस्कृतिक परम्परा के संदर्भ में सोचता और लिखता है । इलियट का यह मानना है कि परम्परा कोई मृत वस्तु नहीं है; जो मृत या अनुपयोगी है, वह परम्परा है ही नहीं । परम्परा अविच्छिन्न प्रवाह है, जो अतीत के साहित्यिक-सांस्कृतिक विरासत के उत्कृष्ट अंश से वर्तमान को समृद्ध बनाती है और भविष्य का पथ प्रशस्त करती है। इलियट के अनुसार परम्परा का विस्तार देश में भी है और काल में भी । इसके लिए उन्होंने यूरोप का उदाहरण दिया है । भारतीय संदर्भ में वाल्मीकि और व्यास इसके उदाहरण हैं । कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक और असम से लेकर गुजरात तक वाल्मीकि व्यास से आज तक का दाय भारतीय परम्परा में विद्यमान है और जिस कवि ने उस परम्परा को जितना आत्मसात किया उसे उतनी अधिक प्रसिद्धि मिली । इसीलिए इलियट का मानना है कि किसी कवि या कलाकार की पूर्ण सार्थकता केवल अपने आप में नहीं होती । उसकी सार्थकता दिवंगत कवियों और कलाकारों की सापेक्षता में ही होती है । उसका अकेले मूल्यांकन सम्भव ही नहीं है । जब किसी नयी कलाकृति की सृष्टि होती है तो पूर्ववर्ती कृतियों का कुछ-न-कुछ समंजन अनिवार्य हो जाता है । नयी कलाकृति के पहले विद्यमान महत्त्वपूर्ण कृतियों की एक स्थिर व्यवस्था होती है जो नवीन कृति के आने परिवर्तित हो जाती है । कहने का तात्पर्य यह है कि वर्तमान से अतीत परिवर्तित होता है और अतीत से वर्तमान निर्देशित । इलियट इस बात पर बल देते हैं कि कवि को अतीत का, परम्परा का ज्ञान तो होना चाहिए किंतु ज्ञान के भार से आतंकित नहीं होना चाहिए । कभी-कभी अधिक ज्ञान से काव्य-संवेदना निर्जीव हो जाती है । इसलिए कवि के लिए अतीत की चेतना को विकसित या उपलब्ध करना आवश्यक है ।

12.3.2 निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत

इलियट ने इसी निबंध के दूसरे भाग में निर्वैयक्तिकता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है । स्वच्छंदतावादी कवियों ने कविता को भावों का सहज उच्छंलन कहा था । इलियट ने इस सिद्धांत का विरोध किया । इलियट का प्रमुख सूत्र ही है सच्ची आलोचना तथा संवेदनशील मूल्यांकन का लक्ष्य कवि नहीं अपितु काव्य है, सृजन के निर्वैयक्तिक होने की शर्त को इलियट ने अनिवार्य माना है । इलियट इस बात पर बल देते हैं कि कलाकार जितना उत्कृष्ट होगा उसमें भोक्ता और सर्जक का अन्तर उतना स्पष्ट होगा । इसका तात्पर्य यह है कि कवि के स्वानुभूत संवेदनाओं और भावों से काव्य में अभिव्यक्त संवेदन एवं भाव बिल्कुल अलग होते हैं क्योंकि वह स्वानुभूत भावों को पूर्णत: आत्मसात करके उन्हें बिल्कुल नये रूप में ढाल देता है । इलियट के अनुसार कवि रचना में अपने व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करता ही नहीं । वह एक माध्यम मात्र है-ऐसा माध्यम जिसमें संस्कार और अनुभूतियाँ संयोजित होती हैं । कवि का मस्तिष्क एक ऐसा पात्र है जिसमें अनन्त अनुभूतियाँ, वाक्य, खण्ड बिम्ब आदि संचित रहते हैं और तब तक संचित रहते है जब तक सर्जन का क्षण नहीं आता । सर्जन का क्षण आते ही वे अपना स्वरूप त्यागकर और नये रूपों में संयोजित होकर कला का रूप धारण कर लेते हैं । इसलिए महत्त्व भावों या विभिन्न घटकों की महत्ता यह तीव्रता का नहीं है बल्कि कलात्मक प्रक्रिया की तीव्रता का है । कहने का तात्पर्य कि महत्त्व उस दबाव का है जिसमें विभिन्न भावों का संयोजन या विलयन होता है और वे घुल मिलकर एक हो जाते हैं । इलियट की दृष्टि में यह

संभव है कि उन प्रभावों और अनुभवों का जो व्यक्ति के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है कविता में कोई स्थान न हो और जो काव्य के लिए महत्त्वपूर्ण हों वे कवि के जीवन के लिए तुच्छ हों। स्वच्छंदतावादी कवियों ने कविता को कवि व्यक्तित्व की सहज स्फूर्त सृष्टि माना था । इलियट ने इसका विरोध करते हुए ही घोषणा की कि कविता भावों का स्वच्छंद प्रवाह नहीं है बल्कि भाव से पलायन है वह व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं अपितु व्यक्तित्व से पलायन है । परंतु इसमें संदेह नहीं कि जिनके पास व्यक्तित्व और भाव होते हैं वे ही जानते हैं कि इनसे पलायन चाहने का क्या अर्थ होता है । ' वस्तुत: इलियट का विरोध व्यक्तित्व से नहीं बल्कि व्यक्ति तत्त्व की अनायास, अनियंत्रित अभिव्यक्ति से है । वे जब कवि कर्म की प्रक्रिया में निजी और व्यक्तिगत अनुभवों के हस्तक्षेप को अमान्य ठहराकर व्यक्तित्व के पलायन की बात करते हैं तो उनका लक्ष्य व्यक्ति तत्त्व का निषेध और तिरस्कार नहीं होता, उसका निर्वैयक्तिकरण होता है । इलियट के अनुसार रचना के लिए कवि का होना आवश्यक है, रचना में नहीं । इलियट कवि के भाव और कविता के भावों में अंतर करते हैं-''कविता का भाव निर्वैयक्तिक होता है और कवि इस निर्वैयक्तिकता को तब तक नहीं पहुँच सकता जब तक वह करणीय कर्म के प्रति अपने आपको पूरी तरह समर्पित नहीं कर देता । असल में इलियट का आग्रह कविता को कविता के रूप में देखने का रहा है । वे लिखते हैं-''जब हम कविता पर विचार करते हैं तब हमें प्रमुखत: कविता के रूप में ही देखना चाहिए किसी और रूप में नहीं ।'' इलियट ने जहाँ कविता की स्वायत्तता की वकालत की वहीं आलोचना में निर्वैयक्तिकता की माँग की। कवि पक्ष में जो निर्वैयक्तिकता सृजन के लिए आवश्यक है, वही आलोचना में आस्वाद और विश्लेषण के लिए अनिवार्य है । इलियट के अनुसार भोक्ता व्यक्ति और रचयिता कलाकार के बीच दूरी के समानान्तर कला की श्रेष्ठता के अनुपात में वृद्धि होती है ठीक उसी प्रकार कलाकृतियों का अनुशीलन करते समय आलोचक को भी हर प्रकार के इतर मुलाहिजों से, यहाँ तक कि अपनी आनुवंशिक विरासत से भी मुक्त, केवल पाठक होना चाहिए ।

कवि और आलोचक की निर्वैयक्तिकता के प्रति इलियट का यह शुद्धतावादी आग्रह समय के साथ क्रमश: कम होता गया । वे धीरे-धीरे रचना में व्यक्तित्व के महत्त्व को स्वीकार करने लगे । उन्होंने आलोचना में भी व्यक्तित्व के महत्त्व को स्वीकार किया । उन्होंने 'एक्सपेरिमेण्ट इन क्रिटिसिज्म' नामक लेख में यह स्वीकार किया कि यह संभव नहीं है कि किसी भी पीढ़ी का कोई भी व्यक्ति अतीत के हर लेखक और हर काल का रसज्ञ पाठक हो यानी सार्वजनीन सुरुचि समय से निरपेक्ष हो । 'यूज ऑफ पोयट्री एंड यूज ऑफ क्रिटिसिज्म' (1933) तक पहुँचते-पहुँचते इलियट यह अनुभव करने लगे थे कि अपने व्यक्तित्व का अतिक्रमण न कवि के लिए संभव है और न आलोचक कि लिए । इलियट की आपत्ति रचना में निपट वैयक्तिक अभिव्यक्ति से और आलोचना में प्रभावाभिव्यंजक विगलन से थी ।

12.3.3 वस्तुनिष्ठ समीकरण या मूर्तविधान (ऑब्जेक्टिव कोर्रिलेटिव)

वस्तुनिष्ठ समीकरण टी.एस. इलियट का एक महत्त्वपूर्ण काव्य-सिद्धांत है जिसका सर्वप्रथम प्रतिपादन इलियट ने अपने प्रसिद्ध निबंध 'हेमलेट एण्ड हिज प्रॉब्लम्स' में किया है । इस निबंध के माध्यम से इलियट ने काव्य में भाव की अभिव्यक्ति की विधि पर प्रकाश डाला है । जब

कवि कविकर्म में प्रवृत्त होता है तो उसके मूल में कोई प्रेरक भाव रहता है पर वह अमूर्त होता है पाठक, श्रोता या भावक को अमूर्त की अनुभूति नहीं हो सकती । कवि मन का भाव श्रोता या पाठक के मन में सीधे सम्प्रेषित नहीं कर सकता । यह सिद्धांत इसी प्रश्न का समाधान प्रस्तुत करता है । इलियट का मानना है कि भाव अमूर्त होते हैं और असंप्रेषणीय भी क्योंकि अमूर्त का सम्प्रेषण नहीं हो सकता । इस दशा में यह आवश्यक है कि किसी मूर्त वस्तु द्वारा अमूर्त भाव को सम्प्रेषित किया जाय । इलियट लिखते हैं कि कवि ऐसे वस्तु समुदाय, परिस्थिति या घटना-श्रृंखला (ए सेट ऑफ आब्जेक्ट्स ए सिचुएशन, ए चेन ऑफ इवेण्ट्स) को प्रस्तुत करे जो ऐन्द्रिय अनुभूति मे अवसित होकर भाव को उद्बुद्ध कर दे । कवि सजग रूप में शब्दों और बिम्बों का चयन करता है क्योंकि बिम्बों के माध्यम से ही भाव की अभिव्यक्ति होती है । इलियट की यह अवधारणा भारतीय काव्यशास्त्र की 'विभावन-व्यापार' विषयक अवधारणा से मेल खाती है । विभावन-व्यापार का अर्थ ही है मूर्तविधान । कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए वस्तुगत सत्ता की प्रतिष्ठा इलियट की निर्वैयक्तिकता की अवधारणा के समतुल्य भी है । वस्तुनिष्ठ योजना की इलियट की यह अवधारणा उनकी कोई मौलिक कल्पना नहीं है । फ्रांसीसी प्रतीकवादियों ने भी यह तर्क दिया कि कविता में भाव सीधे सम्प्रेषित नहीं होते अपितु केवल उद्बुद्ध होते हैं । उन्हें अभिव्यक्ति के लिए माध्यम की आवश्यकता होती है । इलियट की मूर्त विधान की अवधारणा उनकी निर्वैयक्तिकता की अवधारणा का ही विस्तार है । अमूर्त भाव वैयक्तिक होते हैं । सम्प्रेषण के लिए मूर्त वस्तु रूप ग्रहण करना इस वैयक्तिक भाव का निर्वैयक्तिकरण है और उस वस्तु सामग्री के माध्यम से तत्सम्बन्धी भाव का प्रकटीकरण उस सार्वजनीन सामग्री का व्यक्ति सिद्ध अनुभव है । अर्थात भोक्ता का भाव रचनाकार द्वारा निर्वैयक्तिक कला रूपों के माध्यम से ही पाठक तक सम्प्रेषित होता है । इस प्रक्रिया से गुजरे बिना उसका सम्प्रेषण-ग्रहण संभव नहीं होता । इसके लिए यह भी आवश्यक है कि भाव की अभिव्यक्ति के लिए जैसा मूर्त विधान अपेक्षित है वैसा ही हो । इलियट लिखते हैं 'यह कलात्मक अनिवार्यता है कि बाह्य वस्तु भाव के पूर्ण अनुरूप हो । मूर्त विधान का यह सिद्धांत इलियट की एक महत्त्वपूर्ण आलोचात्मक देन है ।

12.3.4 संवेदनशीलता का असाहचर्य (डिसोसियेशन ऑफ सेंसिबिलिटी)

वस्तुनिष्ठ समीकरण या मूर्त विधान की तरह संवेदनशीलता का असाहचर्य भी इलियट की महत्त्वपूर्ण अवधारणा है । इलियट का मानना है कि महान् कवि और कविता में भाव और विचार का, सहृदयता और चिंतनशीलता का, वैयक्तिकता और परम्परा का, समसामयिकता और शाश्वतता का समन्वय रहता है । किसी भी पक्ष के कमजोर पड़ने से काव्योत्कर्ष में बाधा उत्पन्न होती है । इसी को इलियट संवेदनशीलता का असाहचर्य कहते हैं । सामान्यत: विचार का सम्बन्ध बुद्धि से और संवेदनशीलता का सम्बन्ध सहृदयता से माना जाता है, पर इलियट की दृष्टि में बुद्धि पक्ष और हृदय पक्ष अभिन्न हैं, कवि के संज्ञानात्मक और भावात्मक पक्षों में भेद मानना संगत नहीं है क्योंकि उसके सर्जनात्मक व्यक्तित्व में मन, इन्द्रियाँ, भाव और बुद्धि परस्पर सम्बद्ध होते हैं । इलियट इसे ही विचार का प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय बोध अथवा विचार

का अनुभूति में रूपान्तरण कहते हैं । इसका अर्थ यह है कि संवेदनशीलता भाव और विचार का एकीभूत रूप है ।

इलियट ने अपने इस सिद्धांत के आलोक में अंग्रेजी साहित्य की परम्परा का मूल्यांकन किया। इलियट ने रेखांकित किया कि 17 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक अंग्रेजी साहित्य में भाव और विचार का साहचर्य रहा, जिसका चरम विकास शेक्सपियर के काव्य मे दिखायी देता है । शेक्सपियर के काव्य की उत्कृष्टता का प्रमुख कारण भाव और विचार या हृदय और बुद्धि का विरल संयोग है । किंतु 17 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से भाव और विचार के एकत्व में ह्रास आने लगता है, कवियों की एकीभूत संवेदनशीलता में कमी आने लगती है । कभी वे भाव की ओर झुकते हैं तो कभी विचार की ओर । शास्त्रवादी कवियों में विचार का अतिरेक दिखायी पड़ता है तो स्वच्छंदतावादी कवियों में भाव का । वर्ड्सवर्थ तो विचार को कविता के लिए अनावश्यक ही नहीं अवांछित भी मानते हैं । इलियट टेनीसन और ब्राउनिंग में भी विचार और भाव का सामंजस्य नहीं पाते हैं ।

यदि इलियट के इस सिद्धांत के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी साहित्य का मूल्यांकन करें तो गोस्वामी तुलसीदास का काव्य संवेदनशीलता के साहचर्य या एकीभूत संवेदनशीलता का सर्वोत्तम उदाहरण है । जायसी और सूर के काव्य में भाव का अतिरेक है तो कबीर में विचार का, रीतिकालीन कविता भाव को अधिक महत्त्व देती है । द्विवेदीयुगीन काव्य विचार काव्य है तो छायावादी काव्य भावोत्कर्ष को महत्त्व देता है । वस्तुतः भाव और विचार के सामंजस्य के उदाहरण कम मिलते हैं । संवेदनशीलता के असाहचर्य के सिद्धांत के लिए इलियट फ्रांसीसी कवि रेमी द गुर्मों के ऋणी हैं ।

12.3.5 इलियट का अभिजात्यवाद

अरस्तू की काव्य विषयक मान्यताएँ शास्त्रवाद का स्रोत हैं । होरेस ने शास्त्रवाद की विधिवत स्थापना की । इसके वे आदि आचार्य कहे जा सकते हैं । पुनर्जागरणकालीन आलोचना को होरेस से प्रेरणा मिली; नव्य आभिजात्यवादी आलोचकों पर भी होरेस का प्रभाव पड़ा । स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा के बाद मैथ्यू आर्नल्ड ने आभिजात्यवादी मान्यताओं की पुन:स्थापना की । आर्नल्ड के बाद टी.एस. इलियट ने शास्त्रवादी मान्यताओं को विस्तार दिया। उन्होंने अभिजात का अर्थ किसी वाद विशेष की मान्यता के प्रकाश में नहीं किया है । उनकी दृष्टि में अभिजात का मूल लक्षण है 'प्रौढ़ता' । इस प्रकार 'अभिजात कृति' का अर्थ हुआ 'प्रौढ़ कृति' । इलियट की दृष्टि में कोई भी कृति जब तक जीवन के विकसित एवं उच्च आदर्शों की अभिव्यक्ति नहीं कर सकती, तब तक प्रौढ़ कृति नहीं कहला सकती । इस प्रौढ़ता के तीन लक्षण हैं-मस्तिष्क की प्रौढ़ता, शील की प्रौढ़ता और भाषा की प्रौढ़ता । मस्तिष्क की प्रौढ़ता के लिए इलियट ऐतिहासिक ज्ञान और इतिहास बोध को आवश्यक मानते हैं । इसके लिए अपने देश और जाति के साथ-साथ अन्य सभ्य जातियों के इतिहास के अध्ययन को अनिवार्य मानते हैं । प्रौढ़ कृति के लिए इलियट चरित्र की प्रौढ़ता को भी आवश्यक समझते हैं क्योंकि इसके बिना आदर्श चरित्र का निर्माण नहीं हो सकता । भाषा की प्रौढ़ता के लिए इलियट पूर्ववर्ती महान् रचनाकारों एवं कवियों की भाषा के अध्ययन को महत्त्वपूर्ण समझते हैं । अभिजात कृति का

एक अन्य लक्षण है व्यापक प्रभाव । वस्तुत: कोई भी श्रेष्ठ रचना सीमित देशकाल के भीतर ही अपने आपको प्रतिष्ठित नहीं करती अपितु देशकाल की सीमा का अतिक्रमण कर जाती है । यही सही अर्थों में अभिजात कृति का आदर्श है ।

अभिजात सम्बन्धी इलियट की मान्यताएँ निर्विवाद नहीं हैं । इसके अपने अन्तर्विरोध हैं, इसकी अपनी सीमाएँ है । उदाहरण के लिए आचार-व्यवहार (शील) की प्रौढ़ता को कृति की प्रौढ़ता के साथ सम्बद्ध करना असंगतिपूर्ण है । मस्तिष्क की प्रौढ़ता का सम्बन्ध इलियट ने समाज की प्रौढ़ता से माना है जबकि तथ्य यह भी है प्रौढ़ समाज में प्रस्तुत की गयी सभी रचनाएँ प्रौढ़ नहीं होतीं । पर अपनी सीमाओं के बावजूद इलियट की ये मान्यताएँ रूमानी काव्य चेतना की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के समानान्तर सामाजिक स्थिति के महत्व को स्वीकार करने, कृति की वस्तुगत सत्ता को प्रतिष्ठित करने के कारण उल्लेखनीय है ।

12.3.6 इलियट की अन्य प्रमुख मान्यताएँ

इलियट की इन प्रमुख मान्यताओं के अतिरिक्त काव्य एवं आलोचना सम्बन्धी कतिपय ऐसी मान्यताएँ भी हैं, जिनका उल्लेख आवश्यक है । इलियट ने काव्य और नैतिकता के परस्पर सम्बन्ध के बारे में भी विचार किया है साथ ही काव्य के स्वरूप, काव्यभाषा तथा आलोचना के कार्य पर भी विस्तार से प्रकाश डाला है ।

12.3.7 काव्य और नैतिकता

काव्य और नैतिकता सम्बन्धी इलियट के विचारों में काफी अन्तर्विरोध है । एक ओर इलियट काव्य की स्वायत्तता के पक्षधर हैं, अर्थात् वे काव्य को काव्य के रूप में देखने के आग्रही हैं । वे वर्ड्सवर्थ की मान्यता का विरोध करते हुए कहते हैं कि कविता शांत क्षणों में भाव का अनुस्मरण नहीं है; वे मैथ्यू आर्नल्ड की मान्यता का विरोध करते हैं कि कविता जीवन की आलोचना नहीं है । इलियट के अनुसार कविता न तो नैतिक उपदेश है और न ही किसी प्रकार राजनीतिक निर्देश; वह धर्म भी नहीं है । कविता उत्तम छंद में उत्तम शब्दों की व्यवस्था है । वहीं दूसरी ओर वे यह भी कहते हैं कि कविता का कुछ-न-कुछ सम्बन्ध नैतिकता, धर्म और राजनीति से भी है । हालाँकि वे कहते हैं कि इस सम्बन्ध की व्याख्या संभव नहीं है । साहित्य की आलोचना के सम्बन्ध में भी इलियट की धारणा परस्पर विरोधी है । एक ओर वे यह मानते हैं कि साहित्यिक आलोचना नैतिक और धार्मिक दृष्टिकोण से होनी चाहिए, साहित्य की महत्ता केवल साहित्यिक प्रतिमानों से निर्धारित नहीं हो सकती तो दूसरी ओर वे कहते हैं कि केवल साहित्यिक प्रतिमानों से ही साहित्यिकता का निर्धारण संभव है । यह अवश्य है कि साहित्य की महत्ता और सार्थकता का मूल्यांकन साहित्यिक तथा अन्य प्रतिमानों से भी होता रहा है । उदाहरणार्थ वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस का महत्त्व केवल काव्य गुणों के कारण नहीं है अपितु इस कारण भी है उनमें भारतीय संस्कृति का सार तत्त्व समाहित है । इलियट नैतिक मानदण्डों को काव्य के निर्णायक तत्त्वों के रूप में स्वीकार करते हैं परंतु साथ ही नैतिकता का कोई शाश्वत प्रतिमान हो सकता है इसे मानने से इन्कार करते हैं । उनके अनुसार देशकाल के अनुरूप इसमें परिवर्तन संभव है ।

12.3.8 काव्यभाषा

कविता में भावाभिव्यक्ति का सबसे प्रमुख माध्यम भाषा है । इलियट के अनुसार भाव और संवेदना की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति जन साधारण की भाषा में ही हो सकती है, उस भाषा में जो पूरे वर्ग की सामान्य भाषा है । क्योंकि भाषा अपनी सम्पूर्ण संरचना में उस भाषा के बोलने वालों की जातीय विशेषता को व्यक्त करती है । इलियट का यह मानना है कि कवि के रूप में कवि का कर्तव्य प्रत्यक्षत: अपनी भाषा के प्रति और परोक्षतः अपनी जाति के प्रति है । कवि अपने आस-पास बोली जाने वाली भाषा को ही अभिव्यक्ति का माध्यम बनाता है । यदि समाज में प्रयुक्त होने वाली भाषा परिमार्जित होती है तो रचनाकार उससे लाभान्वित होता है और यदि भाषा का क्षरण होता है, तो उसे परिष्कृत करने का दायित्व भी रचनाकार का ही है । इलियट का यह दृढ़ मत है कि काव्य को सामान्य भाषा से अधिक दूर नहीं हटना चाहिए । इलियट भाषा के विकास को अनुभूति के विकास से जोड़ते हैं । उनका कहना है कि भाषा में विकास दिखायी देता है तो मानना चाहिए कि अनुभूति का भी विकास हुआ है । भाषा का परिमार्जन केवल उसके प्रयोग पर निर्भर नहीं करता बल्कि इस बात पर भी निर्भर करता है कि वह भावात्मकता की रक्षा करने और लेखक के विचारों तथा अनुभूतियों को संप्रेषित करने में कहीं तक समर्थ है ।

इलियट की भाषा सम्बन्धी अवधारणा पर दांते और वर्ड्सवर्थ का प्रभाव देखा जा सकता है। इलियट की मान्यता दांते की इस मान्यता से साम्य रखती है कि कवि का कर्तव्य भाषा की रक्षा करना, उसे समृद्ध करना और प्रत्येक शब्द का सार्थक प्रयोग करना है ।वर्ड्सवर्थ ने कविता में जन साधारण की भाषा के प्रयोग की वकालत की है । इलियट भी काव्यभाषा को सामान्य भाषा के निकट रखने का समर्थन करते हैं ।

12.3.9 आलोचना के उद्देश्य

टी०एस० इलियट के दो निबंधों 'द फंक्शन ऑफ क्रिटिसिज्म' और 'द फ्रंटियर्स ऑफ क्रिटिसिज्म में आलोचना के उद्देश्यों का निरूपण किया गया है । इलियट लिखते हैं- "मैं मानता हूँ कि आलोचना विचार का वह विभाग है, जो यह जानने का प्रयास करता है कि काव्य क्या है' वह किन आकांक्षाओं को संतुष्ट करता है, क्यों लिखा जाता है, क्यों पढ़ा जाता है अथवा कैसे काव्य का मूल्यांकन किया जाता है ।" इलियट आलोचना की दो सैद्धांतिक सीमाएँ मानते हैं-एक यह कि आलोचना इस बात पर विचार करती है कि काव्य क्या है?' और दूसरा वह यह जानने का प्रयास करती है कि 'क्या यह अच्छी कविता है?' इलियट स्थूल रूप से आलोचना के दो उद्देश्य मानते हैं-कलाकृति की व्याख्या (विशदीकरण) तथा रुचि परिष्कार । कलाकृति की व्याख्या कृति की व्यापक समझ के लिए आवश्यक है और रुचि-परिष्कार पाठकों को नये काव्य के सौन्दर्य को हृदयंगम करने की शक्ति प्रदान करता है । इलियट ने उपर्युक्त दो उद्देश्यों की चर्चा 1923 में प्रकाशित अपने निबंध 'द फंक्शन ऑफ क्रिटिसिज्म' में की है । बाद में 1956 में प्रकाशित अपने लेख 'द फ्रंटियर्स ऑफ क्रिटिसिज्म में इलियट ने अपने इन दो उद्देश्यों के बदले आलोचना के दो अन्य उद्देश्य बताए- 'साहित्य का बोध' और 'साहित्य का आस्वाद'

(अंडरस्टैडिंग एण्ड एंज्वायमेंट ऑफ लिटरेचर) । इन उद्देश्यों की सिद्धि के लिए इलियट 'तुलना' और 'विश्लेषण' पर बल देते हैं । इलियट आलोचक के कर्तव्य का भी निर्धारण करते हैं । उनके अनुसार आलोचक को न तो किसी को अपना निर्णय मानने के लिए बाध्य करना चाहिए और न ही अच्छे - बुरे का अधिक फतवा देना चाहिए अपितु कृति की व्याख्या कर देनी चाहिए और निर्णय पाठकों पर छोड़ देना चाहिए । हालाँकि यह एक कठिन कार्य है । तुलना करते समय आलोचक उत्कृष्टता और निकृष्टता का निर्धारण करता ही है । इलियट के कथन का तात्पर्य इतना ही है कि तुलना राग द्वेष मुक्त होनी चाहिए । वैसे तथ्य यह है कि स्वयं इलियट अंग्रेजी कवियों की आलोचना करने के क्रम में तटस्थ नहीं रह सके हैं । स्वच्छंदतावादी कवि शैली के प्रति इलियट के विचारों से इस तथ्य की पुष्टि होती है । वस्तुत: इलियट आलोचना के वस्तुनिष्ठ मानदण्ड के पक्षपाती हैं और आत्मनिष्ठता के विरोधी । कविता के समान आलोचना को भी वे वैयक्तिकता से अलग रखना चाहते हैं । आलोचना के वस्तुनिष्ठ मानदण्डों के निर्माण की चर्चा अनेक आचार्यो ने की है पर कोई भी सौन्दर्य विषयक नियम ऐसा नहीं बना जो महान् कला द्वारा अतिक्रमित न हुआ हो । अत: आलोचना का सम्बन्ध नियम से उतना नहीं है जितना भावक की रुचि और संवेदनशीलता से । पर इलियट की दृष्टि में रुचि केवल व्यक्तिगत पसंद की चीज नहीं है । इसके लिए दो चीजें जरूरी हैं-बोध और अंतर्दृष्टि। ये दोनों चीजें आलोचक की सहृदयता पर निर्भर करती हैं । इस सहृदयता को भी विकसित और तीव्र करने की आवश्यकता होती है । इतिहास बोध की तरह परिष्कृत रूचि भी श्रमसाध्य वस्तु है । इस प्रकार सहज स्फूर्त और विकसित रुचि के संयोजन से जो आलोचना उद्भूत होती है, वही सच्ची आलोचना है । ऐसी रुचि से सम्पन्न आलोचक जब तुलना और विश्लेषण के आलोक में कृति की व्याख्या में प्रवृत्त होता है तो उसके निर्णय स्पष्ट निष्पक्ष और ग्राह्य होते हैं । इलियट आलोचना के तीन घातक दोष भी मानते हैं-अज्ञान, अस्पष्ट सिद्धांत निरूपण और भावात्मक व्याख्या । इनमें भावात्मक व्याख्या को सबसे हेय मानते हैं क्योंकि उसमें वस्तुनिष्ठता का अभाव रहता है ।

इस प्रकार टी0एस0 इलियट ने काव्यालोचन के महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों के माध्यम से अंग्रेजी आलोचना की दिशा में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया । परम्परा और वैयक्तिक प्रज्ञा, निर्वैयक्तिकता, संवेदनशीलता का असाहचर्य, वस्तुनिष्ठ समीकरण जैसे उनकी मान्यताएँ महत्वपूर्ण हैं । इलियट ने परम्परा से बहुत कुछ ग्रहण किया है किन्तु किसी का पूर्णत: अनुगमन नहीं किया है । आलोचना का कोई स्वतंत्र ग्रंथ न लिखने और किसी वाद या सम्प्रदाय स्थापित न करने के बावजूद आलोचना सम्बन्धी इलियट की मान्यताएँ वैविध्यपूर्ण एवं उल्लेखनीय हैं । इलियट ने साहित्यिक परम्परा का मूल्यांकन किया और युग की आकांक्षा के अनुरूप उसका विकास किया । शाश्वतता और समसामयिकता के बीच अतीत और वर्तमान के बीच लेखक और युग के बीच साहित्य और जीवन के बीच संतुलन इलियट की प्रतिभा का वैशिष्ट्य है। कवि और आलोचक के रूप में इलियट को जो ख्याति मिली, वह बहुत कम लोगों को मिलती है ।

12.4 सारांश

- प्रस्तुत पाठ में आपने टी0एस0 इलियट की आलोचनात्मक मान्यताओं के विषय में जानकारी प्राप्त की ।
- आपने इलियट के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के विषय में सामान्य बातों का अध्ययन किया ।
- 'परम्परा और वैयक्तिक प्रज्ञा', 'निर्वैयक्तिकता, 'मूर्तविधान', संवेदनशीलता का असाहचर्य, काव्यभाषा, 'काव्य और नैतिकता', 'अभिजात', 'आलोचना के उद्देश्य' सम्बन्धी इलियट की अवधारणा का अध्ययन किया ।
- इलियट सम्पूर्ण यूरोप को एक सांस्कृतिक इकाई के रूप में देखते हैं जिसके दो साधक तत्व है यूनानी-रोमी दाय और ईसाई धर्म । इलियट ने परम्परा को महत्त्वपूर्ण माना और उसे अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में स्वीकार किया तथा परम्परा के भीतर ही वैयक्तिक प्रज्ञा के महत्त्व को रेखांकित किया ।
- इलियट की 'काव्य की निर्वैयक्तिकता', 'काव्य की स्वतंत्र कलात्मक सार्थकता' 'वस्तुनिष्ठ समीकरण' सम्बन्धी मान्यताओं पर अरस्तु और प्रतीकवादियों का प्रभाव देखा जा सकता है। निर्वेयक्तिकता और वस्तुनिष्ठता आभिजात्यवादी अवधारणाएँ हैं जिन्हें वे साहित्य के लिए आवश्यक समझते हैं । काव्यभाषा विषयक इलियट की मान्यताएँ वर्ड्सवर्थ से प्रभावित हैं।
- इलियट की मान्यताओं में कलावाद और उपयोगितावाद दोनों का मिश्रण है । सच्ची आलोचना का लक्ष्य कवि नहीं काव्य है' जैसी इलियट की मान्यता उन्हें नयी समीक्षा की मान्यता के निकट ले आती है । वे काव्य को काव्य के रूप में देखने के आग्रही हैं । काव्य की सामाजिक सापेक्षता इलियट को उपयोगितावादी सिद्ध करती है ।
- 'सर्जक और भोक्ता का अंतर' सम्बन्धी इलियट की अवधारणा साहित्य को उनकी महत्त्वपूर्ण देन है । उत्कृष्ट काव्य के लिए एकीभूत संवेदनशीलता के महत्व को स्वीकार कर इलियट ने हृदय एवं बुद्धि पक्ष के बीच संतुलन को महत्व दिया ।

12.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. टी0.एस0 इलियट की काव्य विषयक प्रमुख मान्यताओं पर प्रकाश डालिए ।
2. परम्परा के भीतर ही वैयक्तिक प्रज्ञा का विकास होता है । इस कथन का क्या तात्पर्य है।' इस सम्बन्ध में इलियट के क्या विचार हैं?

12.6 संदर्भ ग्रन्थ

- डॉ0 देवेन्द्र नाथ शर्मा - पाश्चात्य काव्यशास्त्र, मयूर पेपर बैक्स, ए-95, सेक्टर-5, नोएडा।
- डॉ तारकनाथ बाली - पाश्चात्य काव्यशास्त्र का इतिहास, शब्दकार, 159, गुरु अंगद नगर (वेस्ट), दिल्ली- 110002
- डॉ0 निर्मला जैन - 'काव्य चिंतन की पश्चिमी परंपरा, वाणी प्रकाशन, 21 -ए दरियागंज, नयी दिल्ली- 110002
- डॉ0 मैथिली प्रसाद भारद्वाज - पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धांत, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़

- डॉ0 भगीरथ मिश्र - पाश्चात्य काव्यशास्त्र. इतिहास, सिद्धांत और वाद, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी ।

इकाई - 13 मार्क्स का साहित्य चिन्तन

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य
13.1 प्रस्तावना
13.2 मार्क्स: एक परिचय
13.3 मार्क्सवाद का आशय एवं वैशिष्ट्य
13.4 मार्क्स के साहित्य चिन्तन और समाजवादी यथार्थवाद की विशेषताएँ
13.5 सारांश
13.6 अभ्यासार्थ प्रश्न
13.7 संदर्भ ग्रन्थ

13.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप

- विश्व के महान समाजवादी चिन्तक कार्ल मार्क्स के व्यक्तित्व और कृतित्व से परिचित हो सकेंगे।
- मार्क्सवाद का आशय और वैशिष्टय समझ पाऐंगे ।
- मार्क्स के साहित्य चिन्तन की विशेषताओं से परिचित होते हुए उनके द्वारा प्रवर्तित, समाजवादी यथार्थवाद की विचारधारा को समझ सकेंगे ।
- पाश्चात्य साहित्य सिद्धांतों के अध्ययन के संदर्भ में मार्क्स के साहित्यिक विचारों के मूल्यांकन कर पाएंगे ।

13.1 प्रस्तावना

काव्य शास्त्र और समालोचना विषयक कार्यक्रम की इस इकाई में आप सर्वप्रथम कार्ल मार्क्स के उन मौलिक आधारों के बारे में पढ़ेंगे जिन पर उनका चिन्तन टिका है । यूरोपीय चिंतन की श्रृंखला । में 19 वीं शताब्दी में कार्ल मार्क्स एक कड़ी बनकर आये । उन्होंने समाज के विकास को जानने की वैज्ञानिक समझ दी । मार्क्स का दर्शन एक भौतिकवादी दर्शन है जो परंपरागत भाववादी दर्शन की अमूर्त और आध्यात्मिक स्थापनाओं के विरोध में, प्राकृतिक विज्ञानों की नवीनतम उपलब्धियों को आधार बनाते हुए जन्मा और पुष्ट हुआ ।

यह दर्शन विज्ञान की अन्य शाखाओं की ही तरह अनुभव, इतिहास एवं सामाजिक तथ्यों पर आधारित है । एंगेल्स, मार्क्स के परम मित्र या यूं कहे समूह शक्ति थे । दोनों के सम्मिलित प्रयासों से जो वाद विकसित हुआ, वह मार्क्सवाद कहलाया । वस्तुतः यह मार्क्स-एंगेल्स का मिलाजुला वैचारिक दर्शन था । चूंकि इतिहास तथा सामाजिक तथ्य निरन्तर गतिशील है । फलतः उन पर आधारित मार्क्स तथा एंगेल्स का दर्शन भी गतिशील है । अनुभवों के साथ इसका निरन्तर विकास होता आ रहा है । मार्क्स ने कभी यह नहीं कहा कि ज्ञान की अन्तिम रेखा वे ही खींच रहे है । मार्क्स और एंगेल्स के बाद इस विकास में सबसे महत्वपूर्ण योगदान

वी.आइ. लेनिन ने दिया । स्टालिन, खुश्चेव और माओत्सेतुग ने भी इस चिंतन की दिशा में उल्लेख कार्य किये किंतु इस दर्शन विशेष के विकास के समस्त मूलाधार मार्क्स और एंगेल्स के चिंतन में ही निहित हैं, जिसके द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और ऐतिहासिक भौतिकवाद दो प्रमुख आधार स्तंभ हैं । इन्हें समझे बिना मार्क्स के चिंतन की गहराई में नहीं पहुंचा जा सकता। अत: आपकी जानकारी के लिए संक्षेप में इनका परिचय दिया जा रहा है ।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद: मार्क्स के दर्शन के आधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में दो शब्द हैं - पहले का संबंध प्रणाली से है, दूसरे का तत्व से । यह अंग्रेजी के 'डायलेक्टिकल' का पर्याय है जो यूनानी शब्द 'डायलिगा' से आया है, जिसमें वार्तालाप एवं वाद-विवाद का अर्थ निहित है । प्राचीन यूनानी विचारकों का मानना था कि सच की तलाश के लिए एक समस्या लेकर आपस में विचार-विनिमय करना चाहिये । तत्पश्चात पक्ष - विपक्ष के अंतर्विरोधों पर पुनर्विचार करते हुए समुचित समाधान खोज निकालना चाहिये । सत्य अंतर्विरोधो को प्रकट करने और विरोधी विचारों की टकराहट से प्रकाश में आता है । सत्य की तलाश की यह प्रणाली यूनानियों, को इतनी अच्छी लगी कि वे खासकर अरस्तु ने इसे परम तत्व तक पहुंचने का साधन मान लिया । मध्ययुग की परिस्थितियां द्वन्द्ववादी विचारधारा के प्रतिकूल थी । अत: इसका विकास संभव नहीं हो पाया । पूंजीवाद के उदय और सामंतवाद के प्रारंभ काल में से द्वन्द्व वाद ने पुन: सुगबुगाना शुरू किया । 15 वीं शताब्दी के जी ब्रूनों इसी श्रेणी के विचारक हैं, जिन्होंने विरोधों के समन्वय की बात कहीं है । 17- 18 वीं शताब्दियों में द्वन्द्ववाद की ओर विद्वानों का ध्यान इस कारण नहीं जा सका क्योंकि लोगों का ध्यान यांत्रिक-प्राकृतिक विज्ञान ने खींच लिया था । 18 वीं शती के अंत तथा 19 वीं के आरंभ में एक बार पुन: विद्वान इस ओर आकर्षित हुए । हेगेल ने इसे अपनी मान्यताओं का आधारभूत सिद्धांत घोषित करते हुए इस सिद्धांत के आधार पर अपने आदर्शवाद का प्रतिपादन किया जो बाद में मार्क्स और एंगेल्स के समूचे दार्शनिक विचारों का आधार बन गया ।

ऐतिहासिक भौतिकवाद: ऐतिहासिक भौतिकवाद मार्क्सवादी दर्शन का दूसरा पक्ष है और वह मार्क्स की मान्यताओं के आधार पर सामाजिक जीवन के विकास की मूलभूत प्रक्रियाओं का विश्लेषण प्रस्तुत करता है । द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को जब मनुष्य के सामाजिक जीवन पर लागू किया जाता है, तब इसे ऐतिहासिक भौतिकवाद कहा जाता इसके तीन मूलभूत सिद्धांत हैं -

(1) कोई सामाजिक घटना तभी घटित होती है जब उसके लिए आवश्यक कारण होते हैं और अनुकूल परिस्थितियां निर्मित हो चुकी होती हैं ।

(2) यद्यपि सामाजिक परिवर्तन मानव व्यक्तित्वों की सचेतन चेष्टाओं का परिणाम है तो भी सचेतन चेष्टाएं अंतिम विश्लेषण में उनके सामाजिक अस्तित्व और भौतिक जीवन द्वारा ही निर्धारित होती हैं । विभिन्न दृष्टिकोण और संस्थाएं, राजनीतिक और वैचारिक विकास इसी मूलाधार, मानव के भौतिक जीवन पर खड़े ढाँचे ही हैं ।

(3) भौतिक मूलाधार पर खड़ा यह सामाजिक ढांचा उस मूलाधार के विकास में एक सक्रिय भूमिका भी निभाता है ।

ऐतिहासिक भौतिकवाद के इन मूल सिद्धांतों के विश्लेषण करें तो स्पष्ट हो जाता है कि आदर्शवादी इतिहासकार की तरह मार्क्सवादी इतिहासकार सामाजिक विकास की प्रक्रिया को नियति कृत अथवा किसी शक्ति अथवा बाहरी आवश्यकता द्वारा नियंत्रित नहीं मानते । मार्क्सवाद का कहना है कि इतिहास के सच्चे विज्ञान को चाहिये कि वह समूची जनता को अपने ध्यान में रखे और व्यक्तियों पर उसी हद तक ध्यान दे, जिस हद तक वे अपने आंदोलन का प्रतिनिधित्व करते हैं । इस तरह मार्क्सवाद इतिहास का अध्ययन इस दृष्टिकोण से करता है कि उन प्राकृतिक नियमों का पता लगा सके जो मानव जाति के इतिहास का संचालन करते हैं । इस संबंध में स्वयं मार्क्स का कहना है - "अपने जीवन के सामाजिक उत्पादन के दौरान मनुष्य ऐसे सुनिश्चित संबंधों में प्रवेश करता है जो अपरिहार्य और उसकी इच्छा से स्वतंत्र होते हैं । अर्थात् उत्पादन के संबंधों जो कि अपनी भौतिक उत्पादन शक्तियों के विकास के एक सुनिश्चित स्तर के सहवर्ती होते हैं । इन उत्पादन संबंध का समूचा योग समाज के आर्थिक ढांचे की संरचना करता है, उस वास्तविक आधार की रचना करता है जिस पर एक कानूनी और राजनीतिक अधिरचना खड़ी होती है और जिसकी सापेक्षता में सामाजिक चेतना के सुनिश्चित रूप होते हैं। भौतिक जीवन की उत्पादन पद्धति सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक सभी जीवन प्रक्रियाओं को सामान्यत: नियंत्रित करती है । अर्थात् मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती बल्कि उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को निर्धारित करता है ।

13.2 मार्क्स: एक परिचय

"जिस तरह डार्विन ने प्राणी जगत के विकास के सिद्धांत का आविष्कार किया था उसी प्रकार मार्क्स ने मानव इतिहास के विकास के सिद्धांत का आविष्कार किया था । अर्थात् राजनीति, विज्ञान, कला, धर्म या किसी भी दूसरे विषय पर ध्यान देने से पहले मनुष्य को रोटी, कपड़ा और मकान चाहिये । इसलिए जीवन की भौतिक आवश्यकताओं का उत्पादन और आर्थिक विकास की तत्कालीन अवस्था वह नींव है जिस पर राष्ट्रीय संस्थाएं, कानूनी व्यवस्थाएं, कला और लोगों के धार्मिक विचार बनाये गये हैं । अत: उनकी व्याख्या को उन्हीं पर आधारित करना होगा ।" एंजेल्स का यह कथन कुछ ही शब्दों में मार्क्स के व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचय दे देता है ।

वैज्ञानिक समाजवाद जो कि विज्ञान के आधार पर और विज्ञान की तरह सिद्धांत तथा वाद दोनों को जरूरी समझता है। उसे दुनिया के सामने लाने वाले महान जर्मन चिन्तक कार्ल मार्क्स थे । मार्क्स के साहित्य चिंतन पर जानकारी से पहले उनके जीवन वृत और व्यक्तित्व पर संक्षेप में एक टिप्पणी दी जा रही है जिससे आपको उनके दृष्टिकोण को समझने में मदद मिलेगी।

पांच मई, 'सन् 1818 को राइनलैंड (जर्मनी) के ट्रैवेज नगर में कार्ल मार्क्स का जन्म हुआ। इनके दादा यहूदी रूबी (पुरोहित) थे। पिता जर्मन वकील तथा माँ हालैंड के एक पुरोहित की बेटी थी । उनकी उस तब 6 वर्ष की रही होगी जब उनके परिवार ने यहूदी धर्म छोड़ ईसाई धर्म अपना लिया था । कार्ल मार्क्स की प्रारंभिक शिक्षा स्थानीय स्कूल तथा रईस सरकारी प्रीवी काउंसलर फानवेस्टफालेन (बाद में मार्क्स ससुर) के घर में पूरी हुई । वेस्टफालेन

साहित्यानुरागी थे और उन्होंने मार्क्स पर अपने साहित्य प्रेम का गंभीर प्रभाव छोड़ा । कालान्तर में यही प्रभाव साहित्य, कला तथा दर्शन संबंधी विचारों के रूप में परिपक्व हुआ और सारी दुनिया के सामने एक सर्वथा नई विचारधारा लेकर प्रादुर्भूत हुआ ।

17 वर्ष की उम्र में कार्ल मार्क्स ने बोन विश्वविद्यालय से मैट्रिक पास किया और पिता की इच्छा के खिलाफ कानून की पढ़ाई शुरू की । सन् 1836 में उन्होंने विश्वविद्यालय बदला और बर्लिन में पढ़ने लगे । कानून भूल वे दर्शन, इतिहास, साहित्य और कला के अध्ययन में डूब गए । उन्होंने लोगों से मिलना जुलना तक छोड़ दिया और केवल पुस्तकों को अपना संसार तथा संगी साथी मान लिया । वे अपने पढ़े विषयों को संक्षेप में लिखते, ग्रीक, लातिन के अनुवाद पढ़ते, दार्शनिक वादों पर विचार करते और फिर अपने विचारों को सिलसिलेवार लिखते । इस सत्र उन्होंने दर्शन की रूप रेखाओं का मसौदा तथा तीन जिल्द कविताएं लिखीं। सन् 1837 जब उनकी उम्र केवल 19 साल थी, वे इस नतीजे पर पहुंच गए कि कांट और फिखटे के भावुक काल्पनिक दर्शन ऊलजलूल तथा बेकार है । हेगेल का दर्शन युवा मार्क्स को आकर्षक लगा । उन्होंने अपने पिता को पत्र लिखा कि - जिस विज्ञान वाद अर्थात आदर्श अर्थात् मानसिक जगत ही सत्य है, दृश्य जगत मिथ्या है, को मैं तब तक प्रिय समझता था, उसे छोड़ मैं अब वास्तविकता में ही आदर्श तलाशने लगा हूँ । मैंने हेगेल के दर्शन को अभी तक जहाँ-तहाँ से पढ़ा है, लेकिन उसका विचित्र रूखा सा राग मुझे पसंद नहीं आया । एक बार इस समुद्र में मैं फिर से डूबना चाहता हूँ ।' अंत में मार्क्स हेगेल के दर्शन के अध्ययन में रत हो गए । उन्होंने अपनी कविताओं तथा कहानियों की हस्तलिपियों को जला दिया । इस प्रसंग में आपकी जानकारी के लिए मार्क्स की कुछ उपलब्ध कविताओं का हिन्दी अनुवाद दिया जा रहा है जिनसे युवा मार्क्स की प्रगतिशील सोच की झलक प्राप्त की जा सकती है ।

कार्ल मार्क्स

1. संकल्प जैसी महान शक्ति को
   जो कि पृथ्वी से भी विराट है
   कैसे आकार दे सकेंगे शब्द
   धुएं की टेढ़ी लकीरों की तरह
   तैरते थे शब्द

2. हृदय जिन चीजों को
   बहुत मजबूती से थाम लेता है
   उनसे धीरे-धीरे निबटना
   संभव नहीं अंतहीन अपनी यात्रा को
   जारी रखना है
   और द्वन्द्व के बीच से रास्ता बनाकर
   आगे बढ़ते जाना है ।
   जो शाश्वत है, सुन्दर है
   अपने जीवन में उसे उतारना होगा
   जीवन के कोहरों को

विज्ञान की दृष्टि से
साफ करना होगा
कला और संगीत के सौन्दर्य से
जीवन को पूर्ण बनाना होगा

3. संभव असंभव की बात
बिना सोचे
आगे बढ़ते जाना है ।
संघर्ष से पीछे हटना ।
स्वीकार नहीं
इच्छा शक्ति रति जड़ पदार्थ की तरह
जिन्दा रहना स्वीकार नहीं
कष्ट और परिश्रम की धुरी पर
कोल्हू के बैल की तरह
जो लोग कंधा लगा देते हैं
धिक्कार है उन्हें
परिणाम चाहे जो हो
आशा, आकांक्षा, कर्म
और अपने प्रयासों को
मजबूत बनाते रहना है ।

ये कविताएं यह तो स्पष्ट करती ही है यदि मार्क्स ने साहित्यकार बने रहने का पथ चुना होता तो भी उन्हें विश्व स्तर पर उनकी ख्याति मिली होती जो किसी भी कालजयी रचनाकार को मिलती है । लेकिन उनका सपना तो दुनिया को बदल देने का धारदार हथियार खोजना था। अत: वे निरंतर अध्ययन कर वैविध्यपूर्ण लेखन की राह पर चल पड़े । वे दार्शनिक वाद विवाद और चर्चाओं में खुल कर भाग लेने लगे, कानून छोड़ दर्शन पढ़ने लगे और येल विश्वविद्यालय से पीएच.डी. की उपाधि ली । इसके शोध प्रबंध का विषय था - 'देमोक्रितु और एपी-कुरू के प्राकृतिक दर्शन' । उनकी इच्छा अध्यापन जगत से जुड़ने की थी, उन्होंने आवेदन भी किए लेकिन प्रसिया की सरकार चूंकि स्वतंत्र विचारकों को पसंद नहीं करती थी, फलत: उन्हें यह नौकरी नहीं मिली । तब मार्क्स पत्रकार बन गए और अपनी सशक्त लेखनी द्वारा प्राचीन रूढ़ियों, मिथ्या विश्वासों तथा जर्जर मान्यताओं पर प्रहार करना शुरू किया । उस समय के कुछ उदार मानसिकता वाले लोग 'राइनिशत्जाइतुड' - नामक एक अखबार निकालते थ । इस अखबार में छपे मार्क्स के लेखों से प्रभावित होकर पत्र के संचालकों ने मार्क्स को संपादक पद के लिए आमंत्रित किया । सन् 1842 में 24 वर्ष की उम्र में मार्क्स ने सहर्ष पत्र के संपादन का भार संभाला और एक वर्ष अत्यन्त कुशलतापूर्वक अखबार निकाला । लेकिन मार्क्स की मंजिल तो अभी भी उन्हें पुकार रही थी, उन्होंने संपादकी छोड़ दी । इसी वर्ष जेनी से विवाह किया और अर्थशास्त्र तथा अन्यान्य विषयों के अध्ययन में प्रवृत्त हु ए । सन् 1844 तक मार्क्स पक्के समाजवादी बन गए । कोलोन से मई 1843 में लिखे गए एक पत्र में उन्होंने लिखा

"संचय और व्यापार की व्यवस्था मनुष्य जाति पर अधिकार करने और शोषण की व्यवस्था मौजूदा समाज को भीतर से बड़ी तेजी से कुतरने में लगी है, उससे भी तेज गति से जिस तेज गति से जनसंख्या बढ़ रही है । पुरानी व्यवस्था इस घाव को भर नहीं सकती क्योंकि उसके पास भरने या उत्पादन करने की शक्ति नहीं है । यह (व्यापारी व्यवस्था) तो सिर्फ भोग करना और जीना जानती है । मेरा काम यूटोपिया बनाना नहीं बल्कि वर्तमान सामाजिक राजनीतिक परिस्थितियों की आलोचना करना तथा युग के संघर्षों और आकांक्षाओं का सार निकालना है।

सन् 1843 में उन्हें फ्रांस-प्रुसिया वर्ष पुस्तक के संपादन का आमंत्रण मिला और ये अपनी पत्नी जेनी के साथ पेरिस चले गए । इसी पुस्तक में छपा एन्गेलस का एक लेख मार्क्स और एन्गेलस के परिचय का कारण बना । सामान्य परिचय गंभीर मित्रता में परिवर्तित हुआ और एन्गेलस आजीवन मार्क्स के मित्र और सहचिंतक ही नहीं उनके विचारों के संपूरक भी रहे ।
सन् 1844 में मार्क्स का पवित्र परिवार ग्रन्थ प्रकाशित हुआ जिसमें हेगेलवादियो को खुली चुनौती दी गई थी । इस आरंभिक लेखन में भी मार्क्स के मौलिक सिद्धांतों के इतिहास की भौतिकतावादी व्याख्या और वर्ग संघर्ष बीज रूप में मौजूद थे । मार्क्स ने कहा 'तत्कालीन उद्योग धंधों के अध्ययन के बिना इतिहास के किसी काल को समझना असंभव है । जनता के हित के प्रतिनिधि न हों तो विचार समाज के विकास में भी समर्थ नहीं होंगे । विचार उत्साहित कर सकते हैं लेकिन उनका परिणाम नहीं निकल सकता । विचार वहीं तक काम करने में सफल होते हैं जहां तक वे जनहित में सहायक होते हैं अन्यथा विचार जिन उत्साह को जन्म देते हैं उन्हीं से भ्रम होने लगता है कि या आम तौर से मानवजाति के मुक्तिदाता हैं ।
अपने राजनीतिक विचारों के चलते मार्क्स को जर्मनी छोड़ पेरिस और प्रुसियन सरकार के दबाव से 1845 में ब्रसेल्स जाना पड़ा । फ्रांस की दूसरी क्रांति सन् 1848 तक वे वहीं रहे और फ्रुदोय 'दरिद्रता दर्शन के उत्तर में अपना ग्रंथ 'दर्शन दरिद्रता प्रस्तुत किया । विदेश में रहने वाले जर्मन मजदूरों ने सन् 1836 में जो न्यायिको की लीग कायम की थी 1840 से उसका केन्द्र लंदन बन गया । मार्क्स की तारीफ सुन लीग से जुड़े कुछ लोग उनसे मिलने सन् 1847 में ब्रेल्स आए । लीग का नाम कब तक कनूनिस्त लीग हो गया था । इसको पहली कांग्रेस सन् 1847 में लंदन में हुई जिसमें एनोल्स ने शिरकत की । इसी वर्ष दिसंबर में हुई दूसरी कांग्रेस में मार्क्स भी शामिल हुए । लीग की प्रेरणा से सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं पर मार्क्स ने जो गंभीर अध्ययन और चिन्तन किया उसी को उन्होंने कम्युनिस्ट लीग की ओर से आम जनता को समझ में आने लायक भाषा में साम्यवादी घोषणा के रूप में तैयार किया । इस समय तक फरवरी 1848 के विद्रोह का बिगुल सारे यूरोप में बज चुका था । मार्क्स फ्रांस से निर्वासित होकर बेल्जियम में रह रहे थे । इस सरकार ने भी क्रांति के डर से उन्हें निकाल दिया । वे एक बार फिर पेरिस गए एन्गेलस को साथ ले राइनलैंड पहुँचे और जून 1848 में खुद संपादित करते हुए । नोये राइनिशेल्लाइतुड (नवीन राइन काल) नामक पत्र निकाला । इस पत्र के लेखों और संपादकों के जरिए बुर्जुआजी शोषण के खात्मे और सशस्त्र क्रांति सेना के समर्थन पर जोर दिया । पत्र मुश्किल से डेढ़ वर्ष चल कर बंद हो गया । मार्क्स को पेरिस लौटना पड़ा । 1849 में उन्हें पेरिस छोड देने का हुक्म मिला । वे लंदन चले गए

और तब से प्राय अपना पूरा जीवन वही बिताया । लंदन - वास के शुरू के कुछ महीनों में उन्होंने 'लुई बोनापार्ट का अठारहवाँ ब्रूमिए' पुस्तक लिखी और क्रांति प्रतिक्रांति शीर्षक से कुछ लेख न्यूयार्क ट्रिब्यून के लिए लिखे । मार्क्स ने विश्लेषण करते हुए बताया कि फरवरी - मार्च (1848) की क्रांति का असली कारण व्यापारिक मंदी था । लंदन प्रवास के 34 वर्ष वे रोज ब्रिटिश म्यूजियम जाते रहे और हजारों पन्ने नोट लेते रहे । इन्हीं नोटों के आधार पर उन्होंने 'कैपिटल' गन्ध लिखा । 1887 में 8000 पृष्ठों में कैपिटल को प्रथम खंड का जर्मन संस्करण प्रकाशित हुआ जिसमें पूंजीवादी उत्पादन का बारीकी से विश्लेषण किया गया है । इस दौरान मार्क्स और उनके परिवार को भयंकर आर्थिक दुरावस्था झेलनी पड़ी लेकिन उनके संकल्प और साहस को कोई नहीं तोड़ पाया ।

कैपीटल के प्रकाशन के बाद मार्क्स का ध्यान संसार के मजदूरों के अन्तरराष्ट्रीय संगठन की ओर गया और 1864 में प्रथम इन्टरनेशनल स्थापित हुआ जिसमें प्रूधो के अराजकवादी अनुयायी बड़ी संख्या में शामिल हुए । 1865-67 ई० तक इन्टरनेशनल पर अराजकवादियो का दबाव रहा, 1868-70 तक मार्क्स का फिर मृतप्राय इन्टरनेशनल पर 1871 से 1872 तक प्रूधो के शागिर्द काबिज रहे । 1872 में इन्टरनेशनल के महासचिव पद से इस्तीफा दे मार्क्स ने फिर से अध्ययन में मन लगाया । सन् 1875 से 1883 में अपनी मृत्यु तक वे प्राय: बीमार रहे लेकिन बीमारी की हालत में भी वे अमेरिकी और रूसी किसानों की दशा का विशेष तौर पर अध्ययन करते रहे । स्वास्थ्य सुधार के लिए वे कई स्वास्थ्यकर स्थानों पर भी जाकर रहे लेकिन स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ । निरंतर संघर्ष करते इस पथिक की जीवन यात्रा 14 मार्च, 1883 को समाप्त हो गई ।

उनकी मृत्यु पर उनके मित्र एंगेल्स ने कहा - 'मानव जाति के एक मस्तिष्क से, आज जितने मस्तिष्क इसके पास हैं, उनमें सबसे महत्वशाली मस्तिष्क से वह वंचित हो गई । मजदूर वर्ग का आंदोलन अपने रास्ते चलता रहेगा लेकिन उसका वह केंद्र बिंदु चल बसा, जिसकी ओर फ्रेंच, रूसी, अमेरिकन तथा जर्मन अपनी इच्छा से मुश्किल के समय दृष्टि केंद्रित किया करते थे और सदा ऐसी स्पष्ट दो टूक सलाह पाते थे जिसे प्रतिभा और (तत्संबंधी ज्ञान पर) पूर्ण अधिकार (रखने वाला) व्यक्ति ही दे सकता था ।

13.3 मार्क्सवादी का आशय एवं वैशिष्ट्य

मार्क्सवादी साहित्य चिंतन संबंधी विचारों की मूलभूत अवधारणा कार्ल मार्क्स और एंगेल्स की तद्विषयक स्थापनाओं की पृष्ठभूमि में निर्मित होती हैं । मार्क्स ने प्राचीन एवं मध्ययुग की कला, पुनर्जागरणकालीन कला ओर साहित्य ज्ञान प्रसारण काल के साहित्य एवं 19 वीं शताब्दी के स्वच्छंदतावादी तथा यथार्थवादी लेखों को गंभीरता पूर्वक पढ़ा और कला तथा साहित्य के बुनियादी प्रश्नों पर अपने विचार प्रस्तुत किए । मार्क्स ने मध्ययुग की सामाजिक व्यवस्था एवं संस्कृति का विज्ञान सम्मत अध्ययन किया । उन्होंने यूरोप के सामाजिक, सांस्कृतिक इतिहास में गहराई से डूबने के बाद अपने विचार दिए कि "दास - स्वामी वाले समाज से सामन्ती समाज में संक्रमण ऐतिहासिक दृष्टि से अवश्यंभावी था । उत्पादन की सामंती विधि की स्थापना भू - दास श्रम के प्रभुत्व की तुलना में, मानव समाज के विकास में आगे की ओर बढ़ा कदम

था । मार्क्स की स्पष्ट मान्यता है कि सामाजिक विकास सदा बेहतर उत्पादन पद्धतियों के कारण आगे बढ़ा है ।

मार्क्स ने एक राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना पुस्तक की भूमिका में कहा - भौतिक जीवन की उत्पादन प्रणाली जीवन की आम सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक प्रक्रिया को निर्धारित नहीं करती बल्कि उनका सामाजिक अस्तित्व, उनकी चेतना का निर्माण करता है । मार्क्स अपने इसी विचार को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं- "संस्कृति के सभी रूप मनुष्य ने सृजित किए हैं । यह कार्य सक्रिय व्यक्तियों की सामाजिक भागीदारी और सामाजिक सरोकार के दौरान आवश्यक संप्रत्ययों की उत्पति और विचारों के निर्माण द्वारा सांस्कृतिक रूपकों की संरचना के रूप में सामने आता है ।

सृजन की बुनियाद तो मनुष्य की सौन्दर्य चेतना और उसके कार्यकारी अनुभव हैं । इस दृष्टि से मार्क्स कहते हैं, "चेतना सचेत अस्तित्व के अलावा और कुछ हो ही नहीं सकती तथा मनुष्यों का अस्तित्व उनकी वास्तविक जीवन प्रक्रिया होती है । यहीं मार्क्स यह भी स्पष्ट करते हैं कि यदि समग्र विचार धारा में मनुष्य तथा उनके सम्बन्ध किसी कैमरे के अक्ष की तरह उलटे नजर आते हैं, तो यह घटना उनकी जीवन प्रक्रिया से उसी तरह उत्पन्न होती है, जिस तरह अक्षिपटल पर वस्तुओं का प्रतिबिबंन उनकी शारीरिक जीवन प्रक्रिया के कारण होता है ।

सांस्कृतिक संरचनाओं खासकर धार्मिक, पौराणिक, मिथकीय आख्यानों और मान्यताओं का कला पर जबरदस्त प्रभाव पड़ता है । धार्मिक रूढ़ियां दीर्घ अवधि तक सामाजिक मान्यताओं और जीवन क्रम को प्रभावित करते रहने की क्षमता रखती हैं । भले ही कला के उत्कर्ष का तात्विक आधार संस्कृति के उत्सव और उसके प्रारंभिक विकास से अनिवार्य रूप से जुड़ा है। इस संदर्भ में मार्क्स का विचार है - 'कला के कतिपय रूपों उदाहरण के लिए महाकाव्यों का उनके विश्व इतिहास में युग निर्माणकारी क्लासिकीय रूप में उसके बाद फिर कभी सृजन नहीं हो सकता, जब कलात्मक सृजन आरंभ हो चुका होता है । इसे इस प्रकार और स्पष्ट किया जा सकता है । स्वयं कला के क्षेत्र में उसके कुछ महत्वपूर्ण रूपों का विकास केवल निचली मंजिल में ही संभव है । यदि कला के अंतर्गत उसकी विभिन्न शाखाओं में यह स्थिति है तो यह बात बहुत मार्के की नहीं कि कला के पूरे क्षेत्र और समाज के आम विकास के संबंध में भी ऐसा ही हो । कठिनाई केवल इन अंतर्विरोधों के आम निरूपण में निहित हैं । ज्यों ही उन्हें विशिष्ट प्रश्न बना दिया जाता है वे स्पष्ट हो जाते हैं । यह तथ्य इस बात से और भी साफ हो जाता है कि यूनानी पुराण शास्त्र ही यूनानी कला का स्त्रोत और आधार हैं । यही बात भारतीय महाकाव्यों रामायण और महाभारत के बारे में भी कही जा सकती है । गौरतलब है कि भारतीय महाकाव्यों की रचना सांस्कृतिक दृष्टि से उन्नत समाज व्यवस्था की उपज है ।

पौराणिक एवं शास्त्रीय मान्यताएँ केवल तब तक संस्कृति और समाज का पथ प्रदर्शन करती हैं, जब तक प्रकृति पर मनुष्य का सच्चे अर्थों में वैज्ञानिक नियंत्रण नहीं होता । यूनानी और भारतीय महाकाव्यों में जिन क्लासिकीय कलासूत्रों का नियमन हुआ, वे कला के क्षेत्र में मानक रूप में प्रतिष्ठित हो गए थे । इन महाकाव्यों में वर्णित जीवन और संस्कृति से हमें आज भी आनंद मिलता है । मार्क्स कहते हैं कि यूनानी कला और महाकाव्य अब भी सौन्दर्यात्मक आनंद प्रदान करते हैं । इन्हें आज भी कुछ मामलों में मानक तथा दुर्लभ मॉडल माना जाता है ।

वास्तव में यही कला के इतिहास का अंतर्विरोध नहीं बल्कि असमान ऐतिहासिक विकास का परिणाम है, जहाँ मानवीय जीवन के आदर्श विशुद्ध कलात्मक रूप में आकार ग्रहण करते हैं और ऐसे जीवन मूल्यों के साथ जुड़ जाते हैं जिनकी कल्पना केवल संस्कृति और सभ्यता के अभ्युदय के दौरान ही की जा सकती थी । यह मानवजाति का ऐतिहासिक गौरव है जहाँ नैसर्गिक सत्यपरायणता स्थित है । इसी कारण यह शाश्वत लालित्य प्रदान करता है । कला के इतिहास में यह पुनरावृत्ति नहीं होती ।

मार्क्स ने कला के रूपान्तरण की प्रक्रिया को सामाजिक और आर्थिक विकास की प्रक्रिया के साथ जोड़कर देखा है । उनकी मान्यता है कि कला और संस्कृति के दूसरे रूपों की सजग सामाजिक भूमिका है और उस रूप में कलाएं सामाजिक संरक्षण के साथ ही सामाजिक परिवर्तन की प्रेरणा के रूप में भी अपनी भूमिका का निर्वहन करती हैं । इस प्रसंग में जरूरी है सामाजिक बदलाव के विषय में मार्क्स के विचारों पर एक नजर डालना । मार्क्स मानते हैं कि कोई भी सामाजिक व्यवस्था तब तक खत्म नहीं होती जब तक उस व्यवस्था के अंतर्गत आने वाली सभी उत्पादन शक्तियां पूरी तरह विकसित नहीं हो जाती । इसी तरह यह भी बहुत तरह विकसित नहीं हो जाती । इसी तरह यह भी बहुत बड़ी सच्चाई है कि उत्पादन के स्तरीय और नये संबंध तब तक सामने नहीं आते, जब तक पुरानी सामाजिक व्यवस्था के भीतर उनके लिए जरूरी भौतिक परिस्थितियों का विकास पूरी तरह नहीं हो जाता ।

ज्ञानेन्द्रियां मानवीय संज्ञान की वाहक हैं और एक तरह से इस संज्ञान की एकीकृत सत्ता ही मनुष्य की संचेतना का निर्माण करती है । संज्ञान की एकीकृत सत्ता द्वन्द्वात्मक कम में ऐसी शक्ति का विकास करती है जिस कारण वह ज्ञान की प्रत्येक दिशा को आत्मसात करने में सक्षम होती हैं । इस संदर्भ में मार्क्स कहते हैं - "मेरे लिए किसी विषय का अर्थ - (उसका अर्थ केवल ऐसी ज्ञानेन्द्रियों के लिए होता है जो उस विषय के अनुरूप हों) उसी हद तक व्याप्त होता है, जिस हद तक मेरी ज्ञानेन्द्रियों की व्याप्ति है । इसी कारण सामाजिक व्यक्ति की ज्ञानेन्द्रियां असामाजिक व्यक्ति की ज्ञानेन्द्रियों से अलग होती हैं । अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए मार्क्स ने संगीतात्मक कान और सौंदर्य देखने में सक्षम आँखों का उदाहरण दिया है। कला के क्षेत्र में ज्ञानेन्द्रियों की भूमिका रचनाकार और सामाजिक दोनों स्तरों पर काफी महत्वपूर्ण है । ज्ञान के सभी क्षेत्रों का अपना अनुशासन होता है । कला और साहित्य भी इसके अपवाद नहीं । इसका परिपालन सौंदर्य चिंतन की विशिष्ट दिशा और प्राकृतिक संरचनात्मक नियमों के अनुपालन पर निर्भर है । ज्ञानेन्द्रियों की कार्य क्षमता का निरन्तर विकास होता है । मार्क्स के अनुसार "मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों की मानवीय प्रकृति अपने विषय की बदौलत उत्पन्न होती है।" इस स्तर पर मनुष्य अपने सार तत्व को विषय के रूप में बदलता है । इस तरह सौंदर्य की सृष्टि करने वाला रचनाकार और सौंदर्य को ग्रहण करने वाला सामाजिक दोनों अपने सार तत्व को रचना के रूप में ढालते हैं - मार्क्स कहते हैं, "मनुष्य के सार के विषयकरण - उसके सैद्धांतिक और व्यावहारिक पहलुओं की, एक ओर मनुष्य की ज्ञानेन्द्रिय को मानवीय बनाने के लिए तथा दूसरी ओर, मानवीय ज्ञानेन्द्रिय की रचना के लिए आवश्यकता होती है ।"

यहीं मार्क्स का यह कथन भी उल्लेखनीय है कि "कलात्मक विषय ऐसी जनता का गठन करता है जिसमें कलात्मक अभिरूचि होती है तथा जो सौन्दर्य के आस्वादन में समर्थ है । किसी अन्य उत्पाद के बारे में भी यही बात कही जा सकती है ।"

मार्क्स के सिद्धांतों के भीतर स्थित इन बातों के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि वे मानवीय संचेतना, ज्ञानेन्द्रियों, कलात्मक आनंद और संरचना सिद्धान्त से संबंधित उन बातों के बारे में अपने विचार प्रस्तुत करते हैं जिनका संबंध कला की व्यापक सामाजिक, सांस्कृतिक भूमिका से है । सौंदर्यात्मक संरचना की यह तात्विक बुनियाद है जिसके कारण वह मनुष्य के आध्यात्मिक मानवीय सरोकारों की वृद्धि करती है । यही कारण है कि जब कला, समाज के सत्ताधारी प्रभु वर्ग की आशाओं, आकांक्षाओं के अनुरूप उनकी सेवा करना बंद कर देती है तो वह वर्ग कला के विरूद्ध हो जाता है और उसके अनुयायी दार्शनिक चिंतन और सैद्धांतिक भाववादी विचारों के द्वारा कला के ऊपर लगातार हमले कर उसके सामाजिक स्वरूप को ध्वस्त कर देना शुरू करते हैं । मार्क्स ने पूँजीवादी संस्कृति की सामन्ती संस्कारशीलता के विरूद्ध प्रगतिशील भूमिका का विश्लेषण करते हुए यह दिखाया है कि अपने प्रारम्भिक दौर में इस संस्कृति ने एक हद तक यह भूमिका निभाई । मार्क्स ने सचेत किया कि पूंजीवादी संस्कृति सबसे अधिक मानव विरोधी हो जाती है और खुद को प्रतिक्रियाशील फासीवादी विचारों से लैस कर लेती है और अपने इस रूप में वह अंततः ऐसे शत्रुतापूर्ण कार्यकलाप करती हैं तो सर्वहारा वर्ग की जीवनव्यापी संघर्षशीलता ओर उत्पादन क्षमता के विरूद्ध अमानवीय आक्रमण का धारदार आध्यात्मिक हथियार बन जाते हैं । मार्क्स ने अपने सरप्लस वैल्यू के सिद्धान्त नामक ग्रंथ में कहा है - "पूंजीवादी उत्पादन की आरम्भिक सृजक की कुछ शाखाओं जैसे कला तथा काव्य के साथ शत्रुता है । किसी कारण 20 वीं शताब्दी खासकर द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की आधुनिकतावादी कला वृतियों में हमें कला के सौंदर्यशास्त्रीय तत्वों के विरूद्ध वैचारिक हमलों का सूत्र दिखाई पड़ता है जो संपूर्ण कला क्षेत्र को गैर कलात्मक, असामाजिक और अराजक स्थितियों का दिशाहीन भटकाव बना देता है और इस तरह वर्ग समाज व्यवस्था के भीतर कला की सामाजिक भूमिका को नष्ट कर डालता है । इस तरह पूँजीवादी वर्ग सामाजिक व्यवस्था और नियंत्रणकारी शक्ति के कारण संस्कृति के वाहक क्षेत्रों का उपयोग अपने वर्ग हित की रक्षा में करने लगता है ।

यदि मानवीय सामाजिक विकास के अंतर्गत सांस्कृतिक आध्यात्मिक भूमिका का अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट होता कि "भौतिक उत्पादन के विशिष्ट रूप से सबसे पहले समाज का खास ढांचा, दूसरे प्रकृति के साथ लोगों का खास संबंध जन्म लेते हैं । उनकी राज्य संरचना तथा उनका आत्मिक दृष्टिकोण इन्हीं दोनों से निर्धारित होता है । इसलिए इससे उनके आत्मिक सृजन का प्रकार भी निर्धारित होता है । आज के संदर्भ में यदि इस कथन की व्याख्या की जाय तो स्पष्ट होता है कि वर्ग समाजी संस्कृति की यथार्थवादी समझ इस व्यवस्था के भीतर विद्यमान मानवीय संबंधों के सर्वाधिक शत्रुतापूर्ण स्वरूप का विश्लेषण करती है । उत्पादक शक्ति के रूप में सर्वहारा वर्ग की एकमात्र केंद्रीय सामूहिक भूमिका और उत्पादन पद्धति के वैज्ञानिक तकनीकी आधार तथा उत्पादन पर निजी स्वामित्व की परंपरा के बीच घातक

अंतर्विरोधी का निर्माण होता है । इस अंतर्विरोध को केवल संपत्ति और उत्पादन पर सामाजिक स्वामित्व के द्वारा ही दूर किया जा सकता है ।

मानवीय समृद्धि की जिस दिशा का सूत्र इस नयी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के भीतर विकसित होता है, वह कला और संस्कृति के क्षेत्र में 'समाजवादी यथार्थवाद' के नाम से जाना जाता है । यह रूप मूलत: उसी ऐतिहासिक यथार्थवादी चेतना का परवर्ती चरण है जो समाज व्यवस्था और उत्पादन संबंधों के अंतर्विरोध की समाप्ति होते ही प्राकृतिक मानवीय संबंधों की वैज्ञानिकता में परिणत होता है । यहाँ निजी स्वामित्व पर आधारित सामाजिक पद्धति के भीतर निर्मित द्वेषपूर्ण संबंध पूरी तरह खत्म हो जाते हैं ।

सामन्ती उत्पादन संबंधों पर आधारित यूनान की प्राचीन नगर राज्य पद्धति के बीच विकसित अंतर्विरोधों को जब कला व्यक्त करने लगती है तो कला और राज्य के आदर्शों के बीच संघर्ष शुरू होता है । प्लेटों कला को दार्शनिक आदेश की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाना चाहता था । इस कारण उसने उन कवियों को नगर राज्य से बहिष्कृत करने की सलाह दी । इससे व्यवस्था के अंतर्विरोध की तस्वीर साफ होती है । दरअसल यूनानी कला के क्लासिकीय सूत्रों के भीतर जीवन से कला की सम्बद्धता इतनी गहरी थी कि प्लेटों को यह दार्शनिक व्याख्या करनी पड़ी कि मूल सत्य विधाता के मस्तिष्क में प्रतिबिम्बित होता है और यह सृष्टि उसी प्रतिबिम्बन की अनुकृति है ।

कला सृष्टि का प्रतिबिम्बन करती है । अत: वह अपनी रचना के दौरान मूल सत्य से सृष्टि संरचना और कला संरचना इन स्तरों पर भिन्न होती है । सामन्ती व्यवस्था और आधुनिक पूँजीवादी समाज की भोग की प्रवृतियों में अन्तर है । मार्क्स भोग के दर्शन का उद्भव सामन्तवाद के पतन के साथ एवं निरंकुश राजतन्त्र के अधीन सामन्ती भू अभिजातों के दरबार में भोगप्रिय तथा खाउ - उड़ान अभिजातों में रूपांतरण के साथ मानते हैं । इस संदर्भ में मार्क्स कहते हैं - “वह क्रांतिकारी बुर्जुआ वर्ग के केवल उन चंद लेखकों के हाथों सच्चा दर्शन बनता है जो एक ओर दरबारी अभिजातों की संस्कृति तथा उनके रहन-सहन के तरीकों में सहभागी थे और दूसरी ओर बुर्जुआ वर्ग अधिक सामान्य दृष्टिकोण को मानते थे जो इस वर्ग के अस्तित्व की आम परिस्थितियों पर आधारित था । इसलिए इस दर्शन को दोनों वर्ग सर्वथा भिन्न दृष्टिकोण से स्वीकार करते थे । जहाँ अभिजात वर्ग में यह भाषा खासकर उसकी श्रेणी और उस श्रेणी के रहन-सहन के तरीकों तक सीमित थी, वहीं बुर्जुआ वर्ग ने इसे सामान्यीकृत किया और उसे बिना किसी भेद-भाव के प्रत्येक व्यक्ति के अनुकूल ढाला ।"

अभिजात वर्ग की हार के बाद भोग के सिद्धांत को पाखंडपूर्ण नैतिक मत में परिवर्तित कर दिया गया । इस कम में एक ओर जहाँ अभिजात वर्ग ने कट्टर धर्म परायणता की पोशाक पहन ली वही बुर्जुआ वर्ग ने उच्च नैतिकतावादी और अति नियम निष्ठता का आवरण ओढ़ लिया । पूँजीवादी समाज व्यवस्था के साथ मध्यवर्गीय नैतिकता के विकास को जोड़कर इस स्थिति को बड़ी ही आसानी से समझा जा सकता है । दरअसल सर्वहारा और वर्ग समाजी व्यवस्था के समर्थक बुर्जुआ के बीच अंतर्विरोध के अध्ययन ऐतिहासिक भौतिकवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की समझ के अंतर्गत संभव हुआ । इस अध्ययन ने भोग और विराग की नैतिकता को चकनाचूर कर दिया ।

मार्क्स ने 19 वीं शताब्दी की पूंजीवादी व्यवस्था में मौजूद स्थितियों का गहन अध्ययन किया और बताया "एक ओर ऐसी औद्योगिक और वैज्ञानिक शक्तियाँ पैदा हुई जिनकी मानव इतिहास के किसी पूर्ववर्ती युग में कल्पना तक नहीं की गई थी । दूसरी ओर नाश के ऐसे चिह्न उपलब्ध हैं जो रोमन साम्राज्य के परवर्ती युग की सुपरिचित विभीषिकाओं को भी मात देते हैं । एक ओर आधुनिक उद्योग तथा विज्ञान के बीच और दूसरी ओर आधुनिक दरिद्रता तथा अद्यःपतन के मध्य यह शत्रुता हमारे युग की उत्पादन शक्तियों तथा सामाजिक संबंधों के बीच ठोस दुर्दमनीय तथा अकाट्य तथ्य है।

मार्क्स के इन उदाहरणों से आपके लिए यह समझना आसान होगा कि वर्गसमाजी पूंजीवादी समाज व्यवस्था में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जो संबंध शत्रुतापूर्ण स्तर पर विकसित हुए थे, बीसवीं शताब्दी के संपूर्ण विकास क्रम में ये पूरी तरह मानवता विरोधी हो गए हैं । इस बीच यथार्थवादी तत्वचिंतन और साहित्य ने ऐसी सामाजिक भूमिका अपना ली है कि बाल्जाक के युग का आलोचनात्मक यथार्थ लियो टॉलस्टाय, प्रेमचन्द, अमृतलाल नागर, हरिशंकर परसाई और मुक्तिबोध का आलोचनात्मक यथार्थ बन गया है, जिसके भीतर से यह समझ विकसित होती है, कि वर्तमान व्यवस्था में आमूल बदलाव किए बगैर अमानवीय घातक स्थितियों से मुक्त नहीं हुआ जा सकता, जिनके कारण जीवन की समस्त मानवीय संभावनाएं नष्ट हो गई हैं ।

मार्क्स के कला और साहित्य संबंधी विचारों के इस विश्लेषण से आपके सामने यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि कला मानवीय संचेतना और दृश्यमान विश्व के भीतर प्रस्तुत तत्वों के बीच द्वन्द्वात्मक कार्यशीलता युक्त प्रक्रियाओं की संरचना हैं । यह सामाजिक जीवन की आर्थिक सांस्कृतिक अधिरचनाओं में मौजूद मानवीय संघर्ष की वाहिका है, और सदा एक सामाजिक संरचना के रूप में रचनाकार और उसे ग्रहण करने वाले व्यक्तियों के मध्य संतरण की प्रक्रिया उत्पन्न करती हैं । जैसे संचेतना मनुष्य के प्राकृतिक और सामाजिक संबंधों का उत्पादन है, वैसे ही ज्ञानेन्द्रियों के विश्व के साथ विकसित संबंधों का संतरण संवेदना के रूप में होता है। कलात्मक रचना से ग्रहण किए जाने वाले आनंद के लिए कलात्मक और सांस्कृतिक रूचि का विकास जरूरी है । कला एवं साहित्य का वैज्ञानिक सामाजिक आधार है । प्राकृतिक नियमों और कला के सौन्दर्य संबंधी नियमों में समानता है । भाषा मानवीय संचेतना और संवेदना को विचार के रूप में संप्रेषणीय बनाती है, और संचेतना को आशय प्रदान करती है । भाषा से इतर और किसी दूसरे रूप में संचेतना की प्रकृति का स्वरूप व्यक्त नहीं होता । अत: संचेतना के मानसिक गठन का स्वरूप भी मानसिक भाषायी रूपान्तरण के द्वारा ही व्यक्त होता है। मानवीय सांस्कृतिक विकास में आत्मिक उत्पादनों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही है । इन उत्पादों में कला और साहित्य मनुष्य की उत्कृष्टतम आत्मिक संरचनाएं हैं । मार्क्स उत्पादन संबंधों और सामाजिक गठन के साथ कला की साझेदारी को उसका महत्वपूर्ण सांस्कृतिक तथ्य मानते हैं ।

मार्क्स ने दांते, शेक्सपियर, वोल्देयर और सर्वेतीज का साहित्य गंभीरता से पढ़ा तथा इनके साहित्य में पहली बार विश्लेषणात्मक यथार्थवाद की प्रस्तुति को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना। ज्ञान प्रसारणकालीन प्रवृत्तिकाल के रचनाकारों में उन्होंने वोल्देयर और रूसों की विचारधारा

का विश्लेषण किया और स्वछंदतावादी प्रवृत्तकाल के रचनाकारों में वाल्जाक् जोला, शेली, वायरन, वाल्टर स्कॉट, टॉमस कारलाइल, गेटे, पुश्किन, चेर्निशेव्स्की, दोबारोल्यूबोव, फ्लेरोब्स्की आदि के बारे में मार्क्स ने अपने विचार व्यक्त किये जिससे स्पष्ट होता है कि मार्क्स साहित्य में सामाजिक जीवन के अंतर्विरोधों का आलोचनात्मक व्याख्या को सर्वाधिक महत्व देते थे । मार्क्स ने कला और साहित्य के बारे में उस तात्विक सौन्दर्यशास्त्री दृष्टि का निर्माण किया जिसे यथार्थवाद के नाम से जाना जाता है और जिसका सैद्धान्तिक विचारधारात्मक आधार ऐतिहासिक भौतिकवादी अध्ययन और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की कला के क्षेत्र में व्यापक भूमिका के अंतराल से निर्मित हुआ ।

13.4 मार्क्स के साहित्य चिंतन और सामाजिक यथार्थवाद को विशेषताएँ

मार्क्स के साहित्य चिंतन के संदर्भ में एक बात जाननी जरूरी है कि मार्क्सवादी दर्शन के प्रवर्तक मार्क्स और एंगेल्स ने साहित्य चिंतन अथवा सौन्दर्यशास्त्र पर कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं लिखा है । इस विषय को या तो उन्होंने प्रसंग विशेष के सिलसिले में स्पष्ट किया है अथवा किसी लेखक को लिखे पत्र या उसकी कृति विषयक समीक्षा के संदर्भ में या पूछे गए प्रश्नों के उत्तर में स्पष्ट किया है । वस्तुतः साहित्य ओर कलाओं को खुद में एक स्वतंत्र सत्ता ना मानते हुए चिंतकों ने जीवन के अन्यान्य महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करने के क्रम में उनके एक अंग के रूप में साहित्य एवं कलाओं की चर्चा की है । संसार तथा समाज को जानने, समझने, विश्लेषित करने और अंततः: उसे बदलने की जरूरत प्रतिपादित करने वाला उनका दार्शनिक चिंतन ही वह स्त्रोत है जो हमें जीवन के अन्य बुनियादी प्रश्नों के साथ-साथ साहित्य और कला के बारे में भी एक नयी समझ देता है । ज्ञान की ऐसी कोई महत्वपूर्ण शाखा नहीं है जो मार्क्स की चिंतन व्यवस्था की अन्तर्ग्रथित समग्रता का अंग बन सके । मार्क्स के साहित्य चिंतन के अन्तर्गत साहित्य को सामाजिक जीवन से कतई निरपेक्ष मानस व्यापार के रूप में स्वीकार न कर उसे एक सामाजिक वस्तु के रूप में मान्यता दी गई है । साहित्य एवं कला का सामाजिक जीवन से क्या संबंध और इस संबंध का स्वरूप क्या है, रचनाकार और उसका कृतित्व एक स्तर पर और सामाजिक जीवन दूसरे स्तर पर किस प्रकार एक दूसरे को प्रभावित, प्रतिबिंबित और नियत करते हैं, इन तमाम प्रश्नों पर मार्क्स का चिंतन यह स्पष्ट कर देता है कि एक सामाजिक प्राणी होने के नाते साहित्यकार जीवन में दूसरे प्रश्नों से न तो खुद को अलग ही कर सकता है, न ही ऐसा वांछित ही है । एक सामाजिक क्रिया होने के नाते उसकी रचना जीवन के पक्षों से जुड़कर उनकी संगति में ही अपनी मानवीय, सामाजिक आकृति का परिचय देती है और इसी में उसकी सार्थकता तथा चरितार्थ निहित है । तात्पर्य यह है कि भाववादी कला चिंतन के विपरीत जिसके अंतर्गत साहित्य एवं कलाओं को जीवन की दूसरी बुनियादी जरूरतों से पृथक एक स्वतंत्र इकाई के रूप में मान्यता प्राप्त हुई है तथा उने मूल्यांकन के प्रतिमानों को उनके भीतर ही स्थित माना गया है, मार्क्स का साहित्य चिंतन सामाजिक प्रतिमान को सामने रखता है ।

मार्क्स की साहित्य समीक्षा समाजवादी यथार्थ को सबसे अधिक महत्व देती है और उसे ही आधारभूत साहित्यिक प्रतिमान मानती है । यह यथार्थवाद यथार्थ जीवन के चित्रण को ही कला

की कसौटी मानकर चलता है लेकिन यह वास्तविकता को केवल वस्तुपरक रूप में चित्रित करने वाले यथार्थवाद से अलग है । यह समाजवादी है जो कलाकार को समाजवाद के प्रसार के लिए ही अपनी कला का उपयोग करते हुए वास्तविकता के चित्रांकन का निर्देश देता है । समाजवादी यथार्थवाद का उद्भव उस समय होता है जब मानव जाति को बुर्जुआ समाज को भयंकर अंतर्विरोधों का सामना करना पड़ता है । जब वर्ग युक्त से वर्गहीन समाज की ओर संक्रमण होता है, जब आम आदमी समाजवाद के लक्ष्य के प्रति प्रयत्नशील होता है और उसे पाने के लिए संघर्ष शुरू हो जाता है ।

समाजवादी यथार्थवाद के अनुसार वर्तमान समाज को स्थिर न मान उसे ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया का हिस्सा मानना और विकसित होते समाज का निरूपण ही कलाकार का कर्तव्य है । सामाजिक विकास के क्रम को उपरोक्त ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करना समाजवादी यथार्थवादी कृतियों का लक्ष्य है । समाजवादी यथार्थवाद सदा मानवतावादी होता है । गोर्की के शब्दों में क्रांतिकारी सर्वहारा का मानवतावाद का कार्य एक श्रमजीवी से प्रेम की प्रतीकात्मक घोषणाएं नहीं मानता, वह हर मजदूर अपने ऐतिहासिक मिशन की चेतना की सत्ता पाने के अधिकार की, धन लोलुपों से परजीतियों से फासिस्टों तथा हत्यारों से अमित घृणा की मांग करता है । वह उन सब तथ्यों के प्रति भी घृणा की मांग करता है जो करोड़ों लोगों के कष्ट के कारण हैं । समाजवादी यथार्थवाद मनुष्य को साहित्य का सर्वोपरि विषय मानता है लेकिन वह व्यक्ति को इसके परिवेश से पृथक कर मनोविज्ञान या जन्तु विज्ञान की प्रयोगशाला के विषय के रूप में चिंतित नहीं करता । वह व्यक्ति की भूमिका को समाज का सही संदर्भ लेकर स्थापित करता है । वह व्यक्ति को उसकी समग्रता में देखना चाहता है और ऐसे चरित्रों का सृजन करता है जो वर्ग विशेष का प्रतिनिधित्व करते हुए भी अपनी विशेषता अक्षुण्ण रखते हैं ।

समाजवादी यथार्थवाद के अनुसार साहित्य और कला सामान्य जन की शिक्षा के सर्वाधिक प्रभावशाली माध्यम है । अत: इसकी पहली शर्त है कि वह आम लोगों के लिए सहज और सरल हो । लोगों को भावनात्मक शिक्षा देने और उनमें समाजवाद की चेतना पैदा करने के साहित्य के प्रसार क्षेत्र का अधिक से अधिक व्यापक होना जरूरी है । साहित्य में यह शक्ति उसकी प्रभावशीलता, उसकी अनुभूतिप्रवणता उसकी प्रेषणीयता तथा उसके शिल्पगत सौन्दर्य से जुड़ी रहती है । समाजवादी यथार्थवाद उस कलाकृति को अधिक श्रेष्ठ मानता है जो अपनी सजीवता और स्पष्ट अभिव्यंजना शैली के कारण लोगों पर त्वरित प्रभाव डालती है । भले ही इसका विचार तत्व कम गंभीर और कम व्यापक हो । समाजवादी यथार्थवाद में वैचारिकता के कलात्मक नियोजन पर जोर दिया जाता है । एंगेल्स कहते हैं - 'किसी कृति में लेखक के विचारों का प्रकाशन स्पष्ट कथन के रूप में न होकर परिस्थितियों और क्रियाओं से स्वत: स्फूर्त होना चाहिये । रचना में वैचारिकता का कलात्मक नियोजन करना बहुत बड़ी लेखकीय क्षमता है । महान साहित्य का सदैव उद्देश्यपरक होना जरूरी है क्योंकि उसका लक्ष्य उच्चादर्शों की दिशा में मनुष्य के भावों और विचारों को संस्कार प्रदान करता है लेकिन ऐसा करते समय वह विचारों को आरोपित नहीं करता । जीवित मनुष्यों के जीवंत कृत्यों द्वारा अपेक्षित प्रभाव पैदा करता है ।

समाजवादी यथार्थवाद को व्यक्त करने वाली कला या साहित्य की सृजनात्मक प्रक्रिया का अपवाद नहीं और सृजन तथा कल्पना अभिन्न रूप में जुड़े हैं । अत: समाजवादी यथार्थवाद में भी कल्पना का महत्व स्वीकार किया गया है । वास्तविकता से प्रवर्तित वस्तु ही कल्पना द्वारा निर्मित होती है एवं कल्पना और सहज प्रेरणा तथ्यों की श्रृंखला को जोड़ने में सहायक होती है । कल्पना की उड़ान के भी दो रूप होते हैं निष्क्रिय कल्पना ओर सक्रिय कल्पना । पहली यथार्थ से दूर पलायन की ओर ले जाती है, दूसरी जीवन के प्रति मनुष्य की आस्था को मजबूत बनाकर उसके चारों ओर फैली हुई मजबूरी की जंजीरों को तोड़ उसे ऊपर उठने की ताकत देती है । एंगेल्स ने जर्मनी के तीन प्रसिद्ध कवियों इस्मान, चामिसों और प्लातेन पर टिप्पणी करते हुए कहा कि इस्मान में कल्पना भाव तथा बुद्धि का परस्पर विरोध वैद्वै का रूप धारण कर लेता है जिन्हें वह परस्पर जोड़ने का प्रयास करता है किन्तु उन्हें अस्तित्व में नहीं ला पाता, चामिसों में कहीं कल्पना कहीं भाव और कहीं बौद्धिक विवशता प्राप्त होती है जबकि प्लातेन की सीमा काव्य को बुद्धि का परिणाम समझने में है ।" इस कथन से स्पष्ट है एंगेल्स काव्य में कल्पना, भाव और बुद्धि तीनों की अन्विति के पक्षधर थे । समाजवादी यथार्थवाद के अनुसार ऐतिहासिक जगत में रूढ़िवाद जीवन का उतना ही सच्चा उपादान है जितने कि निरंतर गतिशीलता और परिवर्तन । आज जो विचार उपादेय है कल वही अनुपादेय होकर रूढ़ि बन जाते हैं । इस प्रकार रूढ़िवाद और उसके विरोध का सिलसिला चलता रहता है । मार्क्सवादी अर्थात समाजवादी यथार्थवादी इस बात के लिए प्रतिबद्ध हैं कि वह विवेक की मिट्टी से रूढ़िवाद की खाई को पाटता चले जिससे प्रगति का पथ प्रशस्त रहे।

यही वह लक्ष्य है जिसके कारण समाजवादी यथार्थवादी साहित्यकार रूढ़ियों के नाम पर उस समग्र ज्ञान राशि को नकार नहीं देता जो परम्परा उपलब्ध होती है अपितु वह पीछे की ओर मुड़कर ही आगे बढ़ने का आग्रह करता है । वह देखता है कि वह क्या है जो एकदम सड़ चुका है और वह क्या है जो अब भी काम दे सकता है । अतीत से वर्तमान के लिए आदेय ठोस परिस्थितियों को ग्रहण करते हुए उनका विश्लेषण करना चाह्ये ओर साहित्य में उतारना चाहिये।

मार्क्स ने चाहा - साहित्यकार सामाजिक धार्मिक रूढ़ियों का विरोध करे । सभ्यता के विकास के साथ-साथ सामाजिक रूढ़ियाँ तो एक सीमा तक लुप्त हो जाती हैं पर धार्मिक रूढ़ियों का सिलसिला तो चलता रहता है क्योंकि मानव समाज में धार्मिकता के संस्कार अपेक्षाकृत अधिक गहरे और श्रद्धापूरित होते हैं । इन पर एकदम प्रहार नहीं किया जाता । अन्यथा इनकी प्रतिक्रिया बड़ी भयंकर होती है । यहां तक कि विज्ञान ने भी जितने भौतिक प्रगति के क्षेत्र में एक युगान्तर उपस्थित कर दिया है । धार्मिक रूढ़ियों पर क्रमश: और बड़ी सावधानी से प्रहार किया है । लेनिन ने कहा - 'धर्म उन नियमों की नींव डालता है जिसके द्वारा समाज का एक बड़ा हिस्सा दूसरे के लिए काम करने जो बाध्य किया जाता है मार्क्स ने धर्म को अफीम कहा है । उन्होंने कहा - 'धर्म उत्पीड़ित प्राणी की आह है, एक हृदयहीन दुनिया का वह हृदय है. उसी तरह जिस तरह की किसी आत्मविहीन स्थिति की वह आत्मा है ।

समाजवादी यथार्थवाद की दृष्टि में प्रकृति के व्यापक परिवेश से मानव जीवन को अलग कर उसे अपनी पूर्णता में चित्रित कर सकना असंभव है जिस प्रकार जीवन से स्वरूप में निरन्तर रूपांतरण होता चला आया है, उसी प्रकार उसके प्राकृतिक परिवेश में भी कलाकार के दृष्टि पथ से जो भी वस्तु गुजरती है, वह उसका निर्माण सर्जक अथवा जनक की तरह करता है । अपने परिवेश के चातुर्दिक रूप की गहराइयों में प्रवेश कर उसके विगत और वर्तमान का सजीव चित्रण करते हुए आनन्द विभोर हो जाना साहित्यकार के लिए स्वाभाविक है । मार्क्स के साहित्य चिंतन से सहमत होते हुए खुश्चेव ने लिखा - शरद ऋतु में धवल तुषारावृत जंगल की सूर्योदय कालीन शोभा का वर्णन कितना अवर्णनीय होता हे उसे केवल कलाकार की सुस्पष्ट वास्तविक कलात्मक प्रतिबिम्बन द्वारा मानव मन में उतार सकने की क्षमता रखता है । मार्क्स की दृष्टि से रूप विधान और विषय वस्तु द्वन्द्वात्मक जीवन के द्वारा परस्पर अविभाज्य रूप से संबद्ध एवं अन्योन्याश्रित है । समाजवादी यथार्थवादी रचनाकार के लिए रूप विधान का प्रश्न भी कम महत्वपूर्ण नहीं । साहित्यकार प्रगतिशील विषय वस्तु के अनुरूप प्रगतिशील रूप विधान के द्वारा ही पाठक तक अपनी भावनाओं को पहुंचा सकता है । प्राचीन तथा नवीन रूप विधान संबंधों को और अधिक स्पष्ट करते हुए माओत्सेतुंग कहते हैं- हम सामन्ती एवं पूंजीवादी वर्ग के प्राचीन रूप विधान की उपयोगिता का विरोध न करते हुए उनका नवीन विषय वस्तु के अनुरूप पुन: निर्माण करना चाहते हैं जिससे वे क्रांतिकारी रूप से जनसमूह के लिए उपयोगी सिद्ध हो सके ।

समाजवादी यथार्थवादी साहित्यकार यदि अपने देश की मिट्टी अर्थात् समाज जीवन, इतिहास, पुराण, लोकगीतों, लोक आख्यानों आदि से गहराई से संपृक्त होता है तो उसकी भाषा स्वत: सशक्त और प्रेषणीय हो जाती है । सामाजिक संरक्षण की माध्यम भाषा के लिए स्वयं मार्क्स ने स्पष्टता और संप्रेषणीयता जैसे तत्वों को अनिवार्य माना है ।

यथार्थवाद निस्संदेह जीवन की अनुकृति मात्र नहीं अपितु जीवन सत्य के अनेक स्तरों को उद्घाटित करने और अभिव्यक्ति देने की क्रिया है फलत: उस पर किसी एक शैली का वर्चस्व नहीं हो सकता । विषय के अनुरूप हर साहित्यकार की अपनी शैली होनी चाहिए । अपने कथ्य के आग्रह के अनुरूप उसकी अभिव्यंजना कोई भी शैली अपना सकती है । चाहे सीधा स्पष्ट कथन, चाहे वक्रोति चाहे चित्र और प्रतीक । मर्यादा एक ही है की उसके प्रतीक और चित्र और वक्रोतियाँ यथार्थ को उद्घाटित करने का साधन हों, स्वयं साध्य न बन जायें, क्योंकि शैली और रूप के कलात्मक चमत्कार मात्र से कोई रचना महान नहीं बन सकती । विश्व साहित्य में ऐसी अनेक रचनाएं हैं जो रूप और शैली । की दृष्टि से नितान्त साधारण है यद्यपि कई पीढ़ियों के समीक्षकों की कसौटी पर उच्चस्तरीय सिद्ध हुई है । ये रचनाएं मानवीय वैचारिक शक्तियों के निरन्तर विकास और मानवीय चेतना के उत्तरोत्तर उन्नयन के पथों को उन्मुक्त करने की दिशा में सचेष्ट रही है न कि उन्हें अवरूद्ध करने की कोशिश में रत ।

मार्क्स ने कभी हास्य व्यंग्य एवं स्वस्थ रोमांस के महत्व को अस्वीकार नहीं किया, लेकिन उनकी शर्त थी कि उसके मूल में यथार्थ होना चाहिए । कोरी वायवीय कल्पना की उड़ान नहीं। यही कारण है उन्होंने वाल्जाक तथा सर्वेतीज जैसे कलाकारों को रोमांस के महानतम विशेषज्ञ का सम्मान दिया ओर उनके हास्यपरक एवं साहसिक कथा वृतान्तों की सराहना की । तत्कालीन

समस्त पेशेवर इतिहासकारों, अर्थशास्त्रियों एवं गणितज्ञों से अधिक यथार्थ का बोध कराने वाले वाल्जाक राजनीतिक दृष्टि से आनुवंशिक उत्तराधिकार में विश्वास रखते थे ओर उनकी महान कृतियाँ अभिशप्त क्षयोन्मुखी, मरणशील भद्रसमाज के शोकगीत हैं लेकिन जब वे उन्हीं भद्र पुरूषों और नारियों को अपनी कृति में गतिशील रूप प्रदान करते हैं तो उनकी तीक्षण व्यंग्योक्तियाँ और कटु विडंबनाएँ अपना सानी नहीं रखती साथ ही भविष्य के यथार्थ व्यक्तियों को भी वे आकार देते हैं । मार्क्स वाल्जाक को तत्कालीन सामाजिक जीवन का इतिहासकार मात्र ना मानकर एक भविष्य दृष्टा वर्गपात्र निर्माता भी मानते थे जो उस समय गर्भावस्था में थे । मार्क्स के विचारों का अनुसरण करते हुए समाजवादी यथार्थवादी रचनाकार अपनी रचनाओं में स्वस्थ रोमांस और धारदार हास्य व्यंग्य का संगुंफन करते है।
मार्क्स के चिंतन से परवर्ती सौन्दर्यशास्त्र की मार्क्सवादी अवधारणा बनी और समाजवादी यथार्थवादियों ने स्थापित किया कि सतत परिवर्तनशील सौन्दर्यात्मक मूल्यांकन में प्रमुख निर्धारक शक्ति है करोड़ों मेहनतकश, अपने वर्ग शत्रुओं के खिलाफ उनके आन्दोलन और उनके संघर्ष । साहित्य सृजन और आलोचना में करोड़ों मेहनतकशों उनके आंदोलनों ओर संघर्षों पर आधारित पद्धतियों में जब तक शासक वर्गो के साहित्य और आलोचना । इन दो दृष्टियों और पद्धतियों में जब तक शासक वर्ग की दृष्टि का वर्चस्व दिखाई देने लग जाता है । अत: साहित्य में शासक वर्ग के प्रभुत्व के खिलाफ एक सचेत संघर्ष करना क्रांतिकारियों लेखकों और आलोचकों के लिए उसी तरह आवश्यक है जिस तरह अन्य सभी क्षेत्रों में संघर्ष करना क्रांतिकारियों का कर्तव्य । मार्क्स के साहित्य चिंतन ने एक नया सौन्दर्यशास्त्र दिया जो कला के लिए के नारे के खिलाफ समाज की प्रगति के सोद्देश्य और प्रतिष्ठि है कला का नारा लेकर आई ।

मार्क्सवाद ने ही सबसे पहले समाज में महिलाओं की स्थिति के कारण उसकी मूलभूत सच्चाई का उद्घाटन किया । समाज में नारी और पुरूष के मध्य जो वैषम्य था उसे तो युगों से तथाकथित सभ्य समाज के लोग देख और जान रहे थे । समाज पुरूषवर्चस्व प्रधान है । नारी दासी उपेक्षिता और लांछिता है - को ही लोगों ने शाश्वत ओर चिरंतन सत्य के रूप में स्वीकार किया था । जिस तरह लोगों ने यह मान लिया था कि समाज में गरीब ओर अमीर इसी तरह बने रहेंगे और मनुष्य का शोषण करता रहेगा । इस समाज व्यवस्था में शोषितों की (जिसमें महिलाएं भी शामिल हैं) जितनी भलाई की जा सकती है, उतनी ही की जानी चाहिए । मानवता के नाते ही नारी के लिए भी कुछ किया जाना चाहिए । इस रूढ़िग्रस्त भ्रान्त धारणा पर मार्क्सवादी वैज्ञानिक दृष्टि से कठोर आघात किया मार्क्सवाद ने स्पष्ट किया समाज में सदा ही मनुष्यों का शोषण नहीं होता रहा है और भविष्य में भी होता ही नही रहेगा । मार्क्सवाद ने ऐतिहासिक सामाजिक विश्लेषण के जरिए बताया कि निजी सम्पत्ति के उदय के साथ जब वर्ग शोषण आरंभ हुआ तभी से पुरूषवर्चस्व और नारी जाति के शोषण का युग भी शुरू हुआ। निजी सम्पत्ति की प्रथा के उदय के साथ नारी को सामाजिक उत्पादन की प्रक्रिया से बाहर कर उसे गृहदासी बना घर की चार दीवारी में कैद कर दिया गया । क्रमश: पुरूष की निजी संपत्ति पर आश्रित परिवार व्यवस्था प्रादुर्भूत हुई और नारी के बंधन और जटिल हुए । मार्क्सवादी मानता है मनुष्य द्वारा बनाया गया यह शोषण और वैषम्य सर्वदा नहीं रहेगा ।

समस्त शोषित मनुष्यों के साथ शोधित नारी समान की मुक्ति भी अवश्यंभावी है । समाज के प्राचीन आर्थिक ढाँचे में बदलाव के जरिए नारी की पराधीनता आरंभ हुई थी, पुन: आर्थिक ढांचे में क्रांतिकारी परिवर्तन के जरिए नारी जाति मुक्त होगी । नारी पुरूष के समान अधिकारों की फिर से स्थापना होगी । समाज विकास के द्वन्द्वात्मक विश्लेषण के माध्यम से मार्क्स एंगेल्स के दिखाए पथ की वर्ग शोषण के तीव्रतम अध्याय में पहुंचने पर पूंजीवाद सर्वहारा के साथ-साथ नारी समाज को भी अपने व्यापक शोषण यंत्र में खींच लाता है, लेकिन इसी से नारी मुक्ति का द्वार भी खुल जाता है, महिलाएं घर की बंदिश से निकाल व्यापक रूप में सामाजिक उत्पादन से जुड़े सर्वहारा के पास क्रांतिकारी शक्ति बन खड़ी हो जाती है और समाज, परिवार, स्त्री-पुरूषों के पारस्परिक संबंधों में भी परिवर्तन परिलक्षित होने लगता है - का अनुसरण करते हुए समाजवादी यथार्थवाद नारी के उज्जवल भविष्य के प्रति आशावादी नजरिए से नारी पात्रों का सृजन करता है ।

समाजवादी यथार्थवाद और उसी के समानांतर मार्क्स के उपर्युक्त विचारों के ध्यान से आप कुछ बातें अच्छी तरह समझ गए होंगे । जैसे कि मार्क्स का साहित्य चिंतन किन आधारी पर अवलंबित है और उसकी दिशाएं क्या हैं । संक्षेप में यह जान लीजिए कि रचनाकार प्रति मार्क्स का आग्रह है कि वह अपने युग के सत्य को उजागर करे ओर अपने वर्णनों तथा घटनाओं के प्रति ऐतिहासिक नजरिया अख्तियार करे । बिना इसके न तो पात्रों के चरित्रांकन में जीवंतता आ सकती है न रचना ही उच्च स्तरीय बन सकती है । यहां तक कि चरित्रांकन भी वर्गीय परिवेश में ही अधिक सटीक और विश्वसनीय बन सकता है । साहित्यकार अपनी विद्वता से नहीं अपितु सहजता, जीवनमुखी बिम्बों और कलात्मक अभिव्यंजना के जरिए ऊँचाई तक पहुंच सकता है । लेखकों के लिए समसामयिक समस्याओं से गहरा जुड़ाव तथा राजनीति महत्वपूर्ण हैं । जन आंदोलन और जनतांत्रिक संघर्ष ही उनके जीवन और साहित्य को प्रगल्भ करते और वैज्ञानिक विचारधारा पारदर्शी और परिष्कृत बनाती है ।

मार्क्स ने कहा कला 'कला और साहित्य वर्गों' के मध्य विचारधारात्मक संघर्ष में महत्वपूर्ण हथियार हैं । यह अगर शासकों की ताकत को दृढ़तर कर सकती है तो उसकी जड़ें भी खोद सकती हैं । यदि वह वर्ग उत्पीड़न की रक्षा का काम कर सकती है तो मेहनतकश जन सामान्य को शिक्षित कर उनकी चेतना के विकास में भी योग दे सकती है. उन्हें अपने उत्पीड़कों पर जीत के करीब भी पहुंचा सकती है ।

मार्क्स की मान्यता है साहित्य तथा कला नैतिक मूल्यों के प्रश्न से नजरें नहीं चुरा सकते । एक कलाकार नैतिक मूल्यों को भूल सकता है, उनकी उपेक्षा कर सकता है

लेकिन उसकी कृति सामाजिक जीवन की भूमिका में भाग लेती है । वह प्रायोजित अथवा अप्रायोजित रूप में चेतना अथवा अचेतन रूप में समाज को प्रभावित करती है । मार्क्स ने साहित्य में निराशावाद और अश्लीलता की भर्त्सना की । उन्होंने आशावाद का पथ दिखाया। उनका आशावाद मनुष्य के जीवन जगत के लिए है । सुख, आनंद और पुरस्कार इसी सीमित जगत के हैं, लेकिन वे केवल इन्द्रिय सुख तक ही नहीं है । इसलिए मार्क्स का आशावाद मानवता के प्रति हमारी आस्था में उत्पन्न होता है । जीवन का आनंद न तो उन्माद का परिणाम है न उच्छृंखलता का । इसी कारण मार्क्स ने विचारधारा विहीन साहित्य का विरोध किया क्योंकि

इसके बिना साहित्यकार के पास जीवन और जगत की व्याख्या का कोई हथियार नहीं होता। जहाँ बुर्जुआ प्रचारतंत्र यह प्रमाणित करने की कोशिश करता है कि साहित्य का विचारधारा से कोई रिश्ता नहीं होता । विचारधारा पर आधारित साहित्य, साहित्य नहीं प्रोपैगंडा है । वहीं मार्क्स ने माना राजनीति ओर साहित्य उस अधिरचना के अंग हैं जिनका आधार वर्गीय समाज है । दोनों शोषक और शोषित वर्ग के बीच होने वाले संघर्ष की अभिव्यक्ति करते हैं, लेकिन दोनों में एक तात्विक अंतर है । जहाँ साहित्य विचारधारात्मक अधिरचना का अंग है वहीं राजनीति वर्ग संघर्ष का, सत्ता के लिए किए जाने वाले संघर्ष का एक प्रत्यक्ष रूप है । जहाँ साहित्य सृजन की प्रक्रिया संश्लिष्ट होती है वहीं राजनीति की सीधी और प्रत्यक्ष ।

भौतिक जीवन में उत्पादन प्रणाली द्वारा जीवन की सामाजिक राजनीतिक और दूसरी बौद्धिक क्रियाएं निर्धारित होती हैं। मनुष्य की चेतना उत्पादन से बड़ी गहराई से जुड़ी है । (आप इस इकाई के प्राक्कथन में पढ़ कर समझ गए होंगे । इसी के अनुरूप सामाजिक चेतना भी निर्धारित होती है । मनुष्य के अस्तित्व का निर्धारण उसकी चेतना नहीं करती वरन् उसका सामाजिक अस्तित्व उसकी चेतना का निर्धारण करता है । मार्क्स ने कहा जीवन की भौतिक प्रणाली ही अन्ततः मनुष्य के जीवन का बौद्धक निर्धारण करती है, किन्तु यह संबंध बिल्कुल सरल न हो जटिल और संश्लिष्ट है । राजनीति साहित्य में एक वैज्ञानिक विचारधारा के रूप में आती है और मनुष्य को उसके सामाजिक संबंधों के मध्य परखती निखारती और चित्रांकन करती है । राजनीति संपूर्ण मनुष्य सत्ता में निर्माण की राह है जिसका सहायक है साहित्य । इस तरह वह राजनीति अथवा राजनैतिक दल कभी जनता के प्रति अपने दायित्वों का निर्वहन करने में सफल नहीं होती जो साहित्य लेखन को व्यक्तिगत उत्तरदायित्व का तमका पहना अपने दायित्व से च्युत हो जाती है ।

13.5 सारांश

प्रस्तुत पाठ में आपने पढ़ा कि मार्क्सवाद कोई जड़ पदार्थ नहीं अपितु एक लगातार विकसित होने वाली जीवन दृष्टि तथा विश्व दृष्टि है । मार्क्स की सौन्दर्यशास्त्री दृष्टि की यह मान्यता है कि सच्चा लेखक या कलाकार अपने देखे हुए जीवन को उसी तरह हूबहू प्रस्तुत नहीं कर देता बल्कि उसके कलात्मक बिम्बों से अपनी कृति में एक नई दुनिया रचता है । वैचारिक चिंतन के इतिहास में यह विचारधारा कार्ल मार्क्स (1818-1823) के विचारों के प्रवेश के साथ प्रविष्ट होती है । मार्क्स ने अपने इस सिद्धान्त द्वारा जीवन के संपूर्ण दर्शन को प्रस्तुत किया।

- आपने समझा कि मार्क्सवाद के दो स्वरूप परिलक्षित होते हैं - (1) सृष्टि एवं समाज का विश्लेषणात्मक अध्ययन और (2) उस अध्ययन के जरिये सामाजिक परिवर्तन की कोशिश । "वैज्ञानिक नियमों को जान लेता है जिसके आधार पर सामाजिक परिवर्तन होता है । एंगेल्स का यह भी मानना है सामाजिक ऑपरेशन नियमविहीन नहीं होता । अतः नियमों की जानकारी के बाद ही समाजवादी बदलाव लाया जा सकता है । वैज्ञानिक समाजवाद सपनों और भावनाओं की नरम भूमि पर आधारित न हो, सत्य ओर परिस्थिति के कठोर धरातल पर आधारित है ।

- मार्क्सवाद के दार्शनिक दृष्टिकोण को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की संज्ञा दी जाती है । यह दर्शन प्रतिस्थापित करता है कि सृष्टि का मूल सत्य पदार्थ है लेकिन उसे केवल द्वन्द्वात्मक प्रणाली से ही जाना जाता है क्योंकि वह निरंतन परिवर्तनशील अवस्था में होता है। भौतिकवाद की दृष्टि बहिर्मुखी है जहाँ द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद हर बदलाव को द्वन्द्वात्मक दृष्टि से देखता है। इस प्रक्रिया में संघर्ष अनिवार्य है और संघर्ष केवल दो विरोधी मूल शक्तियों में होता है। इसी आधार पर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार सृष्टि का मूल सत्य परिवर्तन है जो हमेशा विरोधी शक्तियों के संघर्ष से होता है।

इस द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की दृष्टि से जब मानव समाज के इतिहास को पढ़ा जाता है तो मनुष्य के समूचे अतीत को एक व्यवस्थित अर्थ सूत्र मिल जाता है । उस समय इतिहास में इधर-उधर बिखरी हुई घटनाओं का संकलन नहीं होता। उसके चरणों को विकसित गति और लय प्राप्त होती है । उसका जीवन निश्चित ऐतिहासिक नियमों में बंध जाता है । उन्हीं ऐतिहासिक नियमों के समन्वित रूप को ऐतिहासिक भौतिकवाद कहते हैं । ऐतिहासिक भौतिकवाद की मान्यता है - 'मनुष्य के सारे कर्तव्यों की प्रेरणा है - उत्पादन । इसी लक्ष्य को लेकर मनुष्य सामाजिक संबंधों को सीमित करता है। अत: मनुष्य के समस्त सामाजिक बंधन उसके उत्पादन संबंधों पर आधारित है । जब उत्पादन संबंध बदलते हैं तब उसके सामाजिक संबंधों में बदलाव आता है । इस दृष्टि से समाज के दो ढाँचे हैं - (1) आधारभूत ढांचा - जो उत्पादन संबंधों पर आधारित है। (2) आधारभूत ढांचे पर आश्रित - इसके अंतर्गत समाज, साहित्य, कला, दर्शन एवं संस्कृति से संबंधित तत्व आते हैं। इस नाते कवि की काव्य प्रेरणा, साहित्यकार का लेखन प्रयोजन, दार्शनिक की ज्ञान - जिज्ञासा, कलाकार का कलात्मक लक्ष्य और संस्कृति का मूल उद्देश्य आदि सभी आर्थिक व्यवस्था द्वारा संचालित होते हैं ।

मार्क्स के अनुसार पूँजीवादी व्यवस्था शोषण पर आधारित है । शोषण सर्वहारा का होता है क्योंकि शारीरिक श्रम से अर्जित उसके समस्त श्रम के उत्पादन का लाभ पूंजीपतियों या स्वामियों के हाथ में आ जाता है । दैनिक जीवन के इस आधार अनुभव को कार्ल मार्क्स ने अर्थशास्त्र की जटिल शब्दावली में प्रकट किया और इसे Theory of Value या मूल्य का सिद्धान्त कहा। मार्क्स का कहना है - जब आधुनिक वैज्ञानिक साधनों से युक्त मजदूर किसी वस्तु का उत्पादन करता है तभी उस वस्तु को विनिमय मूल्य प्राप्त होता है । किसी वस्तु का विनिमय मूल्य कितना है, यह उस वस्तु पर लगाये गये श्रम के बराबर है लेकिन जब पूंजीपति मजदूर को मजदूरी देता है तब उसी के द्वारा मजदूर का शोषण करता है । मजदूर को जो मजदूरी प्राप्त होती है, वह उसके द्वारा किए गए श्रम के बराबर नहीं होती । इस प्रकार मजदूर जितने मूल्य का सर्जन करता है और जितने मूल्य का वह दाम पाता है उसके अंतर को कार्ल मार्क्स Surplus Value या अतिरिक्त मूल्य की संज्ञा देते हैं। कार्ल मार्क्स राज्य को वर्ग संघर्ष का प्रतीक मानते हैं । समाजवादी क्रांति इस राज्य का भी उन्मूलन करना चाहते हैं। केवल सर्वहारा ही समाजवादी क्रांति कर सकता है। मार्क्स ने क्रांति की पद्धतियों और साधनों पर अपने विचार विस्तृत रूप में प्रस्तुत किए।

मार्क्स के साहित्य चिंतन से यह बात आपके सामने स्पष्ट हो गई होगी कि इंसान ओर समाज की निचली सतहों में बेबसी, घुटन, यातना और आक्रोश की एक भाषा है । अपने सबसे सुखद क्षणों में यह भाषा शब्दहीन चीख के रूप में सुनायी देती है । मार्क्स ने पहली बार इस शब्दहीन चीख को दर्शन का स्तर प्रदान किया । इंसानी संघर्ष और जद्दोजहद की दलदल को दर्शन शास्त्र बना दिया ।

मार्क्स का असली उपहार यह है कि उन्होंने हमें सामाजिक दरियाफ्त करने के लिए नए औजार और हौसला दिया । उन्होंने सिखाया कि चिकनी और समतल सतहों में चिकनाई नहीं दरारें देखनी चाहिए और पड़ताल करने पर हमेशा आग के नीचे पानी और पानी के नीचे आग मिलती है ।

13.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. मार्क्सवाद का आशय स्पष्ट करते हुए इसका वैशिष्ट्य अपने शब्दों में लिखिए ।
2. मार्क्स के व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचय दीजिए ।
3. समाजवादी यथार्थवाद की विशेषताएँ लिखिए ।
4. मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की मूल दृष्टि पर विचार कीजिए ।

13.7 संदर्भ ग्रंथ

1. Marx. Progressive Publisher - Moscow 7th Printing - 1982 - Economical Philosophic Manuscripts of 1844.
2. श्यामसुंदर मिश्र - मार्क्सवादी कला - चिंतक और चिंतन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली ।
3. कुंवरपाल सिंह सं. : साहित्य समीक्षा और मार्क्सवाद - पीपुल्स लिटरेसी - 517 मटियामहल दिल्ली - 110006
4. मार्क्स, एंगेल्स - साहित्य तथा कला, प्रगति प्रकाशन, मास्को ।
5. मार्क्स और एंगेल्स संकलित रचनाएं - प्रगति प्रकाशन - मॉस्को ।
6. कलम प्रकाशन (कलम-मार्क्स अंक), 48 एम पार्क स्ट्रीट कलकत्ता 700016 सन् 1984
7. राहुल सांकृत्यायन : मानव समाज - लोकभारती प्रकाशन - 15 ए. महात्मा गांधी मार्ग इलाहाबाद-1 (आधुनिक पुस्तक भवन-30/31 - कलाकार स्ट्रीट - कलकत्ता की ओर से)।

इकाई -14 क्रोचे का अभिव्यंजनावाद

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 अभिव्यंजना का स्वरूप
14.3 अभिव्यंजना की अवस्थाएं
14.4 कलावाद और अभिव्यंजनावाद
14.5 अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्ति सिद्धांत
14.6 अभिव्यंजनावाद और आचार्य रामचंद्र शुक्ल : खण्डन के अन्य सूत्र
14.7 अभिव्यंजनावाद और काव्य कला का सामाजिक परिप्रेक्ष्य
14.8 सारांश
14.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
14.10 संदर्भ गन्ध

14.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- अभिव्यंजनावाद के तात्पर्य को स्पष्ट कर सकेंगे ।
- अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्ति सिद्धान्त के सम्बन्ध की व्याख्या कर सकेंगे ।
- इस सम्बन्ध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के विचारों की समीक्षा कर सकेंगे ।
- अभिव्यंजनावाद के महत्व का परिचय दे सकेंगे ।

14.1 प्रस्तावना

कलावाद को समृद्ध करने वाले पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्तों में प्रख्यात इतालियन दार्शनिक वेनेदेतो क्रोचे (Benedetto Croce, 1866-1952) के अभिव्यंजनावाद का विशेष महत्व है । क्रोचे का जन्म इटली के प्रसिद्ध नगर 'नेपुल्स' में एक सम्पन्न परिवार में हुआ था । वे इटली की सीनेट (संसद) के सदस्य और मंत्री भी रह चुके थे । सन् 1900 ई. में उन्होंने नेपुल्स में सौन्दर्यशास्त्र पर तीन व्याख्यान दिए थे । उन्हें ही आधार बनाकर उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'एस्थेटिक' (Aesthetic As Science of Expression And General Linguistics) की रचना की । उक्त नाम उनके मूल इतालवी ग्रंथ का अंग्रेजी अनुवाद है । इतालवी भाषा में उनकी पुस्तक का प्रकाशन 1902 ई. में हुआ । यह ग्रंथ दो भागों में है । पहले भाग में सौन्दर्यशास्त्र का सैद्धान्तिक विवेचन (Theory of Aesthetic) है और दूसरे भाग में सौन्दर्यशास्त्र का इतिहास (History of esthetic) है ।

अभिव्यंजनावाद ने अन्य कलाओं के साथ-साथ साहित्य को भी प्रभावित किया है । अभिव्यंजनावाद को हिन्दी में चर्चा का विषय बनाने का श्रेय आचार्य रामचंद्र शुक्ल को है ।

आचार्य शुक्ल ने सबसे पहले 'काव्य में अभिव्यंजनावाद शीर्षक निबंध लिखकर क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की विस्तृत समीक्षा की और उसे अपने यहाँ के कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त का 'विलायती उत्थान' कहकर उसका खण्डन किया ।

14.2 अभिव्यंजनावाद का स्वरूप

क्रोचे मूलत: आत्मवादी दार्शनिक है । उनके अनुसार आत्मा की चार मूलभूत किन्तु परस्पर भिन्न क्रियाएं हैं । इनमें दो सैद्धान्तिक अर्थात् ज्ञान की क्रियाएं हैं और दो व्यावहारिक अर्थात् इच्छा की । ज्ञान की क्रियाओं के दो भेद हैं - सहज अथवा स्वयंप्रकाश ज्ञान (Intuitive Knowledge) और तर्कजन्य ज्ञान (Logical Knowledge) । इनमें सहज अथवा स्वयंप्रकाश ज्ञान ही विशेष उपयोगी है क्योंकि, वही क्रोचे के कला विवेचन की आधार भूमि प्रस्तुत करता है । यही ज्ञान कल्पना द्वारा कला का उत्पादक होता है क्योंकि कल्पना से हम जगत के अनेकानेक रूपों और क्रियाओं के उन प्रभावों का विशिष्ट भावों के अनुकूल बिम्ब अपने अन्तःकरण में उपस्थित करते हैं । जिन्हें वे हमारी ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से निरन्तर हमारे मस्तिष्क पर डालते हैं । तर्कजन्य ज्ञान का संबंध जातिवाचक बोधों (Concepts) से होता है जिनसे सिद्धान्त निर्मित करने वाले दर्शनों और विज्ञान आदि के बोध का विकास होता है । इस प्रकार क्रोचे ने स्वयंप्रकाश ज्ञान द्वारा कल्पना के सहयोग से सहजानुभूति और तर्कजन्य ज्ञान से शासक नियमों (Concepts) के निर्माण की बात कही है । क्रोचे ने स्वयंप्रकाश ज्ञान या प्रतिभा ज्ञान को बिना किसी बौद्धिक क्रिया के उठी हुई एक मूर्त भावना माना है । यह मूर्त भावना आत्मा की अपनी सहज क्रिया है । प्रकृति में दिखायी देने वाले सौन्दर्य के मूल में क्रोचे लोगों की परम्परागत सौन्दर्यबोध की धारणा मानते हैं । सुन्दरता की चर्चा करते - सुनते हुए प्रकृति के सौन्दर्य के संबंध में लोगों की एक भावना बंध गयी है। वस्तुत: सुन्दर अगर है तो अभिव्यंजना । उनकी धारणा है कि अभिव्यंजना ही सौन्दर्य है । सौन्दर्य मात्र अभिव्यंजना का होता है । क्रोचे के शब्दों में -

"We may define beauty as successful expression or better as expression and nothing more because expression, when it is successful is not expression"

इस तरह क्रोचे ने 'सौन्दर्य', 'कल्पना', 'स्वयंप्रकाश ज्ञान', 'अभिव्यंजना, आदि शब्दों का लगभग एक ही अर्थ में प्रयोग किया है । क्रोचे ने लिखा है,

"It is impossible to distinguish intuition from expression. The one Appears with the Author at the same instant because they Are not two but one".

इस तरह अन्त:प्रज्ञा के साथ अभिव्यंजना अनिवार्यत: लगी हुई है । कोई भी अन्त:प्रज्ञा अभिव्यंजना के बिना या अभिव्यंजना अन्त:प्रज्ञा के बिना संभव नहीं है । इसी मान्यता पर क्रोचे का सारा सौन्दर्य निरूपण आश्रित है ।

14.3 अभिव्यंजनावाद की अवस्थाएं

क्रोचे के अनुसार कला रचना की चार अवस्थाएं होती हैं -

(1) प्रभाव ग्रहण करने की दशा (Impression)

(2) आन्तरिक कलात्मक सामंजस्य (Expression of Spiritual Aesthetic Synthesis)

(3) आनुषांगिक अथवा कलाजन्य आनंद (Hedonistic Accompaniment of the pleasure of the beautiful)

(4) अभिव्यक्ति (Translation of the Aesthetic fact into physical phenomenon)

अभिव्यंजना के प्रथम स्तर पर अन्त: संस्कार आते हैं । किसी प्रसंग या वस्तु के दर्शन से मनुष्य में निहित अन्त: संस्कार उद्‌बुध होते हैं । अन्त: संस्कारों के उद्‌बुध होने से जो काल्पनिक मूर्ति मन में प्रतिबिम्बित होती है वही अभिव्यंजना है । यही कला है । यह सम्पूर्ण प्रक्रिया पूर्णत: काल्पनिक अथवा मानसिक अथवा आत्मिक होती है । क्रोचे के अनुसार जैसे अन्त:प्रज्ञा और अभिव्यंजना में भेद नहीं है वैसे ही अन्तःप्रज्ञा और कला में भी भेद नहीं है अर्थात् प्रत्येक अन्तःप्रज्ञा कला है और प्रत्येक कला अन्तःप्रज्ञा है । कहने का अभिप्राय यह है कि जब भी अन्तःप्रज्ञा स्फुरित होती है तो वह अभिव्यंजना के द्‌वारा कला में परिणत हो जाती है । यह पूरी प्रक्रिया आन्तरिक होती है । क्रोचे ने लिखा है,

"The work of Art (the Aesthetic work) is always internal. And what is called external is no longer a work of Art"

क्रोचे के अनुसार, जिस काव्य, संगीत, चित्र या मूर्ति से कलाकार मुग्ध तथा आह्लादित होता है वह पुस्तक, आवाज, कैनवास अथवा पत्थर में नहीं, केवल उसकी आत्मा में होता है । बाहर जो दिखता है वह कला के आन्तरिक रूप का बाह्य प्रतिफलन मात्र है । तात्पर्य यह है कि रूप ही कला है । सौन्दर्य तत्व केवल रूप है । रूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । (TheAethetic fact is form And nothing but form.) क्रोचे की स्थापना है कि कला आन्तरिक होने के साथ-साथ अखण्ड है । कला रचना का तीसरा स्तर आनुषंगिक आनंद (Hedonistic Pleasure) का है । क्रोचे की धारणा है कि अभिव्यंजना की सौन्दर्यात्मक उपस्थिति से आत्मानंद का अनुभव होता है अर्थात मानव-हृदय अभिव्यंजना के क्षणों में आनंद से भर जाता है । चौथे स्तर पर कलाकार अभिव्यंजना जनित आनंद का रंग, रेखा, स्वर, शब्द आदि स्थूल माध्यमों से जनसाधारण को बोध कराता है, यह अभिव्यक्ति का स्तर है, परन्तु क्रोचे का कहना है कि कलाकार अभिव्यंजना के वास्तविक स्वरूप को स्थूल रूप नहीं दे सकता क्योंकि अभिव्यंजना एक आत्मिक क्रिया है, जिसे उपादान प्रकृति के माध्यम से पूर्णत: व्यक्त नहीं किया जा सकता । यह अभिव्यक्ति हमेशा ही अपूर्ण रहेगी । क्रोचे इसे निकृष्ट कोटि का मानता है परन्तु यही अन्तिम चरण अर्थात् बाह्य रूप ही भावक के काम का है । प्रथम तीन केवल कलाकार से सम्बंधित हैं । यह विचित्र विरोधाभास है कि क्रोचे कलाकार के आनंद को तो स्वीकार करते हैं किन्तु भावक के आनंद को कोई महत्व नहीं देते । इसीलिए डी.

देवेन्द्रनाथ शर्मा के शब्दों में "निश्चय ही 'कला, कला के लिए' का यह अतिरेक है ।" क्रोचे के अनुसार कलाकार में सौन्दर्य की उत्पत्ति होती है और भावक में सौन्दर्य की पुनरुत्पत्ति की प्रक्रिया के जिन भौतिक पदार्थो अर्थात् शब्दों. तीनों. गतियों, रंगों-रेखाओं, सिलाओं आदि में सौन्दर्य रूपायित हो चुका है, वे भावक में सौन्दर्य की पुनरुत्पत्ति के उद्दीपक बनते है । अर्थात् उनसे भावक में वही कलात्मक अन्तःप्रभा के जगने पर भावक को आनंद की अनुभूति होती हैं जिन वस्तुओं में अभिव्यक्ति होकर कला स्मरणीय और स्थायी बनती है और जिनसे सौन्दर्य की पुनरुत्पत्ति होती है उन्हें सुन्दर पदार्थ कहने की परम्परा है किन्तु क्रोचे इसे विरोधाभास मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार सौन्दर्य भौतिक तत्व नहीं है । वह वस्तुओं में नहीं रहता । वह मनुष्य की आत्मिक ऊर्जा (Spiritual Energy) में रहता है । भौतिक पदार्थ सौन्दर्य की पुनरुत्पत्ति के सहायक मात्र हैं इसलिए उन्हें गौण रूप में ही सुन्दर कहा जा सकता है । क्रोचे के अनुसार कला की उत्पत्ति ऐच्छिक क्रिया नहीं है । कलाकार चाहे या न चाहे, समय आने पर कलाकृति सहज भाव से स्वयं उत्पन्न हो जाती है ।

14.4 कलावाद और अभिव्यंजनावाद

क्रोचे का यह अभिव्यंजनावाद वस्तुतः 'कला, कला के लिए' के सिद्धान्त को ही समृद्ध करता है । यह मूलतः कलावादी सिद्धान्त है । कला को एक आत्मिक क्रिया के रूप में प्रतिष्ठित करके क्रोचे ने काव्य (कला) का सौन्दर्य के अतिरिक्त अन्य कोई उद्देश्य नहीं माना है । वे मंगल तथा अमंगल को धर्म और नीति के क्षेत्र की वस्तु मानते हैं तथा सौन्दर्य को कला के क्षेत्र की ।

क्रोचे, कला में केवल रूप (form) का महत्व स्वीकार करते हैं वस्तु (Content या Metter) का नहीं । वे उन लोगों का मजाक उड़ाते हैं जो कला में वस्तु के चयन की बात करते हैं । उनका कहना है कि कला के विचार में, प्रसंग में, कला के प्रयोजन और वस्तु के चयन का प्रश्न उठता ही नहीं चाहिए । (the search for the end of Art is ridiculous, when it is understood of Art as art, and since to fix an end is to choose, the theory that the content of Art must be selected is Another form of the same error).

जैसा कि पहले कहा जा चुका है क्रोचे के अनुसार अन्तःप्रेरणा (inspiration) के क्षण में एकाएक कोई वस्तु अन्तःप्रज्ञा में उद्भासित हो उठती है और उद्भासित होते ही अभिव्यंजना हो जाती है । यह समस्त प्रक्रिया आन्तरिक, अनैच्छिक और त्वरित होती है । ऐसी दशा में कलाकार को वस्तु चयन का अवकाश ही नहीं मिलता । चयन के लिए चिन्तन जरूरी है । चिंतन के लिए वस्तु की पूर्वसत्ता और उसका ज्ञान आवश्यक है । अभिव्यंजना के क्षणों में यह सब संभव ही नहीं है । अन्तःप्रेरणा से ही परिचालित और निर्देशित होना कलाकार की विवशता है । इसीलिए क्रोचे के अनुसार कला, उपयोगिता और नैतिकता से ही नहीं, बल्कि सभी व्यावहारिक मूल्यों से भी बिल्कुल निरपेक्ष और स्वतंत्र है । (Art is independent both of science And the useful And the moral) वस्तुतः कोई व्यक्ति निन्दा अथवा प्रशंसा का पात्र तो तब बनता है जब उसे कुछ करने की छूट हो और वह कुछ कर सके, कुछ

रच सके । क्रोचे का कलाकार तो पराधीन है । वह स्वयं किसी वस्तु का चयन तो करता नहीं । रचना उसकी अन्तःप्रज्ञा में न जाने कब, किधर से और कैसे स्फुरित हो जाती है । उसमें उसकी अपनी कोई भूमिका नहीं होती । इसीलिए वह उसके अच्छे-बुरे प्रभाव के लिए भी जिम्मेदार और जवाबदेह नहीं होता । कलाकार को मात्र इतनी ही स्वाधीनता होती है कि वह किस वस्तु को व्यक्त करे, किसे नहीं और कहां व्यक्त करे, कैसे व्यक्त करे - इसके लिए वह आजाद है । किन्तु ये प्रश्न उपयोगितावादी है । जीवन के व्यावहारिक पक्षों से जुड़े हुए हैं । इतना ही नहीं, जो कलाकृति अभिव्यक्त होती है, उसे तो क्रोचे निकृष्ट कोटि का पहले ही घोषित कर चुका है । इसी तरह क्रोचे कला विषयक आलोचना के प्रसंग में कलाकार की नैतिकता का प्रश्न उठाना ही निरर्थक मानता है।

क्रोचे के अनुसार अन्तःप्रज्ञा बिल्कुल वैयक्तिक चीज है । इसीलिए कला भी पूर्णत: वैयक्तिक होती है, (Art is intuition And intuition is individuality And individuality does not repeat itself) । इसीलिए कला का अनुवाद नहीं किया जा सकता । एक व्यक्ति की अभिव्यंजना को जब दूसरा व्यक्ति रूपान्तरित करता है तो अनिवार्यत: उसमें उसके संस्कार मिल जाते है । परिणामत: वह मूल कलाकार की अन्तःप्रज्ञा - अभिव्यंजना रह ही नहीं जाती । अनुवाद मूल अभिव्यंजना को विकृत या नष्ट कर देता है । क्रोचे के अनुसार आलोचना का भी कोई सामान्य मानदंड नहीं बनाया जा सकता । कौनसा ऐसा सामान्य मानदंड होगा जिस पर विभिन्न कृतियों की प्रामाणिक परीक्षा की जा सके? हर रचना का अलग और निजी वैशिष्ट्य होता है । किसी भी विधा की दो कृतियाँ बिल्कुल एक रूप नहीं होती, इसीलिए क्रोचे के अनुसार प्रत्येक कृति की आलोचना के सिद्धान्त उसी में निहित होते हैं ।

14.5 अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्ति सिद्धान्त

जैसा कि आरंभ में ही कहा जा चुका है अभिव्यंजनावाद को हिन्दी में व्यापक चर्चा का विषय बनाने का श्रेय आचार्य रामचंद्र शुक्ल को है । आचार्य शुक्ल ने चौबीसवें हिन्दी साहित्य सम्मेलन की साहित्य परिषद् के सभापति पर से इन्दौर में व्याख्यान दिया था । इस व्याख्यान में तत्कालीन साहित्यिक परिदृश्य की पड़ताल तो है ही, अभिव्यंजनावाद की विस्तृत समीक्षा भी है । इसलिए चिन्तामणि के दूसरे भाग का संपादन करते हुए आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस व्याख्यान का शीर्षक ही काव्य' में अभिव्यंजनावाद दिया । आचार्य शुक्ल ने 'चिन्तामणि भाग दो' के अपने दूसरे निबंध काव्य में रहस्यवाद' में भी अभिव्यंजनावाद का उल्लेख करते हुए उसका खण्डन किया है । यहीं शुक्ल जी ने इसे कलावाद के साथ जोड़ते हुए कहा है 'यूरोप के काव्य समीक्षा-क्षेत्र में प्रचलित 'अभिव्यंजना' (एक्प्रेशनिज्म) और कला का उद्देश्य कला ही है' का पूरा प्रभाव आधुनिक बिलायती रहस्यवाद पर है । प्रभाव है, क्या कहना चाहें तो कह सकते हैं कि उक्त रहस्यवाद तीनों वादों के मेल से 'बलेक' द्वारा अंगीकृत कम्पनावाद' के साथ 'अभिव्यंजनावाद और कला का उद्देश्य कलावाद के मेल से संघटित है ।

'काव्य में अभिव्यंजनावाद शीर्षक अपने निबंध में शुक्ल जी ने क्रोचे के इस अभिव्यंजनावाद की विस्तृत परीक्षा की है और उसका खण्डन करते. हुए हमारे यहाँ के दसवीं सदी के आचार्य

कुन्तक से जोड़ा है और लिखा है, "यूरोप का यह अभिव्यंजनावाद हमारे यहीं के पुराने वक्रोक्तिवाद-'वक्रोक्ति: काव्यजीवितन्- का ही नया रूप या विलायती उत्थान है ।"

शुल्क जी ने इसी निबंध में अन्यत्र लिखा है, "क्रोचे का अभिव्यंजनावाद" सच पूछिए तो एक प्रकार का वक्रोक्तिवाद है। संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में भी कुन्तक नाम के एक आचार्य 'वक्रोक्ति: काव्यजीवितन्' कहकर उठे थे ।

शुक्ल जी हिन्दी आलोचना के आधार स्तम्भ हैं । उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य काव्य शास्त्र की दोनों ही परम्पराओं का विस्तृत और गम्भीर अध्ययन किया था और इस तरह एक संतुलित आलोचना दृष्टि विकसित की थी । उनकी स्थापनाएं आज भी मील का पत्थर बनी हुई हैं । इसलिए अभिव्यंजनावाद के विषय में भी उनकी स्थापनाओं की विस्तृत समीक्षा जरूरी है ।

भारतीय काव्यशास्त्र में रस, अलंकार, ध्वनि और रीति सिद्धान्त की तरह वक्रोक्ति का भी महत्वपूर्ण स्थान है । इस सिद्धान्त की स्थापना आचार्य कुन्तक ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'वक्रोमिक्तजीवितम में की है । उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा बताते हुए लिखा है, "वक्रोक्ति: प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा । कीदृशी वैदग्ध्यभंगीभणिति: । वैदग्ध्यं विदग्धभाव: कविकर्म कौशलम् तस्य भंगी विच्छित्ति: तया भणिति: विचित्रैवाभिधा वक्रोक्ति रित्युच्यते।"

अर्थात् प्रसिद्ध कथन से भिन्न अभिधा अर्थात् वर्णनशैली ही वक्रोक्ति है । वह वैदग्ध्यपूर्ण भंगिमा द्वारा प्रस्तुत की गयी उक्ति है । वैदग्ध्य का अर्थ है विदग्धता या कविकर्म कौशल की भंगिमा या शोभा एवं उसके द्वारा उक्ति । विचित्र प्रकार (वैदग्ध्यपूर्ण) के कथन को वक्रोक्ति कहते हैं ।

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को शब्द और अर्थ का अलंकार कहा है और ये दोनों इसके द्वारा अलंकरणीय होते हैं ।

"उभावेतावलंकार्यौ त्यो: पुनरलंकृति:
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगी मणितिरूच्यते।"

कुन्तक द्वारा यहाँ 'अलंकार' शब्द अनुप्रास, रूपक आदि की तरह किसी अलंकार विशेष का सूचक नहीं है अपितु काव्य में वर्तमान उस काव्य तत्व का सूचक है जो सर्वत्र अलंकरण में सक्षम है ।

इस तरह कुन्तक के अनुसार विदग्धता अर्थात् कविकर्म कौशल से उत्पन्न वैचित्रपूर्ण कथन वक्रोक्ति कहलाता है । वक्रोक्ति अलंकृति है । यही कथन की भंगिमा है जो उक्ति को शोभा प्रदान करती है । उक्ति में चमत्कार और चारुता का सम्पादन वक्रोक्ति के द्वारा ही होता है । अत: वक्रोक्ति काव्य का जीवन है । कुन्तक ने वक्रोक्ति के छ: प्रमुख भेद किए हैं - वर्ण विन्यास, वक्रता, प्रकरण वक्रता और प्रबंध वक्रता और इनके भीतर भी अनेक भेदोपभेदों की चर्चा की है । कुन्तक के इन्हीं भेदोपभेदों के अन्तर्गत काव्य का सभी प्रकार का सौन्दर्य चाहे वह बाह्य हो या आन्तरिक समाविष्ट हो जाता है । डी. नगेन्द्र के शब्दों में, "कवि, प्रतिभा के बल पर अपनी कृति में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए सहज या सचेष्ट रूप में जिन

साधनों-प्रसाधनों का उपयोग करता है, वे सभी वक्रोक्ति के भेद हैं । अतएव कुन्तक की वक्रोक्ति का साम्राज्य, वर्ण विन्यास से लेकर प्रबंध कल्पना तक और उधर उपसर्ग, प्रत्यय आदि पदावयवों से लेकर महाकाव्य तक विस्तृत है।"

स्पष्ट है कि क्रोचे के अभिव्यंजनावाद और कुन्तक के वक्रोक्ति में बहुत अंतर है । क्रोचे की अभिव्यंजना जहाँ कलाकार की आन्तरिक प्रक्रिया है वहाँ कुन्तक के यहाँ रचे हुए का विश्लेषण है । क्रोचे का विचार क्षेत्र कला मात्र है अर्थात् उसमें काव्य, संगीत, चित्र, मूर्ति, स्थापत्य आदि सब कुछ आता है वहाँ कुन्तक का क्षेत्र काव्य मात्र है । क्रोचे का विवेचन मुख्यत: कला रचना प्रक्रिया तक सीमित है वहाँ कुन्तक का काव्य के आस्वादन तक । क्रोचे के अनुसार कला का कोई प्रयोजन नहीं होता । वह अपना प्रयोजन आप ही है अर्थात कला, कला के लिए है, जबकि कुन्तक चतुर्वर्ग फल प्राप्ति अर्थात् अर्थ धर्म, काम और मोक्ष की प्राप्ति, लौकिक व्यवहार का ज्ञान, परम आनंद आदि को काव्य का प्रयोजन मानते हैं । इस तरह जहाँ क्रोचे कलावादी हैं वहाँ कुन्तक उपयोगितावादी या प्रयोजनवादी । क्रोचे के अनुसार कला का किसी प्रकार का विभाजन संभव नहीं है ।

उनके अनुसार कला की पद्धतियाँ और वर्गीकरणों आदि के निरूपक ग्रंथों को यदि जला दिया जाए तो भी कोई हानि नहीं होगी जबकि कुन्तक का समग्र विवेचन, विभाजन व वर्गीकरणों से युक्त है । क्रोचे के कला दर्शन में कवि-व्यापार नाम की कोई चीज नहीं है । उनके अनुसार कला का स्वत: स्फूरण होता है, प्रयास पूर्वक उत्पादन नहीं, जबकि कुन्तक काव्य को कवि-व्यापार अर्थात कवि-कौशल का परिणाम मानते हैं । उन्होंने लिखा है-

"शब्दार्थो सहितौ वो कवि-व्यापार शालिनी ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाहलादकारिणी।"

अर्थात वक्र कवि-व्यापार से युक्त, बंध (रचना) में व्यवस्थित, काव्यज्ञों को आनंदित करने वाले शब्द-अर्थ के सामंजस्य को काव्य कहते हैं । क्रोचे के यहाँ काव्यज्ञ अर्थात् भावक अथवा रसज्ञ के लिए कोई स्थान नहीं है । कलाकार कला की सृष्टि स्वान्त: सुखाय करता है या कला रचना अथवा अभिव्यंजना स्वत: हो जाती है । किसी दूसरे को उससे आनंद मिलेगा- इस चिन्ता से वह मुक्त रहता है । जबकि कुन्तक भावक के आनंद को कवि-व्यापार का अनिवार्य हिस्सा मानते हैं ।

कुन्तक और क्रोचे की मान्यताओं में कुछ समानताएँ भी हैं, जैसे कुन्तक और क्रोचे दोनों अलंकार को ऊपर से आरोपित नहीं मानते । उनके अनुसार वह काव्य की अभिव्यंजना के साथ-साथ निष्पन्न होते हैं । कुन्तक के अनुसार कथन दो प्रकार के होते हैं - स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति । दैनिक व्यवहार में हम स्वभावोक्ति का सहारा लेते हैं किन्तु जहाँ तनिक भी कविकर्म कौशल दिखाई दे तो उसे वक्रोक्ति कहते हैं । इसी तरह क्रोचे के यहाँ चूँकि कला रचना-प्रक्रिया की तीन अवस्थाएँ आन्तरिक होती हैं, इसीलिए अलंकार भी मूलत: आन्तरिक चीज है । कुन्तक और क्रोचे-दोनों की यह भी मान्यता समान है कि एक अर्थ का वाचक एक ही शब्द होता है । शब्दों के पर्याय स्थूल रूप में ही एकार्थवाची होते हैं । उनके अर्थ में कुछ न कुछ भेद अवश्य होता है ।

इस तरह हम देखते हैं कि कुन्तक और क्रोचे की मान्यताओं में अन्तर ही अधिक हैं । ऐसी दशा में शुक्ल जी द्वारा क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को कुन्तक के वक्रोक्ति का विलायती उत्थान कहना उचित नहीं लगता । लगता है क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का खण्डन करते हुए अति उत्साह में शुक्ल जी ने उसके साथ कुन्तक के वक्रोक्ति का नाम जोड़ दिया

14.6 अभिव्यंजनावाद और आचार्य रामचंद्र शुक्ल : खण्डन के अन्य सूत्र

यह सही है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा अभिव्यंजनावाद को कुन्तक के वक्रोक्ति का विलायती उत्थान कहना तर्कसंगत नहीं है फिर भी अन्य अनेक कारण हैं जिनके नाते शुक्ल जी ने अभिव्यंजनावाद का खण्डन बहुत जरूरी समझा । अभिव्यंजनावाद की अनेक मान्यताएँ शुक्ल जी की प्रकृति के अनुकूल नहीं थीं ।

सबसे पहला कारण तो यह है कि क्रोचे ने सभी कलाओं अर्थात चित्रकला, संगीत कला, स्थापत्य कला आदि के साथ ही काव्य-कला को भी रख दिया है । काव्य-कला का अन्य कलाओं से भिन्न कोई मूल्य नहीं है । शुक्ल जी को क्रोचे की यह मान्यता बिल्कुल मंजूर नहीं थी । वे अन्य कलाओं के साथ काव्य-कला को भी रखने के पक्ष में नहीं थे । उनके अनुसार काव्य-कला अन्य कलाओं से विशिष्ट और महत्वपूर्ण है ।

दूसरा कारण यह है कि यूरोप में अभिव्यंजनावाद के आधार पर जल्द ही एक कला-सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ । इस सम्प्रदाय के अनुयायी अभिव्यंजनावादी नाटक, 'कविता, चित्र आदि की रचना करने लगे । यह सब क्रोचे के सिद्धान्त को ठीक से समझ न पाने के कारण हुआ । यह सब क्रोचे के सिद्धान्त की मूल धारणा को ग्रहण न कर उसके कतिपय निष्कर्षों को ही ग्रहण कर लिया । क्रोचे का निष्कर्ष यह था कि प्रत्येक उक्ति अपने आप में स्वतंत्र, अन्य से भिन्न तथा अद्वितीय होती है, तीसरा यह था कि कला अपना उद्देश्य आप ही है । इन खण्ड सिद्धान्तों को लेकर बीसवीं सदी के प्रथम चरण में यूरोप के कला जगत में (1) प्रभाववाद (2) बिम्बवाद (3) धनवाद (4) वक्रोक्तिवाद (5) अतिवस्तुवाद आदि अनेक सिद्धांतों का आविर्भाव हो गया ।

उपर्युक्त सभी वादों में सामान्य परम्परागत अभिव्यक्ति के विरुद्ध असामान्य अभिव्यंजना प्रणालियों की किसी न किसी रूप में प्रतिष्ठा की गई है । उदाहरणार्थ बिम्बवाद की मूल धारणा यह थी कि कला अथवा कविता का मध्यम केवल बिम्ब है । काव्यगत अनुभूतियाँ केवल बिम्बों में ही प्रकट हो सकती हैं । सामान्य व्याकरणसम्मत भाषा कविता के लिए अनुकूल नहीं है।

साधारणीकरण में आस्था रखने वाले तथा काव्यानुभूति को लोकानुभूति से अभिन्न मानने वाले शुक्ल जी भला उक्त बिम्बवाद को कैसे स्वीकार कर सकते थे? उन्होंने अभिव्यंजनावाद के साहित्य पर पड़ते दुष्प्रभावों की विस्तृत चर्चा की है और विरोध के कारणों का तर्कसंगत आधार गिनाया है । शुक्ल जी ने लक्ष्य किया था कि, "कल्पना आध्यात्मिक जगत का आभास है" , 'कला, कला के लिए है"," 'कल्पना का लोक ही निराला है", "काव्य नूतन सृष्टि है", "प्रकृति के किसी खण्ड का अनुकरण नहीं", "प्रकृति को भावना के नए रूप रंग में दिखाना ही काव्य है", "काव्य सौन्दर्य की साधना है इत्यादि अनेकवादों और प्रवादों का समन्वय इसके भीतर

मिलता है।" शुक्ल जी ने यह भी लक्ष्य किया था कि, "सारा उपद्रव काव्य को कलाओं के भीतर लेने से हुआ है । इसी कारण काव्य के स्वरूप की भावना भी धीरे-धीरे बेलबूटे और नक्काशी की भावना के रूप में ही हो गई। हमारे यहाँ काव्य की गिनती चौंसठ कलाओं में की गई है। इसी से यहाँ वाग्वैचित्र्य के अनुयायियों द्वारा चमत्कारवाद, वक्रोक्तिवाद आदि चलाए जाने पर भी इस प्रकार का वितंडावाद नहीं खड़ा किया गया। इधर हमारी हिन्दी में भी काव्य-समीक्षा के प्रसंग में 'कला शब्द की बहुत अधिक उद्धरणी होने लगी है ।"शुक्ल जी ने अन्यत्र लिखा है, "जिसे क्रोचे आत्मा के कारखाने से निकले हुए रूप कहता है, वे वास्तव में बाह्य जगत से प्राप्त किए हुए रूप हैं । इंद्रियज ज्ञान के जो संस्कार (छाप) मन में संचित रहते हैं वे ही कभी बुद्धि के धक्के से, कभी यों हो, भिन्न-भिन्न ढंग से अन्वित होकर जगा करते हैं । यही मूर्त भावना या कल्पना है । यह अन्विति या योजना बाह्य जगत से प्राप्त रूपों के ढंग पर होती है जिसमें एक-एक रूप की सत्ता अलग-अलग बनी रहती है । इस अन्वित रूप समूह को आध्यात्मिक 'साँचा' कहना और पृथक-पृथक रूपों को उस साँचे में भरा जाने वाला 'मसाला' बताना वितंडावाद के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है?"

'काव्य में अभिव्यंजनावाद' शीर्षक अपने निबंध में निष्कर्ष देते हुए शुक्ल जी लिखते हैं 'कलावाद और अभिव्यंजनावाद का इतना विस्तृत उल्लेख मैंने इस कारण किया कि इनका प्रभाव यूरोप में समीक्षा के स्वरूप पर तो बहुत अधिक और काव्य रचना के स्वरूप पर भी थोड़ा बहुत पड़ा है । यदि इन दोनों वादों से उत्पन्न प्रवृत्तियाँ वहीं की वहीं रह जाती, बंगभाषा के प्रसाद से हमारे हिन्दी साहित्य क्षेत्र में भी न प्रकट होती तो मुझे इनके उल्लेख द्वारा आप लोगों का अमूल्य समय नष्ट करने की कोई आवश्यकता न होती ।" शुक्ल जी ने यूरोप से आने वाली उन प्रवृत्तियों को रेखांकित करते हुए लिखा है -

1. प्रस्तुत मार्मिक रूपविधान के प्रयत्न का त्याग और केवल प्रचुर रूपविधान में ही प्रतिभा या कल्पना का प्रयोग ।
2. जीवन के किसी मार्मिक पक्ष को लेकर भाव या मार्मिक अनुभूति में लीन करने का प्रयास छोड़ केवल उक्ति में वैलक्षण्य लाने का प्रयास ।
3. जीवन की विविध मार्मिक दशाओं को प्रत्यक्ष करने वाले प्रबंध काव्यों की ओर से उदासीनता और प्रेम, संबंधी मुक्तकों या प्रगीत मुक्तकों (लिरिक्स) की ओर अत्यन्त अधिक प्रवृत्ति।
4. 'अनंत' 'असीम' ऐसे कुछ शब्दों द्वारा उन पर आध्यात्मिक रंग बढ़ाने की प्रवृत्ति ।
5. काव्य के स्वरूप के संदर्भ में शिल्प अर्थात् बेलबूटे और नक्काशी वाली हल्की धारणा ।
6. समालोचना हवाई होना और विचारशीलता का ह्रास ।

शुक्ल जी ने उक्त सभी प्रवृत्तियों को हिन्दी साहित्य क्षेत्र के भीतर रेखांकित किया है और पूरे विश्वास के साथ घोषणा की है कि "कला, कला ही के लिए वाली बात को जीर्ण होकर मरे हुए बहुत दिन हुए । एक क्या कई क्रोचे उसे फिर जिला नहीं सकते।"

14.7 अभिव्यंजनावाद और काव्य-कला का सामाजिक परिप्रेक्ष्य

कला के सामाजिक परिप्रेक्ष्य को लेकर पूरी दुनिया में दो तरह की अवधारणाएँ रही हैं, एक, कला, कला के लिए और दूसरी, कला जीवन के लिए । जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है - क्रोचे का अभिव्यंजनावाद कला, कला के लिए की अवधारणा को पुष्ट और समृद्ध करता है । क्रोचे काव्य को भी चित्रकला, संगीत कला, स्थापत्य कला आदि अन्य कलाओं के साथ जोड़कर रखता है । उसकी कला रचना प्रक्रिया की दूसरी दशा आध्यात्मिक कलात्मक सामंजस्य (Spiritual Aesthetic synthesis.) वस्तुतः मानसिक दशा है, जिसे वह अभिव्यंजना कहता है । कला का जो रूप समाज के सामने आता है उसे यद्यपि वह निकृष्ट कोटि का मानता है, परन्तु यथार्थ यही है कि उसके इसी निकृष्ट कोटि और चौथे स्तर के काव्य रूप से ही समाज का संबंध होता है । कला चाहे जितनी भी उत्कृष्ट हो, यदि समाज का उससे संबंध न हों अथवा समाज को उससे लाभ या हानि होने की गुंजाइश न हों तो उस उत्कृष्ट रचना से हमें क्या लेना-देना? यह तो वैसे ही है जैसे कोई व्यक्ति अत्यंत सुस्वाद मिठाई अकेले ही खा जाए और दूसरों को सूखा बतासा देकर संतुष्ट हो ले । बतासे का स्वाद लेने वाले तो उसी की समीक्षा-परीक्षा करेंगे, कलाकार के मन में हुई अभिव्यंजना को वे क्या जानें? शब्दों में अभिव्यक्त हुई कृतियां ही हमारी विवेचना का आधार बनेगी ।

इस तरह हम देखते है कि क्रोचे का अभिव्यंजनावाद तार्किक दृष्टि से चाहे आशिक रूप से उपयोग हो किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से अनुपयोगी व भ्रामक है । किसी जाति अथवा समाज के सांस्कृतिक उत्थान में जिस कला की कोई भूमिका न हो उस कला को वह समाज क्यों ढोये?

हमारे यहाँ ही नहीं, यूरोप में भी 'कला जीवन के लिए' वाले सिद्धान्त में आस्था रखने वालों की संख्या काफी अधिक है। आई. ए. रिचर्ड्स ने कला के सामाजिक और नैतिक मूल्यों की रक्षा की वकालत की है और कलावादियों की जमकर आलोचना की है । आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपनी मान्यताओं की पुष्टि में जगह-जगह रिचर्ड्स को उद्धृत किया है । 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' शीर्षक अपने निबंध में वे कहते हैं "आजकल के प्रसिद्ध अंग्रेजी समालोचक रिचर्ड्स जो यूरोपीय साहित्य में समीक्षा के नाम पर फैलाए हुए बहुत से अर्थशून्य वाग्जाल को हटाकर शुद्ध विवेचनात्मक समीक्षा का रास्ता निकाल रहे हैं, हमारे यहाँ के शब्द शक्ति निरूपण के ढर्रे पर अर्थमीमांसा को लेकर चले हैं ।"

इस तरह क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में वह अपना उद्देश्य स्वयं है । उसने सहृदय के पक्ष को ध्यान में रखकर विचार ही नहीं किया है और सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि क्रोचे की अभिव्यंजना मानसिक अभिव्यक्ति है । वह मानता है कि बाह्य रूपाकार ग्रहण करने से कला, नैतिकता आदि से सम्बद्ध हो जाएगी, फलस्वरूप उसकी शुद्धता खंडित हो जाएगी। तो फिर ऐसी अभिव्यंजन) समाज के किस काम की?

इसीलिए शुक्ल जी ने साफ-साफ घोषित किया था कि, "यूरोप में आजकल क्रोचे के प्रभाव से एक प्रकार का व्यक्तिवाद जोर पर है । "और अन्यत्र लिखते है, "(अभिव्यंजनावाद) बेलबूटे

और नक्काशियों के संबंध में तो ठीक घटता है, पर काव्य की सच्ची मार्मिक भूमि से बहुत दूर रहता है । उसे दृष्टि में रखकर जो चलेगा उसके निकट काव्य का सहृदयता, भावुकता और मार्मिकता से कोई संबंध नहीं ।"

14.8 सारांश

- पाश्चात्य कलावादी सिद्धान्तों में इटली निवासी बेनेदेतो क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का विशेष महत्व है । इस सिद्धान्त को हिन्दी में चर्चा का विषय बनाने का श्रेय आचार्य रामचंद्र शुक्ल को है । क्रोचे की अवधारणाएँ उसकी महत्वपूर्ण पुस्तक एस्थेटिक (Asthetic) मे है जिसके दो भाग है । पहले भाग में सौन्दर्यशास्त्र का सैद्धान्तिक विवेचन है और दूसरे भाग में सौन्दर्यशास्त्र का इतिहास ।
- कोचे के अनुसार ज्ञान दो तरह का होता है - एक स्वयंप्रकाश या सहज ज्ञान (Intuitive Knowledge) और दूसरा तर्क जन्य ज्ञान (Logical Knowledge) । क्रोचे के अनुसार कला रचना सहज या स्वयंप्रकाश ज्ञान से ही संभव है ।
- क्रोचे कला रचना प्रक्रिया के चार चरण मानते हैं- (1) प्रभाव ग्रहण करने की दशा (Impression) (2) आत्मिक कलात्मक सामंजस्य (Spiritual Aesthetic synthesis) (3) कला जन्य आनंद (aesthetic Pleasure) और (4) भौतिक अभिव्यक्ति (Translation of the Aesthetic fact into physical phenomenon) इनमें से दूसरे चरण को ही क्रोचे ने अभिव्यंजना कहा है । इस रचना प्रक्रिया के तीन चरण कलाकार के अन्तःकरण में ही स्फूरित होते हैं और इनकी क्रिया इतनी त्वरित होती है कि इन्हें बांटना संभव नहीं होता । इसीलिए क्रोचे इसे अखण्ड मानता है ।
- क्रोचे के अनुसार कला की अन्तिम अवस्था जो सामाजिक तक पहुँचती है निकृष्ट कोटि की होती है ।
- क्रोचे मूलत: दार्शनिक और कला चिन्तक है । उसने काव्य-कला को भी अन्य कलाओं जैसे संगीत, चित्रा, स्थापत्य आदि के साथ ही रखा है । काव्य कला को अन्य कलाओं से विशिष्ट नहीं मानता । उसके अनुसार कला का नैतिकता आदि से भी कोई संबंध नहीं है । कला के अच्छे बुरे प्रभाव की चर्चा ही क्रोचे निरर्थक मानता है ।
- क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का बुरा प्रभाव हिन्दी साहित्य पर भी पड़ रहा था जिसे क्रोचे के समकालीन आलोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लक्ष्य किया था । शुक्ल जी के अनुसार साहित्य का उद्देश्य लोकरंजन के साथ ही लोकमंगल भी है । वे साहित्य के नैतिक मूल्यों की उपेक्षा के सख्त विरोधी थे । नैतिकता के उद्देश्य से विहीन काव्य को शुक्ल जी हीन मानते थे । वे कलावाद के विरोधी थे । इसीलिए आचार्य शुक्ल ने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का हिन्दी साहित्य पर पड़ रहे दुष्प्रभावों का विश्लेषण किया और अभिव्यंजनावाद का खण्डन किया ।
- आचार्य शुक्ल ने अभिव्यंजनावाद का विरोध करते हुए उसे अपने यहाँ के पुराने वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान कहा। शुक्ल जी का यह विरोध वस्तुत: तथ्यों पर आधारित कम है और प्रतिक्रियात्मक अधिक है, क्योंकि कुन्तक के वक्रोक्ति और क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में मौलिक अन्तर यह है कि क्रोचे की अभिव्यंजना जहाँ कलाकार के भीतर की प्रक्रिया है, भौतिक

अभिव्यक्ति को वह निकृष्ट मानता हैं वहाँ कुंतक रचे हुए का ही विश्लेषण करता है। शुक्ल जी के विरोध के मुख्य कारण हैं -

(क) क्रोचे काव्य कला को भी अन्य कलाओं के भीतर ही रखता है जिसे, शुक्लजी स्वीकार नहीं कर सकते थे । वे काव्य कला को अन्य कलाओं से उत्कृष्ट मानते हैं ।

(ख) क्रोचे का अभिव्यंजनावाद मूलत: कलावादी अवधारणा है । वह कला के नैतिक-अनैतिक प्रभावों को अस्वीकार करता है जबकि शुक्ल जी काव्य कला के नैतिक उद्देश्य की उपेक्षा नहीं कर सकते थे । उनके अनुसार काव्य का उद्देश्य लोकरंजन के साथ लोकमंगल भी है ।

(ग) अभिव्यंजनावाद का प्रतिकूल प्रभाव हिन्दी साहित्य पर पड़ रहा था जिससे रक्षा शुक्ल जी जरूरी समझते थे । इसलिए उन्होंने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का विरोध किया ।

14.9 अभ्यास के लिए प्रश्न

(1) अभिव्यंजनावाद से क्या तात्पर्य है? अभिव्यंजनावाद के स्वरूप का विश्लेषण कीजिए ।

(2) अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्ति सिद्धान्त के साम्य-वैषम्य पर प्रकाश डालिए ।

(3) क्रोचे द्वारा निरूपित कला रचना प्रक्रिया का विश्लेषण कीजिए ।

(4) आचार्य शुक्ल द्वारा अभिव्यंजनावाद के विरोध के प्रमुख कारणों पर प्रकाश डालिए?

14.10 सन्दर्भित ग्रन्थ

(1) Benedetto Croce, Aesthetic, Vision Press and Peter Owen, New Edition, London, 1967.

(2) H. Wildon Carr, The Philosophy of Benedetto Croce Macmillon & Co., 1917.

(3) देवेन्द्रनाथ शर्मा - पाश्चात्य काव्य शास्त्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1984 ई0

(4) सत्यदेव मिश्र - पाश्चात्य काव्य शास्त्र लोक भारती, इलाहबाद, वर्ष 2003

(5) डॉ0 नगेन्द्र - हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, आत्माराम एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली, संवत् 2012

इकाई -15 फ्रायड का मनोविश्लेषण (Psychoanalysis of Freud)

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 व्यक्तित्व और विचार : सामान्य परिचय

15.3 फ्रायड का मनोविश्लेषण: सिद्धान्त और व्यवहार

15.3.1 कामवृत्ति (Libido)

15.3.2 अचेतन मन (Unconscious Mind)

15.3.3 मनोग्रंथियां (Complexes)

15.4 फ्रायड का मनोविश्लेषण : साहित्य व आलोचना पर प्रभाव

15.4.1 साहित्य की रचना पर प्रभाव

15.4.2 साहित्य की समालोचना पर प्रभाव

15.5 फ्रायडीय मनोविश्लेषण के अन्य महत्वपूर्ण पक्ष

15.5.1 स्वप्न का सिद्धान्त और विश्लेषण

15.5.2 काम-विकृतियां

15.5.3 कामवृत्ति का उदात्तीकरण

15.5.4 दमन और कुंठाएं

15.5.5 मानव जीवन में कामेच्छा की सर्वग्रासी भूमिका

15.6 अन्य मनोवैज्ञानिक व उनके सिद्धान्त : संक्षिप्त परिचय

15.6.1 एल्फ़्रेड एडलर व उनका सिद्धान्त

15.6.2 कार्ल गास्तोव जुंग व उनका सिद्धान्त

15.6.3 कतिपय अन्य मनोवैज्ञानिक

15.7 आधुनिक साहित्य और कला पर फ्रायड का क्रांतिकारी प्रभाव

15.8 सारांश

15.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

15.10 सन्दर्भ-ग्रंथ

15.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको यह बताना है कि :

- फ्रायड के मनोविश्लेषण-सिद्धान्तों में क्या नए तथ्य सामने आए
- कला, साहित्य और आलोचना पर उनका क्या प्रभाव पड़ा
- मनोविश्लेषण में स्वप्न, कामविकृतियों दमन, कुंठाओं की क्या भूमिका है; और

- अन्य मनोवैज्ञानिकों का क्या योगदान रहा व इन सबका क्या समेकित प्रभाव साहित्य और आलोचना पर पड़ा?

15.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई बीसवीं शताब्दी के एक असाधारण युगांतरकारी विचारक और मनोवैज्ञानिक सिगमण्ड फ्रायड से संबंधित है । उनका मनोविश्लेषण का सिद्धान्त विश्व की कला, साहित्य, समाज व जीवन को नए सिरे से समझने में आमूलचूल परिवर्तनकारी सिद्ध हुआ है । जीवन की समस्त क्रियाओं का मूल आधार मनुष्य का मन है । उस मन की अज्ञात वृत्तियाँ, उनका दमन व उन्नयन और उनसे उपजे परिणाम साहित्य व आलोचना में क्रांतिकारी बदलाव उत्पन्न करने में सक्षम हुए हैं ।

15.2 व्यक्तित्व और विचार : सामान्य परिचय

बीसवीं शताब्दी में विश्व के बौद्धिक चिंतन को अभूतपूर्व योगदान देने वाले चार महान् विचारकों में सिग्मण्ड फ्रायड का स्थान अविस्मरणीय है । ये चारों विचारक हैं - आईन्स्टाइन, डार्विन, फ्रायड और कार्ल मार्क्स । सिग्मण्ड फ्रायड का जन्म 6 मई. 1856 को चेकोस्लोवाकिया के छोटे-से कस्बे फ्रीडबर्ग में हुआ । ये यहूदी परिवार में जन्मे । चार वर्ष की आयु से ही इनका पालन-पोषण वियना में हुआ और इनकी प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा यहीं हुई । आगे चलकर ये चिकित्सा विज्ञान के छात्र बने और एम.डी. की उपाधि प्राप्त की । जीवन भर वे एक अच्छे मनोचिकित्सक और चिकित्सा विज्ञान के व्याख्याता रहे और अपने क्रांतिकारी व्याख्यानों व अनुसंधानों से बहुत ख्याति प्राप्त की । इनके विचार चिकित्सा विज्ञान और मनोविज्ञान में बड़ा तहलका मचाने वाले सिद्ध हुए । दूरदर्शी लोगों का जहां इन्हें समर्थन मिला, वहीं रूढ़िवादी व कट्टर लोगों ने इनका जमकर विरोध भी किया । प्रशंसा और विरोध की परवाह न करते हुए ये अपने वैज्ञानिक शोध और अनुसंधान में लगे रहे और सफलता व प्रसिद्धि के शिखर पर पहुंचे । इनके द्वारा आविष्कृत मनोविश्लेषण-सिद्धान्तों का लोहा मानकर सन् 1920 में इन्हें 'न्यूरोलॉजी का असाधारण प्रोफेसर' नियुक्त किया गया । इन्हें नाजियों के अनेक अत्याचारों का सामना करना पड़ा । 82 वर्ष की परिपक्व आयु में इन्हें लंदन ले जाया गया, जहां इन्हें रॉयल सोसायटी का फेलो बनाकर सम्मानित किया गया । एक साल बाद सन् 1939 में दूसरा विश्वयुद्ध छिड़ जाने के 3 माह बाद इनका निधन हो गया ।

फ्रायड के मनोविश्लेषण संबंधी सिद्धान्तों के आविष्कार के पीछे उन की आजीवन साधना और अनुसंधान रहे हैं । उनके सिद्धान्तों को जानने के लिए उनकी विश्व-प्रसिद्ध पुस्तक का नाम है "ए जनरल इंट्रोडक्शन टु साइको एनेलेसिस" जिसका हिन्दी अनुवाद भी आसानी से उपलब्ध है । उनकी इस पुस्तक में कुल 28 व्याख्यान हैं, जो उन्होंने विश्व के प्रमुख मनोवैज्ञानिकों और चिकित्साशास्त्रियों की सभा में दिए थे । फ्रायड ने मनोविश्लेषण की प्रविधियों; परिणामों, कठिनाइयों और अपनी सीमाओं का जिस स्पष्टता, निडरता और बातचीत की आम शैली में विवेचन किया है, वह उन जैसा साहसी, अपने विषय का अधिकारी विद्वान और मौलिक विचार-क्षेत्र का क्रान्त-दृष्टा और सृष्टा ही कर सकता था ।

फ्रायड ने अपने उक्त ग्रंथ को मोटे तौर पर 3 खंडों में विभाजित कर के छपवाया । पहला खंड है "गलतियों का मनोविज्ञान", जिसमें आम तौर पर हमारे दैनिक जीवन में होने वाली छोटी-बड़ी भूलों की बड़ी गहरी, वैज्ञानिक और विश्वसनीय व्याख्या है । दूसरा खंड है - स्वप्न संबंधी सिद्धान्तों का, जिसमें अनुभवों और रोगियों के परीक्षणों के आधार पर स्वप्नों की उनकी अपनी व्याख्या है, जो आगे चल कर निर्विवाद सिद्ध नहीं हो सकी । इस खंड में स्वप्न के पीछे कारक तत्व के रूप में अचेतन मन में चलने वाले रहस्यमय व्यापारों का वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है । फ्रायड के स्वप्न-विषयक परिणाम भले ही उतने प्रामाणिक सिद्ध न हो पाए हों, पर उनकी शोध विषयक सादृश्यता पर संदेह नहीं किया जा सकता । इस दूसरे खंड में स्वप्न से संबंधित व्यक्त वस्तु और गुप्त विचार, बच्चों के स्वन, स्वप्न-सेन्सर, स्वप्नों में प्रतीकात्मकता, स्वप्न-तंत्र, स्वप्नों के उदाहरण और उनके विश्लेषण, स्वप्नों में । इच्छापूर्ति आदि अनेक बिन्दुओं पर चिकित्सकीय प्रविधि से विचार और विश्लेषण किया गया है । इस महान ग्रंथ का तीसरा व अंतिम खंड स्नायु रोगों से संबंधित है । इसमें मनोविश्लेषण और मनोचिकित्सा, मनोरोग के लक्षणों के गूढ़ अर्थ, अचेतन, प्रतिरोध और दमन, मनुष्य का यौन जीवन, लिबिडो या राग का परिवर्धन और यौन-संगठन, स्नायविकता, चिंता, स्वरति एवं विश्लेषण चिकित्सा जैसे गंभीर पक्षों का पूर्ण वैज्ञानिक किन्तु सामान्य बातचीत की शैली में विवेचन किया गया है । फ्रायड के प्रतिपादन की सरलता और स्पष्टता निश्चय ही सराहनीय है ।

15.3 फ्रायड के मनोविश्लेषण : सिद्धान्त और व्यवहार

फ्रायड के मनोविश्लेषण - सिद्धान्त को समझने के चार मुख्य सूत्र हैं - कार्य-कारण का नियत संबंध, अचेतन मन, स्वप्न, और मनोग्रंथियां । 'नियत संबंध' से तात्पर्य यह कि मनुष्य के प्रत्येक मानसिक व्यापार के मूल में कोई-न-कोई कारण अवश्य होता है और उसे खोजा जा सकता है । मनुष्य-जीवन का एक भी क्रिया-कलाप निष्प्रयोजन नहीं है, हरेक के पीछे कोई न कोई मानसिक इच्छा या प्रेरणा है, जो उसे वह कार्य करने को प्रेरित या बाध्य करती है। यह जाने अनजाने स्वत: होता रहता है ।

फ्रायड ने मानसिक चेतना के तीन प्रमुख स्तर माने हैं - चेतन मन (Conscious State), अवचेतन या अर्द्धचेतन मन (Sub-Conscious) तथा तीसरा और सबसे महत्वपूर्ण मन का स्तर है अचेतन मन (Un-Conscious Mind), जो उनकी अधिकांश शोधों का मूल आधार है । चेतनमन सामाजिक वर्जनाओं, नियमों, प्रतिबन्धों और निषेधों के क्षेत्र में रहने वाला मन है, जिसे सभ्यता, संस्कृति और आचार-विचार वाला नैतिकता के प्रति सजग मन कहा जा सकता है । अचेतन मन उन अज्ञात आकांक्षाओं का भंडार है, जो अपनी संपूर्ण व्याकुलता में दबी हुई रहती हैं और फ्रायड की भाषा में "दमित इच्छाएं या वासनाएं" कहलाती हैं । इस अचेतन मन की सर्वप्रमुख विशेषता है यौन-भावना या कामवृत्ति (Libido) । दमित कामेच्छाएं अपने लक्ष्य में विफल रहने पर मनोग्रंथियों का रूप धारण कर लेती हैं, जिनको सही और कोई रचनात्मक मार्ग न मिले तो वे स्नायविक रोगों और मनोरोगों में परिणत हो जाती हैं । अत:

फ्रायड के विचार से, कला और साहित्य ही नहीं, धर्म, संस्कृति और समाज-सेवा का मार्ग, इन मनोग्रंथियों से मुक्त होकर व्यक्तित्व के उन्नयन का मार्ग है । जबकि अवचेतन मन दोनों मानसिक स्तरों के बीच की अवस्थिति है ।

फ्रायड ने मन का विभाजन एक दूसरे ढंग से भी किया है - इदम् (Id), अहम् (Ego) और आदर्श अहम् (Super ego) । यह इदम् एक तरह से अचेतन मन ही है । जैविक संरचना में जो कुछ है, वह इदम् में शामिल है, जबकि अहम् मूल प्रवृत्तियों को नियंत्रित करता है। जो प्रवृत्तियां परिस्थिति के मेल में होने से संतुष्ट हो सकती हों, वह उनका समर्थन करता है और जो संतुष्टि के योग्य नहीं होतीं, उनको दबा देता है । यह सचेत रूप में क्रियाशील रहता है । आदर्श अहम् मूलत: चेतन मन ही है जो सामाजिक व नैतिक आचार-विचार से परिचालित होता है ।

फ्रायड द्वारा विवेचित कामेच्छाओं के दमन का सिद्धान्त दो विचारों पर आश्रित है - जो निषिद्ध है, वह इच्छा का विषय होता है और दूसरे, जिससे भय लगता है, वह भी इच्छा का विषय होता है । प्रबल इच्छा का दमन ही चेतन मन में भय का रूप ले लेता है । अपने शोध-क्रम में उन्होंने यह पाया कि धुर बचपन से शिशु की कामवृत्ति माता-पिता, भाई-बहनों की ओर प्रेरित होती है, जिनका नैतिक व सामाजिक निषेधों से दमन हो जाता है और कुंठाएं या मन की ग्रंथियां (Complexes) उत्पन्न होती हैं ।

15.3.1 कामवृत्ति (Libido)

फ्रायड मनुष्य मात्र के समस्त क्रिया-कलापों का मूल आधार इस कामवृत्ति को ही मानते हैं। धर्म, अर्थ, कला, साहित्य और संस्कृति की मूल प्रेरणा भी यही कामवृत्ति है । मनुष्य की कुंठित और दमित असामाजिक कामेच्छाएं और प्रवृत्तियां जब उदात्त और परिष्कृत होकर अभिव्यक्त होती हैं, तो सुंदर और मंगलकारी कला, साहित्य व संस्कृति का निर्माण होता है । इसी कामवृत्ति को जब ऐसा अच्छा रचनात्मक मार्ग या मोड़ नहीं मिल पाता तो यह बहुत भयंकर परिणाम वाली होती है । या तो वह मनुष्य गंभीर मनोरोग व स्नायविक रोगों का शिकार हो जाता है अथवा आपराधिक व समाज-विरोधी गतिविधियों में लिप्त हो जाता है ।

इस तरह, फ्रायड के मत से कामवृत्ति साहित्य-सृजन की मूल प्रेरणा है । उनका विचार है कि कलाकार व साहित्यकार कल्पनाशील होता है, अत: वह अपनी वर्जनाओं को काम-प्रतीकों के रूप में प्रकट करता है । कला और साहित्य-सरंचना काम-प्रतीकों का पुनर्निर्माण है । कला के रहस्य को तभी समझा जा सकता है, जब हम कलाकार की सृजन-प्रक्रिया का पूरा मनोविश्लेषण करें । उनका यह मत है कि केवल कला ही नहीं, वरन प्रत्येक सर्जनात्मक क्रिया में अचेतन मन की वासनाएं विद्यमान रहती हैं । इस प्रकार, स्वप्न, कल्पनाएं, योजनाएं आदि मानसिक व्यापार भी कविता या कला के समान ही हैं । ये भी कामवृत्ति के ही रूप हैं ।

अगर, हम फ्रायड के मूल-अनुसंधान वाले दस्तावेजों से शब्द लें तो स्वयं उनका यह कहना है कि "मनोविश्लेषण के एक आविष्कार के रूप में प्रस्तुत सिद्धान्त यह है कि स्नायु संबंधी

और मानसिक गड़बड़ियां पैदा करने में उन आवेगों (Impulses) का खास तौर से बहुत बड़ा हिस्सा होता है, जिन्हें काम-संबंधी (Sexual) ही कहा जा सकता है - यहां "काम" शब्द का प्रयोग मैं इसके संकुचित और विस्तृत दोनों अर्थों में कर रहा हूं । इतना ही नहीं, मुझे यह भी कहना है कि इन काम-आवेगों ने मनुष्य के मन को, संस्कृति, कला और समाज के क्षेत्रों में, ऊंची से ऊंची उन्नति करने में कीमती मदद की है ।"

सभ्यता का निर्माण, जिंदा रहने का संघर्ष करते हुए आदिम आवेगों की तृप्ति का त्याग करके ही हुआ है और प्रत्येक व्यक्ति मानव समुदाय में जन्म लेकर आम जनता की भलाई के लिए अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के सुखों का त्याग करता है । इस काम में आने वाली सबसे महत्व की वस्तु मनुष्य-स्वभाव की वे शक्तियां हैं, जिन्हें हम यौन-शक्तियां या काम-आवेग कहते हैं । वे शक्तियां इस तरह ऊंचाई की ओर उठ जाती हैं, अर्थात् उनकी कार्य शक्ति या ऊर्जा अपने यौन उद्देश्य से हटकर दूसरे उद्देश्यों की ओर मुड़ जाती हैं - ये उद्देश्य प्राय: काम संबधी नहीं होते और समाज की दृष्टि से बहुत कीमती होते हैं, और इस तरह बनने वाला ढांचा कच्चा होता है, क्योंकि काम-आवेगों या यौन-प्रवृत्तियों को वश में करना बड़ा कठिन काम है और वे कभी-भी अचानक किसी मोड़ पर विस्फोटक और अनैतिक रूप ले सकती हैं ।

साहित्य में "भाव" को मनोविकार या मनोवेग भी कहा गया है । इस तर्क से भावों का विवेचन प्रकारांतर से मनोविश्लेषणात्मक विवेचन कहा जा सकता है । भारतीय और पाश्चात्य - दोनों ही काव्यशास्त्रों में कामवृत्ति के परिष्कार का परिणाम मनोभावों को माना गया है । पश्चिम में यूनान के अरस्तु ने अपने ग्रंथ "काव्यशास्त्र" की रचना करते समय भाषण-कला के दौरान मनोवेगों का सूक्ष्मता से वर्णन किया है । वे अपने एक अन्य ग्रंथ "रहैटरिक" (भाषण-शास्त्र) के भाग-2, परिच्छेद 2 से 11 तक इन मनोवेगों का जिक्र करते हैं ।

15.3.2 अचेतन मन (Unconscious Mind)

फ्रायड के अनुसार मानव-मन समुद्र में तैरता हुआ हिमखंड(आइसबर्ग) है । दिखने वाला अंश, पूरे विशाल हिमखंड का एक छोटा-सा हिस्सा होता है, जो पानी से ऊपर नजर आता है । उसका बड़ा भाग तो जल में अदृश्य रहता है । परंतु कुछ भाग समुद्र के भीतर पानी में भी दिखाई देता है । मानव-मन ऐसा ही है - चेतन, अवचेतन और अचेतन मन ।

चेतन मन सामाजिक स्तर पर सब देखता और अनुभव करता है, पर अचेतन मन दमित इच्छाओं व सुप्त वासनाओं का एक शक्तिशाली पुंज होता है । मन का यह भाग हमारे लिए अज्ञात, अभेद्य एवं रहस्यमय होता है । इन दोनों के बीच अवचेतन वह खंड है, जिस पर अचेतन की परछाई पड़ती रहती है । निद्रा-काल में जब चेतन मन सो जाता है, तब अचेतन मन की इच्छाएं और वासनाएं अवचेतन मन पर स्वप्न बनकर प्रतिबिंबित होती हैं । फ्रायड ने अनुसंधान से यह सिद्ध किया कि चेतन व अचेतन मन में सतत द्वन्द्व चलता रहता है । चेतन मन, व्यक्ति, परिवार और समाज की नैतिकता और मर्यादा के संस्कारों से ओतप्रोत होता है । अत: जब अचेतन की इच्छाएं व वासनाएं चेतन के धरातल पर आने लगती हैं, तब चेतन के संस्कार उसका प्रतिरोध और निषेध करते हैं । वे असामाजिक एवं अनैतिक वासनाओं

और इच्छाओं का दमन करते हैं । इस दमन से मानसिक वर्जनाएं और ग्रंथियां निर्मित हो जाती हैं । इन ग्रंथियों के कारण -मानसिक विकृतियां उत्पन्न होती हैं । लेकिन, कभी-कभी अचेतन मन की दमित इच्छाएं और वासनाएं चेतन मन के द्वारा परिष्कृत और उदात्त रूप में भी अभिव्यक्त की जाती हैं - यही अभिव्यक्ति कला और साहित्य का सृजनात्मक रूप धारण करती है।

स्वयं फ्रायड अपने पूर्वोक्त ग्रंथ के "विषय-प्रवेश" नामक भूमिका में अचेतन मन के बारे में यह लिखते हैं कि मनोविश्लेषण के दो सिद्धान्त ऐसे हैं, जो सारी दुनिया को नाराज करते हैं। एक तो बौद्धिक पूर्वाग्रहों अर्थात बने हुए संस्कारों को चोट पहुंचाता है और दूसरा नैतिक तथा सौन्दर्य संबंधी संस्कारों के पूर्वाग्रहों को । इन पूर्वाग्रहों को मामूली चीज नहीं समझना चाहिए। ये बड़ी जबर्दस्त चीज हैं और मनुष्य के विकास की मंजिलों के बल से कायम रखा जाता है और उनसे बड़ा कड़ा मुकाबला है । उनका यह भी कहना है कि मनोविश्लेषण के अनुसार मन की परिभाषा यह है कि इसमें अनुभूति, विचार और इच्छा के प्रक्रम होते हैं और मनोविश्लेषण यह कहता है कि अचेतन विचार और अचेतन इच्छाएं भी होती हैं । अचेतन मानसिक प्रक्रमों को स्वीकार करना दुनिया में और विज्ञान में एक नई दिशा की ओर निश्चित कदम बढ़ाना है ।

15.3.3 मनोग्रन्थियां (Complexes)

फ्रायड का मत है कि इच्छाओं और वासनाओं के दमन से ग्रंथियां या कुंठाएं निर्मित होती हैं । वासनाओं के उदात्तीकरण से ग्रंथियां खुलती और कुंठाएं दूर हो जाती हैं और इस उदात्तीकृत परिष्कृत क्रियाकलाप से सभ्यता का विकास एवं सांस्कृतिक मूल्यों का निर्माण होता है । फ्रायड का यह भी विचार है कि वासनाओं की तृप्ति का सुख तीव्र होता है, जबकि कला और साहित्य का आनंद मंद और आह्लादमय होता है पर वह सामूहिक होता है और अधिक स्थायी भी । वासनाओं की तृप्ति शारीरिक अधिक होती है, कला का आनंद मानसिक होता है । इसके अलावा कला संप्रेषणीय है, अत: उसका सामाजिक महत्व है तथा उसका साधारणीकरण भी होता है। उसी के द्वारा समाज के चेतन संस्कार बनते हैं । कलात्मक अभिव्यक्ति कुंठाओं और ग्रंथियों से मुक्ति प्रदान करती है । इसीलिए वह कलाकार और कला के आस्वादकों के लिए आनंद का स्रोत है ।

अचेतन मन में संचित इच्छाओं और वासनाओं के चेतन मन द्वारा दमन से जो मनोग्रंथियां जन्म लेती हैं - उनमें सबसे प्रमुख है ईडिपस ग्रंथि (Oedipus Complex) या मातृ-प्रणय-ग्रंथि । फ्रायड ने अपनी इस खोज में यूनान के पुराणों के एक नायक ईडिपस का हवाला दिया है, जिसने अनजाने में अपने पिता राजा लाइअस की हत्या करने के बाद अनजाने में ही अपनी जन्मदात्री मां जेकास्टा से विवाह कर लिया था । इस आधार पर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि शिशु के मन में विषमलिंगी जननी के प्रति जन्म से ही कामेच्छा तथा समलिंगी जनक के प्रति ईर्ष्या होती है । इसमें सामाजिक व नैतिक निषेध रुकावट डालते हैं और व्यक्ति का मन यदि दुर्बल हो, और यदि उसे संवेगात्मक आघात लगे तो ईडिपस मनोग्रंथि से अनेक गंभीर मनोरोगों या कामविकृतियों का जन्म होता है । साधारण स्वस्थ जीवन में

भी ये दमित वासनाएं व कुंठाएं व्यक्त होना चाहती हैं, पर आदर्श अहम् (Super ego) ऐसा नहीं होने देता, फिर भी कपट-वेष में रूप बदलकर ये प्रकट हो ही जाती हैं । ये कपट-वेश स्वप्न व जाग्रत जीवन की भूलें हैं । कुंठाएं अनियंत्रित होने पर हिस्टीरिया, खंडित व्यक्तित्व, अपराधी-वृत्ति आदि गंभीर मानसिक व स्नायविक रोगों में बदल जाती हैं ।

ईडिपस ग्रंथि के बारे में खुद फ्रायड लिखते हैं कि माता बालक की पहली प्रेम-आलंबन है । 'प्रेम' हम तब कहते हैं जब यौन आवेगों के मानसिक पहलू की आवश्यकताओं को छोड़ देते हैं या जरा देर के लिए भूल जाना चाहते हैं । जिस समय माता प्रेम-आलंबन बन जाती है, लगभग उसी समय बालक में "दमन" की मानसिक प्रक्रिया भी शुरू हो चुकी होती है और उसके यौन उद्देश्यों से कुछ हिस्से का ज्ञान उससे छीन लिया जाता है। प्रेम-आलंबन के लिए इस प्रकार माता को चुनने के साथ वे सब बातें जुड़ी हुई हैं जो ईडिपस ग्रंथि या मातृप्रणय-ग्रंथि के नाम से पुकारी जाती हैं । ठीक, इससे उलट यदि शिशु पुत्री है, तो उसका जन्म से सीधा लगाव अपने पिता से होता है और वह अपनी माता से ईर्ष्या अनुभव करती है।

आगे चलकर एडलर और जुंग जैसे मनोवैज्ञानिकों ने कई नई ग्रंथियों का आविष्कार किया जिनमें से प्रमुख हैं - हीनता ग्रंथि और श्रेष्ठता-ग्रंथि आदि ।

15.4 फ्रायड का मनोविश्लेषण : साहित्य व आलोचना पर प्रभाव

जैसा कि आपको पहले बताया था, साहित्य में आने वाले भावों को मनोविकार या मनोवेग भी कहते हैं, जिसका सीधा संबंध इस मनोविज्ञान से भी है । और इन मनोभावों के विश्लेषण से हम साहित्यकार के व्यक्तित्व और उसके कृतित्व का सम्यक् और विश्वसनीय मूल्यांकन कर सकते हैं । अत: यह मनोविश्लेषण प्रासंगिक है ।

इस इक्कीसवीं शताब्दी में, फ्रायड के जन्म के डेढ़ सौ वर्ष बाद, इस बात में अब कोई संदेह नहीं रह गया है कि काव्य यानी साहित्य का सृजन हमारी मनोवृत्तियों का परिणाम है और यह भी कि दमित इच्छाएं, प्रभुत्व की कामना और जिजीविषा की अभिव्यक्ति ही कलाकृति में निरूपित होती है । इसमें कलाकार के निजी व्यक्तित्व (मनस्तत्व) की अभिव्यक्ति प्रमुख है । रचना के समीक्षार्थ रचनाकार के व्यक्तित्व और उसकी परिस्थितियों को समझना आवश्यक है। हालांकि आगे चलकर कार्ल मार्क्स के प्रभाव से इस सिद्धान्त को भी नकार दिया गया और यह माना गया कि साहित्य का सृजन साहित्यकार के सामाजिक दायित्वों का परिणाम है । तथापि, इससे फ्रायड के मनोविश्लेषण-सिद्धान्तों का महत्व कहीं कम नहीं हो जाता । वह अपनी जगह दृढ़ता से कायम है और साहित्य-चिंतन में आज भी उसका महत्व है ।

साहित्य पर फ्रायडीय मनोविश्लेषण का प्रभाव दो तरह का है - सृजनपरक और आलोचना परक। हिन्दी साहित्य में आधुनिक लेखकों में अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी और जैनेन्द्र जैसे रचनाकारों के कथा-साहित्य पर फ्रायड का प्रभाव भरपूर रहा है । अज्ञेय के "शेखर. एक जीवनी", नदी के द्वीप, तथा इलाचंद्र जोशी के उपन्यास - संन्यासी, प्रेत और छाया, पर्दे की रानी तथा जैनेन्द्र के उपन्यास - 'सुनीता' व 'त्यागपत्र' आदि पर फ्रायड के मनोविज्ञान का गहरा असर है, जो पहचाना जा सकता है । अंग्रेजी साहित्य में डी.एच. लारेन्स और जेम्स जायस सरीखे रचनाकार इसी प्रवृत्ति के प्रतिनिधि लेखक माने जाते हैं ।

15.4.1 साहित्य की रचना पर प्रभाव

जैसा कि अभी अज्ञेय के उपन्यास - "शेखर : एक जीवनी" का उल्लेख किया गया कि उस पर फ्रायड के मनोविश्लेषण-सिद्धान्तों का पहचाना जा सकने वाला प्रभाव है । इस उपन्यास के भाग- 1 के प्रारंभिक अंश में अपनी ही बहन के प्रति शिशु-नायक "शेखर" की यह शैशवीय कामवृत्ति इस बात का सटीक उदाहरण हो सकती है, जो सामाजिक व नैतिक निषेधों से पूर्व की अवस्था है - "बालक की आयु है कोई आठ-एक वर्ष, बालिका की कोई तेरह वर्ष । बालक स्वयं मैं हूं और वह बालिका मेरी बहन । ... बहिन को गाते सुनते-सुनते एकाएक कोई अज्ञात भाव बालक के मन में जागता है । वह एकाएक उत्पन्न नहीं हुआ, कई दिनों से धीरे- धीरे उसके हृदय में अंकुरित हो रहा है, किंतु इसकी यह व्यंजनीय संपूर्णता नयी है, आज ही मालाएं पहनाते समय और गायन सुनते समय उसके मानसिक क्षितिज के ऊपर आई हैं । एक अत्यंत कोमल स्पर्श से बहिन के कपोल को छूकर बालक कहता है, "कितनी अच्छी लगती हो तुम ।".. और बहिन भी उसे समझती है । वह फिर हंसती है, और एक बहुत क्षीण-सी लज्जा से अधिक सुंदर हो उठती है और मुंह फेरकर पानी में देखने लगती है ।" (शेखर : एक जीवनी, भाग- 1 पृ 2.8 से 10)

हिन्दी साहित्य के प्रखर और शिखर आलोचना-पुरुष रामचंद्र शुक्ल भी अपने "हिन्दी साहित्य का इतिहास" में इस तथ्य को रेखांकित करते हैं और लिखते हैं - सौन्दर्य की भावना को रूप देने से मनोविज्ञान के क्षेत्र से आए हुए उस सिद्धान्त का भी असर पड़ा है, जिसके अनुसार अंतस्संज्ञा में निहित अतृप्त कामवासना ही कला-निर्माण की प्रेरणा करने वाली अंतर्वृत्ति है । कवियों को अपने भाव में मग्न होते देख लोग उन्हें भी इस प्रत्यक्ष जगत और जीवन से अलग. कल्पना के स्वप्नलोक में विचरने वाले जीव प्यार और श्रद्धा से कहने लगे । यह बात बराबर कवियों की प्रशंसा में अर्थवाद रूप में चलती रही । पर ईसा की बीसवीं सदी में आकर वह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य के रूप में फ्रायड द्वारा प्रदर्शित की गई। उसने कहा कि जिस प्रकार स्वप्न अंतस्संज्ञा में निहित अतृप्त वासनाओं की तृप्ति का एक अंतर्विधान है, उसी प्रकार कलाओं का निर्माण करने वाली कल्पना भी । इससे कवि-कल्पना और स्वप्न का अभेद भाव और भी पक्का हो गया। " (पृ 2.311)

15.4.2 साहित्य की समालोचना पर प्रभाव

हिन्दी साहित्य के कई ख्यातनामा आलोचकों ने फ्रायडीय मनोविश्लेषण को कसौटी बनाकर साहित्यकारों की कृतियों, विशेषकर उपन्यास-कहानियों की रोचक और विश्वसनीय समालोचना की है । इस कार्य में खुद फ्रायड को आधार बनाकर उपन्यास लिखने वाले लेखक अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी व जैनेन्द्र आदि भी उल्लेखनीय हैं । इनके अलावा डॉ. देवराज उपाध्याय, डॉ. नगेन्द्र जैसे मनीशी आलोचकों ने भी इस ओर समालोचनाएं लिखी हैं । डॉ. उपाध्याय का तो शोध-प्रबन्ध ही इसी' आशय का प्रकाशित हुआ - "आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान" जबकि इलाचंद्र जोशी के आलोचनात्मक निबन्धों के एकाधिक संग्रहों में ऐसी समालोचना पायी जाती है, जिनमें से प्रमुख हैं - साहित्य-सर्जना (1940) विवेचना (1948), साहित्य-संस्करण (1953)

विश्लेषण (1954) तथा साहित्य-चिंतन (1955) मनोविश्लेषणात्मक समालोचना के प्राथमिक व प्रौढ़ उदाहरण हैं ।

यह सिद्धान्त बीसवीं शताब्दी के साहित्यिक नवीन यथार्थवाद का अविभाज्य अंग बन गया और यह अपनी प्रासंगिकता में मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी सामाजिक यथार्थवाद से किसी भी तरह कम करके नहीं आंका जा सकता । जहां कला के क्षेत्र में इसने दादावाद को जन्म दिया, उसी तरह साहित्य के क्षेत्र में अतियथार्थवाद (Surrealism) और जादुई यथार्थवाद जैसे नए आंदोलनों का सूत्रपात भी किया है ।

यदि हम भारतीय काव्य-शास्त्र के उद्भव पर नजर डालें, तो भरत मुनि के ग्रंथ "नाट्यशास्त्र" में जिन स्थायी भावों, संचारी भावों व अनुभावों का जो विवेचन है, उसका सीधा संबंध मनोविज्ञान से भी है । ये सभी मनोविश्लेषण के दायरे में आते हैं । आधुनिक युग में जिस प्रकार राजनीति और आर्थिक व्यवस्था पर मार्क्सवाद का प्रभाव पड़ा है, उसी प्रकार कला, साहित्य और समाज पर मनोवैज्ञानिक खोजों व नवीन मनोविश्लेषण सिद्धान्तों का बड़ा गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा है । साहित्य का संबंध मानव-मन और उसकी वृत्तियों से है । साहित्य, जो विभिन्न चरित्रों का चित्रण करता है, वह किसी न किसी मनोवैज्ञानिक आधार पर होता है । बल्कि प्राय: कोई भी सफल नाटक, कहानी या उपन्यास तो वह माना जाता है, जिसमें पात्रों का मानसिक अंतर्द्वन्द्व और भावात्मक संघर्ष अपनी चरम सीमा पर हो । जयशंकर प्रसाद के नाटक और अंग्रेजी के विख्यात नाटक-पितामह शेक्सपीयर की रचनाओं की प्रसिद्धि का यही रहस्य है । उनकी समालोचना इस मनोविश्लेषण के धरातल पर ही की जा सकती है ।

15.5 फ्रायडीय मनोविश्लेषण के अन्य महत्वपूर्ण पक्ष

कामवृत्ति, अचेतन मन और मनोग्रंथियों के पश्चात् फ्रायड ने सबसे अधिक विवेचन स्वप्न-मनोविज्ञान और उसकी खोजों का किया है । स्वप्न अनादिकाल से मनुष्य की जिज्ञासाओं और उत्कंठाओं के लिए रहस्य का विषय रहा है, जिसे फ्रायड ने वैज्ञानिक ढंग से समझने का प्रयास किया है । हालांकि उनकी स्वप्न संबंधी अवधारणाएं वैज्ञानिक प्रामाणिकता की कसौटी पर खरी नहीं उतर पायी हैं और वे विश्वास के स्तर पर असंदिग्ध नहीं हैं । तथापि स्वप्न के निर्वचन में उनका योगदान याद किए जाने लायक है ।

स्वप्न-मनोविज्ञान के अतिरिक्त फ्रायड ने काम-विकृतियों, उनकी आपराधिक परिणति अथवा परिष्कारात्मक उन्नयन, दमन और कुंठाओं का भी विशद विवेचन किया है । इन सब चीजों का साहित्य व कला पर परोक्ष प्रभाव आका जा सकता है ।

15.5.1 स्वप्न का सिद्धान्त और विश्लेषण

स्वप्न-मनोविज्ञान पर अपने अनुसंधान का सार प्रस्तुत करते हुए फ्रायड ने यह पाया कि "स्वप्न एक मानसिक घटना है । स्वप्न देखने वाला सदा यह कहता है कि मैं उसके बारे में (स्वप्न का अर्थ या कारण) कुछ नहीं जानता । ..... परन्तु मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि न केवल यह बिल्कुल संभव है, बल्कि बहुत अधिक संभाव्य भी है कि स्वप्न देखने वाला वास्तव में

अपने स्वप्न का अर्थ जरूर जानता है । हां, वह यह नहीं जानता कि वह जानता है, और इसलिए सोचता है कि वह नहीं जानता । स्वप्न किसी इच्छा के कारण पैदा होते हैं और स्वप्न की वस्तु उस इच्छा को प्रकट करती है - यह स्वप्नों की एक मुख्य विशेषता है ।... .... स्वप्नों की वस्तु किसी अभाव की पूर्ति है ।" (एन इंट्रोडक्शन टु साइको-एनालिसिस फ्रायड, पृ. 2,90,91,118)

यहां यह प्रश्न उठता है कि अचेतन में स्थित स्वप्नद्रष्टा के गुप्त व अज्ञात विचार स्वप्न-रचना का ऐसा वक्र और बेतुके प्रतीक चुनने का ऊलजलूल और दुरूह जाल क्यों बुनते हैं? स्वप्न अपने लिए ऐसे अबूझ प्रतीक ही क्यों चुनता है? तो फिर क्या स्वप्न में भी चेतन मन की सामाजिक वर्जनाएं और नैतिक चेतना सेन्सरशिप की तरह नींद में क्रियाशील रहती है? अपने अनुभव से हम यह जानते हैं कि स्वप्न में समाज-मर्यादा व नैतिकता-विरोधी दृश्यों को देखते हुए या भोगते हुए अचेतनकी इस स्वप्न-सृष्टि का प्रतिरोध स्वप्न-दर्शन-काल में भी अंतःकरण का विवेक निरंतर करता रहता है । इस तथ्य का उल्लेख फ्रायड नहीं करते ।

15.5.2 काम-विकृतियां

जन्मजात कामेच्छाओं को चेतन मन द्वारा सामाजिक नैतिक वर्जनाओं के चलते दबा दिए जाने से व उनका परिष्कार व उन्नयन का अवसर न मिल पाने से कई कामविकृतियों का जन्म होता है, जिनमें समलिंगी के प्रति अप्राकृतिक संपर्क की इच्छा, घोर निंदनीय व घृणास्पद काम- लोलुपता, लंपटता हैं । विषमलिंगी के शरीर के अंगों के बजाय उसके किसी अंत: वस्त्र, वस्तु आदि को ही काम-क्रीड़ा का साधन मानकर व्यवहार करना आदि अनेक कामविकृतियां लगभग मनोरोगों की श्रेणी में आती हैं, जिनका यहां कोई विशेष संबंध नहीं है ।

15.5.3 कामवृत्ति का उदात्तीकरण

फ्रायड का कथन है कि कलाकार में भी अंतर्मुख प्रवृत्ति होती है । वह ऐसा व्यक्ति है, जिसे बहुत प्रबल और ज़ोर-शोरवाली निसर्गवृत्तीय आवश्यकताएं प्रेरित करती हैं । वह सम्मान, शक्ति, धन, यश और स्त्रियों का प्रेम पाने की लालसा रखता है, पर उसके पास ये संतुष्टियां पाने के साधन नहीं हैं । इसलिए असंतुष्ट लालसा पाने वाले व्यक्तियों की तरह वह यथार्थ से हट जाता है और अपनी सारी दिलचस्पी और अपना सारा राग भी कल्पना के जीवन में अपनी इच्छाओं की सृष्टि पर ले जाता है ।

15.5.4 दमन और कुंठाएं

मनोविश्लेषण के अनुसार मन की परिभाषा यह है कि इसमें अनुभूति, विचार और इच्छा के प्रक्रम होते हैं और मनोविश्लेषण यह कहता है कि अचेतन विचार और अचेतन इच्छाएं भी होती हैं । अचेतन मानसिक प्रक्रमों को स्वीकार करना दुनिया में और विज्ञान में नई दिशा की ओर निश्चित कदम बढ़ाना है । यहां अचेतन और चेतन का संघर्ष एक महत्वपूर्ण घटना है, जिससे कुंठाओं का जन्म होता है । फ्रायड ने अपने ग्रंथ के "प्रतिरोध और दमन" नामक अध्याय में इस बात का सूक्ष्मता से विशद विवेचन किया है कि किस प्रकार एक स्नायविक

रोगी का चेतन मन उसके अचेतन मन में उठने वाली अनैतिक इच्छाओं का विरोध करता है। यदि वह असफल रहता है तो गंभीर रोगों का शिकार हो जाता है । मसलन - हिस्टीरिया, विभक्त मानसिकता, स्मृति-भ्रंशता और मनोभ्रंशता आदि ।

15.5.5 मानव- जीवन में कामेच्छा की सर्वग्रासी भूमिका

फ्रायड के कुल अनुसंधान का सारांश व्यक्ति मन में कामेच्छा द्वारा जीवन के प्रत्येक क्रिया-कलाप का निर्धारण करना है । हालांकि यह बात ऊपरी तौर से एक अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त जान पड़ती है । पर केवल फ्रायड की मंशा पर ध्यान केन्द्रित किया जाय तो हम यह मानने में गलती नहीं करेंगे कि जीवन के सारे छोटे-बड़े काम आखिरकार मन की वृत्तियों के ही परिणाम तो होते हैं, जिसे साहित्य के तमाम विद्वान और आलोचक एक स्वर से स्वीकार करते नहीं अघाते । इस कामवृत्ति को ही वे कला व साहित्य के सृजन की भी मूल प्रेरणा स्वीकार करते हैं । यह कामवृत्ति दूसरे शब्दों में काम-सुधा भी है, जो अपरिहार्य तो नहीं, पर दुष्परिहार्य तो है । यही उनका यौन-सिद्धान्त भी कहलाता है । यह बताना आसान नहीं कि यौन शब्द के अन्तर्गत क्या-क्या बातें आती हैं । शायद इसकी यही परिभाषा ठीक हो सकती है कि दोनों लिंगों के अन्तर या भेद से सम्बन्धित प्रत्येक बात यौन बात है । परिवार की हंसी खुशी, भावनाएं, प्रेम, दुःख-सुख आदि हजारों प्रसंग इसी कामवृत्ति के न्यूनाधिक विकसित व पल्लवित रूप है ।

15.6 अन्य मनोवैज्ञानिक व उनके सिद्धान्त : संक्षिप्त परिचय

इस मनोविश्लेषण की शाखा में फ्रायड अकेले नहीं हैं । उनके समकालीन और उनके परवर्ती अनेक ऐसे प्रतिभाशाली मनोवैज्ञानिक भी हुए हैं, जिन्होंने फ्रायड के मूल्यवान चिन्तन को आगे बढ़ाया है, उसे अधिक समृद्ध व परिपूर्ण किया है । हालांकि उन्होंने फ्रायड की अनेक स्थापनाओं से अपनी असहमति प्रकट की है और नए सिद्धान्त भी आविष्कृत किए हैं । ऐसे मनोविज्ञानियों की एक पूरी अभिनव श्रृंखला है, जिसका संक्षिप्त उल्लेख यहां उपयोगी होगा ।

15.6.1 एल्फ्रेड ऐडलर व उनका सिद्धान्त

फ्रायड के सिद्धान्त को जहां मनोविश्लेषण का सिद्धान्त कहा जाता है, वहीं ऐडलर का सिद्धान्त वैयक्तिक मनोविज्ञान (इनडिविजुअल साइकोलोजी) कहलाता है । ऐडलर के मनोविज्ञान में लिबिडो या कामवृत्ति की जगह "अहम्" की भूमिका अधिक है । उनके मत से, फ्रायड कामेच्छा को अनावश्यक महत्व देते हैं, जबकि मानसिक-स्नायविक रोगों का मूल कारण कामेच्छा के अतिरिक्त "अहम्" की मांग भी है । हर व्यक्ति की मूल प्रवृत्ति अहम् की स्थापना (Self Assertion) होती है । इस 'अहम स्थापना' की प्रबल इच्छा और जीवन के कठोर यथार्थ का संघर्ष ही व्यक्ति के मानसिक जीवन की मुख्य समस्या है । अहम् स्थापना की इच्छा जीवन के तीन क्षेत्रों में व्यक्त होती है-समाज, व्यवसाय और विवाह । यह अहम स्थापन प्रकारान्तर से आत्म-स्थापन ही है । अत: ऐडलर के मनोविश्लेषण में यह आत्मस्थापन की प्रवृत्ति ही मुख्य है, कामेच्छा या लिबिडो की नहीं ।

यह आत्म-स्थापन यदि यथार्थ से टकराकर पराजित हो जाय तो व्यक्ति में हीनता-ग्रन्थि बन जाती हैं, जिससे मुक्ति पाने हेतु वह इसका दमन करता है । फलस्वरूप किसी में अवान्छित गर्व आ जाता हैं, जो हीनताग्रन्थि का छद्म रूप है।

फ्रायड की तुलना में, ऐडलर के मनोविश्लेषण सिद्धान्तों का कला व साहित्य-रचना पर प्रभाव कम पड़ा, पर अंशत: उनका प्रभाव भी कई साहित्यिक रचनाओं पर देखा जाता है।

15.6.2 कार्ल गास्तोव जुंग व उनका सिद्धान्त

जुंग फ्रायड से असहमति रखते हैं । वे भी कामेच्छा को प्रमुख प्रेरक शक्ति नहीं मानते । उन्होंने कामवृत्ति (लिबिडो) का व्यापक अर्थ लिया, जिससे फ्रायड की कामवृत्ति और ऐडलर की आत्मस्थापनवृत्ति दोनों को अन्तर्मुक्त कर दिया । जुंग के अनुसार जीवन-शक्ति या मनःशक्ति ही वह मूल शक्ति है, जो मानव के सभी व्यवहारों में-विशेषकर विकास, क्रिया और जनन- तीनों क्षेत्रों में स्वयं को व्यक्त करती है । लीक से हटकर बात यह कि यह "जीवन-शक्ति" एक अन्तिम साम्यवस्था की ओर उन्मुख रहती है ।

इसके अलावा, जुंग का सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त "व्यक्तित्व के प्रकारों" का सिद्धान्त है । तदनुसार व्यक्ति दो प्रकार के होते हैं- प्रथम वे जिनका ध्यान और शक्ति स्व-केन्द्रित रहती है द्वितीय वे, जिनकी शक्ति व चेतना सामाजिक और भौतिक वातावरण की ओर क्रियोन्मुख रहती हैं । पहला प्रकार अन्तर्मुखी (Introvert) और दूसरा प्रकार बहिर्मुखी (Extrovert) है। अन्तर्मुखी व्यक्तित्व वाले अपने विचारों व भावनाओं में डूबे होने से अधिक भावुक, कल्पनाशील, एकान्तप्रिय और अव्यावहारिक होते हैं, जबकि बहिर्मुखी व्यक्तित्व के धनी लोग व्यवहार-कुशल, समाजप्रिय, भीड़ में रहने वाले और क्रियाशील होते हैं ।

15.6.3 कतिपय अन्य मनोवैज्ञानिक

उपर्युक्त विख्यात मनोवैज्ञानिकों के अलावा हेवलॉक एलिस, मैक्डूगल, जैसे मनोवैज्ञानिक हुए हैं, जिन्होंने विश्व-चिन्तन को यथेष्ट रूप से प्रभावित किया है । मैक्डूगल ने मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों (Basic Instincts) के बारे में गहरा अनुसंधान करके उसकी सूचियां बनायी हैं, जो साहित्यिक आलोचनाशास्त्र के लिए उपादेय साबित हुई हैं । इनके आंशिक योगदान का भी साहित्य में महत्व है ।

15.7 आधुनिक साहित्य कला पर फ्रायड का क्रान्तिकारी प्रभाव

फ्रायड का मनोविश्लेषण का सिद्धान्त अपने क्षेत्र में अद्वितीय प्रभाव वाला और असाधारण प्रकृति का सिद्ध हुआ, जिसने बीसवीं शताब्दी के अनेक ज्ञान-विज्ञानों, कला व साहित्य के क्षेत्रों में असरकारी दखल दी है । इसकी वजह से विश्व के बौद्धिक परिवेष में आमूलचूल परिवर्तन हो गए, पुरानी रूढ़ियां व धारणाएं उसी तरह ध्वस्त हुई, जिस तरह डार्विन व मार्क्स के विचारों से हुई थीं । फ्रायड की वजह से चित्रकला, साहित्य व अन्य क्षेत्रों में नए आन्दोलन व विचारधाराएं उठ खड़ी हुई । वैश्विक मनीषा को एक नया प्रकाश-स्तम्भ मिला । मनुष्य के चित्त और उसकी वास्तविक अंत: प्रेरणाओं का जो

ज्ञान पहले केवल उद्भुट प्रतिभाशाली अंतर्दृष्टि- सम्पन्न व्यक्ति ही कर पाते थे, वह फ्रायड के मनोविश्लेषण सिद्धान्त के सामने आ जाने से सामान्य जन के लिए भी ज्ञान का ग्राह्य विषय हो गया है । सामाजिक जन-जीवन और विश्व के ज्ञान-विज्ञानों, चिकित्सा क्षेत्र, नैतिक आदर्शों, धर्म व दर्शन आदि अनेक क्षेत्रों में इसका प्रत्यक्ष व परोक्ष, न्यूनाधिक अविस्मरणीय प्रभाव पड़ा है । इससे इसकी महत्ता व उपादेयता का अन्दाजा लगाया जा सकता है ।

फ्रायड की वजह से साहित्य में अतियथार्थवाद का जन्म हुआ । यह वाद एक प्रकार की ऐसी स्वत: चालित क्रिया का परिचायक है, जिस पर सामाजिक, बौद्धिक या नैतिक किसी प्रकार का अंकुश नहीं होता । इस वाद की मूल धारणा फ्रायड के अचेतन मन की अवधारणा पर ही आधारित हैं । अचेतन मन में इच्छाएं-वासनाएं मूल रूप में विद्यमान रहती हैं । अतियथार्थवादी आन्दोलन के अग्रणी हर्बर्ट रीड (इंग्लैण्ड) थे । यह निरंकुश स्वच्छन्दतावाद का ही अतिरेकी रूप है और उसकी प्रकृति विद्रोहात्मक है । अतियथार्थवादी रचना का सम्बन्ध मुख्यत: स्वप्नों और मन की अवचेतन अवस्थाओं से है । वह स्वत: चालित लेखन है ।

15.8 सारांश

मनोविश्लेषण का सिद्धान्त एक हद तक रचना-प्रक्रिया को समझने में सहायता पहुंचाता है पर स्वयं रचना-प्रक्रिया एक अनुमानाश्रित व्यापार है । उससे साहित्यकार के मन की उस स्थिति को पकड़ा जा सकता है, जिससे वह रचना करता है, और आलोचक आलोचना करता है । फ्रायड कलाकार के सम्बन्ध में तो विचार प्रकट करते हैं, लेकिन कला के बारे में, उसकी रचना-प्रक्रिया के बारे में व संघटन के सम्बन्ध में मौन रहते हैं । पाठक के सामने कलाकार नहीं होता, केवल कला होती है । कलाकार के सम्बन्ध में जानकारी न होने पर भी कला का बोध और आह्लाद प्राप्त किया जा सकता है ।

उपर्युक्त सिद्धान्तों के फलस्वरूप मनोवैज्ञानिकों और आलोचकों ने मानो कला को मानसिक विकृतियों का परिणाम सिद्ध करने का प्रयास किया है । पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि ये विकृतियां परिष्कृत और उदात्त होकर साहित्य की रचना में ढला करती हैं, इसलिए ऐसा कोई दोष उनमें नहीं रह जाता, जिनसे हम उन्हें त्याज्य या हेय मानें । कुछ समय पूर्व तक मनोविश्लेषण को साहित्य के क्षेत्र में बड़े उत्साह से हाथों-हाथ लिया गया, पर आजकल प्रगतिशील और जनवादी दृष्टि के अतिरेक के चलते उसे उपेक्षित कर दिया गया है, जो ठीक नहीं है । व्यक्ति का मन और उसका बाहरी समाज दोनों ही उसके अन्तर्बाह्य अनिवार्य स्वरूप हैं । जहां समाज की बात मार्क्स-केन्द्रित है, वहीं मन के भीतर की बात जब भी आएगी, फ्रायड व उनके समानधर्माओं के सिद्धान्तों को कभी भी नजरंदाज नहीं किया जा सकता ।

साहित्य की समृद्धि में फ्रायड और उनके मनोविश्लेषण के सिद्धान्त ने जो असाधारण भूमिका निभाई है, वह इतिहास में दर्ज है । उसे कम करके आंकना या भुला देना वैचारिक कृतघ्नता होगी । अज्ञेय के उपन्यास, कथा-साहित्य की आलोचना साहित्य के चिरस्थायी अध्याय हैं । अत: फ्रायड और उनका सिद्धान्त मनुष्य की अंतश्चेतना का विकासशील साक्षी है।

15.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. फ्रायड के व्यक्तित्व का परिचय दीजिए ।
2. फ्रायड के मनोविश्लेषण-सिद्धान्त पर एक लघु निबन्ध लिखिए ।
3. मानव-जीवन में फ्रायड के अनुसार कामवृत्ति की भूमिका को स्पष्ट कीजिए ।
4. फ्रायड के अतिरिक्त अन्य मनोवैज्ञानिकों के विचार संक्षेप में लिखिए ।
5. आधुनिक कला व साहित्य पर फ्रायड के विचारों का क्या प्रभाव पड़ा है?

15.10. सन्दर्भ -ग्रन्थ

1. सिग्मण्ड फ्रायड - मनोविश्लेषण, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली, 1999
2. डॉ. बच्चनसिंह - भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, 1994
3. डॉ. नगेन्द्र, (सं.) - पाश्चात्य काव्यशास्त्र : सिद्धान्त और वाद,
4. डॉ. भगीरथ मिश्र - पाश्चात्य काव्यशास्त्र : इतिहास, सिद्धान्त और वाद विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2001
5. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा (सं.) - हिन्दी साहित्य कोष भाग- 1. ज्ञान मण्डल लि., वाराणसी, संवत् 1965
6. अज्ञेय -शेखर - एक जीवनी भाग- 1, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 2003
7. रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् 2056
8. देवेन्द्रनाथ शर्मा - पाश्चात्य काव्यशास्त्र, मयूर पेपर बेक्स,नौएडा, 2003
9. विश्वनाथ त्रिपाठी - हिन्दी आलोचना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1999
10. डॉ. नगेन्द्र, - रस-सिद्धान्त, मयूर पेपरबेक्स नौएडा. 2001

इकाई -16 जॉर्ज लुकाच का साहित्य चिन्तन

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य
16.1 प्रस्तावना
16.2 लुकाच के चिन्तन का क्षितिज
16.3 लुकाच में विरासत के प्रति संसक्ति
16.4 यथार्थ और मिथ्या यथार्थ : यथार्थ विरोधी दृष्टियाँ
16.5 लुकाच की दृष्टि में उपन्यास में प्रतिनिधि चरित्र
16.6 लुकाच के विचार में लेखक की नैतिक दृष्टि
16.7 आलोचनात्मक यथार्थवाद एवं समाजवादी यथार्थवाद
16.7.1 आलोचनात्मक यथार्थवाद के प्रति निष्ठा
16.7.2 समाजवादी यथार्थवाद की सीमाएं
16.8 आधुनिकतावाद यथार्थ के निषेध का दृष्टिकोण
16.9 लुकाच के साहित्य चिन्तन पर आपत्तियाँ
16.10 सारांश
16.11 अभ्यासार्थ प्रश्न
16.12 संदर्भ ग्रंथ

16.0 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ को पढ़ने के बाद आप

- आप सुप्रसिद्ध मार्क्सवादी चिन्तन आलोचक जॉर्ज लुकाच के विचारों से परिचित हो सकेंगे।
- साहित्य चिन्तन के क्षेत्र में लुकाच के भौतिक योगदान से परिचित हो सकेंगे ।
- जॉर्ज लुकाच का यथार्थवाद के प्रति जो चिन्तन है उससे अवगत हो सकेंगे ।
- साहित्य चिन्तन के क्षेत्र में मार्क्सवाद का क्या महत्व है - इस विचार से अवगत हो सकेंगे।
- मुख्य रूप से विश्व के प्रमुख उपन्यासकारों को केन्द्र में रखकर लुकाच का जो चिन्तन है उसके आधार पर हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासकारों पर विचार का आधार प्राप्त होगा ।
- प्रतिनिधि चरित्र या प्रतीक चरित्र की अवधारणा से आप प्रेमचन्द के गोदान के नायक 'होरी' पर अपना दृष्टिकोण बना सकते हैं ।

16.1 प्रस्तावना

जॉर्ज लुकाच के साहित्य चिन्तन की आधार भूमि मार्क्सवाद है । मार्क्सवादी इतिहास दर्शन के आलोक में ही उन्होंने साहित्य और कला रचना से जुड़े बुनियादी प्रश्नों पर विचार किया है । उपन्यास की विधा उनके साहित्य चिन्तन के केन्द्र में रही है, जिसके सर्वप्रमुख सौन्दर्यशास्त्रीय प्रतिमान के रूप में यथार्थवाद की व्याख्या और विश्लेषण मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन को लुकाच की सबसे महत्वपूर्ण देन है । यद्यपि यथार्थवाद-सम्बन्धी लुकाच

के कतिपय निष्कर्ष और उनकी स्थापनाएं विवाद और बहस का विषय भी बनी हैं, कतिपय मार्क्सवादी रचनाकारों और विचारकों ने उनका प्रतिवाद भी किया है, परन्तु बावजूद कुछ बिन्दुओं पर असहमति के, लुकाच मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन में, यथार्थवाद के सर्वाधिक प्रामाणिक व्याख्याता के रूप में मान्य हुए।

यथार्थवाद-सम्बन्धी अपने विशद विवेचन में लुकाच ने न केवल यथार्थवाद के स्वरूप और चरित्र को तर्कों और तथ्यों के साथ पूरी प्रामाणिकता में प्रस्तुत किया है, उन्होंने इस क्रम में उन कला-दृष्टियों और विचार सारणियों की वास्तविकता को भी उजागर किया है जो यथार्थवाद के नाम पर विस्थापित होकर वस्तुत: या तो यथार्थ-विरोधी कला तथा जीवन-दृष्टियाँ हैं या यथार्थ का मिथ्या या छद्म रूप भर हैं। आधुनिकतावाद, प्रकृतिवाद, तथाकथित मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद, ऐसी ही विचार-सारणियों तथा कला-दृष्टियों के प्रतिरूप हैं। लुकाच के साहित्य-चिन्तन की एक अन्य महत्वपूर्ण देन यथार्थवादी कला के विकास की दो मुख्य मंजिलों - आलोचनात्मक यथार्थवाद (Critical Realism) तथा समाजवादी यथार्थवाद (Socialist Realism) के सापेक्षिक महत्व की व्याख्या तथा विश्लेषण और उपन्यास विधा में उनके रचनात्मक योगदान की समीक्षा है।

16.2. लुकाच के चिन्तन का क्षितिज

विचारधारा के संपर्क में लुकाच, प्रथम महायुद्ध के दौरान अर्जित कर अनुभवों के बरक्स आए और आगे वही उनके सौन्दर्य शास्त्रीय चिन्तन का आधार बना। मार्क्सवादी इतिहास दर्शन में उन्हें दुनिया और उसकी गतिविधि को जानने-समझने का एक नया परिप्रेक्ष्य मिला। लुकाच का संपूर्ण साहित्य-चिन्तन इसी परिप्रेक्ष्य का प्रतिफल है। लुकाच के अनुसार मार्क्सवाद न केवल प्रत्येक तथ्य अथवा घटना के मूल आधारों की खोज करता है, वह उन्हें उनकी ऐतिहासिक संबद्धता और गतिशीलता में भी देखता है। अपनी द्वन्द्वात्मक प्रणाली के तहत इस गतिशीलता के आधारभूत नियमों का पता लगाकर वह उनके समूचे विकास क्रम को प्रदर्शित करता है तथा अपने इस प्रयास में प्रत्येक तथ्य अथवा घटना के ऊपर जमी धुँध को साफ कर उसे इस रूप में प्रस्तुत करता है कि उन्हें भलीभाँति जाना और समझा जा सके।

लुकाच मानते हैं कि आज हमारे चारों ओर एक वैसा ही अंधकारमय वातावरण है, जैसा कि दो महायुद्धों के बीच के समय में था। ऐसी स्थिति में यदि आज कोई निराश ही होना चाहे तो बाहरी वातावरण में इसके लिए ढेरों कारण मौजूद हैं। जिन कठिनाइयों के बीच से आज मनुष्यता गुजर रही है अथवा जो भौतिक तथा नैतिक अंधियारा मनुष्यता को घेरे हुए है, उसकी गुरुता को नजरंदाज कर अथवा उसे कम आँककर मार्क्सवाद मनुष्यता को किसी प्रकार की झूठी सांत्वना देने का हिमायती नहीं है। अंतर केवल इतना है (और 'केवल' में एक पूरा का पूरा संसार ही निहित है) कि मार्क्सवाद न केवल मनुष्यता के विकास की सारी प्रमुख रेखाओं की ही जानकारी रखता है, उसके आधारभूत नियमों को भी उनकी संपूर्णता में पहचानता है। जो लोग मार्क्सवादी विचारधारा की इस भूमिका से परिचित हैं, वे जानते हैं कि बावजूद इस क्षणिक अँधियारे के, वे कहाँ से आए हैं और कहाँ जा रहे हैं। एक नए, किंतु परिचित संसार की आकृति ही उनके नेत्रों में विद्यमान है। वहाँ पहले उन्हें अपने चारों ओर एक प्रकार की

अति व्यस्तता और गद्दमद्द स्थिति ही दिखाई देती थी, आज उनकी आँखें एक सार्थ और सोद्देश्य विकास ही देख रही हैं । निराशावादी दर्शन, आज जहाँ संस्कृति के विनाश और संसार के विघटन पर आँसू बहा रहे हैं, वहाँ मार्क्सवाद इस सारे विघटन और विनाश के बीच से एक नई दुनिया के उद्भव को देख रहा है । (लुकाच के इन उद्गारों का संबंध सोवियत क्रांति की सफलता के बाद रूस तथा पूर्वी यूरोप के देशों में समाजवादी व्यवस्था के तहत होने वाले अभूतपूर्व विकास से है । लेखक) ।।

लुकाच के अनुसार, प्रश्न है कि दर्शन तथा समाजशास्त्र से संबंध रखने वाली इन बातों का उपन्यास के इतिहास तथा सिद्धान्त से क्या संबंध है? उनका उत्तर है कि इन बातों का साहित्य के अध्ययन से न केवल संबंध है, वे बहुत दूर तक इस अध्ययन को प्रभावित और निर्धारित करती हैं । यदि साहित्येतिहास की जमीन पर इन बातों को ग्रहण करें तो हमारे समक्ष यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 19वीं शताब्दी के प्रतिनिधि क्लासिक लेखक के रूप में बाल्जाक तथा पलावेयर में महानता का सेहरा किसके सिर पर बाँधना चाहिए? लुकाच का कहना है कि इस सवाल का उत्तर या उस पर होने वाला निर्णय किसी की निजी पसंद या नापसंदगी पर नहीं, वरन् एक कला-रूप की हैसियत से उपन्यास के अपने सौन्दर्यशास्त्र की केन्द्रीय समस्याओं से जुड़ा है । प्रश्न है कि उपन्यास की महानता का सामाजिक आधार अंतर्जगत तथा बाह्य जगत की एकता में निहित है, अथवा उसे इन दोनों संसारों के पार्थक्य में समझा जा सकता है? क्या आधुनिक उपन्यास का चरम उत्कर्ष जीद प्राउस्त या जायस का कृतित्व सूचित करता है अथवा उपन्यास इनसे काफी पहले अपनी महानता के शिखर, बालजाक या टाल्सटॉय की कृतियों में छू चुका था? और आज, विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए हामसमान जैसे छिटपुट, किंतु महान लेखक ही उस शिखर को छू सके हैं, जो काफी पहले बालजाक तथा तोल्सतोय जैसे लेखकों के द्वारा छू लिए गए थे?

उक्त दो सौन्दर्यशास्त्रीय धारणाओं की विपरीतता हमें साहित्य के समूचे विकास को देखने के लिए प्रेरित करती है । ऐसी स्थिति में इतिहास दर्शन की भूमिका पर जो प्रश्न हमारे समक्ष उपस्थित होता है, वह यह है कि हमारी वर्तमान संस्कृति का पथ हमें ऊपर की ओर ले जाने वाला है अथवा नीचे की ओर?

यह सच है कि हमारी संस्कृति आज अँधियारे के बीच से गुजर रही है, परन्तु इतिहास-दर्शन के ऊपर यह दायित्व है कि वह इस बात का निर्णय ले कि जो अँधियारा इस समय छाया हुआ है, और जिसे सर्वप्रथम अपनी कृति - 'एजूकेशन सेन्टीमेन्टेल (Education Sentimental) में फ्लावेयर ने अभिव्यक्ति दी थी, वही हमारी संस्कृति और हमारी अंतिम नियति है, अथवा भले ही, हम तथा हमारी संस्कृति एक लंबी और अँधेरी सुरंग के बीच से गुजर रही हों, अंततः हम उससे बाहर आएंगे और प्रकाश के साथ हमारा साक्षात्कार एक बार फिर से होगा । बुर्जुआ सौन्दर्यशास्त्रियों का, फ्लावेयर भी जिनमें एक था, विचार है कि इस अँधियारे से उबरने का कोई भी रास्ता शेष नहीं बचा, जबकि मार्क्सवादी इतिहास-दर्शन मनुष्यता के विकास की व्याख्या के कम में हमें यह निष्कर्ष देता है कि ऐसा हो ही नहीं सकता कि मनुष्यता की यह विकास-यात्रा निरूद्देश्यता या निरर्थकता में ही समाप्त हो जाय । वह एक

निश्चित और सार्थक गंतव्य तक अवश्य पहुँचेगी । (लुकाच का उक्त कथन उनके अपने समय के सांस्कृतिक संकट से संबंधित है । बीसवीं सदी के अंतिम दशक में सोवियत संघ के 'विघटन, पूर्वी यूरोप के देशों से समाजवादी व्यवस्था की समाप्ति, अमरीका के नेतृत्व में एक ध्रुवीय विश्व के आविर्भाव, संस्थानिक पूंजीवाद द्वारा नव स्वतंत्र विकासशील तथा पिछड़े देशों को अपने दिए ऋण के नागपाश में बाँधकर मुक्त रूप से उनका आर्थिक दोहन करने और भूमण्डलीकरण जैसे विचारों की आड़ में अपनी संस्कृति और जीवन-शैली को उन पर थोपने के फलस्वरूप मनुष्यता पुन: एक अंधकारमय वातावरण में साँसे ले रही है तथा उसके अस्तित्व पर संकट के सघन बादल छाए हुए हैं । मार्क्सवादी इतिहास-दर्शन से उद्भूत लुकाच का आशावाद उनके अपने समय के संदर्भ में सार्थक था, आज के संदर्भ में भी वह उतना ही प्रेरणास्पद और सारवान है, कारण उसके पीछे रोमानी सदिच्छा नहीं, इतिहास, इतिहास की गति और उसके नियमों की खरी और वैज्ञानिक पहचान है - लेखक) ।

16.3. लुकाच में विरासत के प्रति संसक्ति

मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता, जिसे लुकाच ने विशदता से उभारा है, मनुष्यता की उस संपूर्ण विरासत के प्रति उसकी गहरी संसक्ति तथा उसका संरक्षण है, जिसका तथाकथित आधुनिकतावादियों और उनकी जीवन दृष्टि में सर्वथा अभाव है । अतीत की इस विरासत का सौन्दर्यशास्त्र से भी उतना ही गहरा संबंध है जितना जीवन के अन्य क्षेत्रों से । मार्क्सवाद इन सारे आयामों पर न केवल उसे महत्वपूर्ण मानता है, उसे सहेजे जाने की हिमायत करता है । इसके मायने यह नहीं हैं कि मार्क्सवाद अतीत की पुनरावृत्ति का पक्षधर है । यह तो मार्क्सवाद के इतिहास-दर्शन की एक आवश्यक निष्पत्ति है कि अतीत कभी सर्वथा गत नहीं होता । आगामी समयों में भी अपने जीवंत पहलुओं के साथ वह नये-नये रूपों में विद्यमान रहता है ।

सौन्दर्यशास्त्र की परिधि के अंतर्गत उक्त क्लासिकीय विरासत का संबंध ऐसी कलाओं के प्रति संपृक्ति तथा उनके संरक्षण से है जो एक समग्र समाज में समग्र मनुष्य का चित्रण करती है । मार्क्सवादी इतिहास-दर्शन भी मनुष्य को उसकी संपूर्णता (Totality) में अपने विश्लेषण का विषय बनाता है तथा मनुष्य के उद्भव के इतिहास को भी उसकी संपूर्णता में ही देखता है । वह संपूर्ण मानवीय संबंधों को नियंत्रित करने वाले अंतर्निहित नियमों को भी उद्घाटित करने के प्रति सचेष्ट रहता है । इस प्रकार, लुकाच के अनुसार, 'सर्वद्वारा मानववाद' का प्रयोजन वर्ग-व्यवस्था के अंतर्गत विघटित तथा विरूप होते हुए मानक्व्यक्तित्व को न केवल इस विघटन तथा विकृति से मुक्ति वरन् अपनी संपूर्णता में उसकी पुनर्सृष्टि भी है । अपने इतिहास-दर्शन के इसी परिप्रेक्ष्य में मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र प्राचीन क्लासिकों तक पहुँचने के लिए एक सेतु का निर्माण करता है तथा वर्तमान युग के साहित्यिक संघर्षों के बीच नए क्लासिकों की खोज भी करता है । प्राचीन ग्रीकों से लेकर दांते, शेक्सपीयर, गेटे, बाल्जाक, टोल्सतोय, इन सबके कृतित्व में हमें मानवीय विकास के महत्वपूर्ण युगों की पर्याप्त झाँकी मिलती है, तथा इनका कृतित्व एक अविच्छिन्न मानव-व्यक्तित्व की पुनःस्थापना के लिए चल रहे सैद्धांतिक युद्ध में संकेत-स्तंभ के रूप में हमारी मदद करता है ।

उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर स्पष्ट होता है कि फ्रांसीसी उपन्यास-साहित्य के, जिसका अत्यंत शानदार आरंभ पिछली शताब्दी (19वीं शताब्दी) के शुरू में हुआ। उत्तराधिकारी फ्लावेयर और विशेष रूप से जोला नहीं, वरन् उस शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सामने आने वाले रूसी तथा स्कैण्डो-नेक्यिन लेखक थे । और यदि हम इतिहास-दर्शन की भूमिका पर बाल्जाक तथा उसके बाद के फ्रांसीसी उपन्यास-साहित्य के बीच होने वाले संघर्ष को विशुद्ध सौन्दर्यशास्त्रीय भाषा में अनुदित करें तो स्पष्ट होता है कि यह संघर्ष वस्तुतः यथार्थवाद और प्रकृतिवाद (Naturalism) के बीच का ही संघर्ष है ।

16.4. यथार्थ और मिथ्या यथार्थ : यथार्थ विरोधी दृष्टियों

विचार के इसी बिन्दु पर आकर लुकाच ने यथार्थवाद का प्रामाणिक स्वरूप और चरित्र स्पष्ट करते हुए प्रथमतः यथार्थ के नाम पर विज्ञापित और यथार्थ का भ्रम पैदा करने वाली मिथ्या (Pseudo) या छद्म यथार्थ-दृष्टियों की एवं यथार्थ-विरोधी दृष्टिकोणों की - वास्तविकता को उजागर किया है और उन्हें प्रकृतिवाद एवं तथाकथित मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद तथा आधुनिकतावाद के रूप में पहचाना है । प्रकृतिवाद और प्रकृतिवादियों की मिथ्या वस्तुपरकता (Pseudo-objectivity) तथा मनोविश्लेषणवादियों की मिथ्या आत्मपरकता (Pseudo-subjectivity) दोनों को खारिज करते हुए यथार्थवाद के प्रामाणिक स्वरूप तथा चरित्र की प्रस्तुति उन्होंने इस प्रकार की है - "यथार्थवाद (Realism) मिथ्या वस्तुपरकता तथा मिथ्या-आत्मपरकता के बीच का कोई मध्यमार्ग नहीं है, वरन् इसके विपरीत वह हमारे समय की भूल-भुलैया में, बिना किसी नमो के भटकने वाले लोगों के द्वारा गलत रूप से पेश किए गए प्रश्नों के फलस्वरूप उत्पन्न समस्त प्रकार के झूठे असमंजसों के विरूद्ध सत्य तथा सही समाधानों तक पहुँचाने वाला - तीसरा रास्ता है"। यही नहीं, "यथार्थवाद इस तथ्य की स्वीकृति है कि कोई साहित्यिक कृति न तो किसी निष्प्राण औसत पर आश्रित हो सकती है, जैसा कि प्रकृतिवादियों का विचार है, और ना ही एकदम शून्य में अपने आपको एकदम घुला देने वाले किसी व्यक्तिगत सिद्धान्त पर" (जैसा कि मनोविश्लेषणवादियों के यहाँ देखा जाता है - लेखक) । यथार्थवादी साहित्य की केन्द्रीय कोटि तथा प्रतिमान वह प्रतिनिधि (Type) है, जिसकी चरितार्थता उस संश्लेख में देखी जा सकती है जो चरित्रों तथा परिस्थितियों की 'सामान्य' तथा 'विशेष' दोनों भूमिकाओं को एक अखंड आवयविक (Organic) एकता में बाँध देता है । जो बात 'प्रतिनिधि' या 'टाइप' को सही अर्थों में 'प्रतिनिधि' या 'टाइप' बनाती है, वह न तो उसका 'औसत' गुण है, और न उसकी व्यक्तिगत सत्ता, उसे कितनी ही गहराई में क्यों न देखा गया हो । जो बात उसे सही मायनों में 'प्रतिनिधि' बनाती है, वह यह है कि उसके अंतर्गत मानवीय तथा सामाजिक दृष्टि से अनिवार्य सारे अवधारक तत्व अपने भीतर निहित संभावनाओं के अंततः पूरी तरह होने वाले उद्घाटन एवं अपनी अतिवादी भूमिकाओं की अतिवादी अभिव्यक्ति के कारण अपने विकास के उच्चतम स्तरों के साथ विद्यमान रहते हैं और इस क्रम में मनुष्यों तथा युगों की सीमाओं और शिखरों को एकदम मूर्त कर देते हैं । इस प्रकार सच्चा और महान यथार्थवाद मनुष्य या समाज के मात्र इन या उन पक्षों को दिखाने

के बजाय उन्हें उनकी संपूर्णता में, समग्र इकाइयों के रूप में चित्रित करता है । इस कसौटी पर कसने के उपरांत सिद्ध होता है कि विशुद्ध अंतदर्शन अथवा विशुद्ध बहिदर्शन के आधार पर निर्धारित कलात्मक प्रवृत्तियाँ समान रूप से न केवल यथार्थ को दरिद्र बनाती हैं, उसे विरूप और विकृत भी करती हैं । इस प्रकार, यथार्थवाद, लुकाच के मत से, एक प्रकार की त्रि-आयामिकता है, सब कुछ को समेटने वाली एक ऐसी समग्रता, जो चरित्रों तथा मानवीय संबंधों को स्वतंत्र जीवनी-शक्ति से संयुक्त करती है । आधुनिक संसार के साथ विकसित भावात्मक तथा बौद्धिक ऊर्जा को वह किसी भी रूप में अस्वीकार नहीं करती । उसका एकमात्र विरोध मानव-व्यक्तितत्व की संपूर्णता तथा क्षणिक मनोदशाओं की अतिवादी रूझानों से प्रेरित मनुष्यों तथा स्थितियों की वस्तुपरक प्रातिनिधिकता को खंडित करने वाली प्रवृत्तियों से है।

यथार्थवाद की केन्द्रीय सौन्द्रर्यशास्त्रीय समस्या संपूर्ण मानव व्यक्तितत्व का समुचित प्रस्तुतिकरण है । किंतु जैसा कि प्रत्येक गंभीर प्रकार की कला का सत्य है, यथार्थवाद के अंतर्गत भी, सौन्दर्यशास्त्र की पगडंडी पर चलते हुए हमें, अंततः विशुद्ध सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र से बाहर आना ही पड़ता है । कारण, कला, यदि हम उसे उसकी परिपूर्ण शुद्धता में ग्रहण करें, सामाजिक तथा नैतिक मानववादी समस्याओं से भीतर तक संसक्त रहती है । प्रतिनिधि चरित्रों की यथार्थपरक प्रस्तुति की हमारी माँग उन दोनों प्रवृत्तियों का विरोध करती है जो या तो जोला तथा उसके अनुयायियों की भाँति मनुष्य का मात्र जैविक (Biological) अस्तित्व स्वीकार करती है, और उसका चित्रण उसी लीक पर करती है या फिर विशुद्ध मानसिक या मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के अंतर्गत उसे उदात्तीकृत रूप में प्रस्तुत करती है । लुकाच के अनुसार, यह दृष्टिकोण, यदि उसे औपचारिक सौन्दर्य शास्त्रीय निर्णयों की परिधि में ही रखा जाय, असंदिग्ध रूप से कृत्रिम होगा । इसी नाते लुकाच का कहना है कि 'केवल संपूर्ण मानव व्यक्तितत्व की परिकल्पना को ही ऐसे सामाजिक तथा ऐतिहासिक कार्य के रूप में स्वीकार कर जिसका कि समाधान मनुष्यता को प्राप्त करना है, और केवल तभी, जबकि सौन्दर्यशास्त्र कला की उद्भावक तथा मार्गदर्शक की भूमिका अदा करने की बात कहे, जीवन की वस्तु (Content) को कम या अधिक महत्त्व वाले दायरों में विभाजित किया जा सकता है । ऐसे दायरों में, जो 'प्रतिनिधियों' और मार्गों को आलोकित करते हैं, अथवा ऐसे दायरे जो अंधकार में ही डूबे रहते हैं । तभी हमारे सामने स्पष्ट होगा कि मात्र जैविक प्रक्रियाओं का चित्रण, चाहे वह यौन-क्रियाओं से संबंधित हो, चाहे पीड़ा या यातना से, उसे कितने ही विस्तार से क्यों न किया गया हो, और साहित्यिक दृष्टि से वह कितना ही परिपूर्ण क्यों न हो, अंततः मनुष्य की सामाजिक, ऐतिहासिक तथा नैतिक सत्ता को अधःपतित ही करता है तथा मानवीय संबंधों को उनकी जटिलता तथा समग्रता में चित्रित करने- जैसी अनिवार्य कलात्मक अभिव्यक्ति का साधक न होकर उसके मार्ग की रूकावट बनता है । यही कारण है कि प्रकृतिवाद द्वारा प्रस्तुत की गई नई वस्तु तथा अभिव्यक्ति के नए साधन, साहित्य की श्री-वृद्धि करने के स्थान पर उसे दरिद्र और संकीर्ण बनाने में ही सहायक हुए हैं ।

उपन्यास की मनोवैज्ञानिक-मनोविश्लेषणवादी धारा का विवेचन करते हुए लुकाच ने उसे भी संपूर्ण मानव व्यक्तितत्व के चित्रण को क्षति पहुँचाने वाली कहा है, कारण, यह मनोवैज्ञानिक धारा मनुष्य के आंतरिक जीवन को उसके सामाजिक तथा ऐतिहासिक संदर्भो से काटकर देखती है, अत: प्रकृतिवाद का विरोध करने के बावजूद उसी की भाँति अग्राह्य है ।

16.5 लुकाच की दृष्टि में उपन्यास में प्रतिनिधि चरित्र

लुकाच के अनुसार प्रतिनिधि चरित्रों की सृष्टि के द्वारा ही संपूर्ण मानव-व्यक्तितत्व का चित्रण संभव हो सकता है । वे व्यक्ति के रूप में मनुष्य और समाज के सदस्य के रूप में मनुष्य-जैसे कृत्रिम विभाजनों का विरोध करते हैं । उनके अनुसार मनुष्य के निजी जीवन को और उसके सामाजिक जीवन को अलगाया नहीं जा सकता । मनुष्य के विचार, उसके भाव, उसके कार्य, समुदाय अथवा समाज के विचारों, भावों और कार्यो से अविच्छिन्न रूप से संबद्ध रहते हैं । जिसे राजनीति कहा जाता है । (आदि का गहरे अर्थों मे) वह और कुछ नहीं, समाज या समुदाय के भावों, विचारों और कार्यो की समष्टि' है । इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि चाहे मनुष्य इस तथ्य के प्रति सजग हों या न हों, या फिर वे उससे बचने का ही प्रयास क्यों न करें, यह स्पष्ट है कि उनके भाव, विचार तथा कार्य न केवल राजनीति से जन्म लेते हैं, उसी के अंतर्गत गतिशील भी होते हैं । जितने भी महान यथार्थवादी रचनाकार हुए हैं- उन्होंने केवल इस स्थिति का चित्रण ही नहीं किया, मनुष्यों से इसकी मांग भी की है ।

बाल्जाक का उदाहरण देते हुए लुकाच ने यथार्थवादी साहित्य सृष्टि की अन्य महत्वपूर्ण समस्या की ओर भी संकेत किया है । यह समस्या है- लेखक और उसके अपने विश्व-दृष्टिकोण के बीच रहने वाले संबंध की समस्या एंगेल्स ने बाल्जाक पर लिखते हुए जिसे 'यथार्थवाद की विजय (Triumph of Realism) कहा है, लुकाच के अनुसार वह सच्चे यथार्थवाद का सारतत्व है किसी लेखक की सत्य के प्रति जिज्ञासा तथा निष्ठा, यथार्थ के प्रति उसकी उद्दाम आसक्ति । नीतिशास्त्र की शब्दावली में इसे स्वनाशर की ईमानदारी तथा सच्चाई कह सकते हैं, बाल्जाक जिसका अद्वितीय उदाहरण है । राजतंत्र का हामी होते हुए भी रचना के स्तर पर जितनी ईमानदारी से उसने राजतंत्रवादी फ्रांस की सामंती व्यवस्था के आधार पतन को उद्घाटित किया हैं, वह उसे यथार्थवाद के महान प्रस्तुतकर्ताओं की कोटि में प्रतिकृत कर देता है । लुकाच के अनुसार महान यथार्थवादी लेखक का यही चरित्र तथा यही मुख्य वैशिष्ट्य है कि वह अपने निजी विश्व - चित्र (world Picture) के प्रति ही सर्वाधिक निर्मम होता है । ये तो द्वितीय कोटि के रचनाकार तथा लेखक है जो प्राय: अपने विश्व दृष्टिकोण तथा वस्तुगत यथार्थ के बीच संगति बिठाने में सफल हो जाते हैं । बड़े तथा छोटे लेखकों के नैतिक दृष्टिकोण का यह अन्तर प्रामाणिक तथा अप्रामाणिक रचनाशीलता के बीच जो अन्तर है, उससे अत्यंत घनिष्ठ रूप से संबद्ध है । महान यथार्थवादियों द्वारा निर्मित चरित्र एक बार रचनाकार की दृष्टि में परिकल्पित हो पाने के पश्चात अपनी निजी और स्वतंत्र जिन्दगी जीते हैं, उनका आना-जाना, उनका विकास, उनकी नियति, रचनाकार द्वारा नहीं उनके अपने सामाजिक और व्यक्तिगत अस्तित्व की आंतरिक द्वंद्वात्मकता के द्वारा तय (Dictate) होती है । यदि

कोई लेखक अपने चरित्रों के उद्भव और विकास को अपनी इच्छा के अनुसार निर्देशित कर सकता है, तो वह न केवल एक सच्चा यथार्थवादी लेखक नहीं है, वह सही मायने में एक अच्छा लेखक भी नहीं कहा जा सकता ।

16.6 लुकाच के विचार में लेखक की नैतिक दृष्टि

लुकाच के अनुसार उपर्युक्त विवेचन इस प्रश्न का उत्तर तो दे देता है, जिसका संबंध लेखक के अपने नैतिक दृष्टिकोण से है कि यदि वह यथार्थ को इस या उस रूप में देखता है, तो वह क्या करे, परंतु एक दूसरा और अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी है जो अभी तक अनुत्तरित है । वह प्रश्न है कि लेखक वस्तुतः क्या देखता है और कैसे देखता है? सच पूछा जाय तो यही वह स्थल है वहाँ कलात्मक सृजन के सामाजिक अवधारकों से संबंध रखने वाली महत्त्वपूर्ण समस्यायें उठती है । कोई लेखक समाज के जीवन से कितना दूर तक संबद्ध, अपने चारों ओर के संघर्षों में कितनी दूर तक हिस्सा लेता है अथवा अपने आसपास की घटनाओं का कितनी सीमा तक मात्र निष्क्रिय दर्शक है, इनकी मात्रा के अनुसार लेखकों की रचना पद्धति में बुनियादी अंतर उपस्थित होते रहते है । ये अंतर ऐसी रचना-प्रक्रियाओं का निर्धारण करते हैं जो एक-दूसरे के बिलकुल विपरीत होती हैं । सच पूछा जाय, तो यह सवाल कि रचनाकार समाज के भीतर सक्रिय जीवन जीता है अथवा महज उसका दर्शक है, मनोवैज्ञानिक अथवा प्ररूप-वैज्ञानिक (Typological) कारणों से निर्धारित नहीं होता, उसका निर्धारण समाज के अपने उद्भव पर आधारित होता है, जिसके अनुसार ही, लेखक के अपने उद्भव और विकास की रेखाएँ निश्चित होती हैं ।

लुकाच के अनुसार-उक्त विवेचन भी समग्रता में प्रश्न का संतोषजनक उत्तर नहीं दे पाता । वे पुनः प्रश्न को रूप में रखते हैं । कहते हैं कि यदि हम प्रश्न को इस रूप में रखें कि लेखक किस वस्तु से प्रेम करता है और किस वस्तु से घृणा तभी हम लेखक के विश्व-दृष्टिकोण की गहराई तक जाकर उसकी व्याख्या कर सकते हैं, और तभी हमें उस समस्या का समाधान भी, लेखक के विश्व दृष्टिकोण के भीतर से ही प्राप्त हो सकता है, जो हमारे सामने बाल्जाक के संदर्भ में उठी थी- अर्थात एक ओर लेखक का अपनी विश्व दृष्टिकोण, दूसरी ओर लेखक द्वारा उसके विपरीत लिया गया वास्तविकता का ईमानदार चित्रण । और तभी हम जान पाएंगे कि लेखक की विश्व-दृष्टि और उसके द्वारा चित्रित वास्तविकता के बीच का यह विरोध वस्तुतः लेखक द्वारा देखे तथा ईमानदारी से चित्रित किए गए जीवन तथा लेखक के अपने विश्व-दृष्टिकोण के ही गहरे तथा सतही रूपों के बीच का विरोध है । एक महान यथार्थवादी लेखक के रूप में बाल्जाक की महानता का संदर्भ यही है- जिसे एंगेल्स और लुकाच पूरे महत्त्व के साथ पेश करते हैं कि अपनी विश्व-दृष्टि में राजतंत्र का हिमायती होते हुए भी, सामंत वर्ग से भावात्मक रूप में जुड़ा होने पर भी, वह लिखता है- उसी सामंत वर्ग तथा उसी राजतंत्र के अधःपतन को सामने लाता है, उनकी एक एक बदरंग पत्रों को उधेड़ता है । जिनसे भावात्मक रूप में वह जुड़ा था- लेखक ।

लुकाच के अनुसार फासिज्म के विनाश ने उन सारे लोगों के समक्ष एक जीवन का तार खोल दिया है, जो कल तक परतंत्र थे । यह नया जीवन जिन नये प्रश्नों को लेकर सामने आ रहा

है, उन्हें हल करने की जिम्मेदारी साहित्य ही उठाती है । यदि साहित्य, इतिहास द्वारा सोये गए इस गुरूतर दायित्व का सही मायनों में पूर्ति करना चाहता है, तो उसे अपने बीच से ऐसे नये लेखक पैदा करने होंगे जिनका राजनीतिक तथा दार्शनिक दृष्टिकोण युग के नये इतिहास और आवश्यकताओं की संगति में हो । परंतु मात्र इतना ही पर्याप्त नहीं है । लोगों की राय में ही परिवर्तन अनिवार्य नहीं है, उनके समूचे भावात्मक संसार को नये रूप में ढलना होगा। यह काम सिर्फ साहित्यकार ही, सक्षम रूप से कर सकते हैं । आज ऐसे साहित्य की आवश्यकता है तो हमारे समय के, उलझनों से भरे जंगल में अपनी समूची प्रकाश-किरणों के साथ गहरे और अधिक गहरे संघ लगा सके, उसे आलोकित कर सके, अंधेरे को छाँट सके । यथार्थवादी साहित्य ही इस कार्य को, बाल्जाक वैसे महान यथार्थवादियों की रचना के आलोक में पूरी क्षमता के साथ सम्पन्न कर सकता है ।

लुकाच ने बाल्जाक टॉल्स्टाय, तथा टामस मान जैसे आलोचनात्मक यथार्थवाद के महान प्रस्तुतकर्ताओं के साथ-साथ गोर्की और शोलोखोव- वैसे समाजवादी यथार्थवाद के महान रचनाकारों के कृतित्व का भी पूरे विस्तार के साथ विश्लेषण किया है ।

16.7 आलोचनात्मक यथार्थवाद एवं समाजवादी यथार्थवाद

सोवियत-रूस के उद्भव अक्टूबर 1917 की सफल समाजवादी क्रांति के बाद, सोवियत रूस के लेखकों के पहले सम्मेलन में मैक्सिम गोर्की ने यथार्थवादी साहित्य और साहित्यान्दोलन को लक्ष्य करते हुए उसके दो रूपों की बात की । राजतंत्रवादी-सामंती-पूँजीवादी व्यवस्था वाले देशों में यथार्थवाद की संज्ञा दी ।

आलोचनात्मक या दुर्दशा यथार्थवाद से जुड़े बाल्जाक टॉल्स्टाय आदि लेखकों के महान सृजन की उन्होंने भूरि-भूरि प्रशंसा की उनकी मानक उपलब्धियों से प्रेरणा लेने की बात कही, बावजूद इसके उनका यह भी कहना था कि ये लेखक और इनका यथार्थवादी साहित्य-सृजन सामंती-पूँजीवादी व्यवस्था में विद्यमान यथार्थ की आलोचना- भर करता है, विकृतियों-विरूपताओं से उबरने का कोई रास्ता नहीं रहता, कारण इन लेखकों के पास समाजवाद जैसा कोई वैज्ञानिक विजन (Vision) नहीं था । ये महान लेखक है किंतु मनुष्यता के उज्जवल भविष्य का कोई ठोस वैज्ञानिक नजरिया इनके पास नहीं है । इनके द्वारा चित्रित यथार्थ सामंती- पूँजीवादी समाजों का यथार्थ है । इसके विपरीत क्रांति की सफलता के उपरांत सोवियत रूप में समाजवादी व्यवस्था के तहत न केवल एक नया समाजवादी समाज आया है, एक का मनुष्य का उद्भव भी हुआ है । सोवियत समाज का यथार्थ सामंती-पूँजीवादी समाजों के यथार्थ से मिथ यथार्थ है जिसका चित्रण सोवियत रूस के लेखक कर रहे हैं । उन्होनें इस नये यथार्थ को समाजवादी यथार्थ की संज्ञा दी । इस प्रकार यथार्थवाद- आलोचनात्मक (Critical) तथा समाजवादी (Socialist) दो मंजिलों में बंटा । लुकाच ने यथार्थवाद के जिस चरित्र को उभारा है, मार्क्स तथा एंगेल्स ने यथार्थवाद के जो प्रतिमान दिए है । जाहिर है, वे सब आलोचनात्मक कहे जाने वाले यथार्थवाद और उससे जुड़े महान लेखकों की कृतियों के जरिए ही सामने आए । है । लुकाच ने समाजवादी यथार्थवाद की वास्तविकता और उसके उद्भव को भी अपने विवेचन का विषय बनाया है । यही नहीं, उन्होंने आलोचनात्मक तथा समाजवादी यथार्थवाद के सापेक्षिक

महत्त्व पर भी अपने निष्कर्ष दिए है । इस मुद्दे पर उनके विचारों की चर्चा हम अगली पंक्तियों में करेंगे।

16.7.1 आलोचनात्मक यथार्थवाद के प्रति निष्ठा

इस बात के बारे में कोई शंका नहीं कि आलोचनात्मक यथार्थवाद की उपलब्धियों के प्रति लुकाच की निष्ठा अपरिसीमित है । वस्तुतः इस निष्ठा के कारण ही उन्हें समाजवादी खेमे के अनेक रचनाकारों और विचारकों की आलोचना भी झेलनी पड़ी है । जो उनके कतिपय निष्कर्षों से असहमत रहे हैं । किंतु सच कहा जाय तो लुकाच समाजवादी यथार्थवाद की उपलब्धियों के प्रति भी दूर तक निष्ठावान हैं । उनका मुख्य प्रतिपाद्य आलोचनात्मक यथार्थवाद और समाजवादी यथार्थवाद के बीच विभाजक रेखा खींचने के बजाय दोनों के बीच के घनिष्ठ संबंध-सूत्रों का उद्घाटन है । 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' और समाजवादी यथार्थवाद' शीर्षक अपने निबन्ध में उन्होंने बड़े विस्तार में अपने इस प्रतिपाद्य को विशुद्ध किया है ।

इस संदर्भ में सर्वप्रथम लुकाच ने 'परिप्रेक्ष्य (Perspective) के सवाल को उठाया है । 'समाजवादी यथार्थवाद' का परिप्रेक्ष्य, उनके अनुसार निश्चित रूप से समाज वाद के लिए संघर्ष है । अतएव, समाजवादी यथार्थवाद, आलोचनात्मक यथार्थवाद से, मात्र इस कारण ही भिन्न नहीं है । कि वह एक ठोस समाजवादी परिप्रेक्ष्य पर आधारित है, वरन् इस नाते भी भिन्न है । कि वह समाजवाद की स्थापना के लिए संघर्षरत शक्तियों का चित्रण करने के लिए इस परिप्रेक्ष्य का इस्तेमाल, एक भीतरी व्यक्ति (Insider) के रूप में भीतर से करता है । उसके लिए समाजवादी समाज पूँजीवाद समाज से जुड़ा न रहकर अपने पर स्वतंत्र सत्ता रखता है । वह आलोचनात्मक यथार्थवादियों की तरह पूँजीवादी समाज की उलझनों से मुक्ति पाने की शरणस्थली न होकर उसके अपने जीवन की सच्चाई है । आलोचनात्मक यथार्थवाद का लेखक समाजवाद का चित्रण यदि करता भी है, तो एक बाहरी व्यक्ति (Outsider) के रूप में । समाजवाद का परिप्रेक्ष्य लेखक को इतिहास या समाज को उस रूप में देखने की दृष्टि देता है, जिसमें उनकी अपनी चरितार्थता निहित है । साहित्यिक सर्जना के क्षेत्र में यह बात एक अत्यंत लाभकारी और नए अध्याय की सृष्टि करती है । परंतु चूंकि सामाजिक तथा ऐतिहासिक यथार्थ की सही सौन्दर्यशारिभीता समझ यथार्थवाद की अनिवार्य पूर्व-शर्त है, और इसका संबंध आलोचनात्मक तथा समाजवादी दोनों प्रकार की यथार्थ दृष्टियों से है, अतएव । किसी भी यथार्थवादी लेखक को इस कसौटी पर खरा उतरना आवश्यक है । आलोचनात्मक यथार्थवादी लेखकों में से अनेक इस दृष्टि से सफल रहे हैं । और उन्होंने समाज को उसकी संपूर्णता में भी देखने और चित्रित करने में दूर तक सफलता प्राप्त की है । ये बातें, बावजूद भीतरी व्यक्ति के रूप में चित्रण न करने के, आलोचनात्मक यथार्थवाद को समाजवादी यथार्थवाद से एक दम पृथक नहीं होने देती, वरन् कुछ ऐसे संबंध -सूत्र भी देती है कि दोनों को आपस में जोड़ा जा सके । यथार्थवाद के इन दोनों रूपों के बीच संधि का एक बहुत ठोस आधार सत्य के प्रति ठोस और अविचल आग्रह है । यथार्थ के सही और सत्य चित्रण के प्रति जितनी केन्द्रीयता मार्क्सवादी सौन्दर्य-चिन्तन में प्राप्त है, उतनी किसी अन्य सौन्दर्यशास्त्री दृष्टि में नहीं । सत्य के प्रति यही निष्ठा समाजवाद को यथार्थवाद से जोड़ती है, और यहीं प्रकारांतर से समाजवादी

यथार्थवाद तथा 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' भी एक दूसरे के निकट आते हैं । सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन के अंतर्गत यथार्थवाद की प्रभुता स्थापित करने के संघर्ष में समाजवादी यथार्थवाद के सिद्धान्तविदों के आलोचनात्मक यथार्थवादियों को सदैव अपने सहयोगियों के रूप में स्वीकार किया है । अन्ययार्थवादी और यथार्थ-दृष्टियों में एकता की कड़ी बनता है ।

सर्वहारा वर्ग द्वारा सत्ता छीन लेने के उपरान्त आलोचनात्मक और समाजवादी यथार्थवाद के बीच संबंध की क्या स्थिति हो सकती है, इस प्रश्न का उत्तर देते हु ए लुकाच ने कुछ महत्वपूर्ण बातें कही है । इस बात को सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि जनता के संस्कार सत्ता के बदलते ही आय से आय नहीं बदल जाते । सत्य यह है कि यथार्थ के रूपांतरण के क्रम में ही मनुष्य अपने को भी बदलता है । इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर लेनिन ने कहा था कि समाजवाद का निर्माण पूँजीवादी व्यवस्था में पले-बढ़े लोग ही करेंगे । ऐसी स्थिति में दुर्दशा प्रगतिशील आलोचनात्मक यथार्थवादियों का रूपांतरण भी तत्काल-यक-ब-यर न होकर समय के साथ-साथ, यथार्थ के नए संदर्भो में नये अनुभवों के साथ होगा । कहने का तात्पर्य यह कि नये समाजवादी समाज में आलोचनात्मक यथार्थवाद दृष्टिकोण के अनुरूप ढलता जायेगा । आलोचनात्मक यथार्थवादी लेखक की सत्य तथा यथार्थ के प्रति निष्ठा उसे इस यथार्थ के चित्रण को ही प्रेरित करेगी । कारण तब समाजवाद उसके लिए मात्र एक परिप्रेक्ष्य के रूप में न रहकर उसके अपने अस्तित्व के आधार के रूप में रहेगा, और उससे बचना या उससे अलग होना उसके लिए संभव न होगा । अतएव, कट्टरवादियों से, लुकाच का कहना है कि समाजवादी यथार्थवाद को आलोचनात्मक यथार्थवाद से अलग हटाने की आवश्यकता नहीं है, किंतु चूंकि सच्चे मार्क्सवाद की आधार-शिला वस्तुगत यथार्थ का अन्वेषण ही है, अत: यह मार्क्सवाद के अपने हित में है कि वह 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' के साथ घनिष्ठ संबंध कायम करे । समाजवादी यथार्थवाद का संबंध भविष्य के विषय में ही एक दृष्टिकोण से नहीं, अतीत के भी समाजवादी दृष्टिकोण के संदर्भ में किये गये मूल्यांकन एवं विश्लेषण से है । 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' समाजवादी परिप्रेक्ष्य से संयुक्त होकर अतीत के इस मूल्यांकन एवं विश्लेषण में सक्षम सिद्ध हो सकता है ।

समग्रत:, कहा जा सकता है कि समाजवादी समाज की स्वायत्तता के साथ शनै: शनै 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' अपना रूपान्तरण करता जाएगा और अंततः एक स्थिति ऐसी आएगी जब वह एक विशिष्ट चित्रण-विधि के रूप में रह ही नहीं जाएगा । लुकाच ने समाजवादी यथार्थवाद को आलोचनात्मक यथार्थवाद की तुलना में इस लिए उन्नत माना है । (यद्यपि इस के अर्थ यह नहीं हैं कि समाजवादी यथार्थवाद की सीमाएं नहीं है । और उसकी हर रचना श्रेष्ठ रचना है ।) कि वह लेखक को समाजवादी विचारधारा तथा समाजवाद के परिप्रेक्ष्य के रूप में एक ऐसी गहन अंतदृष्टि प्रदान करता है जिसका आलोचनात्मक यथार्थवाद में अभाव है । इस अंतदृष्टि के फलस्वरूप ही समाजवादी यथार्थवाद का लेखक, पर सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य के ऐसे गहन और व्यापक चित्र प्रस्तुत करता है. जो दूसरी विचारधाराओं के संदर्भ में, संभव नहीं हैं ।

16.7.2 समाजवादी यथार्थवाद की सीमाएँ

लुकाच ने समाजवादी यथार्थवाद और उससे जुड़ी सर्जना की उन सीमाओं का भी उल्लेख किया है, और उन्हें विशद किया है जो सतही राजनीतिक एवं सामाजिक दृष्टि, कट्टरता, सरलीकरण आदि के फलस्वरूप समाजवादी यथार्थवाद की कलात्मकता को क्षति पहुँचाती है, उसे प्रचार या नारेबाजी में बदल देती हैं । उनके अनुसार ऐसी रचना यथार्थ के प्रति ईमानदार भी नहीं रह पाती । इस संदर्भ में उन्होंने एतिहासिक-युग के अतिवादी राजनीतिक पहलुओं और उनके फलस्वरूप सामने आने वाले संकीर्ण साहित्यिक प्रयोजनों का विशेष रूप से जिक्र किया है । उन्होंने मैक्जिम गोर्की द्वारा प्रतिपादित उस क्रांतिकारी स्वच्छन्दतावाद' की आलोचना की है, गोरी ने जिसे समाजवादी यथार्थवाद की एक महत्त विशेषता कहा था । इस क्रांतिकारी स्वच्छन्दतावाद (Revolutionary Romanticism) का सौन्दर्यशास्त्रीय पर्याय कहा है । उनके अनुसार क्रांतिकारी स्वच्छन्दतावाद को अथवा विशुद्ध स्वच्छन्दतावाद, वे मार्क्सवाद तथा यथार्थवाद के लिए विजातीय ही माने जाऐगे।

यथार्थ संबंधी लेखक के अनुभव जितने ही गहन तथा विशुद्ध होंगे, लेखक की सर्जना उतनी ही ऊँचे शिखरों का स्पर्श करेगी । आलोचनात्मक यथार्थवाद ने अतीत और वर्तमान में जो महान लेखक उत्पन्न किए है । उनकी कृतियों का अध्ययन समाजवादी यथार्थवाद के लेखकों को यथार्थ की अधिक गंभीर समझ प्रदान करेगा, यह कहते हुए लुकाच ने आलोचनात्मक यथार्थवाद की उपलब्धियों से समाजवादी यथार्थवाद के लेखकों को प्रेरणा लेने की बात भी कही हे । उनका बल इस बात पर है कि आलोचनात्मक तथा समाजवादी यथार्थ की इन दोनों दृष्टियों में घनिष्ठ संबंध बनें ।

16.8 आधुनिकतावादः यथार्थ के निषेध का दृष्टिकोण

प्रकृतिवाद तथा मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद जैसी छद्म यथार्थ की दृष्टियों के विरोध के साथ लुकाच ने उस आधुनिकतावादी दृष्टिकोण की भी कठोर आलोचना की है वो दो महायुद्धों के फलस्वरूप यूरोपीयकाल में छाई गहन हताशा की दार्शनिक परिणति के रूप में सामने आया । लुकाच ने इस आधुनिकतावाद (Modernism) को न केवल यथार्थ-विरोधी माना है उसे कला विरोधी और मानव-विरोधी भी कहा है । आधुनिकतावाद मनुष्यता के विकास तथा इतिहास और उससे जुड़े वैज्ञानिक सोच को तो अमान्य और अनदेखा करता ही है, मनुष्य की जिजीविषा और कर्मठता को भी नजरंदाज करता है । उनके अनुसार उसके मूल में अस्तित्ववादी दर्शन की वह सोच है वो आदमी को न केवल एक निरीह प्राणी मानती है, उसे अजनबीयत और अकेलेपन की एक शाश्वत नियति भी देती है । लुकाच के अनुसार आधुनिकतावाद, कला की समृद्धि नहीं, उसका निषेध है । वह वस्तुतः कलावाद है जो रूप को कला के वस्तु तत्व से काटकर कलाकृति को पूरी तरह से निस्तारण कर देता है । इस आधुनिकतावाद में परिप्रेक्ष्य के लिए कोई स्थान नहीं है । उसे वह अहेतुक मानता हे । मनुष्य इस दृष्टिकोण के तहत विकासशील सामाजिक प्राणी न होकर खण्डित एकाकी जीवमात्र है जिसे संसार में उसकी इच्छा के विपरीत अभिशप्त होने को फेंक दिया गया है । (Thrown Into Being) न तो उसका कोई अतीत है, न वर्तमान और ना ही भविष्य ना कुछ है- अभिशप्त होने के क्षण । आधुनिकतावाद रुग्ण और पराजय

से ग्रस्त, इतिहास की चेतना से कतई विमुख मानस का दर्शन है । आधुनिकतावाद पर अपनी ये स्थायताएं लुकाच ने फ्रेंज काफ्का, अलवेयरकामू मार्सल प्रस्तुत, मुसिल, जैम्स प्लायस तथा एक्सर्ड नारकों के सृष्टा सेमुअल वेकंट की सर्जना की विशद पड़ताल के भम्र में दी हैं । लुकाच ने आधुनिकतावादी हरिशंकर की आलोचना इस नाते नहीं की है । कि उससे जुड़ी सर्जना में वर्तमान व्यवस्था की विडंबनाओं और विरूपताओं की स्वीकृति और प्रस्तुति है । इस नाते भी नहीं कि उसमें इन विषमताओं से भस्त और ग्रस्त, हारे हुए मनुष्य व चित्रण है। उनका विरोध इस नाते है कि इतिहास की गति तथा नियमों की संपूर्ण अनदेखी के साथ इनमें विडंबनाओं को मनुष्य की असल नियति मान लिया गया है । आदमी तथा उसके संकल्प की पूरी तरह अनदेखी की गई है, और उसकी अभिशप्त नियति के सामाजिक स्त्रोतों की छानबीन का कोई प्रयास नहीं है । परिप्रेक्ष्य-विहीनता का प्रतिफल ही है कि आधुनिकतावाद रूपवाद का पर्याय बन गया है । चीजों को सही रूप में देख पाने की असमर्थता हमें उन्हें विकृत रूप में देखने को प्रेरित करती है, हमें अमूर्तन की ओर ले जाती है । उपन्यास- रचना के क्षेत्र में नायक की मृत्यु, चरित्रों की अनावश्यकता कथानक की व्यर्थता जैसे शगूफे इसी दृष्टिकोण का प्रतिफल है । इसी मनोभूमि में कमी फ्लावेयर ने कहा था- मुझे जो सुंदर मालूम देता है, मैं जो कुछ करना चाहता हूँ वह है, एक ऐसी पुस्तक लिखना, वो किसी चीज के बारे में न हो, बाह्यकाल से जिसका कोई न हो, अपनी शैली के आंतरिक बल पर जो थक सके वैसे विश्व किसी बाह्य सहायता के बिना हवा में टहल रहा है- एक ऐसी किताब जिसका कोई विषय न हो, या जिसका विषय लगभग अदृश्य हो, यदि यह संभव हो सके । यह आत्म चिंतन का हनन तो है ही कला का भी हनन है ।

16.9 लुकाच के साहित्य चिन्तन पर आपत्तियाँ

हम कह चुके है कि लुकाच के साहित्य चिन्तन के अनेक बिन्दुओं पर मार्क्सवादी रचनाकारों और विचारकों ने भी आपत्तियाँ उठाई है । प्रतिबद्ध मार्क्सवादी तारकारवर्त्रोज्न ब्रेश्त से हुई लुकाई की बहस लंबी और ख्यात बहस है । लुकाच की जिन बातों पर तीव्र असहमति दर्ज की गई है । उनमें उनका 19वीं सदी के आलोचनात्मक यथार्थवादी कथाकारों को यथार्थवाद का शीर्षस्थ लेखक मानना, उन्हें एक आदर्श के रूप में प्रस्तुत करना, समाजवादी यथार्थवाद की उपलब्धियों को आलोचनात्मक यथार्थवादी सर्जना से कमतर आँकना, रूपगत, शैली और शिल्प के प्रयोगों को यथार्थ-विरोधी कहना, तथा काफ़्का और कामू जैसे लेखकों की अतिशय कठोर आलोचना जैसी बातें हैं । कहा गया है कि काफ्का वैसे लेखकों की सर्जनता कोरी प्रतिक्रियावादी नहीं है, पूंजीवादी व्यवस्था पर उसके जरिए खरोंचे लगी हैं, जिनकी अनदेखी लुकाच ने की है । लुकाच के साहित्य चिंतन पर उठाई गई आपत्तियों का प्रकरण और उन पर हुई बहस लंबी बहस है, जिसके विस्तार में आना प्रसंगांतर होगा । संप्रति, इतना ही अरस्तु

16.10 सारांश

जार्ज लुकाच मार्क्सवादी चिन्तन के प्रखर साहित्य समालोचक हैं उन्होनें अपने चिन्तन और लेखन से मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र की नींव रखी है । अपने स्फ्रुट लेखों और पुस्तकों से उनकी मौलिक दृष्टि अतीत और भविष्य को आलोकित करने वाली तर्क सम्मत चिन्तन साहित्य जगत् में अपना विशेष महत्त्व रखती है ।

जॉर्ज लुकाच ने प्रस्तुत पाठ में कुछ आधारभूत बिन्दु उभार कर अपने चिन्तन को सामने रखा है । यही केवल आलोचना के सूत्र ही नही है अपितु इतिहास दर्शन भी हे । लुकाच की शैली में अपने पक्ष की स्थापना तो है ही, विरोधी पक्ष पर तीखा प्रहार भी हे । सर्व प्रथम वे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को महत्त्व देकर साहित्यकार की सोच की जाँच पड़ताल करते हैं । और रची हुई कृति का मूल्यांकन करते हुए साहित्य की रचनाभूमि की शक्ति का उद्घाटन करते है । उन्होंने यथार्थवाद को लेकर निर्मान्त स्थापनाएं की है । एक ओर उन्होनें प्रकृतिवाद के रूप में प्रचलित यथार्थवाद पर प्रहार किया और उसे मनुष्य को पशुता के धरातल पर चित्रित करने के लिये फटकार लगायी है तो दूसरी ओर व्यक्ति मनोविज्ञान के नाम पर कुण्ठाओं और विकृतियों को साहित्य में परोसने वाले रचनाकारों पर भी प्रहार किया है ।

जॉर्ज लुकाच ने दो विश्वयुद्धों के बीच उपजी हुई उस आधुनिकतावादी मानसिकता की भी पड़ताल की है, जिसमें से अस्तित्ववादी विचारधारा का जन्म हुआ । लुकाच ने अतीत में झाँक कर बाल्जाक तथा टॉल्स्टाय और शोलोखोव जैसे रचनाकारों की कृतियों पर प्रकाश डाला है । सबसे बड़ी देन जॉर्ज लुकाच की यह है कि उन्होनें स्वयं समाजवादी यथार्थवाद और आलोचनात्मक यथार्थवाद के मध्य रेखाएँ खींची हैं और दोनो को एक दूसरे के पूरक के रूप में प्रस्तुत किया है । इस पाठ में लुकाच के मौलिक चिन्तन की एक झलक प्राप्त की जा सकती है ।

16.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. जार्ज लुकाच के विचारों के साक्ष्य पर यथार्थवाद के स्वरूप तथा चरित्र को विशुद्ध कीजिए?
2. किन विचारगत तथा कलागत प्रवृत्तियों को जार्ज लुकाच ने छद्म या मिथ्या यथार्थ कहा है? उनके स्वरूप तथा चरित्र का विवरण देते हुए उन्हें स्पष्ट कीजिए?
3. आधुनिकतावाद को लुकाच ने किन कारणों से यथार्थ विरोधी माना है? सारगर्भित उत्तर दीजिए ।
4. यथार्थवादी आन्दोलन में आलोचनात्मक तथा समाजवादी यथार्थवाद के सापेक्षिक महत्त्व की चर्चा कीजिए ।
5. लुकाच के आलोचकों का कथन है कि लुकाच ने समाजवादी यथार्थवाद के महत्व को कमतर करके आंका है । इस आरोप में कहाँ तक सच्चाई है? लुकाच के विचारों के आधार पर उत्तर दीजिए ।

16.12 संदर्भ ग्रन्थ

1. जार्ज लुकाच: स्टडीज इन यूरोपियन रियलिज्म
2. जार्ज लुकाच: द कन्टेमपरेरी रियलिज्म

3. शिवकुमार: मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन: इतिहास तथा सिद्धान्त- अप्राप्य
4. ओम प्रकाश ग्रेवाल साहित्य और विचारधारा, आधार प्रकाशन, पंचकला, हरियाणा

इकाई -17 आइ.ए. रिचर्ड्स का साहित्य-चिन्तन

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 आइ.ए. रिचर्ड्स एवं उनके साहित्य सिद्धान्त

17.2.1 रिचर्ड्स: व्यक्तित्व और कृतित्व-परिचय

17.2.2 रिचर्ड्स का मूल्य सिद्धान्त

17.2.3 रिचर्ड्स का संप्रेषण-सिद्धान्त

17.2.4 निष्कर्ष

17.3 रिचर्ड्स का व्यावहारिक समीक्षा सम्बन्धी प्रयोग और सिद्धान्त

17.3.1 व्यावहारिक आलोचना का प्रयोग एवं विश्लेषण

17.3.2 रिचर्ड्स की व्यावहारिक आलोचना सम्बन्धी समस्याएँ

17.3.3 निष्कर्ष

17.4 सारांश

17.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

17.6 संदर्भ ग्रंथ

17.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य है कि आप :

- आधुनिक आलोचना के क्षेत्र में आइ. ए. रिचर्ड्स के योगदान को जान सकें ।
- उनके व्यक्तित्व और कृतित्व से परिचित हो सकें ।
- उनके प्रमुख आलोचना-सिद्धान्तों एवं व्यावहारिक आलोचना के प्रयोगों की जानकारी प्राप्त कर सकें ।

17.1 प्रस्तावना

आधुनिक युग का प्रमुख आधार तार्किकता और वैज्ञानिक दृष्टिकोण है । 19 वीं-20वीं सदी में ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र के समक्ष चुनौती थी कि वे अपने आपको वैज्ञानिक कसौटी पर खरा सिद्ध करें । साहित्यालोचन के क्षेत्र में विज्ञान की इस चुनौती का सामना करने वाले विद्वानों में ईवर आर्मस्ट्रोंग रिचर्ड्स अग्रणी हैं । रिचर्ड्स में आधुनिक जीवन में कविता की प्रासंगिकता पर प्रकाश डाला एवं संपूर्ण एवं स्वस्थ मानव-जीवन में काव्य के महत्व और मूल्य पर भी विचार किया। रिचर्ड्स ने मनोविज्ञान को आधार बनाते हुए अपनी आलोचना-पद्धति का प्रतिपादन किया, साथ ही व्यावहारिक आलोचना के प्रयोगों द्वारा काव्य की आलोचना का नया आयाम विकसित किया ।

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक' दि प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटीसिज्म में रिचर्ड्स का कहना है कि आलोचना-विषयक कुछ मौलिक प्रश्नों पर अब तक विचार ही नहीं हुआ है जैसे कोई कविता पढ़ने पर उसकी अनुभूति दूसरी अनुभूति से क्यों श्रेष्ठ है? एक चित्र की तुलना में दूसरे चित्र को क्यों पसन्द किया जाए? संगीत कैसे सुना जाए कि उसमें व्यतीत क्षण सर्वाधिक मूल्यवान सिद्ध हो? किसी कलाकृति के संबंध में एक विचार दूसरे की अपेक्षा क्यों अच्छा नहीं माना जाता? चित्र, कविता या संगीत कहते ही किसे हैं? अनुभूतियों की तुलना कैसे की जा सकती है? मूल्य क्या हैं? इत्यादि । रिचर्ड्स की धारणा है कि ये प्रश्न आज तक अनुत्तरित हैं; जिनके उत्तर पाने का प्रयास उन्होंने अपने चिंतन में किया है ।

17.2 आर.ए. रिचर्ड्स और उनके साहित्य -सिद्धान्त

19 वीं सदी के एक कवि और उपन्यासकार टॉमस लव पीकॉक का कहना है -

"हमारे युग में कवि सभ्य समुदाय में अर्द्ध-बर्बर है । वह अतीत में जीता है । उसके विचार, भाव साहचर्य सभी बर्बर व्यवहारों, विलुप्त रीतियों और खंडित अंधविश्वासों में संबद्ध हैं, उसकी बुद्धि की गति केंकड़े की तरह पीछे की और है ।"

काव्य पर पीकॉक के इस व्यंग्यात्मक प्रहार से कवि -वर्ग ही नहीं, आलोचक वर्ग भी विचलित हो उठा । रिचर्ड्स ने काव्यालोचना के सिद्धान्तों को वैज्ञानिक आधार देने का प्रयास किया उसके पीछे शायद पीकॉक का व्यंग्य ही कारण है।

सभी विज्ञानों में से साहित्य की प्रकृति के सर्वाधिक अनुकूल होने के कारण रिचर्ड्स ने 'मनोविज्ञान' को काव्यलोचना की प्रणाली के प्रतिपादन में व्यापक रूप से प्रयुक्त किया । वैज्ञानिक के इस आग्रह के कारण ही रिचर्ड्स कलाजन्य अनुभूति को अलौकिक नहीं मानते। रिचर्ड्स के अनुसार आधुनिक मनोविज्ञान लौकिक और अलौकिक भेद को नहीं मानता अत: मन में कोई अनुभूति लौकिक रूप में हो और कोई अलौकिक रूप में; ऐसा संभव नहीं है । कला या साहित्यजन्य आनन्द की आलौकिक कोटि को नकारना परंपरागत पाश्चात्य एवं भारतीय काव्यशास्त्र दोनों के विपरित है । भारतीय काव्यशास्त्रीय परंपरा में भी रस को 'बह्मनन्द-सहोदर' एवं 'वेद्यान्तर स्पर्शशून्य' कहा गया है जो उसकी 'लोकोत्तरता' की व्याख्या है ।

रिचर्ड्स के अनुसार

"जब हम कोई चित्र देखते हैं या कविता पढ़ते हैं या संगीत सुनते हैं तब कुछ भी ऐसा नहीं करते जो गैलरी में जाते समय या सुबह कपड़े पहनते समय नहीं कर रहे थे ।"

इन दोनों प्रकार की अनुभूतियों में अंतर केवल सूक्ष्मता का है । "साधारण अनुभूतियों की तुलना में सौंदर्य की अनुभूतियों का संघटन अधिक सूक्ष्म होता है किन्तु वे नयी और भिन्न कोटी की वस्तु बिलकुल नहीं होती ।"

रिचर्ड्स आलोचना को विशेषत: काव्य की आलोचना को परिभाषित करते हुए मनोविज्ञान का आधार ग्रहण करते हुए उसे अनुभूतियों के पृथक्करण और मूल्यांकन का प्रयास बताते हैं । रिचर्ड्स के अनुसार आलोचना के दो उद्देश्य हैं -

(क) अनुभूतियों का पृथक्करण,

(ख) अनुभूतियों का मूल्यांकन,

तथा आलोचना के साधन हैं -

(क) अनुभूतियों के स्वरूप का ज्ञान

(ख) मूल्यांकन के सिद्धान्त का ज्ञान तथा

(ग) संप्रेषण के सिद्धान्त का ज्ञान

पीकॉक के अनुसार आधुनिक युग में विज्ञान का विकास काव्य के ह्रास का सबसे बड़ा कारण है । आज जब दर्शन और विज्ञान सत्य के अनुसंधान के समर्थ साधन के रूप में उपलब्ध हैं, तब काव्य के मिथकों और स्वप्न-चित्रों की क्या उपयोगिता है?

आज विज्ञान के युग में आप सभी जानते हैं कि चाँद की धरती ऊबड़-खाबड़ है और किसी भी नजर से सुन्दर नहीं है । तब भी कोई कवि अपनी नायिका के चेहरे की सुन्दरता की तुलना चाँद से करे तो काव्य के अरसिक के लिए यह विसंगति ही होगी । आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी अपने प्रसिद्ध निबंध 'कविता' क्या है?' में सभ्यता के विकास के साथ-साथ कविकर्म में आने वाली कठिनाइयों का संकेत किया है ।

'अनुभूति', 'मूल्य' और 'संप्रेषण' इन तीनों का संबंध मनोविज्ञान से है । अत: रिचर्ड्स के आलोचना संबद्ध चिंतन को मनोविज्ञान पर आधारित कहा जाता है ।

रिचर्ड्स का यह भी कहना है कि आलोचना के लिए रूढ़ शब्दावली काम में लाई जाती रही है । वह वक्तव्य को स्पष्ट करने के बजाय उसे काव्य की आलोचना में लय (Rhythm) बल (Stress) कथानक (plot) चरित्र (characters) आदि प्रचलित शब्दों का व्यवहार इस तरह किया जाता है मानों ये वस्तुओं के आत्मगत धर्म हों जबकि सही तथ्य यह है कि उनसे हमारे भीतर कोई न कोई प्रभाव उत्पन्न होता है । इस कारण रिचर्ड्स आलोचना के दो भेद करते हैं -

1. आलोचनात्मक
2. प्राविधिक

रिचर्ड्स के अनुसार "अनुभूतियों को उत्पन्न करने वाले साधनों से संबद्ध सभी उक्तियाँ प्राविधिक हैं किन्तु आलोचनात्मक उक्तियों का संबंध अनुभूतियों के मूल्यों से है, साथ ही उन तर्कों से भी जिनकी सहायता से किसी अनुभूति को मूल्यवान या मूल्यहीन समझा जाता है ।"

अनुभूतियों के मूल्यों के संबंध में विस्तृत अध्ययन हम रिचर्ड्स का मूल्य-सिद्धान्त प्रकरण में करेंगे एवं प्राविधिक आलोचना के संबंध में 'संप्रेषण सिद्धान्त' एवं 'व्यावहारिक आलोचना' के अन्तर्गत जानकारी प्राप्त करेंगे ।

17.2.1 रिचर्ड्स : व्यक्तित्व और कृतित्व परिचय

आइवरी आर्मस्ट्रोंग रिचर्ड्स का जन्म इग्लैंड के चेशायर में सन् 1893 ई. में हुआ। इनकी शिक्षा क्लिफ्टन और केम्ब्रिज में हुई । इन्होंने केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में आचार-विज्ञान में स्नातक उपाधि प्राप्त की । तभी इन्हें केम्ब्रिज स्कूल ऑफ इंग्लिश' में आलोचना-सिद्धान्त पर भाषण देने का निमंत्रण मिला जो उनके साहित्यिक विचारों के प्रसार के लिए निर्णायक

साबित हुआ । इन्होंने शिक्षक के रूप में भी लम्बे समय तक केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में कार्य किया । इनकी सभी महत्वपूर्ण कृतियाँ 'केम्ब्रिज' में प्राप्त अनुभवों पर आधारित हैं ।
आलोचना के क्षेत्र में इनका पहला ग्रंथ दि फाउंडेशन ऑफ ईथेटिक्स' है, जिसका प्रकाशन सन् 1922 ई. हुआ । इस ग्रंथ के सह लेखक सी.के ऑग्डेन और जेम्स वुडन, स्नातक कक्षा के रिचर्ड के सहपाठी थे । इस ग्रंथ में सौन्दर्य को वस्तुनिष्ठ न मानकर दर्शक के मन पर पड़ने वाले प्रभाव पर आधारित माना गया है । इसी दृष्टिकोण को आगे बढ़ाते हुए रिचर्ड्स काव्य का सौन्दर्य भी काव्य में देखने के बजाय उससे उत्पन्न होने वाले प्रभाव में देखते हैं ।
'दि मीनिंग ऑफ मीनिंग' नामक रिचर्ड्स की अन्य कृति सन् 1923 में प्रकाशित हुई । इस कृति के भी सहलेखक 'ऑग्डेन थे । इसमें अर्थ-संबंधी परम्परागत मतों का खंडन किया गया है एवं भाषा का संकेतात्मक (वैज्ञानिक) तथा रागात्मक दो रूपों में विभाजन किया गया है।

सन् 1924 ई.में रिचर्ड्स की 'दि प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटीसिज्म नामक महत्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित हुई जिसमें मनोविज्ञान पर आधारित आलोचना की नई पद्धति की सैद्धान्तिक प्रस्तुति है ।
सन् 1929 में प्रकाशित 'प्रैक्टिकल क्रिटीसिज्म' रिचर्ड्स का दूसरा सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ है जिसमें काव्यालोचना के सिद्धान्तों के व्यावहारिक प्रयोग एवं प्रयोगों से प्राप्त निष्कर्षों का वर्णन है । ये दोनों ग्रंथ उनके कृतित्व में सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं जिन्होंने उन्हें साहित्यालोचना के आकाश में चमकदार नक्षत्र के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया ।
सन् 1926 में इनका अन्य ग्रंथ 'साइंस एण्ड पोइट्री' प्रकाशित हुआ था जिसमें काव्यालोचना को वैज्ञानिक बनाने का प्रयास है । इसकी एक और पुस्तक 'दि फिलोसॉफी ऑफ रेटॉरिक है जो सन् 1936 ई. में प्रकाशित हुई ।
सन् व 1939 ई. में रिचर्ड्स अमेरिका में बस गए जहाँ वे हार्वर्ड विश्वविद्यालय में प्रोफेसर रहे । सन् 1979 ई. में इस प्रसिद्ध चिंतक का निधन हो गया ।

17.2.2 रिचर्ड्स का मूल्य-सिद्धान्त

रिचर्ड्स का प्रयास था कि काव्य और आलोचना को वैज्ञानिक आधार देकर युगानुकूल बनाया जाए । काव्य एवं आलोचना के लिए सर्वाधिक अनुकूल विज्ञान मनोविज्ञान हो सकता था । अत: रिचर्ड्स ने अपने ग्रंथों में मनोविज्ञान का व्यापक रूप से उपयोग किया । वैसे भी 19 वीं सदी में आए फ्रायड के मनोविश्लेषण के नए सिद्धान्तों ने साहित्य को व्यापक रूप से प्रभावित किया था ।
रिचर्ड्स के आलोचना - सिद्धान्त के दो आधार स्तंभ है-

1. 'मूल्य' का लेखा,
2. संप्रेषण का लेखा

'मूल्य' मूलत: अर्थशास्त्र का शब्द है । अर्थशास्त्र से ही पहले दर्शन शास्त्र में फिर मनोविज्ञान व साहित्य के क्षेत्र में पहुँचा । रिचर्ड्स ने मूल्य को इस प्रकार परिभाषित

"मूल्य किसी वस्तु का वह धर्म (गुण) हैं जिसमें दूसरा परिशंसन (Appreciation) अथवा रूचि (Interest) निहित हो ।" अर्थात् हमारे लिए रूचिकर वस्तु ही मूल्यवान है ।

रूचि का संबंध अनुभूति, इच्छा तथा प्रवृत्ति से है । अत: मूल्य की मनोवैज्ञानिक धारणा के अनुसार 'मूल्य' और 'मूल्य' की अनुभूति में कोई भेद नहीं है । रिचर्ड्स ने भी मनोविज्ञान को अपने मूल्य-सिद्धान्त का आधार बनाया है । "मन आवेगों (Impulses) का तंत्र है ।" मानते हुए वे आवेग की अपने ग्रंथ दि प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटीसिस्थ्य में इस प्रकार परिभाषित करते हैं -

"हमने आवेग उस प्रक्रिया को कहा है जिसमें कोई मानसिक घटना घटित होती है; उस प्रक्रिया का आरंभ होता है किसी उद्दीपन से और अवसान होता है किसी कार्य में ।"

आगे रिचर्ड्स आवेगों के भी दो भेद करते हैं - (क) इच्छा (appentency) और (ख) द्वेष (aversion) इच्छा प्रवृत्ति मूलक आवेग है और द्वेष निवृत्ति मूलक । मानव इच्छा को संतुष्ट करने के लिए जितना प्रयत्न करता है, उतना ही द्वेष को दूर करने के लिए भी ।

रिचर्ड्स का मूल्य-सिद्धान्त इच्छाओं की संतुष्टि की मनोवैज्ञानिक धारणा पर आधारित है । कई बार अनेक आवेग मानव मन को एक ही समय में अपनी ओर खींचते हैं; किन्तु आवेगों की अनेकता तथा भिन्नता के कारण कार्य की प्राथमिकता का निर्धारण आसान नहीं होता । उदाहरण के लिए यदि व्यक्ति की आँखे किसी सुन्दर वस्तु को देखने में तल्लीन है और कान किसी पीड़ित व्यक्ति का करूण क्रन्दन सुनकर उस और उन्मुख होते हैं तो इन दोनों भिन्न आवेगों में संघर्ष अनिवार्य है । मन की सर्वाधिक वांछित स्थिति वह है जिसमें संघर्षरत सभी आवेग संतुष्ट होकर शांत हो जाएँ । यह आदर्श किन्तु असंभव प्राय स्थिति है । दूसरी काव्य स्थिति वह है जिसमें अधिकतम आवेग संतुष्ट हों और न्यूनतम आवेग कुंठित हों ।

काव्य इसी प्रकार के विपरित आवेगों को समन्वित करने का कार्य करता है । काव्य में कवि की सुसंघटित व्यवस्थित, संतुलित व समन्वित अनुभूति युक्त कला भावक या पाठक को भी उसी तरह की अनुभूति देती है । यह पाठक के आवेगों के संघर्ष से दूर कर परम विघ्रांती (Poise) की अनुभूति कराती है ।

स्पष्ट है कि रिचर्ड्स के मत में "कोई भी वस्तु जो इच्छा को संतुष्ट करती है, मूल्यवान है।" साथ ही जो वस्तुएँ इच्छा पूर्ति में सहायक नहीं हैं, वे मूल्यहीन हैं । अच्छी और बुरी इच्छाओं में कोई भेद नहीं है । अर्थात रिचर्ड्स के न चाहते हुए भी उन्को मूल्य सिद्धान्त व्यावहारिक नैतिकता को चुनौती देता है । उन्होंने कहा भी है "नैतिकता सिर्फ दुनियादारी है और आचार संहिता इष्ट सिद्धि की सामान्यतम व्यवस्था की अभिव्यक्ति है ।" आवेगों या इच्छाओं की संतुष्टि को 'मूल्य' का एकमात्र आधार मानने पर नैतिकता की सही स्थिति हो सकती हैं -

नैतिकता = मूल्य = इच्छाओं की संतुष्टि

रिचर्ड्स आवेगों की संतुष्टि को 'मूल्य' का आधार तो मानते ही हैं; वे इस काव्य के वर्गीकरण का भी आधार मानते हुए काव्य के दो भेद करते हैं -

(क) **अपवाजी (Occlusive)** जो सजातीय आवेगों पर आधारित हैं ।

(ख) **अंतर्वेशी (Indusive)** जो विजातीय आवेगों पर आधारित है ।

मनोविज्ञान के अनुसार मानसिक क्रियाएँ, प्रतिक्रियाएँ 'अवचेतन' के अंधकार में स्वत: घटित होती रहती हैं । इसी को आधार बनाकर रिचर्ड्स कहते हैं कि काव्य की रचना और अनुभूति दोनों किसी सचेत योजना के तहत नहीं होती, बल्कि अवचेतन के अंधकार में ही काव्य की सृष्टि भी होती है और काव्य की अनुभूति भी । मानसिक आवेगों की विक्रांति में ही काव्य की मूल्यक्ता है ।मनोविज्ञान को आधार बनाने के कारण रिचर्ड्स के मूल्य-सिद्धान्त में अनेक विसंगतियाँ उत्पन्न हो गई हैं-

1. मनोविज्ञान स्वयं विकासशील विज्ञान है जिसकी प्रतिदिन नयी-नयी मान्यताएँ सामने आ रही हैं । अत: मनोविज्ञान की एकांगी एवं तात्कालिक मान्यताओं पर किसी स्थायी आलोचना सिद्धान्त का निर्माण कठिन है ।
2. रिचर्ड्स यह स्पष्ट नहीं कर पाते कि मानसिक अराजकता की स्थिति से हम संघटन की स्थिति में कैसे जाते हैं? यदि हमें अवचेतन मन के व्यापारों की जानकारी नहीं है, मात्र अनुमान है तो आवेगों की शांति की जानकारी भी संभव नहीं होनी चाहिए ।
3. आवेगों की संतुष्टि को काव्यालोचना का उद्देश्य बनाकर रिचर्ड्स काव्य को मानसिक चिकित्सा का साधन मात्र बना देते हैं एवं काव्य के स्वीकृत उद्देश्य 'आनंद' को उपेक्षित कर देते हैं । किसी कलाकृति या काव्य की वस्तुगत संरचना को देखने से इनकार करने की तर्कसंगत परिणति अराजकता में होती है । डी.जी जेम्स के शब्दों में कहें तो 'क्यों' कि आवेगों का संतुलन तथा सामंजस्य जिनकी उत्पत्ति महान् काव्य से मानी जाती है, बेहोशी की किसी निर्दोष दवा से भी उत्पन्न हो सकते हैं । ऐसी स्थिति में बेहोशी की दवा ओर काव्य ये दोनों ही मूल्यवान अनुभूतियों के समान उद्दीपक सिद्ध होते हैं ।"
4. जिन मनोवैज्ञानिक धारणाओं पर रिचर्ड्स का मूल्य-सिद्धान्त आधारित है, वे मनोवैज्ञानिकों में भी विवादास्पद हैं ।
5. रिचर्ड्स का आवेगों की विघ्रांती को काव्य का प्रयोजन कहना अरस्तु 'विरेचन सिद्धान्त' की याद दिलाता है । अरस्तु विरेचन के द्वारा भावों के उपशम की बात कह कर भी आनंद का खंडन नहीं करते किन्तु रिचर्ड्स 'आनंद' को काव्य के उद्देश्य के रूप में स्पष्टत: अस्वीकार करते हैं-

   "यह मानना कि कोई कुशल पाठक आनंद के लिए कविता पढ़ने बैठता है, वैसा ही हास्यास्पद है जैसा यह मानना कि कोई गणितज्ञ आनन्द के लिए समीकरण हल करता है ।
6. रिचर्ड्स के मूल्य-सिद्धान्त को स्वीकार करने पर कविता का संरचनात्मक विश्लेषण सर्वथा अनुपयोगी हो जाता है, क्योंकि मूल्य-सिद्ध में पाठक पर कविता का पड़ने वाला प्रभाव ही महत्वपूर्ण है ।

17.2.3 रिचर्ड्स का संप्रेषण - सिद्धान्त

मूल्य-सिद्धान्त के बाद रिचर्ड्स की आलोचना पद्धति का दूसरा आधार-स्तंभ संप्रेषण-सिद्धान्त है । कलाकार के लिए कलाएँ या काव्य वह माध्यम है जिसके द्वारा वह अपनी अनुभूतियों को दूसरे व्यक्तियों तक पहुँचाने का प्रयत्न करता है । अनुभूतियाँ प्रत्येक व्यक्ति के मन में

होती है । कलाकार और जनसाधारण की अनुभूति में तात्विक अंतर नहीं होता मात्र उसकी अभिव्यक्ति में अंतर होता है । साधारण व्यक्ति की अनुभूति 'गुंगे के गुड़' के समान होती है वहीं कलाकार न केवल अनुभूति कर सकता है बल्कि उसका प्रभावशाली रूप में अन्य व्यक्तियों तक संप्रेषण भी कर सकता है । कलाकार की अनुभूतियों से तादात्म्य अनुभव करते हैं ।

प्रभावी अभिव्यंजना को ही संप्रेषण कहते हैं संप्रेषण में समर्थ व्यक्ति की कलाकार कहलाता है । रिचर्ड्स के अनुसार "संप्रेषण का अर्थ न तो अनुभूति का यथावत अंतरण है और न दो व्यक्तियों के बीच अनुभूतियों का तादात्म्य (identical dcoerience) हैं । बल्कि कुछ अवस्थाओं में विभिन्न मनों की अनुभूतियों की अत्यन्त समानता ही संप्रेषण है । "

संप्रेषण प्रक्रिया के संबंध में रिचर्ड्स के मत की कुछ प्रमुख बातें निम्नानुसार हैं-

1. एक मन की अनुभूति से दूसरे मन को प्रभावित होना संप्रेषण के लिए सर्वाधिक आवश्यक है।
2. दोनों अनुभूतियों में समानता हो ।
3. दूसरी अनुभूति स्वतंत्र रूप से उत्पन्न न होकर पहली अनुभूति से प्रेरित होकर उत्पन्न हो ।
4. संप्रेषण के लिए दोनों अनुभूतियों में समानता का होना पर्याप्त है, समानता की मात्रा का प्रश्न गौण है । किन्तु यह समानता जितनी अधिक होगी, संप्रेषण उतना ही आसान व सफल होगा ।

अनुभूति की समानता की मात्रा कलाकार की अभिव्यंजना की क्षमता व भावक या पाठक की सहृदयता पर निर्भर हे । अनुभूतियों में समानता व्यक्ति के संस्कार शिक्षा, जीवन पद्धति, परिस्थितियों व वातावरण पर निर्भर है । उदाहरण के लिए कोई धनाढ्य व्यक्ति किसी फुटपाथ पर रहने वाले भूखे व निराश्रित व्यक्ति की पीड़ा की अनुभूति को सुन या देखकर उसके समान अनुभूति महसूस नहीं कर सकता । संप्रेषण की सफलता के लिए असाधारण मात्रा में अनुभूतियों की समानता अपेक्षित है । रिचर्ड्स का संप्रेषण सिद्धान्त कुछ सीमा तक भारतीय काव्यशास्त्र के साधारणीकरण के सिद्धान्त से मिलता जुलता है ।

रिचर्ड्स संप्रेषण-सिद्धान्त में भी मनोविज्ञान को आधार मानते हुए संप्रेषण को कलाकार या कवि के अचेतन (unconscious) की प्रक्रिया मानते हैं । उनके अनुसार -

1. कलाकृति या काव्य की रचना के समय कलाकार संप्रेषण के लिए सचेत प्रयत्न नहीं करता। यदि कलाकार या कवि संप्रेषण के लिए सजग रहेगा तो उसकी रचना निम्न कोटी की हो जाएगी ।
2. कलाकार की अनुभूति और कलाकृति में जितना संवाद (मेल) होगा, उसी अनुपात में उसकी संप्रेषण क्षमता भी होगी । इस प्रकार रिचर्ड्स काव्य में अनुभूति की प्रमाणिकता के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं ।

कलाकृति में अनुभूति का सच्चा निरूपण उसे संप्रेषणीय बनाता है । इस पर विद्वानों में कोई मतभेद नहीं है । किन्तु रिचर्ड्स की यह धारणा कि संप्रेषण अचेतन प्रक्रिया है; विद्वानों में विवादास्पद है । कई महान् कलाकार अनुभूति के प्रभावी संप्रेषण में शब्द चयन, छंद और

लय के निर्माण, बिम्ब विधान या अप्रस्तुत विधान को अत्यन्त सजगता से काव्य में स्थान देते हैं । रिचर्ड्स कलाकार की आत्म-संतुष्टि का प्रश्न उठाकर संप्रेषण का अचेतन प्रक्रिया घोषित करते हैं किन्तु केवल स्वात: सुखाय कोई रचनाकार रचना नहीं करता । लोक संग्रह का उद्देश्य रखने वाले तुलसीदास का ही नहीं, कबीर,

जायसी जैसे साधकों को काव्य भी लोक के उद्बोधन के लिए हैं । कालिदास स्वयं को 'कवि यशाप्रार्थी' कहते है । इससे स्पष्ट है कि काव्य की रचना में कवि का सचेतन होना आवश्यक है । प्रसिद्ध कवि इलियट कहते हैं-

"काव्य लिखने में बहुत कुछ ऐसा होता है कि जिसे सचेतन और सुविचारित होना ही है ।" इस प्रकार संप्रेषण को अचेतन प्रक्रिया प्रतिपादित करने का रिचर्ड्स का मत सर्वमान्य नहीं है ।

संप्रेषण के संबंध में रिचर्ड्स की दूसरी धारणा अधिक महत्वपूर्ण है । इसमें रिचर्ड्स का कहना है कि जिस कलाकार की रचना उसके मन में उत्पन्न अनुभूतियों के समान अनुभूतियाँ पाठक या भावक के मन में भी जगा सके और उसकी अनुभूतियाँ रचनाकार की अनुभूतियों से प्रेरित हो तो इस प्रक्रिया को संप्रेषण कहा जाता है । जिसकी रचना में जितनी प्रभावशाली संप्रेषणीयता होती है, वह उतना ही बड़ा कवि या कलाकार होता है।

रिचर्ड्स के अन्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त उनके संप्रेषण-सिद्धान्त पर आधारित हैं ।

भावक में कलाकार के समान अनुभूतियाँ उत्पन्न करने के लिए रिचर्ड्स अलग-अलग स्वरूप घटक-तत्वों को रेखांकित करते हैं -

(क) कविता के लिए लय, (rhythem) छन्द (metre), स्वर-समायोजन (tune or Adence)

(ख) संगीत के लिए लय, स्वर-समायोजन, तान या आरोह - अवरोह,

(ग) चित्रकला में रूपरेखा और रंग,

(घ) मूर्तिकला में आकार और उभार ।

अत: रिचर्ड्स प्रभावशाली संप्रेषण के लिए शब्दावली, लय, छन्द, बिंब को काव्य के प्रमुख घटक तत्व मानते हैं, यद्यपि वे काव्य के लिए सर्वाधिक महत्व अनुभूति को देते है।

इसी आधार पर रिचर्ड्स ने भाषा के दो रूप माने हैं -

1. वैज्ञानिक, प्रतीकात्मक, निर्देशात्मक या सूचनात्मक और
2. रागात्मक / रिचर्ड्स रागात्मक भाषा को काव्य की भाषा मानते हैं ।

रिचर्ड्स के अनुसार "अक्षरों के अनुक्रम से जन्य आकांक्षाओं, संतुष्टियों, निराशाओं तथा विस्मयों का ग्रंथन लय है।" लय की यह परिभाषा काव्य के साथ -साथ चित्रकला, मूर्तिकला व वस्तुकला पर भी लागू होती है । रिचर्ड्स छंद को

"कालिक लयात्मक अनुक्रम का जटिलतर तथा विशिष्टतर रूप" मानते हैं । छंदयुक्त पाठ में यदि तुक का भी प्रयोग हो तो आकांक्षा सुनिश्चित प्राय हो जाती है । उदाहरण के लिए कवि-सम्मेलनों व मुशायरों में कवि या शायर के आधी पंक्ति पढ़ते ही अर्थ एवं तुक के आधार पर उसे कई बार श्रोता ही पूरी कर देते हैं । रिचर्ड्स यह मानते हैं कि छंद शब्द में नहीं बल्कि

हमारे मन में रहता है । लय और छंद को विषयगत मानकर विषयगत मानते हैं; यह रिचर्ड्स की सौन्दर्य विषयक सामान्य धारणा के अनुरूप है ।

रिचर्ड्स कहते हैं कि गद्य में पूर्वगत शब्दों का प्रभाव थोड़ा ही आगे बढ़ता है जबकि इसको और प्रभावी बनाता है । शब्दों के प्रभाव की इस प्रसरणशीलता के कारण गद्य की अपेक्षा पद्य को याद रखना आसान होता है । अत: रिचर्ड्स लय व छंद से काव्य का घनिष्ठ संबंध मानते हैं एवं उसे काव्य की संप्रेषणीयता में आवश्यक समझते हैं ।

17.2.4 निष्कर्ष

रिचर्ड्स के साहित्य चिंतन में उनके दोनों सिद्धान्त 'मूल्य-सिद्धान्त' एवं 'संप्रेषण-सिद्धान्त' मनोविज्ञान की आधारभूमि पर प्रतिष्ठित हैं । 'मूल्य-सिद्धान्त' के प्रतिपादन से रिचर्ड्स कला के लिए सिद्धान्त का विरोध करते हैं किन्तु 'मूल्य' को व्यक्ति की रूचि, पसंद पर आधारित मानकर काव्य या कला का सामाजिक उद्देश्य को स्वयं ही प्रभावहीन बना देते हैं अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त के समान रिचर्ड्स आवेगों की विघ्रांति को काव्य का उद्देश्य बनाते हैं वे इसे और आगे नहीं बढ़ा पाते । काव्य के स्वीकृत उद्देश्य 'आनन्द' को नकारना भी रिचर्ड्स की मान्यताओं को अग्राह्य बनाता है । 'मूल्य' का आधार रूचि या इच्छा को मानने से काव्य में नैतिकता अप्रासंगिक हो जाती है । इससे रिचर्ड्स का मूल्य - सिद्धान्त काव्य को समाज-निरपेक्षता की ओर ले जाता है । फिर काव्य में 'मूल्य-सिद्धान्त' द्वारा मनोविज्ञान का अभिनिवेश रिचर्ड्स का मौलिक एवं उल्लेखनीय योगदान है ।

अपने संप्रेषण-सिद्धान्त में रिचर्ड्स काव्य की सामाजिकता को स्वीकार करते हुए उसी रचनाकार को महान् बताते हैं जो अपनी अनुभूतियों से पाठक में भी समान अनुभूतियों की उत्पत्ति को प्रेरित कर सके । काव्य में अनुभूति की प्रमाणिकता का स्वीकरण रिचर्ड्स का उल्लेखनीय योगदान है । किन्तु संप्रेषण को अवचेतन की प्रक्रिया प्रतिपादित करना रिचर्ड्स के इस सिद्धान्त को विवादास्पद बनाता है ।

17.3 रिचर्ड्स का व्यावहारिक आलोचना संबंधी प्रयोग और सिद्धान्त

अब तक आप रिचर्ड्स के काव्यालोचन संबंधी प्रमुख सिद्धान्तों - 'मूल्य का सिद्धान्त' और संप्रेषण - सिद्धान्त के बारे में पढ़ चुके हैं । रिचर्ड्स 'मूल्य' और 'संप्रेषण' में भी संप्रेषण को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं क्यों कि 'मूल्य' भी 'संप्रेषण' पर निर्भर हैं । इन दोनों सिद्धान्तों सहित रिचर्ड्स के साहित्यिक आलोचना-सिद्धान्त उनकी पुस्तक **'दि प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटीसिज़्म'** में प्रतिपादित हैं । उनकी दूसरी प्रमुख पुस्तक "प्रैक्टिकल क्रिटीसिज़्म का प्रमुख उद्देश्य इन सिद्धान्तों को व्यावहारिक प्रयोग की कसौटी पर परखना है । रिचर्ड्स इस पुस्तक का उद्देश्य निरूपित करते हुए लिखते हैं

काव्य का तथा उन साधनों का निरूपण जो काव्य के बोध परिशंसन (appreciation) तथा मूल्यांकन के लिए अपेक्षित है । काव्य स्वयं संप्रेषण का एक प्रकार है । वह किस वस्तु का, कैसे संप्रेषण करता है और संप्रेषित वस्तु का क्या मूल्य है, यही देखना आलोचना का विषय है ।"

"सभी आलोचनात्मक प्रयासों, सारी व्याख्या, परिशंसन प्रबोधन (ocharatation) प्रंशसा या निंदा का एक और एकमात्र लक्ष्य संप्रेषण में सुधार लाना है । यह बात अतिरंजना प्रतीत हो सकती है किन्तु व्यवहार में यही है । आलोचनात्मक नियमों और सिद्धान्तों के संपूर्ण उपकरण अधिक सूक्ष्म, परिशुद्ध तथा विवेकपूर्ण संप्रेषण की निष्पति के साधन हैं ।"

'प्रैक्टिकल क्रिटीसिज़्म' रिचर्ड्स का संप्रेषण संबंधी मान्यताओं के समर्थन का प्रयोग है ।अपनी सैद्धान्तिक मान्यताओं को व्यावहारिक आलोचना के इस ग्रंथ में बनाए रखते हुए रिचर्ड्स ने उसके लेखक की ऐसी प्रायोगिक विधि अपनाई जो अनूठी है । यह ग्रंथ काफी हद तक अतिवादों से मुक्त है और इसमें प्रतिपादित विचार तथा निष्कर्ष भी अधिक संतुलित हैं । केम्ब्रिज में कई वर्षो के अध्यापन से प्राप्त अनुभव व परिपक्वता भी इस ग्रंथ में लक्षित होती है ।

"'प्रैक्टिकल क्रिटीसिज़्म" ग्रंथ की रचना व उसके लिए किए गए प्रयोगों में रिचर्ड्स का उद्देश्य साहित्यिक आलोचना का एक नवीन प्रयोग करना तो था, साथ ही संस्कृति की समकालीन स्थिति और शिक्षा-पद्धति के एक नवीन मार्ग को स्पष्ट करना भी था ।

17.3.1 व्यावाहारिक आलोचना का प्रयोग एवं विश्लेषण

"प्रैक्टिकल क्रिटीसिज़्म' ग्रंथ की रचना की कहानी बड़ी रोचक है । रिचर्ड्स ने अपने जीवन का बड़ा महत्वपूर्ण भाग केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में अंग्रेजी साहित्य के व्याख्याता के रूप में बिताया । उन्होंने अंग्रेजी के प्रमुख कवियों की अच्छी से अच्छी और साधारण से साधारण किन्तु आसानी से पहचानी न जाने वाली कविताओं के मुद्रित पन्नों को पाठकों के मध्य विपरीत करके उनसे अनुरोध किया कि वे उन कविताओं पर अपनी टिप्पणीयाँ लिखित में दें । इस प्रयोग को करते समय उन्होंने निम्न सावधानियाँ बरती-

1. कविताओं के रचयिताओं के नाम गुप्त रखे ।
2. एक सप्ताह बाद वे पन्ने टिप्पणी सहित वापस लिए गए ।
3. संलेखको (टिप्पणी-लेखक) जिन्हें रिचर्ड्स protocols कहा है) के नाम भी गुप्त रखे ताकि वे निस्संकोच अपनी टिप्पणी दे सकें ।
4. कविता के पक्ष या विपक्ष में संलेखको को प्रभावित न करने का ध्यान रखा गया है।
5. प्रत्येक संलेखक में आग्रह किया कि वह जितनी बैठक में जितनी बार कविता पढ़े, उसकी संख्या अंकित करे ताकि यह देखा जा सके कि कविता का समुचित अध्ययन हुआ है या नहीं ।
6. संलेखको में अधिकांश केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के अंग्रेजी -ऑनर्स के छात्र थे । कुछ अन्य विषयों के छात्र, शिक्षा-जगत के बाहर के व्यक्ति भी शामिल थे । संलेखको में पुरूषों और स्त्रियों की संख्या लगभग बराबर रखी गई ।
7. संलेखको पर संलेख लौटाने की बाध्यता नहीं रखी गई फिर भी 60 प्रतिशत ने टिप्पणी के साथ संलेख लौटाए।
8. जैसा आपने पूर्व में पढ़ा है कि रिचर्ड्स अपने सिद्धान्तों को अधिकाधिक वैज्ञानिक बनाने के लिए प्रयासरत थे। अत: उन्होंने काव्यालोचन के क्षेत्र में भी विज्ञान की तरह प्रयोग कर उससे निष्कर्ष प्राप्त करने का प्रयास किया।

रिचर्ड्स ने कुल तेरह कविताएँ वितरित की, जिन पर पाठकों से सैकड़ों टिप्पणियाँ का रिचर्ड्स ने विश्लेषण किया और उससे प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर "प्रैक्टिकल क्रिटीसिज़्म' ग्रंथ की रचना की । प्रैक्टिकल क्रिटीसिज्म के चार भाग हैं

1. पहले भाग में भूमिका है जिसमें रिचर्ड्स की प्रायोगिक योजना का, उसके उद्देश्यों का और टिप्पणियों से प्राप्त निष्कर्षों का संक्षिप्त वर्णन है ।
2. दूसरे भाग में विपरित तेरह कविताओं पर संलेखकों की टिप्पणियों का विस्तृत आलोचनात्मक विश्लेषण है ।
3. तीसरे भाग में द्वितीय भाग के आधार पर सामान्य अर्थ से लेकर अर्थ की सूक्ष्म छायाओं और अभिव्यक्ति की भंगिमाओं की तह तक पहुँचने में पाठक से हुई भूलों का तथा अलंकार, लय, काव्य रूप आदि का विस्तृत विवेचन है ।
4. चौथे भाग में संपूर्ण विश्लेषण का सार तथा अनुशंसाएँ हैं ।

17.3.2 रिचर्ड्स की व्यावहारिक आलोचना संबंधी समस्याएँ

'प्रैक्टिकल क्रिटीसिज़्म' रचना के समय रिचर्ड्स ने महसूस किया कि संप्रेषण का निरूपण ही आलोचना की रीढ़ है । अत: संप्रेषण के मार्ग में आई कठिनाइयाँ प्रकारांतर से आलोचना संबंधी समस्याएँ बन जाती हैं । ऐसा प्रमुख समस्याएँ निम्नलिखित हैं -

1. **सामान्य अर्थ बोध की समस्या -** किसी भी काव्य के वास्तविक अर्थ-ग्रहण में साधारण पाठक को तो कठिनाई होती हैं; उच्च शिक्षित व अच्छे काव्य - पाठक भी कई बार इसमें असफल रहते हैं । कठिन और दुरूह काव्यों के अर्थबोध में तो पाठकों को कठिनाई होती है किन्तु सरल काव्य भी इस समस्या से पूरी तरह मुक्त नहीं हैं।
2. **केंद्रीय परिशंसन की समस्या (Sensual Appreciation)-** रिचर्ड्स के मतानुसार काव्य का मौन पाठ करने पर भी कान, जीभ और स्वर तंत्री में शब्दों का ध्वन्यात्मक रूप व्यक्त होता है । जो पाठक संवेदनशील व सहृदय हैं उनके लिए इसे ग्रहण करना आसान है । किन्तु अन्य पाठकों के लिए कठिन है । अत: दोनों तरह के पाठकों की काव्य के प्रति अनुक्रियाओं (response) में भी फर्क होता है ।
3. **बिंब-ग्रहण की समस्या -** काव्य के बिंबों में वस्तु या दृश्य का मानसिक प्रत्यक्षीकरण किया जाता है । विभिन्न व्यक्तियों की इस मानसिक क्षमता में अत्यधिक अंतर होता है । अत: एक व्यक्ति के मन में प्रत्यक्ष बिंब अन्य व्यक्ति में उसी रूप में नहीं बनता । उसी कारण उनकी आलोचना में भी अंतर होता है ।
4. **स्मृति विषयक अप्रासंगिकताओं के प्रभाव की समस्या -** काव्य पढ़ते हुए पाठक के अतीत की कोई निजी घटना या दृश्य भाव-साहचर्य के कारण मन में जाग्रत हो जाता है और काव्य के आस्वादन में बाधा डालता है । इस अप्रासंगिक विघ्न से आलोचना का स्वरूप विकृत हो जाता है ।
5. **घिसी - पिटी अभिक्रियाओं की समस्या -** घिसी - पिटी अभिक्रियाएँ अर्थात धर्म, समाज आदि व्यवस्थाओं का बद्धमूल धारणाएँ प्रत्येक व्यक्ति के मन में होती हैं । उनसे भिन्न

काव्य सम्मुख आने पर उसके वास्तविक अर्थ तक पाठक नहीं पहुँच पाता और उसके बदले अपने मत को ही काव्य का अर्थ मान लेता है । संप्रेषण में आई इस बाधा को रिचर्ड्स आलोचना का जाल कहते हैं । इस आरोपित अर्थ से आलोचना वस्तुनिष्ठ नहीं रह पाती।

6. **अतिमभावुकता की समस्या -** पाठक में भावुकता की अधिकता से उसका मानस संतुलित नहीं रह पाता जिसके परिणामस्वरूप उसकी स्वाभाविक अनुक्रिया भी असंतुलित हो जाती है । इस कारण आलोचना वस्तुनिष्ठ नहीं रह पाती ।
7. **अवरोध की समस्या -** यह भावुकता की विपरित स्थिति है । कुछ पाठकों में भावुकता की अत्यधिक कमी होती है, जिससे उसका मन द्रवित नहीं होता । इस कारण काव्य के आस्वाद में वे असमर्थ रहते हैं । संस्कृत के काव्य शास्त्रियों ने वैयाकरणों जैसे शुष्क मानस वाले विद्वानों को इस श्रेणी में रखा है । इसे अरसिकता की समस्या भी कहते हैं ।
8. **सिद्धान्त मूलक आसंजन की समस्या (Doctrinal Adhesions) -** कई पारंपरिक काव्य विशेषकर धार्मिक काव्य इसके उदाहरण हैं । इन काव्यों में व्यक्त मत और विश्वास अपरिवर्तनीय माने जाते हैं । उन्हें पाठक सही या गलत की अपनी कसौटी पर कसने के लिए स्वतंत्र व निष्पक्ष नहीं रह पाता ।
9. **प्राविधिक पूर्वकल्पनाओं एवं शिल्प विशेष के आग्रह की समस्या (Technical pressure position) -** रिचर्ड्स के अनुसार प्रविधि आलोचना का बाहय अत: गौण तत्व है । प्रविधि साधन है साध्य नहीं कभी-कभी ऐसा होता है कि कोई प्रविधि किसी पाठक या आलोचक को रूचिकर प्रतीत होती है वह प्रत्येक काव्य के लिए वह उसी प्रविधि का प्रयोग करना चाहता है अथवा यदि कोई प्रविधि किसी विशेष काव्य के लिए उसे अनुपयुक्त लगी हो तो वह सदैव के लिए उपेक्षित कर देता है । इस प्रकार दोनों ही स्थितियों में संप्रेषण में बाधा पहुँचती है ।
10. **सामान्य आलोचनात्मक पूर्वाग्रह -** पाठक या आलोचक के मानस में काव्य की प्रकृति मूल्य आदि के संबंध अवचेतन में उपस्थित सिद्धान्तों, धारणाओं से भी काव्य की तटस्थ एवं वस्तुनिष्ठ आलोचना में बाधा पहुँचती है । उदाहरण के लिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल प्रबन्ध काव्यों को मुक्तक काव्यों की अपेक्षा अधिक महत्व प्रदान करते हैं; अत: मुक्तक काव्य की आलोचना में वे पूर्वग्रह ग्रस्त दिखाई पड़ते हैं ।

17.3.3 निष्कर्ष

रिचर्ड्स ने **'प्रैक्टिकल क्रिटीसिज़्म'** में आलोचना के क्षेत्र में वैज्ञानिक विधि से प्रयोग कर निष्कर्ष प्रतिपादित करने का मौलिक एवं महत्वपूर्ण प्रयास किया है । किन्तु इसमें कुछ त्रुटियाँ भी है । पहली तो यह है कि रिचर्ड्स का सारा विवेचन प्रगीत (Lyric) पर आधारित है । चूंकि विभिन्न पाठकों में संपूर्ण महाकाव्य वितरित कर, उनसे उस पर संलेख मंगवाना व्यावहारिक दृष्टि से कठिन था । अत: जो निष्कर्ष प्रगीत के आधार पर प्रस्तुत किए गए हैं, उनको महाकाव्यों के लिए आंशिक रूप से ही लागू किया जा सकता है । दूसरी त्रुटि यह है कि रिचर्ड्स के सारे निष्कर्ष छात्रों की प्रतिक्रियाओं पर आधारित हैं जो पाठकों की श्रेणी में आयेंगे उनकी अपरिपक्वतावश हुई भूलों का उल्लेख रिचर्ड्स ने स्वयं अपने ग्रंथ में किया है । इन कमियों

के होते हुए भी पाठकों की प्रतिक्रियाओं को काव्य की आलोचना के क्षेत्र में सम्मिलित करके आलोचना के एक नवीन आयाम का विकास किया जिसे 'प्रभाववादी आलोचना' कहते हैं ।

17.4 सारांश

आधुनिक अंग्रेजी साहित्य की आलोचनात्मक में रिचर्ड्स के सिद्धान्त क्रांतिकारी हैं ।रिचर्ड्स ने मनोविज्ञान को अपने सिद्धान्तों का आधार बनाकर साहित्य की आलोचना को और गहराई दी है । इन्होंने भावक या पाठक की दृष्टि से काव्य पर विचार करने का महत्वपूर्ण प्रयास किया है । मनोविज्ञान के साथ-साथ अर्थविज्ञान, मानव विज्ञान, सौंदर्यशास्त्र आदि विषयों का भी इन्होंने व्यापक रूप से अपने सिद्धान्तों में उपयोग किया है । रिचर्ड्स के दोनों प्रमुख सिद्धान्त मूल्य सिद्धान्त और संप्रेषण सिद्धान्त मनोविज्ञान पर आधारित हैं । इन्होंने व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में सर्वप्रथम वैज्ञानिक उपादनों का प्रयोग किया । पाठकों में विभिन्न कविताओं पर टिप्पणियाँ लिखवा कर एवं उनके विश्लेषण से प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर सिद्धान्त निर्धारण की पद्धति का साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में प्रयोग साहित्यिक आलोचना के साथ-साथ सांस्कृतिक अध्ययन एवं शैक्षिक प्रणाली के निर्धारण में भी उपयोगी है ।

अंग्रेजी साहित्य में पहली बार व्यापक और व्यवस्थित सौन्दर्यशास्त्र (काव्यशास्त्र) के निर्माण का श्रेय भी रिचर्ड्स को है। उनसे पूर्व आलोचकों ने इस विषय पर प्रकीर्ण रूप से ही विचार किया था ।

चूंकि रिचर्ड्स के सिद्धान्तों का आधार मनोविज्ञान है अत: उनकी मूल्य-मीमांसा के केन्द्र में भी व्यक्ति है; समान नहीं । 'मूल्य' का आधार व्यक्तिगत रूचि एवं इच्छाओं की संतुष्टि को बनाने से नैतिकता एवं सामाजिक उपयोगिता गौण हो गई है । यद्यपि रिचर्ड्स काव्य या आलोचना को समाज-निरपेक्ष बनाना नहीं चाहते किन्तु उसके सिद्धान्तों की आधार-भूमि मनोविज्ञान होने से वे अपने सिद्धान्तों को समाज केन्द्रित बनाने में विफल रहे हैं ।

रिचर्ड्स भाषा के दो भेद मानते हैं - वैज्ञानिक और रागात्मक । वैज्ञानिक भाषा का प्रयोग तथ्यों के वर्णन के लिए होता है और रागात्मक भाषा का प्रयोग काव्य और भाव संचार के लिए । रिचर्ड्स की यह अवधारणा भाषा विज्ञानियों सहित अनेक जनों को अमान्य है क्योंकि भाषा का यह विभाजन कृत्रिम है ।

रिचर्ड्स आलोचना के भी दो पक्ष मानते हैं -

(क) आलोचनात्मक और (ख) प्राविधिक । आलोचनात्मक पक्ष में अनुभूतियों के मूल्य का वर्णन होता है और प्राविधिक पक्ष में उन साधनों का जिनसे अनुभूतियाँ उत्पन्न होती हैं । ये साध्य और साधन पूर्णत: पृथक् नहीं हैं । अत: आलोचना का यह विभाजन युक्तियुक्त नहीं है ।

रिचर्ड्स काव्य के उद्देश्यों में 'आनन्द' को कोई स्थान नहीं देते । उनके अनुसार कला या काव्य का उद्देश्य आवेगों की विघ्रांति है । इसका संबंध भावक या पाठक की अनुक्रिया से है, कलाकृति या काव्य की संरचना से नहीं । अत: आलोचना की वस्तुनिष्ठता को इस मत से हानि पहुँचती है ।

रिचर्ड्स कलात्मक अनुभूति को अन्य अनुभूतियों से सूक्ष्म तो मानते हैं किन्तु उसकी विशिष्टता या अलौकिकता को नहीं मानते । यह भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों का पारंपरिक धारणाओं से भिन्न है ।

रिचर्ड्स ने केवल काव्य की आलोचना के सैद्धान्तिक प्रतिपादन पर ही अपना ध्यान केन्द्रित रखा है । साहित्य की अन्य विधाओं की उन्होंने उपेक्षा की हैं ।

रिचर्ड्स अपने आलोचना-सिद्धान्त की कई धारणाओं के लिए पूर्ववर्ती विचारकों के ऋणी हैं जिनमें से अरस्तु कॉलरिज, फ्रायड के सिद्धान्त से वे विशेष प्रभावित हैं ।

अनेक विषयों की अवधारणाओं का अपने सिद्धान्तों में समावेश पांडित्य-प्रदर्शन, अतितार्किकता आदि से इनका विवेचन शुष्क एवं दुरूह हो गया है ।

उपयुक्त सभी सीमाओं के होते हुए भी 20 वीं सदी के अंग्रेजी साहित्य के आलोचना के जगत में रिचर्ड्स सर्वाधिक चर्चित और प्रभावशाली आलोचकों में से एक माने जाते है उनकी आलोचना-पद्धति के आधार पर ही प्रभाववादी आलोचना' एवं 'नई आलोचना' ('न्यू क्रिटीसिज़्म') जैसे- अभिनव संप्रदायों का विकास हुआ ।

17.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. रिचर्ड्स का व्यक्तित्व और कृतित्व मूलक परिचय दीजिए ।
2. मनोविज्ञान की सहायता से रिचर्ड्स ने किन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया । उन सिद्धान्तों को समझाइए ।
3. सिद्ध कीजिए कि रिचर्ड्स का व्यावहारिक आलोचना संबंधी सिद्धान्त साहित्यालोचन में एक अभूतपूर्व वैज्ञानिक प्रयोग है ।
4. रिचर्ड्स के मत में काव्य के सम्प्रेषण एवं आलोचना में आने वाली प्रमुख समस्याएँ क्या हैं?
5. रिचर्ड्स के सम्प्रेषण सिद्धान्त का परिचय दीजिए ।

17.6 सन्दर्भ ग्रंथ

1. प्रो. देवेन्द्रनाथ शर्मा, - पाश्चात्य काव्यशास्त्र, मयूर पेपर बुक्स, नोएडा, छठा संस्करण, 2000
2. डॉ. भगीरथ मिश्र - पाश्चात्य काव्यशास्त्र, इतिहास सिद्धान्त और वाद, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2001
3. डॉ. नगेन्द्र (सं.) - पाश्चात्य काव्यशास्त्र: सिद्धान्त और वाद,
4. आइ.ए. रिचर्डस - प्रिंसिपल्स ऑव् लिटरेरी क्रिटीसिज़्म आर. एण्ड. के पॉल, 1950
5. आइ.ए. रिचर्डस - पैक्टिकल क्रिटीसिज़्म आर. एण्ड के पॉल, 1966
6. आइ.ए. रिचर्डस - दि फिलोसॉफी ऑफ रेटोरिक ओ.यू.पी., 1965

इकाई - 18 अस्तित्ववाद

18.0 उद्देश्य
18.1 प्रस्तावना
18.2 अस्तित्ववाद की व्याख्या व अवधारणा (स्वरूप)
18.3 अस्तित्ववाद की पृष्ठभूमि व विकास
18.4 अस्तित्ववाद : दो विचारधाराऐं
18.5 अस्तित्ववाद की विचारधारा में विद्यमान तत्व
18.6 भारतीय चिन्तन और अस्तित्ववाद
18.7 अस्तित्ववाद और साहित्य आलोचना
18.7.1 पश्चिमी साहित्य में अस्तित्ववाद
18.7.2 भारतीय साहित्य में अस्तित्ववाद
18.8 सारांश
18.9 अभ्यास प्रश्न
18.10 संदर्भ गन्ध

18.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप

- अस्तित्ववाद की परिभाषा, अवधारणा व स्वरूप को समझ सकेंगे ।
- अस्तित्ववाद की पृष्ठभूमि व विकास की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।
- अस्तित्ववाद विचारधारा के अन्तर्गत ईश्वरवादी अस्तित्ववाद व अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद को समझ सकेंगे ।
- अस्तित्ववादी विचारधारा के प्रमुख तत्वों (सिद्धांतो) से परिचित हो सकेंगे ।
- भारतीय चिन्तन में अस्तित्ववाद को समझ सकेंगे ।
- पश्चिमी साहित्य व भारतीय साहित्य में अस्तित्ववाद की अनुपालना या निर्वाह का विवेचन विश्लेषण कर सकेंगे ।
- भारतीय साहित्य में अस्तित्ववाद की स्थापनाओं को जानने के लिए अधिकाधिक प्रेरित हो, अपने ज्ञान का संवर्द्धन कर सकेंगे ।

18.1 प्रस्तावना

अस्तित्ववाद एक पद्धति बद्ध दर्शन नही है जो कि दर्शन की परम्पराओं से जुड़ा हो परन्तु इसकी विशेषता यह है कि इसके अन्तर्गत भिन्न-भिन्न दर्शन के विषय उभरते है जो अस्तित्ववाद के दार्शनिकों ने अपने-अपने तरीकों से इंगित किये हैं। सत्य तो यह है कि सम्पूर्ण अस्तित्ववाद एक दार्शनिक विचारधारा की तरह हैं जिसमें समय-समय पर नये नये विचार उभरे और मुख्य धारा में सम्मिलित हो गये । इस विचारधारा से प्रभावित अथवा इस विचारधारा को विकसित करने वाले अधिकतर जर्मन दार्शनिक थे जो ईश्वरवादी या अनीश्वरवादी थे और 20वीं शताब्दी

में तृतीय विश्व युद्ध के पश्चात् व्यक्ति के अस्तित्व की खोज में चिन्तित थे । कीरकी गार्ड के अलावा हसरैल नीत्शे,हाईडेगर, जैसपर्स, मार्सल, बबर, ज्याँ पोल सार्त्र इस धारा के प्रमुख दार्शनिक हैं जिन्होंने किसी न किसी प्रकार से अस्तित्ववाद की दिशा को प्रभावित किया और विभिन्न विषयों पर चर्चा की है ।

अस्तित्ववाद की स्थापना है कि व्यक्ति का अस्तित्व समष्टि के समक्ष कुछ नहीं के रूप में तुच्छ हो गया है अत: व्यष्टि को समष्टि से जूझना है । विश्वजनीन उपकरणपरकता के विरूद्ध अस्तित्वमय होना व संघर्ष करना है । साहित्य व कलाएँ इस संघर्ष को व्यक्त करती है अत: कलाकृति का स्वरूप अस्तित्व मूलक है; इसलिए अस्तित्ववाद साहित्य में भी चिन्तन का विषय बन गया है । व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह कोई कार्य करते समय उसके सम्पूर्ण उत्तरदायित्व से स्वयं को मुक्त रखे, इसलिए व्यक्ति वरण के द्वारा समूची मानवीयता को सम्बद्ध कर लेता है । यही व्यक्तिगत उत्तरदायित्व का बोध और मानवीय कर्तव्य चेतना अस्तित्ववाद का मूल सार तत्व है ।

इस इकाई में अस्तित्ववाद की पृष्ठभूमि, विकास, अवधारणाओं मूल विचार बिन्दुओं तथा साहित्य आलोचना में अस्तित्ववाद के प्रभाव को स्पष्ट किया गया है । मानव व्यक्तित्व स्वतंत्र है, उसको वरण या चयन करने का अधिकार है । वरण की स्वतंत्रता के परिणामस्वरूप मनुष्य अपने अस्तित्व को न केवल प्रमाणित करता है वरन् प्रामाणिक भी बनाता है । प्रस्तुत इकाई में साहित्य आलोचना में अस्तित्ववाद के प्रभाव की भी चर्चा की गई है । पाश्चात्य साहित्यकार व लेखक टॉल्स्टाय, टी.एस.इलियट आर.एम.रिल्के ऑल्वेयर कामू ज्याँ पाल सार्त्र, दे ब्राउआ आदि पर इस विचारधारा का प्रभाव है और इनमें से कई लेखकों ने अस्तित्ववादी विचारधारा के आधुनिक स्वरूप को स्थापित करने में भी योगदान दिया है । इसी तरह हिन्दी साहित्य में प्रयोगवादी नई कविता, साठोत्तरी कविता आन्दोलनों और गद्य साहित्य की विविध विधाओं में भी अस्तित्ववादी विचारधारा का प्रभाव रहा है जिसका अध्ययन करना विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त आवश्यक है ।

18.2 अस्तित्ववाद व्याख्या व अवधारणा (स्वरूप)

अस्तित्ववाद आधुनिक युग का बहुचर्चित एवं सर्वाधिक प्रतिष्ठित मतवाद है । अस्तित्ववाद में मानवीय जीवन और मानवीय नियति का वास्तविक चित्रण उपलब्ध होता है । अस्तित्ववाद को कई विद्वानों ने अपने -अपने ढंग से परिभाषित किया है । एनसाइक्लोपीडिया बिट्रेनिका में अस्तित्ववाद की व्याख्या इस प्रकार है - “अस्तित्ववाद एक दार्शनिक स्कूल की बजाय एक प्रवृत्ति या संस्थित भाव है । अस्तित्ववाद दर्शन चिन्तन का रास्ता है जो सम्पूर्ण पार्थिव ज्ञान का उपयोग करता है, उसे इस क्रम में परिवर्धित करता है, जिससे मानव पुन: स्वयं जैसा बन सके ।"

ज्याँ पाल सार्त्र ने अपने ग्रंथ 'एकक्लिसटैंसियलिज़्म' में अस्तित्ववाद की व्याख्या करते हुए कहा है कि अस्तित्ववाद अनीश्वर और अनास्थात्मक सह-जीवन परिस्थितियों के परिणामों को प्रस्तुत करने के प्रयास के सिवाय और कुछ नहीं है । 'द एडविंचर ऑफ क्रिटिसिज़्म' - में अस्तित्ववाद को अन्ध समानीकरण और अविशिष्टीकरण की प्रतिक्रिया कहा है । डी. श्यामसुन्दर मिश्र ने अपनी पुस्तक

'अस्तित्ववाद कुछ नयी स्थापनाओं' में अस्तित्ववाद को अधुनातन जीवन के विभिन्न निषेधों (सामाजिक, नैतिक, आर्थिक, राजनैतिक) और सामाजिक उपलब्धियों की यान्त्रिकता के बीच आबद्ध व्यक्ति इकाई की अदुरुल चिन्ता का वैज्ञानिक और समीचीन विश्लेषण माना है । अस्तित्ववाद के सर्वप्रथम तत्व शास्त्री सॉटेन कीर्केगार्ड चरण की स्वतंत्रता' का उल्लेख करता है । उनके शब्दों में "अस्तित्व शब्द का प्रयोग इस दावे पर जोर देने के लिए किया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति इकाई अपने आप में स्वयं जैसी (यूनीक) है और आध्यात्मिक या वैज्ञानिक प्रक्रिया के सन्दर्भ में अविश्लेषणीय है । व्यक्ति इकाई अस्तित्वमय है, व्यक्ति स्वयं चुनाव करता है, स्वयं चिन्तन करता है- वह स्वतंत्र है और चूँकि वह स्वतंत्र है इसलिए सहन करता है कि उसका भविष्य कुछ अंशों में उसके स्वतंत्र चुनाव पर निर्भर है । चयन के सम्बन्ध में सभी अस्तित्ववादी विचारकों ने विचार किया है । चयन अथवा वरण अनिवार्य मानवीय आवश्यकता है ।

ज्यॉ पॉल सार्त्र के अनुसार वस्तुत: स्वतंत्रता, चयन करने की स्वतंत्रता, चयन न करने की स्वतंत्रता नहीं है । वरण न करना वास्तव में वरण न करने को चुनना है । परिणाम यह होता है कि चयन वरित अस्तित्वमय की नींव होता है किन्तु चयन करने की नींव नहीं होता । अत: चयन इस स्तर पर स्वतंत्रता की असंगति है ।

भारतीय मत

अवधारणा

1. अस्तित्ववाद मूलरूप से दर्शन का सिद्धान्त है किन्तु अस्तित्ववाद ने साहित्य सृजन तथा: आलोचना सिद्धान्तों को भी प्रभावित किया है ।
2. अस्तित्ववाद के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के सामने विभिन्न संभावनाएँ या रास्ते हैं । मनुष्य अपनी स्वतंत्रता के आधार पर इन संभावनाओं या रास्तों में से एक या अधिक का वरण करता है ।
3. व्यक्ति का अस्तित्व सम्भावनापरक है अत: उसकी अन्तिम रूप से व्याख्या नहीं की जा सकती है ।
4. वैयक्तिक, अस्तित्व, विश्व के दूसरे मानव अस्तित्वमय स्थितियों का सामना करता हुआ अपनी परियोजनाओं के रूप में जाना जाता है ।
5. मानवीय अस्तित्व की व्याख्या का एक ही तरीका शेष रह जाता है कि विश्व में कार्यकलापों के माध्यम से उसका विश्लेषण किया जाए । अस्तित्ववादी इस स्तर पर प्रत्येक व्यक्ति को उसके कार्यो के लिए उत्तर दायी मानता है ।
6. वरण की स्वतंत्रता के परिणामस्वरूप मनुष्य अपने अस्तित्व को न केवल प्रमाणित करता है बल्कि प्रामाणिक भी बनाता है ।
7. वरण के स्वतंत्र प्रयोग के कारण उसके सार का निर्माण होता है अर्थात् सार से पूर्व अस्तित्व है । अस्तित्व के पूर्ववर्ती होने के कारण इसे अस्तित्ववाद की संज्ञा दी गई है ।
8. सार्त्र, व्यक्ति की आंतरिकता को शरीर में निहित मानता है अत: वैयक्तिक अस्तित्व के तीन आयाम हैं - मैं शरीर में हूँ यह चेतना, शरीर का पहला आयाम है । मेरा शरीर दूसरों के द्वारा उपयोगिता और श्रेय है, यह दूसरा आयाम है । जहाँ तक मैं दूसरे के लिए हूँ; दूसरा मेरे समक्ष विषय के रूप में स्पष्ट है, जबकि मैं उसके लिए पार्थिव वस्तु हूँ । मैं

इस विश्व में स्वयं अपने लिए हूँ किन्तु दूसरे के द्वारा शरीर के रूप में जाना जाता हूँ। यह व्यक्ति के शरीर का तीसरा तात्विक आयाम है ।

9. वैयक्तिक अस्तित्व एवं स्व-अस्तित्वमय की दिशा में उन्मुख है । स्व-अस्तित्वमय एक अवसरानुकूल आवरण है अत: स्पष्ट है कि वह स्वयं को बनाता है ।

18.3 अस्तित्ववाद की पृष्ठभूमि व विकास

अस्तित्ववाद को दर्शन के रूप में प्राचीन काल से ही जाना जा सकता है । बाइबिल के युग में जहाँ से अच्छाई और बुराई की पहचान का प्रारम्भ होता है जिसकी आदम और ईद दोनों को ही चिन्ता थी, उसी समय से व्यक्ति के अस्तित्व की चिन्ता का प्रारंभ हो जाता है । एक भारतीय दार्शनिक आर.वी.दास के अनुसार हर युग में ऐसे चिन्तक अवश्य होते है जिन्हें विचारों से अधिक व्यक्ति के अस्तित्व और जीवन की अधिक चिन्ता रही है, इस कारण अस्तित्ववाद के कुछ मुख्य विचार भारतीय दर्शन में भी दृष्टिगोचर होते है । उदाहरण के तौर पर स्वयं की अनुभूति और ठीक के महत्व का विचार अस्तित्ववाद के चिन्तन की ओर अग्रसर करता है । पश्चिमी दुनिया में अस्तित्ववाद का विकास 19 वीं और 20 वी शताब्दी मे दिखलाई पडता है जो दोनों प्रकृतिवाद तथा आदर्शवाद की विचारधारा रो विमुख और भिन्न है । धीरे-धीरे दूसरे महायुद्ध के पश्चात् जब लाखों व्यक्तियों का नरसंहार हो चुका और गरीबी तथा भुखमरी फैली तक विकसित देशों ने अस्तित्ववाद के विचारकों को बढ़ावा दिया । व्यक्ति के महत्व को उजागर किया अस्तित्ववाद में व्यक्ति की अखण्डता और स्वतंत्रता को महत्व देते हुए इन दो बिन्दुओं पर बहुत विचार व्यक्त किये है । इस संदर्भ में व्यक्ति के अस्तित्व को सामाजिक परम्पराओं द्वारा दी जाने वाली चुनौतियों के प्रति चिन्ता व्यक्त की है । अस्तित्ववाद के विचारानुसार व्यक्ति एक अखण्ड प्राणी है जिसमें स्वतंत्रता निहित है ।

यूरोप के दर्शन में 19 वीं शती के बाद में अस्तित्ववाद एक महत्वपूर्ण चर्चा का विषय रहा है लेकिन साहित्य में इसका आगमन 20 वीं शती के तीसरे चौथे दशक (1920 से 1930 तक) में माना जाता है । साहित्य में अस्तित्ववाद के प्रभाव का कारण मानव की वह भयावह विषम स्थिति थी जो फासीवाद के रक्तरंजित आतंक, साम्यवाद से मोहभंग तथा द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका और अणु विस्फोटों के मानव संहार से उत्पन्न हुई थी । चारों ओर निराशा, अंधकार, घुटन, सत्रांस और भय का माहौल व्याप्त था । ऐसा लगता था कि मानव किसी अंधी सुरंग में फँस गया है । फ्रांज काफका के शब्दों में - "मैं एक ऐसी काल कोठरी में कैद हूँ जिसके न दरवाजे हैं और न खिड़कियाँ और बाहर निकलने के तमाम रास्ते बंद हैं।"

संकट और संक्रमण की स्थिति से गुजरती हुई मानवीय चेतना उन प्रश्नों का समाधान ढूंढने की कोशिश करने लगी जो मनुष्य के अस्तित्व की संभावना और उसके वर्तमान स्वरूप से सम्बन्धित थी । कीर्केगार्ड अपनी रचनाओं' के माध्यम से आधुनिक संकट के व्याख्याता के रूप में सामने आए । नीत्शे के अस्तित्ववाद सम्बन्धी विचार फासीवाद नारीवादी विचार धारा और राजनैतिक व्यवस्था का आधार बने । सार्त्र मनुष्य की वैयक्तिक इयत्ता को ही अस्तित्व

का केन्द्रीय बिन्दु मानता है और वर्तमान विघटनकारी परिस्थितियों के लिए औद्योगिक सभ्यता को उत्तरदायी ठहराता है ।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुए दो महायुद्धों की विभीषिका और मानवीय जीवन पर उसके त्रासदायी दुष्परिणामों ने ज्यां पॉल और डा. हैडगर के चिन्तन को यथार्थोन्मुखी कटुता प्रदान की है, अत: उनकी प्राप्तियाँ मानवीय नियति की दुर्वहनीय आकुलता और संत्रास को व्यक्त करती है ।

अस्तित्ववाद का विकास

कीर्केगार्ड - जिन्हें अस्तित्ववाद का प्रारंभिक दार्शनिक मानते हैं, के विचार में व्यक्ति का चयन; जिसका उसके अन्दर से संबंध है, उसकी स्वतंत्रता का सूचक है, स्वयं की स्वतंत्रता है इनके लिए अन्य भारतीय विचारकों की भांति व्यक्ति में और जानवर में केवल यही अन्तर है कि व्यक्ति की प्रकृति, उसका स्वभाव स्वयं अथवा चेतना जानवर के स्वयं और चेतना से भिन्न है । इसी कारण कीर्केगार्ड यह प्रश्न उठाते है ।

What is to be man? अथवा व्यक्ति या आदमी कहने या कहलाने में क्या निहित है? कीर्केगार्ड के लिए व्यक्ति का आदमी के रूप में पैदा होना ही पर्याप्त नही है ना ही उसका बाह्य स्वरूप या भौतिक स्वरूप के कारण उसको केवल व्यक्ति रूप में देखा जा सकता है । यही, तभी व्यक्ति या आदमी कहलायेगा जब वह आदमी की तरह से व्यवहार करे इनके विचार में व्यक्ति तभी मुक्त अथवा स्वतन्त्र है जब वह वास्तव में न तो किसी प्रकार के प्रकृति के नियमों द्वारा या कैसे भी शाश्वत मूल्यों द्वारा परिभाषित है।

सारेन कीर्केगार्ड के पश्चात सुप्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक और तत्व वेत्ता फ्रेडरिक नीत्शे ने नवीन नैतिक मानवीय मूल्यों और अवधारणाओं के आधार पर अस्तित्ववाद के मूल्यवान सिद्धान्तों तथा विचारधारा का पोषण किया । नीत्शे उन्नीसवीं शताब्दी के उतरार्द्ध का सर्वाधिक प्रतिभाशाली विचारक था । उसने सामाजिक और नैतिक धरातल पर प्रचलित परम्परावादी धारणाओं एवं विचारों का घोर विरोध किया तथा अतिमानवीय गुणों से सम्पन्न सुपर मैन' की कल्पना को गुणात्मक रूप प्रदान किया । नीतो का दर्शन, औद्योगिक-सभ्यता के मशीनीकरण, राज्य के शक्तिशाली नियंत्रण का स्वरूप और वैयक्तिक क्षमता का तार्किक और अधिभौतिक आंकलन प्रस्तुत करता है । उसने अपने समकालीन यूरोप की सभ्यता का तथ्यात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत किया है ।

बीसवीं शताब्दी के मानव व्यक्तित्ववादी विचारकों मे कार्ल-यास्पर्स,हसरैल गैब्रियल मार्शल, डॉ. मार्टिन हैडगर, ज्यां पाल सार्त्र और आल्वेयर कामू का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । भारतीय चिन्तकों में महर्षि अरविन्द के दर्शन में अस्तित्ववाद के आधुनिक आध्यात्मिक स्वरूप का चिन्तन उपलब्ध होता है ।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार और विचारक डॉ. सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्सायन 'अज्ञेय' के गद्य लेखों और नवीनतम काव्य रचनाओं में अस्तित्ववाद के विचारों का मन्थन और चिन्तन मिल जाता है । सुप्रसिद्ध अस्तित्ववादी दार्शनिक कार्ल यास्पर्स में भक्तिमय भारतीय बौद्ध चिन्तनधारा की बहुत सी बातें उपलब्ध होती हैं । ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करते समय श्री यास्पर्स विश्व के चार प्राचीन दार्शनिकों की रचनाओं में मानवीय अस्तित्व के दार्शनिक स्वरूप

का उल्लेख करते हैं । दुःख और करूणा के सम्बन्ध में व्यक्त बुद्ध के विचार, अस्तित्ववादी विचारों की तत्संबंधी चिन्तन-धारा से मिलते हैं । इस दृष्टि से भारतीय चिन्तन ने मानवीय अस्तित्व के संघटनात्मक स्वरूप पर सर्वप्रथम अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है ।

18.4 अस्तित्ववाद : दो विचारधाराऐं

बीसवीं शताब्दी के प्रमुख दार्शनिक चिन्तकों डा. मार्टिन हेडगर, कार्ल यास्पर्स, ग्रैबियल मार्शल, ज्यां पॉल सार्त्र, फ्रैंजकाफ्का और आल्वेयर कामू के चिन्तन और विचारधारा का परीक्षण करने पर प्रमाणित हो जाता है कि इस काल में दो तरह के अस्तित्ववादी विचारक हैं, जिन्हें ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी अस्तित्ववादी चिन्तकों की संज्ञा दी जा सकती है । ज्यों पॉल सार्त्र, कार्ल यास्पर्स और ग्रेबियल मार्शल की ईश्वरवादी अस्तित्ववादी मानता है तथा डॉ. हेडगर अपनी तथा अन्य फ्रांसीसी विचारकों एवं लेखकों की गणना अनीश्वरवादी अस्तित्ववादी चिन्तकों में करता है ।

ईश्वरवादी अस्तित्ववाद - इस विचारधारा के जनक कीर्केगार्ड हैं । कीर्केगार्ड मानवीय अस्तित्व और उसके तनाव की व्याख्या ईसाई आस्था के सन्दर्भ में करते हैं । जीवन निर्वाह और सार्थक अस्तित्व बोध के इस संघर्ष के साथ व्यक्ति मानसिक आस्था के रूप में ईश्वरीय तत्व की सतत-चेतना को हृदयंगम करने का यत्न करता है । वैयक्तिक स्तर पर ग्रहीत ईश्वर-बोध और तद्गत अनुभूतियां उसकी निजी उपलब्धियाँ हैं । अत: यह आवश्यक है कि ईसाई आस्था के संदर्भ में नवीन संवेदनात्मक ईश्वरत्व की व्यवस्था का अनुसंधान किया जाय ।

सम्प्रेषण और सम्पूर्ण अस्तित्वमय

काल यास्मर्स मानवीय अस्तित्व के साथ सम्बद्ध सम्प्रेषण की विशिष्टता को नवीन आध्यात्मिक आधार प्रदान करता है । संप्रेषण केवल दूसरे मनुष्यों की प्रस्तुति में संभव है। प्रमाणित अस्तित्व के धरातल पर सम्पूर्ण अस्तित्वमय से संप्रेषण सम्भव है । वस्तुत: कार्लयास्पर्स सम्पूर्ण अस्तित्वमय की खोज में रत है । सम्पूर्ण अस्तित्वमय के आध्यात्मिक स्वरूप का विवेचन करता हुआ, वह मानव को आंतरिक शक्ति का उद्घाटन करता है । आधुनिक विश्व में प्रत्येक मानव इस आध्यात्मिक तनाव को अनुभव करता है । तनाव ही व्यक्ति की सम्पूर्ण अस्तित्वमय की शोध व अनुसंधान का कारण है ।

अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद - नीत्शे परम्परागत ईश्वर की मृत्यु की उद्घोषणा द्वारा मानवीय अस्तित्व की समसामयिक विडम्बना को अभिव्यक्ति देता है । इस विचारधारा का प्रारम्भ नित्शे के ईश्वर और धर्म सम्बन्धी विचारों से होता है।

18.5 अस्तित्ववाद की विचारधारा में विद्यमान तत्व

व्यक्ति का अस्तित्व उसके सार से पहिले है । - दोनों ही प्रकार के दार्शनिक - चाहे वे ईश्वरवादी हों या नास्तिक - इस बात से सहमत है कि व्यक्ति का अस्तित्व उसके सार से प्रमुख है । ईश्वरवादी अस्तित्ववादी दार्शनिक के लिए भी ईश्वर की समता उतनी नही है जितनी उनके अनुसार व्यक्ति अपनी आध्यमिकता और धार्मिक प्रकृति को पूर्ण रूप से समझने में असमर्थ है । वह कहते है कि अगर ईश्वर विद्यमान भी होगा तब भी वह चर्चा तथा सोच का विषय नही होता क्योंकि विचार बिन्दु यह नही है कि ईश्वर है या नही परन्तु यह है कि व्यक्ति का

अस्तित्व महत्वपूर्ण है और वह कैसे बनाया जाए?क्योंकि व्यक्ति सार रहित है, उसको ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है कि अमुक समय और स्थान पर ही उसका अस्तित्व होता है ।

चिन्ता - चिन्ता अथवा व्यग्रता अस्तित्ववाद के लिए एक महत्वपूर्ण विषय है परन्तु अस्तित्ववाद के दार्शनिक इस विषय का अवैज्ञानिक आधार न देकर इसके बारे में चिन्तन कुछ भिन्न तरीकों से करते है । यह व्यग्रता व्यक्ति को दिशा देती है और व्यक्ति, जो प्रारंभ में कुछ भी नही है, को उसके अस्तित्व की ओर ध्यान दिलाती है ।

सत्य यह है कि व्यक्ति विशेषणों, गुणों और मूल्यों के बिना भी रह सकता है, जी सकता है परन्तु व्यग्रता द्वारा शनैः शनैः वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि उसका भी अस्तित्व होना चाहिए और धीरे-धीरे वह गुणहीन तथा मूल्य रहित अवस्था से निकल कर अपना अस्तित्व खोजने लगता है और अर्थहीन शून्य अवस्था से निकल कर अपने अस्तित्व को अर्थ अथवा मायने देता है । एक और कारण है । जिसके लिए अस्तित्ववाद के दार्शनिक चिंता को महत्व देते है । उनके मत में व्यक्ति की व्यग्रता वास्तविक है क्योंकि उसी के द्वारा वह अपनी वास्तविकता खोजता है । जो सच्चा व्यक्ति है, जो वास्तविकता को अपने जीवन मे उतारना चाहता है वही उस बात की चिंता करेगा कि उसका अस्तित्व दिखावा न हो अपितु वास्तविक हो इस कारण उसकी व्यग्रता सच्ची है वास्तविक है ।

मृत्यु और अस्तित्व हीनता - मृत्यु और अस्तित्व हीनता के विषयों को इन वाद के दार्शनिकों ने अन्य दार्शनिकों से भिन्न रूप में परिभाषित किया है । मृत्यु कोई ईश्वरीय शक्ति नही है । इस कारण वह हर व्यक्ति तक पहुँचती है ना ही व्यक्ति के जीवन में वह एक महत्वपूर्ण घटना है । मौत उतनी ही सत्य है जितना कि व्यक्ति का अस्तित्व । मूल्य प्रकिया है जो सदा चलती रहती है । व्यक्ति के अस्तित्व के प्रारंभ से ही यह प्रारंभ हो जाती है जो ईश्वरवादी अस्तित्ववाद के दार्शनिक है उनके अनुसार मृत्यु के पश्चात् भी व्यक्ति के अस्तित्व का आभास रह जाता है । नास्तिक धारा के दार्शनिकों का मत है कि मृत्यु के पश्चात् व्यक्ति का सम्पूर्ण अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है कुछ भी शेष नहीं रहता मृत्यु के अलावा अस्तित्व हीनता को भी बड़े रोचक ढंग से इस वाद के दार्शनिकों ने परिभाषित किया है । इनमें हाईडेगर का विशेष योगदान है । हर व्यक्ति में अस्तित्वहीनता सदा विद्यमान रहती है चाहे वह उस क्षण आनंद मुद्रा में डूबा हुआ ही क्यों न हो। सार्त्र के अनुसार अस्तित्व हीनता का बहुत महत्व है क्योंकि उस अवस्था के कारण ही व्यक्ति अपने अस्तित्व को ढूंढता है जबकि व्यक्ति नहीं का उपयोग करता है तब वह स्वतंत्रता की अवस्था में होता है और वह अवस्था ही उसके अस्तित्व की घोतक है जिसके द्वारा वह अपना अस्तित्व ही नही वरन् मूल्य तथा गुणों को विकसित कर पाता है । बिना स्वतंत्रता की अवस्था के व्यक्ति कुछ भी नही है । उसका भी अस्तित्व आधारहीन अथवा अर्थहीन है वह केवल हाड मांस का पुतला ही ज्ञात रहता है । मौत उसके जीवन का उसके अस्तित्व का अंग है ।

स्वयं - स्वयं के बारे मे सात्र और हाईडेगर की परिभाषा कुछ भिन्न है । सार्त्र के अनुसार स्वयं दो प्रकार का होता है । प्रथम स्वयं अपने में और दूसरा स्वयं अपने लिए । उदाहरण के तौर पर एक व्यक्ति गरीब मां बाप के पैदा हुआ तो वास्तव में वह स्वयं होगा और उसकी बाद

की चेष्टा जिसके द्वारा वह अपने परिवार के लिए धन और खुशहाली जुटायेगा वह उसका दूसरा स्वयं होगा जो सार्त्र के अनुसार माना जायेगा हाईडेगर के अनुसार हर व्यक्ति शून्य से जीवन प्रारंभ नही करता, उसको किसी ना किसी स्थिति में जन्म लेना पड़ता है । उस स्थिति में पैदा होने पर उसका कोई नियंत्रण नही है वह तो वहां फेंक दिया जाता है ऐसी स्थिति की सीमाएं तोड़ता हुआ स्वयं अपनी नयी सीमाएं बनाता है । स्वयं के सामने चुनने के कई विकल्प होते हैं । परन्तु वे स्थान व अवसर की सीमाओं में बंधे रहते हैं । इन्हीं परिस्थितियों से गुजर कर स्वयं अपने आपको ढालता है जिसे हाईडेगर के द्वारा स्वयं का निर्धारण कहते हैं । व्यक्तियों के प्रभाव से व्यक्ति के स्वयं का गठन होता है । हाईडेगर सार्त्र की स्वयं की परिभाषा से कम सहमत नही है क्योंकि सात्र को सभी व्यक्तिनिष्ठ और कभी वस्तुनिष्ठ के रूप में परिभाषित करते हैं । हाईडेगर के अनुसार स्वयं का अस्तित्व है जो किसी स्थान से सदा संबंधित रहता है । यही स्वयं के बारे में सत्य है व्यक्ति अथवा स्वयं सम्भवतया और वास्तविकता के बीच संघर्ष करता हुआ कभी असीम सफलता या आनंद की प्राप्ति करता है । उसको निराशा के क्षणों में अपना अस्तित्व बिखरता हुआ टुटता हुआ दिखाई पडता है । इसको अस्तित्ववाद के दार्शनिकों ने अस्तित्वहीनता से भी परिभाषित किया है । व्यक्ति वास्तविकता की सीमाओं के परे कभी भी पहुंच जाता है इस कारण वह मानसिक और अस्तित्ववाद की आशंकाओं के मध्य ही जीवित रहता है ।

स्वतंत्रता - अस्तित्ववाद के दार्शनिक व्यक्ति की स्वतंत्रता को कार्य करने की क्षमता से जोडते हैं जिसका पूर्व निर्धारित सिद्धांत से भी संबंध माना जाता है ।

कार्यक्षमता - व्यक्ति की कार्य करने की क्षमता अथवा किसी कार्य को प्रारंभ करने में उसने बिना तर्क या स्वतंत्रता का सहारा लिया है, उस पर व्यक्ति का कार्य चुनना और पूरा करना निर्भरता है । कार्य करने में सम्पूर्ण व्यक्ति ही सम्मिलित होता है, जिसमें उसकी भावना और विचार दोनों ही सम्मिलित होते हैं । किसी भी कार्य को उसके फल से आंक नही सकते, ना ही उस कार्य करने की प्रकिया से कार्य करने में सम्पूर्ण एकता से जुडा हुआ व्यक्ति अपने कार्य के द्वारा अपने आपको व्यक्त करता है । उस व्यक्तता में उसका सम्पूर्ण जुड़ाव है न केवल उसकी भावना या विचार अथवा सफलता या कार्य करने की प्रक्रिया । इसी सम्पूर्णता के द्वारा वह शनैः शनैः अपने अस्तित्व की पहचान करता है जो अन्ततः उसकी स्वतंत्रता से जुड़ा है अगर व्यक्ति के कार्य करने की क्षमता पर पूर्व निर्धारित सिद्धांत के प्रभाव को माने तो उसके कार्य करने की क्षमता सीमित रह जायेगी । उसकी पहले सही सीमाएं अंकित होने पर वह स्वतंत्र रूप से कार्य नही कर पायेगा और ना ही उस कार्य द्वारा उसका अस्तित्व उभरेगा, क्योंकि उस कार्य की प्रकिया में उसका सम्पूर्ण स्वयं नहीं, अपितु पूर्व निर्धारित कारण जुड़े हुए हैं । व्यक्ति का अस्तित्व हर कार्य करनें में यह आवश्यक है कि अपने आपको व्यक्ति मुक्त समझकर स्वतंत्र समझकर ही कार्य करें । इस विषय में व्यक्ति की स्वतंत्रता उसके अस्तित्व के साथ निहित है, करीब इस बात को सभी दार्शनिकों ने अपने मत से प्रभावित किया है सार्त्र के अलावा इस विषय पर कीर्केगार्ड के विचार जानने लायक हैं । इनके अनुसार व्यक्ति का अस्तित्व और उसकी स्वतंत्रता दोनो एक दूसरे में पूर्ण रूप से निहित हैं । वे कभी भी पृथक नहीं किये जा सकते ।

कीर्केगार्ड के अलावा बरडेव ने भी स्वतंत्रता के विषय पर विचार प्रकट किये हैं । इनके विचार में इस संबंध मे रूढ़िवादी विचारधारा इसलिये अनुपयुक्त है कि क्योंकि उसके द्वारा व्यक्ति की स्वतंत्रता को एक वस्तुनिष्ठ की तरह से देखा गया है और परिभाषित किया गया है जिसको बाहर से देखा जा सकता है और बातचीत द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है अथवा अप्रमाणित किया जा सकता है । तर्क द्वारा भी अगर स्वतंत्रता को सिद्ध किया जाये जो वह एक अन्य तरीका होगा जिसको बरडेव प्राकृतिक सिद्धांत के समकक्ष मानते है जिसके द्वारा स्वतंत्रता को व्यक्ति के अस्तित्व से परे मानते है जो उनके अनुसार संभव नही है ।

बरडेव के अनुसार स्वतंत्रता को रहस्य तरीके से परिभाषित किया जा सकता है । स्वतंत्रता की विशेषता है कि वह व्यक्ति के अस्तित्व में पूर्ण विद्यमान है । इस प्रकार की व्याख्या अस्तित्ववाद के दार्शनिकों के स्वतंत्रता संबधी विचारों से विपरीत होते हुए भी बरडेव के द्वारा इस संबंध में दिये गये तर्क और दर्शन की व्याख्या उनके विचारों को स्पष्ट करती है । उनके मतानुसार संसार में जब वस्तुओं की व्याख्या की जाती है तो कितनी ही वस्तुनिष्ठ क्यों न हो पूर्वाभ्यास अर्थात् पूर्व कारण से अवश्य प्रभावित व्याख्या होती है । बाह्य रूप से यह लगता है कि व्यक्ति स्वतंत्रता को निर्धारित करता है इस कारण उसके निर्धारण में व्यक्ति का होना आवश्यक है । किन्तु बरडेव इस विचार को पूर्व में निहित है न ही उसके द्वारा निर्धारित है अपितु स्वतंत्रता अस्तित्वहीनता में निहित है व्यक्ति द्वारा उसकी उत्पति नही हुई है स्वतंत्रता का उद्गम तर्क द्वारा निर्धारित नही किया जा सकता अर्थात् तर्क के द्वारा स्वतंत्रता की उत्पति खोजना बरडेव के अनुसार सही विचार नहीं माना जायेगा ।

18.6 भारतीय चिन्तन और अस्तित्ववाद

अस्तित्ववाद में मनुष्य की जो अवधारणा प्रस्तुत की गई है, विश्व के भीतर रहने वाले मनुष्य की रूपरेखा प्रस्तुत करती है । भारतीय चिन्तन ने मानवीय अस्तित्व के विश्वगत स्वरूप का यथार्थ चिन्तन किया और उसे विभिन्न प्रतिरोधी स्थितियों के भीतर से विश्लेषित करते हुए अन्ततः दुःख निरोध का सहज और सुगम मार्ग बतलाने की चेष्टा की है । बौद्ध दर्शन ने सर्वप्रथम सांसारिक जीवन में दुःख की अनिवार्यता को प्रतिपादित किया । यह मानवीय अस्तित्व का यथार्थपरक विश्लेषण है । जीवन के चार आर्य सत्य है- दुःख, दुःख समुदाय, दुःख निरोध और दुःख निरोध गामिनी - इनकी व्याख्या बुद्ध ने तार्किक आधार पर की है ।

दुःख सत्य की व्याख्या

दुःख सत्य की व्याख्या करते हुए भगवान बुद्ध ने कहा कि - भिक्षुओं! जन्म भी दुःख है मग्न..... ..... शोक रूदन, मन की खिन्नता हैरानगी दुःख है ।अप्रिय से संयोग, प्रिय से वियोग भी दुःख है, इच्छा करके जिसे नहीं पाता वह भी दुःख है । संक्षेप में पांचों उपादान स्कन्द दुःख है ।

दुःख हेतु

दुःख का कारण अथवा हेतु तृष्णा है । तृष्णा के तीन भेद हैं-काम तृष्णा. भय तृष्णा और विभव तृष्णा । ज्ञानेन्द्रियों के जो प्रिय विषय है, उन विषयों के सम्पर्क तृष्णा को पैदा करते है ।

दुःख निरोध

तृष्णा के आत्यन्तिक निरोध, परित्याग और विनाश को दुःख निरोध कहते हैं । प्रिय विषयों और वस्तुओं से जब तृष्णा छूट जाती है, तभी तृष्णा का निरोध होता है । तृष्णा से सम्पूर्ण वैराग्य, तृष्णा का निरोध त्याग, परित्याग, उस तृष्णा से मुक्ति, अनासक्ति, यही दुःख के निरोध के बारे में आर्य सत्य है ।

बुद्ध ने दुःख के माध्यम से मानवीय वैदग्ध के स्वरूप की तात्विक मीमांसा की है । रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के माध्यम से दुख की उत्पत्ति और इन पांचो उपादान स्कन्धों के उपशमन, निरोध, दुख-निरोध की प्रक्रिया ही बुद्ध के दर्शन का केन्द्र बिन्दु है ।

दुःख विनाश के मार्ग

ज्ञान, शील और समाधि स्कन्धों के अन्तर्गत बुद्ध का अष्टांगिक मार्ग ही दुःख विनाश का रास्ता है, जिसके माध्यम से दुःख से मुक्ति सम्भव है । ज्ञान-स्कन्द के अन्तर्गत सम्पर्क, जीविका और समाधि-स्कन्द के अन्तर्गत सम्यक्-प्रयत्न, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि की अवधारणा है ।

सम्यक् संकल्प के लिए आवश्यक है कि राग, हिंसा, प्रतिहिंसा-रहित संकल्प को ही स्थान देना चाहिए ।सम्यक समाधि चिन्ता की सही एकाग्रता है ।

वैयक्तिक दृष्टि

नैतिक दृष्टि से बुद्ध ने मानवीय अस्तित्व के स्वरूप को विभिन्न मौलिक मानवीय धारणाओं से बांधने की चेष्टा की है। उनकी दृष्टि जीवन के दुःखमय रूप के प्रति सहानुभूतिपूर्ण और संवेदनात्मक थी । दुख के चरम स्वरूप की घनी अनुभूति ही बुद्ध के अष्टांगिक मार्ग का मूल आधार है । अकरणीय कर्मों के करने से दुःख और लोन, करणीय कमी से सुख और शान्ति का विधान बुद्ध पूर्व भारतीय चिन्तन का स्वरूप था । बुद्ध ने दुःख और सुख दोनों को वेदना के अन्तर्गत रख, जीवन में आनन्द अथवा शान्ति की सम्भावना को नवीन स्वरूप प्रदान किया। वेदना आकुलताकारी मनःस्थिति है । सुख भी व्यग्रता में बांधता है और दुःख भी नष्ट होने की व्याकुल अनुभूति को जन्म देता है ।

"आत्म दीपो भव" - की बौद्धिक अवधारणा मूलत: वैयक्तिक आत्म के स्वरूप की गुणात्मक व्यंजना है । दुःख मोचन की साधना विश्वगत अस्तित्वमय के पार्थिव धरातल पर ही की जा सकती है ।

अस्तित्ववादी चिन्तन के विश्वगत अस्तित्वमय के स्वरूप का वास्तविक चित्रण दुःख समुदाय के रूप में व्यक्त है, और प्रतीत्य समुत्पाद में पार्थिक विश्व के तात्विक स्वरूप का यथार्थ चित्रण है । इस धरातल पर अस्तित्ववादी चिन्तकों के विश्व और जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण तथा बुद्ध के जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण में विशेष अन्तर नहीं है । मानवीय अस्तित्व के धरातल पर मानवीय वैदग्ध के रूप की उद्भावना और उसकी तात्विक व्याख्या बौद्ध-दर्शन की महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

अरविन्द दर्शन और यथार्थवाद

अरविन्द की मान्यता है कि अनुपम अथवा दिव्य सत्ता मेरे भीतर है, अत: मैं अपने अभावों के साथ 'मैं' हूँ किन्तु मुझे इन अभावों पर विजय प्राप्त करनी चाहिए और अपने व्यक्ति जीवन

और परिवेश में इस दिव्य जीवन का अनुभव करना चाहिये । श्री अरविन्द के दर्शन में बह्म और जगत् के बीच अभिन्न एकता है और वे दो परस्पर विरोधी छोर न होकर एक दूसरे के साथ है । सर्वात्म-सत्ता और विश्व के भीतर बह्म की व्यापक अनुभूति अतिमानसिक दिव्य मानवीय जीवन के आदर्श की अवधारणा का मूल आधार है । अरविन्द दर्शन उपयुक्त मानवीय-अस्तित्व की चिन्तन और आत्मपरकता जीवन का विश्लेषण है । रामकृष्ण परमहंस और अरविन्द का उल्लेख पश्चिमी लेखकों ने अस्तित्ववाद की कतिपय प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने के लिये किया है ।

अपने वर्तमान स्वरूप में अस्तित्ववाद मूलतः कीर्केगार्ड से प्रारम्भ होता है । आस्थामूलक अस्तित्ववादी चिन्तन एवं भारतीय नवजागरण के समय के भारतीय चिन्तन में बहुत समानता है । इस समय में भारतीय चिन्तन में पारलौकिक जीवन की चिन्ता की अपेक्षा तत्कालीन जीवन को उपयुक्त बेहतर बनाने की चिन्ता रही है ।

स्वामी विवेकानन्द और महर्षि अरविन्द के दर्शन का यही मूलभूत उद्देश्य है । अनीश्वरवादी अस्तित्ववादी चिन्तन जिस जीवन यथार्थ की चर्चा करते है उसका स्वरूप हिन्दी साहित्य में उपलब्ध होता है और उसका प्रधान लक्ष्य मानवीय मूल्यों और अवधारणाओं के नवीन आयाम को प्रस्तुत करना है । अस्तित्ववादी विचार जीवन के भीतर से उत्पन्न हुए हैं और मानवीय जीवन अपने आन्तरिक मूल रूप में सब जगह एक सी विडम्बनाओं के भीतर से गुजरता है, अतः साहित्य और कलाओं में उसकी अभिव्यक्ति स्वाभाविक

18.7 अस्तित्ववाद और साहित्य आलोचना

18.7.1 पश्चिम साहित्य में अस्तित्ववाद

अस्तित्ववादी चिन्तन और स्थापनाओं पर विचार करने के बाद साहित्य में अस्तित्ववाद के प्रभाव पर विचार नितान्त आवश्यक है । इस विचारधारा ने सांस्कृतिक और साहित्यिक तौर पर बहुत बड़ी संख्या में बुद्धिजीवी वर्ग को अपनी अवधारणाओं से प्रभावित किया है ।

एल. टॉल्सटाय, टी एस इलियट,आर.एम. सिल्के, जेम्स ज्वाइस, आल्वेयर कामू ,फ्रेंडरिक, नीत्शे, ज्याँ पाल सार्त्र और साइमन दे बाउआ जैसे कई लेखक व साहित्यकार हैं जिनके लेखन पर इस विचारधारा का प्रभाव है और अधिकांश लेखकों ने भी इस विचारधारा के आधुनिक स्वरूप को गढ़ने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है ।

इस विचारधारा का पश्चिमी साहित्य में प्रभाव निम्न बिन्दुओं के माध्यम से देखा जा सकता है-

1. साहित्य में विद्यमान सम्बन्ध हीनता बीसवीं शताब्दी की शुरुआत से औद्योगिक विकास के उस स्तर से प्रारम्भ है जहाँ नागरिक सभ्यता सामाजिक परिवेश से कट चुकी थी तथा मानवीय संवेदना एक गहरे धरातल पर आपस में बँट गई थी । बारबास के उपन्यास 'एल.एनकर' में नायक की मनःस्थिति इस तलाश को और गहरा कर देती है । इस उपन्यास में महानगरीय जीवन के भीतर प्रविष्ट ग्रामीण सभ्यता का प्रतिनिधि जिस नई स्थिति में जिज्ञासु होकर डूबता है, पत्नी व उसके साथ गुजरे क्षणों की अनुभूति तथा चेतना के

धरातल पर यौन आकांक्षा की गहरी अनुभूति के स्तर पर जुड़ता है, वह अपने खोए हुए अस्तित्व की तलाश का ही परिणाम है ।

2. पाश्चात्य साहित्य में बहिष्कृत आदमी का चित्रण है । बहिष्कृत आदमी के अस्तित्व का यह सवाल एक अस्तित्वहीन की स्थिति से शुरू हुआ है और इसका रेखांकन उस स्वतंत्र आकांक्षा के साथ जुड़ा है जो मनुष्य मात्र की नैसर्गिक वृत्ति है ।

   हैनरी जेम्स के उपन्यासों में कुंठित पात्रों की मानसिकता से बहुत सारे चित्र उपलब्ध होते है । इन पात्रों में जीवन-संदर्भो का गहरे टूटने का अहसास है । 'पोट्रेट ऑफ लेडी' की युवती नायिका जिन्दगी का सामना एक प्रश्न चिन्ह के साथ करती है । वह अपनी सामाजिक सफलता को एक चरम विकास का माध्यम मानती है और एक लार्ड का विवाह प्रस्ताव यह मानकर ठुकरा देती है कि जीवन भावोत्तेजक सम्भावनाओं से भरा हुआ है । हेनरी जेम्स अपने एक और उपन्यास 'द एम्बेसडर' में बहिष्कृत आदमी की एक आवश्यक तस्वीर प्रस्तुत करता है ।

   बहिष्कृत मनुष्य की नियति, निरर्थकता के माध्यम से जीवित रहने के सवाल की प्रस्तुति है ।टी.ई. लारेन्स द्वारा युद्ध के दौरान अर्जित अनुभव एक गहरी मानवीय पीड़ा और दुर्दान्त, खूनी अस्तित्व की अन्तर्विरोधी स्थिति को व्यक्त करते हैं । बहिष्कृत-व्यक्ति स्वयं को उत्तम व्यावहारिक आदमी से भिन्न मानता है । वह आंतरिक तनाव से शुरुआत करता है । अंधुनातन मनोविज्ञान मानवीय संचेतना में निहित विशिष्ट जकड़न को मान्यता देता है । बहिष्कृत व्यक्ति सामान्य आदमी से अधिक भावुक होता है ।अत: अमानवीय स्थितियों के प्रति उसकी प्रतिक्रिया तीव्र होती है ।

3. सम्बन्धों की व्यक्तिकता भी अस्तित्ववाद की देन है । जैसे-डी.एच. लारेंस जिस गहरे धरातल पर यौन-सम्बन्धों की वैयक्तिकता और अनिवार्यता का चित्रण करता है, उस तरह के संदर्भ बारबस के उपन्यासों में नहीं मिलते। यह पौरूषहीनता अस्तित्ववादी निरर्थकता के भीतर से उत्पन्न होती है, जहाँ मानवीय-अस्तित्व चरमबिन्दु पर एक अनिवार्यता से वापस लौट गहरे अन्तर विरोध का शिकार हो जाता है ।

   मानवीय सभ्यता के विकास की वर्तमान यात्रा में एच.डी. वेल्स की आसन्न मानवीय संकट की धारणा एक गहरी प्रतीति के भीतर से उत्पन्न हुई है । उसकी धारणा है कि समस्या अपने चरम विकास के बिन्दु पर पहुंच कर नष्ट होगी और उसे इस अन्त से नहीं बचाया जा सकता । इस तात्त्विक संकट को अस्तित्ववाद ने दूसरे बिन्दु पर स्वीकार किया है, और वैयक्तिक अस्तित्व के धरातल पर इसे अनिवार्य नियति माना है ।

4. ऑल्वेयर कामू के आउटसाइडर (बहिष्कृत व्यक्ति) में अनुभवशीलता के हनन की स्थिति है । आधुनिक जीवन की विद्रूपता व विसंगति ने एक मूल्यहीन विश्व हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है । 'द स्ट्रेन्जर' में कामू 'मूल्यहीनता' के संकट का तथ्यात्मक चित्रण करता है।

   "मां आज मरी है या कल मरी होगी । मैं निश्चित नहीं कह सकता ।' अजनबी अपनी मां की मौत के बारे में सोचता है । अपनी मां की मौत के सवाल पर "मैडर साल्त' उतना ही असम्बद्ध है जितना लगभग अपनी मौत के बारे में हो सकता है । वह भी जीवन शुरू

करने के बारे में सोचता है । मौत करीब होने पर मां ने अनुभव किया होगा कि वह स्वतंत्रता की कगार पर है दुबारा जीवन शुरू करने के लिए तैयार । यह विचार बोध मूल्यहीनता की स्थिति प्रकट करता है ।

5. स्वतंत्रता आतंक है

"स्वतंत्रता आतंक है" - इस अनुभव को सार्त्र ने कान्फेडरेशन डी.ला. साइलेन्स में व्यक्त किया हैं । कामू की अनुभवशीलता के भीतर मौत का क्षण स्वतंत्रता की चरम प्रतीति का स्तर है और मनुष्य की स्वतन्त्र अनुभव करने की सामर्थ्य का प्रतिपादन है ।

इसी तरह "द ट्रायल" का नायक गिरफ्तार किया जाता है और बिना कारण बताये फांसी पर चढ़ा दिया जाता है । स्वतंत्रता का अधिकार आवश्यक है अन्यथा जो व्यक्ति स्वतंत्रता प्राप्त करने में असमर्थ रहता है वह अनायास संकट, नाशिया, न्यायाधिकरण और फांसी-जीवन के ओछे तरीकों की फिसलन का शिकार होता है । हेमिग्वे के एक और उपन्यास 'सन आलसो राइजेज' में जैक बर्न्स युद्ध में घायल हो जाने के बाद औरत के साथ शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करने में असमर्थ हो जाता है । घाव न भोगी जा सकने वाली स्वतंत्रता की सम्पूर्ण त्रासद स्थिति का प्रतीक बन जाता है । इलियट की बौद्धिक-आसन्नता आधुनिक-संकट को मानवीय इतिहास के साथ जोड़ती है । हैंमिंग्वे, सार्त्र की इस प्रपत्ति को कि "स्वतंत्रता आतंक हैं स्वीकार करता है' स्वतंत्रता संकट है, इस सम्भावना को व्यक्त करता है।

द्वितीय समरोत्तर विश्व एक ओर नयी सम्भावना और दूसरी ओर युद्ध की भावी सम्भावना की मानव घातक परम्परा के विरूद्ध मानवीय संघर्ष के विभिन्न शान्ति प्रयासों को स्पष्ट करता है । इस दौर में रचनाशील साहित्यकार दायित्व की दृष्टि से एक साथ कई भूमिकाओं का निर्वाह करते दिखाई देते है ।

जेम्स जाइस उस व्याकुलता का उल्लेख करता है, जो उसे संध्या के समय मर्सिलीज की खोज में एक उपवन से दूसरे उपवन में भटकाती है । एक अपरिचय असंतुष्ट इसके भीतर पैदा होता है और वह ऊंचे पहाड़ी, नदियों, नीचे झुके हुए आकाश में दिन प्रतिदिन उसे खोजता रहता है । यह निरर्थक भटकन खालीपन के भीतर से पैदा हुई है ।

हैनरी जेम्स के उपन्यासों में कुंठित पात्रों की मानसिकता से बहुत सारे चित्र उपलब्ध होते है । इन पात्रों में जीवन-संदर्भो की गहरी टुटन का अहसास है । 'पोर्ट्रेट ऑफ लेडी' की युवती नायिका जिन्दगी का सामना एक प्रश्न चिन्ह के साथ करती है । वह अपनी सामाजिक सफलता को एक चरम विकास का माध्यम मानती है, और एक लार्ड का विवाह प्रस्ताव यह मानकर ठुकरा देती है कि जीवन भावोत्तेजक सम्भावनाओं से भरा हुआ है।

(हेनरी जेम्स अपने एक और उपन्यास 'द एम्बेसडर' में बहिष्कृत आदमी की एक आवश्यक तस्वीर प्रस्तुत करता है । बहिष्कृत मनुष्य की नियति निरर्थकता के माध्यम से जीवित रहने के सवाल की प्रस्तुति है ।

टी.ई. लॉरेन्स द्वारा युद्ध के दौरान अर्जित अनुभव एक गहरी मानवीय पीड़ा और दुर्दान्त, खूनी अस्तित्व की अन्तर्विरोधी स्थिति को व्यक्त करते हैं ।

6. कुंठित मानसिकता

अस्तित्ववाद के सम्पूर्ण चिन्तन क्रम में निराशावाद की गहरी पकड़ मौजूद है । टी.एस. इलियट 'हालोमेन' और 'वेस्टलेण्ड' आधुनिक व्यक्ति की पीड़ा का मूल्यांकन स्तर खोजता है । अस्तित्ववादी दर्शन में अनीश्वरवादी विचारधारा का सूत्रधार नीत्शे आदर्श की अवहेलना नहीं करता है, अपितु वह विचार के पहले आकांक्षा को प्रतिपादित करता है । यदि इच्छा व आकांक्षा को प्रथम स्थान नहीं दिया गया तो जीवन आदर्शों का अनुसरण मात्र बनकर रह जाएगा । भय, आशंका, निराशा, घुटन व छटपटाहट, इस दौर के लेखन में सर्वत्र दिखाई देती है । दोस्तोवस्की की रचना 'डेविल्स' में किरीलोव मरने का फैसला कर लेता है । इसका कारण बहिष्कृत व्यक्ति का यह तर्क है कि यदि ईश्वर का अस्तित्व है, तो सभी कुछ उसकी इच्छा पर है, यदि ईश्वर नहीं है तो किरीलोव ही ईश्वर है और उसे अपनी आकांक्षा न बदले जा सकने वाले कार्य के रूप में स्वयं को मारकर दिखलानी चाहिए । आत्महत्या के पीछे निहित समझ-बहिष्कृत व्यक्ति की उस समाज से कटी हुई मानसिकता की अभिव्यक्ति है, जहां सारा अनुसंधान एक निश्चित निरर्थकता में बदल जाता है । ब्लेक, कीर्केगार्ड, नीत्शे और दोस्तोवस्की के माध्यम से हम एक नतीजे पर पहुँचते हैं कि आत्महत्या के पीछे बहिष्कृत-व्यक्ति में बुनियादी रूप में बौद्धिक चेतना का प्रत्यारोपण होता है, जहाँ वह सम्पूर्ण व्यवस्था की घातकता के समक्ष अकेला संघर्षशील रहने का फैसला करता है । वह स्वयं को विशिष्ट कार्य के माध्यम से रेखांकित करता है । सम्पूर्ण आकांक्षा की मर्मान्तक स्वीकृति के लिये आत्महत्या को एक निश्चित दार्शनिक स्वतंत्रता का पर्याय मानता है । यह आत्महननकारी माहौल आधुनिक जीवन के मानव विरोधी आयाम की उपज है ।

प्रत्येक बहिष्कृत व्यक्ति की त्रासदी स्वयं को व्यक्त करने की त्रासदी है, जिसके द्वारा वह स्वयं को जान सके और अभी तक की अनजानी सम्भावनाओं को समझ सके । यह भय, आशंका व त्रासदी व्यक्तिवादी अनुचिंतन की मानसिकता के भीतर से उत्पन्न होती है । इस स्तर पर कीर्केगार्ड की 'डायरी ऑफ ए सिड्यूसर' नीत्शे का लेखन और दोस्तोवस्की का उपन्यास 'लाइफ ऑफ फादर जोशिमा' एक ही जैसी मानसिकता व्यक्त करने वाली कृतियाँ है ।

18.7.2 भारतीय साहित्य में अस्तित्ववाद

अस्तित्ववादी विचारधारा का हिन्दी साहित्य (कविता व कथा साहित्य) पर प्रभाव देखा जा सकता है । सन 1947 से लेकर 1952 तक युवा साहित्यकारों की एक ऐसी पीढ़ी हिन्दी में आई, जिसने इस सारे परिवेश के भीतर रहते हुये उसकी अमानुषिक स्थिति की प्रतिक्रिया में स्तरी अमानवीय शक्तियों के प्रति विद्रोह का स्वर-मुखरित किया । छायावादोत्तर पीढ़ी के कवियों में दिनकर, नेपाली, अंचल, प्रयोगवाद के अन्तर्गत रचनाशील अज्ञेय, मुक्तिबोध, भवानीप्रसाद मिश्र, धर्मवीर भारती, नागार्जुन, शिवकुमार श्रीवास्तव, रामकृष्ण श्रीवास्तव और समूचे हिन्दी भाषी इलाके के अनगिनत दूसरे कवियों ने इस काल की विद्रोही भावना को व्यक्त किया है ।

पिछले वर्षो की यात्रा में विद्रोही चेतना का क्रमागत विकास देखा जा सकता है । यही कारण है कि प्रयोगवादीयुग और नई कविता के युग में यह विद्रोह उस आत्यंतिक रूप में नहीं व्यक्त होता जैसा साठोत्तरी कविता में दिखाई देता है । नई कविता के आन्दोलन से सम्बद्ध कवियों में से विजयदेवनारायण साही और रघुवीर सहाय की सन् सात के पश्चात् प्रकाशित कविताओं तथा श्रीकान्त वर्मा की माया दर्पण की रचनाओं में विद्रोह नया रूप ग्रहण करता है और सामयिक मनीषा की मूल भावना के अनुकूल है।

'तारसप्तक' के प्रकाशन के साथ ही हिन्दी साहित्य में व्यक्ति परक साहित्य का शुभारम्भ होता है । 'तारसप्तक' में गजानन माधव मुक्तिबोध, नेमीचन्द, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजा कुमार माथुर, राम बिलास व अज्ञेय की कविताएँ संग्रहीत है ।

हिन्दी साहित्य में अस्तित्ववाद चिन्तन की प्रपत्तियों का प्रभाव, जीवन यथार्थ के अनुसंधान और परिस्थितियों के तथ्यात्मक विश्लेषण में स्पष्ट परिलक्षित होता है । अस्तित्ववाद के विचार क्रम का स्वरूप हिन्दी के व्यक्तिवादी और समाजवादी साहित्यकारों की कृतियों में उपलब्ध होता है । हम देखते हैं कि अज्ञेय, मुक्तिबोध, धर्मवीर भारती। श्रीकान्त वर्मा, रघुवीर सहाय, कैलाश बाजपेयी, दूधनाथसिंह और गंगाप्रसाद विमल के साहित्य में अस्तित्ववाद के तात्विक स्वरूप और अवधारणा का गहरा प्रभाव है । व्यक्तिवादी और आस्थाशील समझे, जाने वाले लेखकों व साहित्यकारों पर कीर्केगार्ड, कार्ल यास्पर्स और ग्रैब्रियल मार्शल के चिन्तन का प्रभाव है । अज्ञेय की गद्यात्मक कृतियों - 'एक बूँद सहसा उछली' (यात्रा संस्मरण) और 'आत्मने-पद' रचनाओं में अस्तित्ववादी चिंतन से सम्बन्धित अंश उपलब्ध होते हैं ।डॉ. धर्मवीर भारती की पुस्तक 'मानव मूल्य और साहित्य' में विशेषत: कार्लयास्पर्स की स्थापनाओं का प्रभाव दिखाई देता है ।

परम्परागत चिन्तन ने संस्कृति, ईश्वर और मनुष्य के सम्बन्ध में विचार कर या तो ईश्वर की सर्वातिशायी सत्ता को पूर्णत: निरपेक्ष इकाई बना दिया है, अथवा जीवन की सृजनात्मक इयत्ता से सम्बद्ध कर एक रहस्यमय शक्ति का व्यापक प्रसार माना है । मनुष्य, जो कि सारे मानवीय चिन्तन, दर्शन और वैज्ञानिक उपलब्धियों का केन्द्र बिन्दु है, इन सभी मान्यताओं और चिन्तनधाराओं द्वारा पूर्णतया अपेक्षित रहा है । अस्तित्ववाद ने इस केन्द्रीय मानवीयता के सारे सूत्रों को अपने चिन्तन का आधार बनाया है । विश्वजनीन उपकरणपरकता के बीच में फँसा मानव अस्तित्ववाद का मूल विषय है । इस संदर्भ में अस्तित्ववाद ने मानवीय इकाई को आवृत्त करने वाली परिस्थितियों, ऐतिहासिक और चरम संकट के रूप में प्रस्तुत सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और वैज्ञानिक तंत्र की निर्ममता का उद्घाटन किया है । अस्तित्ववादी चिन्तन और यूरोपीय ह्रासशील सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति में संघर्ष करते - ज्यां पास सार्त्र परिस्थितियों पर जैसा बल देता है, उसके कारण अस्तित्ववादी साहित्य लेखन का स्वरूप अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति के अनुकूल वस्तु और शिल्प दोनों स्तरों पर भिन्न हो जाता है । दूसरे महायुद्ध के पश्चात् पश्चिम की स्थितियों और भारतीय स्थितियों के स्वरूप में जो अंतर है, उसे ध्यान में रखने पर यह भिन्नता स्पष्ट हो जाती है । दूसरे महायुद्ध के बाद भारतीय जीवन में नवजागरण के पश्चात् उत्पन्न आधुनिकता की लहर, सभी क्षेत्रों को

प्रभावित करती है । लोकतांत्रिक पद्धति के विकास और तीन आम चुनावों के पश्चात् पं. जवाहर लाल नेहरू की मृत्यु से एक नवीन युग का सूत्रपात होता है । गाँधी युग के आदर्श और नेहरु-युग की अपेक्षाओं की टूटन, चौथे आम चुनावों के परिणाम के रूप में स्पष्ट दिखाई देती है । इस बीच 1987 के आस-पास जन्मी पीढ़ी युवा हो गई है, और इस पीढ़ी की आकांक्षाएँ, इसके पहले वाली पीढ़ी से भिन्न है। वह अपने चारों ओर के परिवेश और स्थितियों की विद्रूपता के आत्मघाती रूप को अधिक अच्छी तरह समझती है ।

साठोत्तरी लेखन में आधुनिक जीवन की जटिलता के साथ ही उस परिवेश की तात्विक प्रतिक्रिया भी अंकित है, जो अमानवीय निर्मम संघर्ष और संवेदनहीन सम्बंधहीनता का निर्धारण कर रहा है । कीर्केगार्ड और नीत्शे के चिंतन ने हमें अपनी मानवीय स्थितियों के प्रति सजग किया है और परवर्ती अस्तित्ववादी चिंतकों ने मानवीय व्यवहार के विभिन्न रूपों को नियंत्रित और रूपायित करने वाली परिस्थितियों की विकरालता का उद्घाटन किया है । अस्तित्ववादी चिन्तन का अधिकांश भाग दूसरे महायुद्ध के पश्चात् की यूरोपीय स्थिति की उपज है। कीर्केगार्ड और नीत्शे को छोड़ शेष सभी दार्शनिकों ने युद्ध की विभीषिका को, स्वयं अपनी आँखों के सामने देखा है। उन्होंने उस आसन्न मानवीय संकट की सम्भावना को बोध के धरातल पर ग्रहण किया है, और जब मानवीय अस्तित्व पूर्णतया निरर्थक और अमानवीय हो जाएगा तो यह स्थिति केवल सम्भावना नहीं है, अपितु बोध के धरातल पर गृहीत यथार्थ है ।

साहित्य में अस्तित्ववाद की अवधारणा मानवीय यथार्थ और परिस्थितियों के विश्लेषण के रूप में उपलब्ध होती है । मानवीय अस्तित्व के सम्भावित रूप को उपलब्ध करने का संघर्ष वर्तमान घृणित व्यवस्था, अनैतिक अवसरवादिता और संवेदनहीन व्यावहारिकता के विरूद्ध संघर्ष के रूप में परिणत हो जाता है । आल्बेयर कामू अपने विद्रोह-दर्शन में साहित्यकार अथवा बुद्धिजीवी के लिए वर्तमान स्थिति में सतत विद्रोह की भूमिका स्वीकार करने की बात कहता है । बुद्धिजीवी अथवा साहित्यकार, जो वर्तमान स्थितियों की विकरालता को समझता है, शान्त नहीं बैठ सकता । इस आसन्न संकट की स्थिति में चुप बैठने का आशय मानवीय अस्तित्व की बची खुची सम्भावना को भी पूरी तरह नष्ट कर देना है । 'आलबेयर कामू, प्रथम महायुद्ध के बाद लगातार यूरोपीय जीवन की पतनोन्मुखी यात्रा का उल्लेख करता है, और स्वीकार करता है कि इस अमानवीय स्थिति से जूझने के सिवाय कोई दूसरा रास्ता नहीं । प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर में एक दुर्दान्त खूनी भेड़िया बैठा है जो अपनी सफलता के लिए दूसरों को मौत की घाट उतारने में भी नहीं हिचकता । हिन्दी साहित्य में नयी चेतना का विकास प्रगतिवादी आन्दोलन के बाद तारसप्तक के कवियों में स्पष्ट देखा जाता है । नवलेखन से सम्बन्धित सभी साहित्य-विधाओं में इस चेतना का परवर्ती रूप मानवीय अस्तित्व-संघर्ष और आंतरिक वैयक्तिकता की अवधारणा के विभिन्न रूपों में व्यक्त होता है ।

संकट और संक्रमण की स्थिति से गुजरती हुई मानवीय चेतना ऊन प्रश्नों का समाधान ढूंढने की कोशिश करती है, जो मनुष्य के अस्तित्व की सम्भावना और उसके वर्तमान रूपों से सम्बन्धित है । स्वातंत्र्य कामना को नैसर्गिक और स्वतंत्रता को जन्म सिद्ध अधिकार मान लेने के पश्चात् वह यात्रा प्रारंभ होती है, जिसमें मानवीय जीवन की सम्भावनायें प्रत्येक व्यक्ति के लिए सुलभ हो सकें । साठोत्तरी पीढ़ी में जिस आक्रामकता का स्वर सबसे अधिक मुखरित

है, वह सम्पूर्ण परिवेश की जड़ता को तोड़ना चाहती है । यह तोड़ना उन परम्परागत मूल्यों की विद्य विसंगति के भीतर से प्रारम्भ होता है, और साहित्यकार उस विसंगति को स्पष्ट करता जाता है । साठोत्तरी लेखन में यह स्वर इस बात का प्रमाण है की हिन्दी युवा-लेखन यदि कतिपय रूढ़ियों का शिकार होने से बच गया तो भारतीय परिवेश के यथार्थ के उद्घाटन द्वारा दिशा प्रदान करने में सफल होगा, जिसके माध्यम से वर्तमान का सही चित्र और भविष्य की सम्भावित मानवीय दिशा का स्वरूप मुखर हो सकेगा ।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी लेखन में सृजनरत अधिकांश साहित्यकार नव मध्यवर्गीय चेतना से इस दृष्टि से भिन्न हैं कि वह उन संस्कार शीलता और रूढिबद्धता को अस्वीकार करती है, जो नवीन उन्मेष की सम्भावनाओं को वर्गीय दिखावे में बाँध लेती है । वस्तुत: फ्रांस के अस्तित्ववादी लेखकों में 'सेक्स चित्रण' की अधिकता उस एण्ट्री लव अथवा 'एण्टी-सेक्स' चित्रण का अंग है, जो पार्थिव जीवन के चरम बिन्दु पर उपलब्ध निरर्थकता और खालीपन का प्रतीक है । अकविता से सम्बद्ध कवियों विशेषत: जगदीश चतुर्वेदी, गंगाप्रसाद विमल, सौमित्र मोहन, मणिकामोहनी, मलय और मोना गुलाटी में इसे जिन सन्दर्भों में दोहराने की चेष्टा है, वह रूढ़ि का स्वरूप ग्रहण करता जा रहा है । चेतनाशील पाठक के मन पर इस तरह यौनाचारमूलक अंशों से कोई धक्का नहीं लगता और न ही जीवन की व्यवस्था का निरर्थकता बोधक संकलित बिन्दु ही इनके द्वारा उभरता है । इस सन्दर्भ में सार्त्र की कहानी 'एरा स्ट्रेट्स' में नायक की सेक्स के प्रति व्यक्त प्रतिक्रिया उल्लेखनीय है । सार्त्र के ही एक और नाटक 'अल्तोना' में फ्रेन्ज की प्रेमिका कहती है: "तुम दोनों भाई सपनों में जी रहे हो और मैं क्या कहूँ! कुछ नहीं। मैं मित्रता का एक हथियार-भर हूँ । क्योंकि तुम दोनों मेरे पर एक-दूसरे के आलिंगनों को देखने की कोशिश करते हो ।" इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि सार्त्र के साहित्य में इस तरह के स्थल लेखक की रुग्ण दृष्टि के परिचायक नहीं हैं, अपितु उस व्यवस्था के परिचायक है जहाँ सारी मान्यतायें टूट गई है और साथ ही उनसे जुड़े हुए संस्कार पूर्णतया नष्ट हो गए है । यह स्थिति अभी भारतवर्ष में नहीं आयी । मान्यतायें टूटने के क्रम में है, और जीवन का संघर्ष जिन गलत धारणाओं और नीतियों के कारण अधिक अमानवीय है उनका स्वरूप हमारे सामने है ।

इसके सिवाय लेखकों में वे सूत्र भी उपलब्ध होते हैं, जो सही परिप्रेक्ष्य में मानवीय संघर्ष को देखते हैं । वर्तमान परिवेश का दबाव इधर के लेखन पर इतना गहरा है कि उससे इसकी प्रामाणिकता अधिक विश्वसनीय बन जाती है ।

अमानवीय जीवन-स्थितियों से संघर्ष कभी न समाप्त होने वाला संघर्ष है । अस्तित्ववादी चिन्तन का मानवीय पक्ष इस तथ्य को स्वीकार करता है और सृजनशील साहित्यकार की आद्योपान्त भूमिका एक वैयक्तिक विद्रोह की भूमिका है । साहित्य वर्तमान के पीड़ा-बोध और संघर्ष को प्रस्तुत करता हुआ जीवन-यथार्थ एवं परिस्थितिगत तथ्य को व्यक्त करता है । इस संदर्भ में जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी की आत्माभिव्यक्ति वर्तमान पीढ़ी की आकुलता और दी गई जीवन-स्थिति की विद्रूपता को व्यक्त करती है'

1. एक विशाल सर्प की गिरफ्त में कैद है सारा शहर

और भयावह समुद्र मंथन के बीच पिस रहा हूँ मैं

सम्पादन पत्रिका (विजय) निरापद, पृष्ठ संख्या-66

2. मुझे ले चलो
इस खोखली नगरी से बहुत दूर
मेरी अस्थियाँ मल रही है
मेरी जिन्दगी उखड़ रही है
घुट रही हैं मेरी दम तोड़ती साँसें
मुझे उबकाई आ रही है ।

सम्पादन पत्रिका (विजय) निरापद, पृष्ठ संख्या-91

3. एक जिम्मेदारी की करवट बदल कर
चिपक जाती है पत्नी
और उसे प्यार करने के नाटक में
मैं अज्ञात प्रेमिकाओं के गले घोंट देता हूं
हर रात!

सम्पादन पत्रिका (विजय) निरापद, पृष्ठ संख्या-66

व्यक्ति के चारों और बिखरा आ विश्व अंत उसके अस्तित्व का निर्माता है । वर्तमान विघटन और विद्रूपता से घिरे हुए परिवेश में सार्थक मानवीयअस्तित्व संभव नहीं है अत: यह मानवीय संकट का चरम-बिन्दु है, जहां मानवीय-अस्तित्व की रक्षा के लिए संघर्ष अनिवार्य है । यह संघर्ष मुक्तिबोध की कविताओं का प्रधान स्वर है। संघर्ष दुहरे, तिहरे और कई रूपों में एक साथ चलता है और विश्व-संस्कृति के उस धरातल तक जाता है, जहाँ मानव-मात्र का संघर्ष एक हो जाता है । संघर्ष कर रहे प्रत्येक व्यक्ति की पीड़ा कवि की पीड़ा बन जाती है और सारा संघर्ष प्रामाणिक संघर्ष हो जाता है-

शोषण की सभ्यता के नियमों के अनुसार
बनी हुई संस्कृति के तिलिस्मी
स्याह चक्रव्यूहों में
फँसे हुए प्राण सब मुझे याद आते हैं
मर्माहत कातर पुकार सुन पड़ती है
मेरी ही पुकार जैसी चिन्तासुर समुद्विग्न ।

मुक्ति बोध के काव्य में निराशा और कुण्ठा उसे किसी एक स्थान पर नहीं रोकती, अपितु अनवरत संघर्ष की जीवनेच्छा के साथ समाभूत होकर गहन और कष्टदायी उत्तरदायित्व बन जाती है । अस्तित्ववाद ने हिंदी रचनात्मक साहित्य तथा आलोचना को भी प्रभावित किया हैं । कविता, कहानी तथा उपन्यास में मनुष्य की विसंगत स्थिति, महानगरों की भीड़ तथा पारिवारिक संबंधों में मनुष्य का अकेलापन, अजीबपन तथा संत्रास का वर्णन किया गया है।

18.8 सारांश

मानवीय आंतरिकता की स्थापना, क्षण का महत्व, मानवीय विवेक के प्रति आस्था, वैयक्तिक दायित्व, मानवीय व्यक्तित्व का विघटन, मानवीय संकट और इस तरह के और बहुत से शब्दों का आशय और उनके पीछे निहित गांभीर्य को समझने के लिए अस्तित्ववाद में निहित पंक्तियों की आर लौटना पड़ता है । वस्तुत: अस्तित्ववाद जीवन की एक सम्पूर्ण व्याख्या है और इस दृष्टि से जीवन यथार्थ से संघर्ष करता व्यक्ति ही उसका मूल आधार है । मानवीय अस्तित्व को विघटित करने वाली प्रवृत्तियों की प्रबलता दूसरे विश्वयुद्ध के पश्चात एक विश्व व्यापी यथार्थ के रूप में प्रकट हुई है और इस आसन्न संकट के प्रति प्रत्येक देश के बुद्धिजीवियों की दृष्टि है । विवेक के स्तर पर आज का व्यक्ति जितना चेतनशील व जागृत है, उतना किसी युग में नहीं । आधुनिक मनीषा के लिए मानवीय दायित्व बोध एक ऐसा आयाम है, जिसे उपलब्ध करने की दिशा में विभिन्न कलाओं व चिन्तन धाराओं ने ऐतिहासिक आग्रहों व वर्जनाओं को पूर्व में तिलांजलि दे दी है । अब मानव के अस्तित्व का प्रश्न सामने है । व्यक्ति की महत्ता को सर्वोपरि रखते हुए अस्तित्ववादी साहित्य चिन्तन अग्रसर हुआ है । जैसे अज्ञेय की कविताओं में मछली प्रतीक है, इकाई के रूप में अवस्थित व्यक्ति की उद्दाम जीवन शक्ति और आकर्षण का, स्वयं अज्ञेय ने आपने पद में लिखा है कि "जीवन स्वप्नों व आकारों का एक रंगीन और विस्मय भर पुंज है । हम चाहे तो उस रूप में ही उलझे रह सकते है । रूप का यह आकर्षण भी वास्तव में जीवन के प्रति हमारे आकर्षण का ही प्रतिबिम्ब है । जीवन को सीधे न देखकर हम एक काँच में से देखते है तो हम उन रूपों में ही अटक जाते है, जिनके द्वारा जीवन अभिव्यक्ति पाता है ।"

मछली का रूप उसके प्रति आकर्षण, स्वयं मछली में अन्तर्भूत वासनास (रूप-तृषा) और जिजीविषा इन सबकी घनीभूत अभिव्यक्ति कवि की इन पंक्तियों में स्पष्ट है -

हम निहारते रूप
काँच के पीछे हाफ रही है मछली ।
रूप-तृषा भी
और काँच के पीछे है जिजीविषा । (अरी ओ करूणा प्रभामय-अज्ञेय पृ. 96)

मानव मात्र के होने की इयत्ता को कवि ने स्वयं विश्लेषित किया और उसके माध्यम से होने की पीड़ा और करूणा की मर्मस्पर्शी व्यंजना उनकी विभिन्न रचनाओं में जीवन दर्शन के रूप में व्यक्त की गई है ।

कुछ आलोचकों का मत है कि अस्तित्ववादी दर्शन मानवीय चिन्तन की उन सामाजिक मानवीय शक्तियों को सही दिशा नहीं दे पाता है जो भविष्य को बेहतर जीवन-सम्भावनाओं को निर्मित करने का एकमात्र आधार है । अस्तित्ववाद की सीमा ही मानवीय चिन्तन से प्रारंभ होती है । यह सम्पूर्ण चिन्तन यात्रा स्वअस्तित्वमय व स्वानुभव पर जोर देने के कारण अत्यधिक आर्कषक दिखाई देती है, किन्तु इसकी उपलब्धि घुटन,कुंठा,संत्रास और अलगाव की स्वयंपरक प्रतीति के सिवाय कुछ नहीं रहती है ।

अस्तित्ववाद की विचारधारा से प्रभावित रचनाशील साहित्यकारों का एक विशिष्ट वर्ग है, जो पश्चिमी साहित्य की नव-ईश्वरवादी और नव-अध्यात्मवादी विचार को साहित्य लेखन का आधार मानता है । जैनेन्द्र, अज्ञेय, धर्मवीर भारती, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना रमेश बक्शी, निर्मल वर्मा विजयदेवनारायण साही, कैलाश जोशी और गंगाप्रसाद, विमल के लेखन में इसका प्रभाव स्पष्ट देता है । यह पीढ़ी और इसके बाद आए रचनाकारों की विद्रोही पीढ़ी इस विचारधारा से प्रभावित है । इनमें आधुनिक जीवन से उत्पन्न घुटन, घृणा, संत्रास और दिशाहीन भटकाव से पैदा हुआ अलगाव, व्यक्तित्व मोह, नवईश्वरीय तत्व के अनुसंधान की रहस्य यात्रा सभी कुछ हैं । इस विचारधारा के रचनाकार अस्तित्ववादी मनोविश्लेषण व तथ्यान्वेषण द्वारा आधुनिक सामाजिक परिदृश्य का विश्लेषण प्रस्तुत करने में समर्थ है ।

18.9 अभ्यास प्रश्न:-

1. अस्तित्ववाद की व्याख्या करते हुए अस्तित्ववाद की मूल अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
2. प्रमुख अस्तित्ववादी विचारकों का उल्लेख करते हुए अस्तित्ववादी विचारधारा के मुख्य तत्वों की विवेचना कीजिए ।
3. भारतीय साहित्य आलोचना में अस्तित्ववाद के प्रभाव का विश्लेषण कीजिए ।
4. अस्तित्ववादी विचारधारा के दो भेदो में विद्यमान अन्तर को स्पष्ट कीजिए ।

18.10 संदर्भ ग्रन्थ

1 डॉ. रामविलास शर्मा - नयी कविता और अस्तित्ववाद,राजकमल प्रकाशन,दिल्ली

2 डॉ. शिवप्रसाद सिंह - आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद वाणी प्रकाशन, दरियागंज दिल्ली

3 सच्चिदानंद हीरानन्द व्यास स्थापना 'अज्ञेय' :- आधुनिक. साहित्य एक परिदृश्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

4 डॉ. श्याम सुन्दर मिश्रा:- अस्तित्ववाद और द्वितीय समरोत्तर हिन्दी साहित्य, विद्या प्रकाशन मंदिर, दरियागंज दिल्ली

5 मुक्ति बोध- कविता: चाँद का मुँह टेढ़ा है ।

6 जगदीश चतुर्वेदी- विजय' (संपादन पत्रिका)

इकाई -19 अभिजात्यवाद और स्वच्छंदतावाद

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य

19.1 प्रस्तावना

19.2 अभिजात्यवाद का अर्थ

19.3 अभिजात्यवाद पूर्वपीठिका

19.4 अभिजात्यवाद की प्रवृत्तियाँ

19.5 अभिजात्यवाद एवं नव्य- अभिजात्यवाद

19.6 अभिजात्यवाद एवं स्वच्छंदतावाद

19.7 स्वच्छंदतावाद का उद्भव एवं पृष्ठ भूमि

19.8 स्वच्छंदतावाद की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

19.9 कुछ प्रमुख स्वच्छंदतावादी आलोचक

19.9.1 वर्ड्सवर्थ

19.9.2 कॉलरिज

19.10 सारांश

19.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

19.12 संदर्भ ग्रंथ

19.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप:-

- अभिजात्यवाद एवं स्वच्छंदतावाद काव्य सिद्धांतों की चर्चा कर सकेगें ।
- प्रमुख अभिजात्यवादी एवं स्वच्छंदतावादी काव्यशास्त्रियों के मतों का उल्लेख कर सकेगें।
- अभिजात्यवाद एवं स्वच्छंदतावाद की प्रमुख प्रवृत्तियों से परिचित हो सकेंगे ।
- अभिजात्यवाद एवं स्वच्छंदतावाद के अंतर्विरोधों का उल्लेख कर सकेंगे ।

19.1 प्रस्तावना

पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अंतर्गत पिछली इकाईयों में प्लेटो, अरस्तू, लॉजाइनस, आदि के आलोचना सिद्धांतों के बारे में आप पढ़ चुके है । प्रस्तुत इकाई में आप दो काव्य चिंतन के विषय में पढेंगे । आगे अभिजात्यवाद नव्य-अभिजात्यवाद तथा स्वच्छंदतावाद की पृष्ठभूमि परंपरा, प्रवृत्तियों के बारे में विस्तार से चर्चा की जायेगी ।

19.2 अभिजात्यवाद का अर्थ

इस इकाई की प्रस्तावना में हमनें 'अभिजात्यवाद' शब्द का उल्लेख किया है । अभिजात्यवाद के विभिन्न पहलुओं से परिचित होने के पहले हमारे सामने यह प्रश्न उठता है कि अभिजात्यवाद का अर्थ क्या है? आपने अंग्रेजी शब्द क्लासिसिज्म के बारे में सुना होगा । इसका प्रयोग भी

किया होगा । अभिजात्यवाद हिन्दी शब्द है जो अंग्रेजी शब्द क्लासिसिज्म के लिए प्रयुक्त है । क्लासिसिज्म के लिए हिन्दी में अभिजात्यवाद ही नहीं, शास्त्रवाद, श्रेव्यवाद जैसे नाम भी प्रस्तावित हुए है। परन्तु ये नाम वस्तुतः अभिजात्यवाद की विभिन्न विशेषताओं के सूचक हैं । अभिजात्यवाद की अवधारणा को संपूर्णता के साथ प्रस्तुत करने के लिए 'क्लासिसिज़्म' शब्द ही अधिक उपयुक्त सिद्ध होता है ।

'क्लासिसिज्म शब्द लैटिन भाषा का है । रोम में उक्त शब्द का प्रयोग करदाताओं के सर्वोच्च वर्ग के लिए हुआ करता था । साहित्य का भी संबंध कभी अभिजनों से था, इस शब्द का प्रयोग किसी भी सभ्यता की श्रेष्ठता अथवा उत्कर्ष के सूचक वस्तु, रचना या युग के लिए होने लगा।

अंग्रेजी में क्लासिसिज्म (अभिजात्यवाद) का प्रयोग विविध अर्थों में हुआ है । यूरोप में तो अभिजात्यवाद के आधार पर तीन युगों का उल्लेख भी मिलता है । सर्वप्रथम है यूनान में पेरिकिल्स का युग, इसके साहित्यकारों में सोफ़ोक्लेस, द्वितीय माने जाते थे । इसके प्रमुख दार्शनिक अरस्तु हैं । दूसरे युग में, सिसरो और वर्जिल के युग का उल्लेख किया जाता है। होरेस (65 ई पूर्व) ने अरस्तु के सिद्धांतो की व्याख्या की । वह दूसरे युग का प्रमुख सिद्धांतकार था । तीसरा युग फ्रांस के सेंट लुई का युग आता है । इसका समय 17वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना गया है । इस युग में इंगलैण्ड में भी प्रचलित साहित्य को अभिजात्यवाद से जोड़ा गया। पोप, एडिसन, एवं जॉनसन जैसे लेखकों ने इंगलैण्ड का प्रतिनिधित्व किया । साहित्य और कला के क्षेत्र में ऊँचाई की चर्चा अभिजात्यवाद में हुई । इस ऊँचाई को प्राचीन यूनान तथा रोम ने प्राप्त कर लिया था । इसलिए इंगलैण्ड के लेखकों ने यूनानियों और रोम के सिद्धांतकारो अथवा साहित्यकारों के अनुकरण की बात की है ।

19.3 अभिजात्यवाद की पूर्वपीठिका

ऊपर हमने अभिजात्यवाद के अर्थ को स्पष्ट करने के क्रम में होरेस का उल्लेख किया है । अभिजात्यवाद के प्रारंभ का श्रेय होरेस को दिया जाता है । प्लेटों के काव्य चिंतन में प्राप्त क्लासिकी काव्य चिंतन ने संसार के सामने आकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि प्लेटों के काव्य- चिंतन में अभिजात्यवाद का बीज- वपन हो चुका था । अरस्तु ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ का नामकरण किया पोएटिक्स (काव्यशास्त्र) उन्होनें त्रासदी तथा काव्य की विविध विधाओं का सविस्तार विचार- विमर्श किया । अरस्तु अभिजात्यवाद के पुरोधा के रूप में प्रतिष्ठित हुए । उनके व्याख्याकार होरेस ने प्राचीन श्रेष्ठ कवियों के अनुसरण तथा अनुकरण पर भी विशेष बल प्रदान किया ।

कई शताब्दियों तक यह धारणा बनी रही की क्लासिक रचनाएं केवल ग्रीक और लैटिन मे हुई। इसलिए ग्रीक एवं लैटिन कृतियों का अनुसरण किया गया । ग्रीक तथा रोमन संस्कृति एवं इतिहास के अध्ययन की प्रवृत्ति भी विकसित हुई, आलोच्य कृतियों के आदर्श का अनुकरण हुआ । ऐसी प्रवृत्ति को श्रेष्यवाद या अभिजात्यवाद के रूप में जाना गया । होरेस, सिसरो, पेट्रिआर्क आदि रचनाकारों ने ग्रीक रचनाओं का खूब अनुसरण किया । आज यदि हम किसी कृति को क्लासिक के अतंर्गत रखते है तो यह जरूरी नहीं समझा जाता है कि उसमें प्राचीन

ग्रीक व लैटिन का अनुकरण हो । होमर, एवं वर्जिल की रचनाओं की तरह शेक्सपियर, मिलटन एलियट, कालिदास, तुलसीदास, प्रसाद, निराला, की कालयजी रचनाएँ क्लासिकी के अंतर्गत आती हैं । जिन रचनाओं के आदर्श के अनुकरण की संभावना आने वाले समय में प्रतीत हो उन्हें क्लासिक के अंतर्गत रखा जाने लगा । भाषा विज्ञान के शब्दों में कहें, आज क्लासिक का अर्थ विस्तार हो चुका है । स्पष्ट है कि विशिष्ट वर्ग से संबद्ध अभिजात्यवाद ने आज उन तमाम कृतियों को अपने में समेट लिया है, जिनमें युग परिवर्तन की क्षमता सन्निहित हो।

सारांश यह कि प्राचीन रोम साहित्य, कला एवं दर्शन के प्रति एकनिष्ठता का सूचक है । अभिजात्यवाद प्राचीन ग्रीक की जीवन संबंधी संकल्पनाओं तथा जीवन मूल्यों की विशेषताओं को महत्व प्रदान करना इस चिंतन का प्रमुख लक्ष्य रहा है । क्लासिक साहित्य के शाश्वत मूल्यों को प्रतिष्ठित करना अभिजात्यवाद का मुख्य उद्धेश्य रहा है । अभिजात्यवाद में सामाजिक आस्था का स्वनिनादित होता है । इस संदर्भ में निम्न उद्धरण दृष्टव्य है" वस्तुत: अभिजात्यवादी कला उस समाज या पीढ़ी की सृष्टि होती है, जिसे अपनी उपलब्धि और प्रगति के साथ जीवन के कला रूपों में अपने मानस की अभिव्यक्ति के समुचित माध्यम को पा लेने का बोध हो । अर्थात अभिजात्यवाद में आस्थावान् समाज का संतुलन अभिव्यक्ति पाता है ।" (पाश्चात्य साहित्य- चिंतन निर्मला जैन, कुसुम बेठिया, पू0 146, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि. दिल्ली, 2000)

19.4 अभिजात्यवाद की प्रवृत्तियाँ

अभिजात्यवाद की पूर्वपीठिका पर बात करते हुए हमने क्लासिक की व्यापक अवधारणा की चर्चा की है । दरअसल यूरोप में श्रेष्ठ तथा युग परिवर्तनकारी वृतियों को क्लासिक के अंतर्गत रखा गया । मिल्टन, गेटे, आदि की कालजयी रचनाओं को अभिजात्यवाद साहित्य में शामिल तो किया गया, साथ ही स्वच्छंदतावादी कवियों को, जिन्होंने व्यक्ति-स्वातंत्र्य को महत्व दिया, क्लासिक स्रष्टा माना गया । अभिजात्यवाद ने आत्म परकता एवं व्यक्ति स्वातंत्र्य का कभी समर्थन नहीं किया । इसने शास्त्रीय परिपाटियों से बंधी कृतियों की महत्ता को स्वीकार किया है ।

अभिजात्यवाद की प्रमुख प्रवृत्तियाँ निम्न है:-

1. **परम्परा की प्रतिष्ठा:-** अभिजात्यवाद परम्परावादी होता है । वह साहित्य में परम्परा की प्रतिष्ठा पर बल देता है, इसलिए साहित्य के पारंपरिक रूप के प्रति अधिक आकर्षक रहता है, फलस्वरूप मौलिक सृजन उपेक्षित हो जाता है एवं अनुकरण की प्रवृत्ति उपेक्षित होती है । मनुष्य परम्परा और व्यवस्था से जुड़कर तथा उसके प्रति निष्ठावान होकर समाज को अच्छी दिशा प्रदान करता है । उक्त मान्यता के अनुसार अभिजात्यवाद में अनुकरण का महत्व प्रतिपादित हुआ हैं ।
2. **सायास निर्मित कलाकृति:-** रचना स्वत:स्कूर्त होती है, परन्तु अभिजात्यवाद उक्त चिंतन का विरोध करता है । यह रचना के आकार को संतुलित दृष्टि से देखने के साथ-साथ विचारों में स्पष्टता पर भी विशेष बल देता है। सहज, संतुलित, एवं स्वच्छ, अभिव्यक्ति को

अभिजात्यवाद का समर्थक महत्व देता है, परन्तु अभिव्यक्ति के नए रूपों को कदापि बढ़ावा नहीं देता । आचार्यो तथा पूर्वजों की प्रतिष्ठित मान्यताओं एवं उनके काव्य-नियमों को अभिजात्यवाद अत्यधिक महत्व प्रदान करता है ।

3. **वस्तुनिष्ठ कला:-** अभिजात्यवाद अनुकरण को महत्व देने के कारण वस्तुनिष्ठा के प्रति अधिक आग्रह रखता है । इसी क्रम में यह आत्मनिष्ठा के प्रति अविश्वास प्रकट करता है । संयम एवं संतुलन के प्रति विशेष बल देता है । कला सौष्ठव बनाए रखने के लिए संतुलन की भूमिका को विशेष महत्व दिया जाता है । इस सिद्धांत में यह भी तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि अपने बाहर की किसी वस्तु के प्रति निष्ठा रखे बगैर मनुष्य का काम नहीं चल सकता है । व्यक्ति की आंतरिकता से कहीं अधिक जीवन की ठोस वास्तविकता को आधार मानना उचित है । किसी व्यक्ति की अपेक्षा किसी जाति के जीवन-आदर्श, सांस्कृतिक-मूल्य, नैतिकबोध को अभिजात्यवाद प्रतिबिंबित करना चाहता है । कला की वस्तुनिष्ठा, और कला का स्वास्थ्य आदि अभिजात्यवाद की प्रमुख प्रवृत्ति हैं ।
4. **भावना का निषेध:-** अक्सर लोगों के मन में यह भ्रांति रहती है कि अभिजात्यवाद में भावना का निषेध किया जाता है पर इसमें भावना का निषेध नहीं है । उत्कृष्ट कला के सृजन के लिए अनुभूति आवश्यक है । अभिजात्यवाद में भावावेग की अभिव्यक्ति का विरोध है, भावना का नहीं । अभिजात्यवादी दृष्टि में भाव संयम पर अधिक महत्व दिया जाता है।
5. **सार्वभौमिकता:-** पहले भी कहा जा चुका है कि व्यक्ति स्वातंत्र्य एवं व्यक्ति की प्रतिष्ठा पर स्वच्छंदतावादी दृष्टि बल देती है । परन्तु अभिजात्यवाद में रचयिता अपने सृजन को विश्वजनित सभ्यता का प्रतीक बनाने का उद्देश्य रखता है । अपनी रचनाओं को निवैव्यक्तिक रूप प्रदान करने का प्रयास अभिजात्यवाद में बना रहता है।
6. **धरती से अटूट नाता:-** अभिजात्यवादी कलाकार मनुष्य को तथा उसकी सीमा को कभी नहीं भूलता है । उसे पता है कि उसके पाँव धरती से बँधे हुए है । इसलिए वह वैयक्तिकता का अतिक्रमण करते हुए स्व की तुलना में वस्तु को महत्व देता है । परम्परा के अनुसरण करने में उसने अपना कर्तव्य निहित माना है ।

   अभिजात्यवाद की उपर्युक्त प्रवृत्तियों का अध्ययन कर लेने के बाद आपको उसके बारे में स्पष्ट अवधारणा मिल गई होगी । स्पष्टता, सादगी, परम्परा, निर्वैयक्तिकता, वस्तुनिष्ठा आदि अभिजात्यवादी काव्य परम्परा की मूलभूत विशेषताएँ रहीं है । आगे हम अभिजात्यवाद एवं नव्य-अभिजात्यवाद के स्वरूप पर विचार करेंगें ।

19.5 अभिजात्यवाद एवं नव्य - अभिजात्यवाद

नव्य अभिजात्यवाद को नव्य शास्त्रवाद के नाम से भी जाना जाता है । अंग्रेजी का क्लासिसिज्म अभिजात्यवाद का पर्याय है तो नियो क्लासिसिज्म 'नव्य अभिजात्यवाद' का । जब कल्पना और स्वातंत्र्य अराजक स्थिति में पहुँचे हैं, उनकी प्रतिक्रिया के रूप में फिर से अभिजात्यवाद की स्थापना का प्रयास हुआ । यानि, अभिजात्यवाद का पुनरुत्थान ही नव्य- अभिजात्यवाद है । अभिजात्यवाद का जन्म इटली में हुआ तो नव्य अभिजात्यवाद का उत्थान फ्रांस में हुआ।

इस उत्थान का समय लगभग सत्रहवीं शताब्दी माना जाता है । रासीन, कार्मिल बुअलों आदि चिंतकों ने गैर शास्त्रीयता को पुन: प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया । इंगलैण्ड में भी इसका प्रभाव पाया गया । बेन जॉनसन, जान, ड्राइडन, अलेकजेन्डर, पोप, सेमुअल, जॉनसन आदि ने नव्य अभिजात्यवाद को विकसित करने का प्रयास किया । इंगलैण्ड में इस काव्य चिंतन का अपने ढंग से विकास हुआ । फ्रांस के नव्यअभिजात्यवाद का हू-बहू अनुकरण नहीं हुआ बकौल पोप ने फ्रैंच अभिजात्यवाद विवेक, संयम आदि को ग्रहण किया परंतु उसके उच्चवर्गीय चरित्र को त्याग दिया । उन्होनें अभिजाति वर्ग तक इसे सीमित न मानकर जन सामान्य तक व्याप्त करने का प्रयत्न किया । आगे चलकर नव्य अभिजात्यवाद को गेटे हूमर आदि जर्मन चिंतकों ने नई गति प्रदान की । उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं बीसवीं शताब्दी के आरंभ में इंगलैण्ड में फिर से नव्य-अभिजात्यवाद प्रवृत्ति उभरने लगी थी । मैथ्यू आर्नल्ड ने साहित्य को जीवन से जोड़ने के महत्व पर प्रकाश डाला है । उन्होनें लोक कल्याण को कविता का मुख्य प्रयोजन माना इसके लिए प्राचीन साहित्य के आदर्श के अनुसरण पर भी बल दिया । उन्होनें अभिजात्यवाद मूल्यों के महत्व को रेखांकित किया ।

अभिजात्यवाद और नव्य अभिजात्यवाद में परम्परा एवं प्राचीन मूल्यों के प्रति प्रबल आस्था दिखाई गई है । दोनों काव्य सिद्धांतों के अनुयायियों ने नये प्रयोगों का विरोध किया है, संतुलन एवं अनुशासन को महत्व प्रदान किया है । दोनों काव्य- चिंतकों ने कवि के लिए यह आवश्यक माना कि वह संपूर्ण जाति से सरोकार रखे । कवि को सत्य, विवेक एवं कला का पोषक होना चाहिए । उसकी रचना में वास्तविकता, नैतिकता एवं सामान्यता का समावेश होना अपरिहार्य है ।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि अभिजात्यवाद का पुनरुत्थान ही नव्य-अभिजात्यवाद का है । अभिजात्यवाद का दृष्टि वर्ग से संबंध है तो नव्य-अभिजात्यवाद चिंतन नागरिक है। सुशिक्षित वर्ग से संबंधित है । बुद्धि और तर्क को अत्यधिक महत्व देना दोनों चिंतन परंपराओं का मूल लक्ष्य है । समय के प्रवाह में अभिजात्यवाद की, शास्त्रीयता के प्रति कटुता कुछ धुलती गई और अनुभूति एवं संवेदनशीलता को स्थान मिला । नव्य-अभिजात्यवाद ने परवर्ती साहित्य को भी प्रभावित किया है ।

19.6 अभिजात्यवाद एवं स्वच्छंदतावाद

अभिजात्यवाद एवं स्वच्छंदतावाद को साहित्य-जगत में एक दूसरे के विरोधी की प्रवृत्ति के रूप में देखा जाता है । जहाँ अभिजात्यवाद को क्लासिसिज्म का पर्याय स्वीकारा जाता है वहाँ स्वच्छंदतावाद को रोमांटिसिज्म के पर्यायवाची शब्द के रूप में जाना जाता है । अभिजात्यवाद में शास्त्रीयता के प्रति प्रबल आग्रह है । शास्त्रीय नियमों के अनुशासन को अपरिहार्य स्वीकारा गया है तो स्वच्छंदतावाद में व्यक्ति स्वातंत्र्य के प्रति तीव्र आस्था व्यक्त की गई है । अभिजात्यवाद सार्वभौमिकता को महत्व देता है तो स्वच्छंदतावाद व्यक्ति को । अभिजात्यवाद परम्परा, प्राचीन मूल्यों सत्य, विवेक, मर्यादा, संतुलन आदि में बँधा हुआ है जबकि स्वच्छंदतावाद कल्पना, मुक्ति एवं स्वतंत्र, संवेदनशीलता उत्कृष्ट प्रकृति प्रेम आदि प्रवृतियों का पोषक है ।

उपर्युक्त मोटी-मोटी बातों के आधार पर अभिजात्यवाद एवं स्वच्छंदतावाद में निहित अन्तर समझे जा सकते है । साहित्य जगत में इन दोनों चिंतन परम्पराओं को भले ही एक दूसरे के विरोधी के रूप में स्वीकार कर लिया गया हो परन्तु चौंकाने वाला तथ्य यह है कि ये दोनो एक दूसरे के पूरक भी है । स्वच्छंदतावाद ने अभिजात्यवाद को और अभिजात्यवाद ने स्वच्छंदतावाद को पोषित किया हैं । इस संदर्भ में निम्न विचार अवलोकनीय है' 'वस्तुत: स्वच्छंदतावाद ने अभिजात्यवाद के प्रति ऐतिहासिक दृष्टिकोण को निर्मित करने में सहायता की है । जिसके अनुसार 'अभिजात्यवाद की विशेषताएँ प्रकट और निश्चित होती हैं । अभिजात्यवाद को परिभाषित कर उसकी विशेषताओं का निरूपण करने का कारगर प्रयास उन स्वच्छंदतावादियों ने किया जो अभिजात्यवाद का विरोध अपने पक्ष-समर्थन में कर रहे थे दूसरी ओर अभिजात्यवाद पर विचार उन विचारकों ने किया जो स्वच्छंदतावाद के विरोध में अभिजात्यवाद की पुन: प्रतिष्ठा का प्रयास कर रहे थे । इस बार भी स्वच्छंदतावाद ही अभिजात्यवाद की परिभाषा के निर्धारण में सहायक हुआ ।(पाश्चात्य साहित्य-चिंतन, पृ. 146, निर्मला जैन एवं कुसुम बैठिया)

भारतीय दृष्टि से अभिजात्यवाद 'सत्य' और 'शिव' की अभिव्यक्ति है तो स्वच्छंदतावाद 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की अभिव्यक्ति है । प्रतीकात्मक शब्दों का सहारा लेते हुए कहा जा सकता है कि मानव-चेतना जब नियमों और परम्पराओं में बँधकर सिकुड़ जाती है तब अभिजात्यवाद का प्राधान्य होता है, और जब वह न संबंधी को तोड़कर मुक्त हो जाती है स्वच्छंदतावाद का महत्व हो जाता है । सत्य है कि मानव जीवन में इन दोनों प्रवृत्तियों का होना अत्यन्त आवश्यक है ।

19.7 स्वच्छंदतावाद का उद्भव एवं पृष्ठभूमि

स्वच्छंदतावाद प्राणी मात्र को प्रिय है वह व्यक्ति का प्राकृतिक धर्म है । यह किसी भी प्रकार के धन से युक्ति का आह्वान है । स्वच्छंदतावाद भी साहित्य में शास्त्रवाद एवं अभिजात्यवाद के बंधनों से मुक्ति के उद्घोषक के रूप में अवतरित हुआ था ।'रोमांटिसिज्म' का हिन्दी प्रति रूप है स्वच्छंदतावाद । इसका प्रयोग सर्वप्रथम जर्मनी के समालोचक फ्रेड्रिक श्लेगल ने किया था । यह सन् 1998 की घटना है जब भावपक्ष के पैरोकार के रूप में स्वच्छंदतावाद आर्विभूत हुआ । इसने विश्व आलोचना जगत को विकिलमैन लैसिंग शिलर एवं गेटे जैसे चिंतक दिए । अंग्रेजी साहित्य में यह एक शक्तिशाली काव्यांदोलन के रूप में उभरा ।

आधुनिक यूरोप ने सामंती बंधनों से रेनेसाँ के परिणामस्वरूप मुक्ति प्राप्त की जीवन-जगत के प्रत्येक क्षेत्र मे परिवर्तन का चक्र घूमने लगा । व्यक्ति- चेतना के नवीन धरातलों की खोज शुरू हुई एवं उन पर पल्लवित होने वाली अभिव्यक्ति स्वच्छंदतावाद कहलायी । औद्योगिक क्रांति ने सामाजिक ढाँचों को बदल दिया । जीवन का आर्थिक स्वरूप बदला । विज्ञान के विकास ने व्यक्ति को तार्किक बनाया । दूसरी ओर परम्परागत वैचारिकी नैरतंर्यधर्मा बनी हुई थी। इस स्थिति ने व्यक्ति मन को द्वंदात्मक स्थिति में खडा कर दिया । परवर्ती समय में वह इन दोनों मध्यवर्तनी स्थितियों का पोषक बन गया । फ्रांसीसी राज्यक्रांति ने स्वच्छंदतावाद के आर्विभाव में पहली बार भूमिका का निर्वाह किया । फ्रांस में प्रजातांत्रिक व्यवस्था का सूत्रपात हुआ । वहाँ रूसो वाल्टेयर एवं मान्टेरक्यू जैसे विचारकों की चिंतनधारा का प्रभाव था । रूसो

ने समाज पर आरोपित धर्म, सरकार कानून शासन आदि के प्रति रोष व्यक्त किया एवं मानव के स्वतंत्र होने की कामना की । वह अपनी वैचारिकता से प्रकृतिवादी था । उसने प्रकृति की और लौटने की बात कही । प्रकृति स्वतंत्र है उसमे सौंदर्य बिखरा पड़ा हैं, जो श्रेष्ठ कला की प्रेरणा बन सकता है । दूसरी और प्रकृति का समभाव उसे स्वाधीनता, समानता, बंधुत्व, का पोषक लगा । इस प्रकार से कहा जा सकता है कि फ़्रांसीसी क्रांति का गहरा संबंध रोमांटिक क्रान्ति से भी हैं । इन दोनों के बौद्धिक एवं वैचारिकता धरातल प्राय: समान हैं । साहित्य के क्षेत्र में लेसिंग, गेटे, ब्लेक, वर्डसवर्थ, कॉलरिज जैसे साहित्यकार इसी वैचारिक की फसल थे। फ्रांसीसी क्रांति का व्यापक प्रभाव अखिल विश्व पर पडा । जर्मनी भी इससे अछूता नहीं रहा। यूरोप ने यह स्वीकार किया कि मूर्तिकला की तरह काव्यकला में भी विषयवस्तु और बाह्यरूप का अभिन्न संबंध है । उपर्युक्त स्थितियों में स्वच्छंदतावाद ने आकार ग्रहण किया । उसमें आंतरिक अनुभूति प्रबल हो गई। इंगलैण्ड के उदारमना लोग वैचारिकी के पोषक बने । अंग्रेजी के रोमांस शब्द के साथ 'स्वच्छंद' शब्द जोडा जाता है, यह मूलत: फ्रांसीसी भाषा के शब्द "रोमेज" से लिया गया हैं । सत्रहवीं शताब्दी तक यह हीनार्थक दृष्टि का परिचायक था पर अठारहवीं शताब्दी में इसका आविर्भाव हुआ ।

परिभाषा: स्वच्छंदतावाद की कतिपय परिभाषा निम्नवत् है:-

बेनेदेतो क्रोचे ने अपनी परिभाषा में स्वच्छंदतावाद की मूल प्रवृत्ति को समझाते हुए लिखा है कि- "रोमांटिक कवि विधान की अपेक्षा विषय पर अधिक बल देता है । यह अपने विषय या भाव को ईमानदार अभिव्यक्ति में इतना तन्मय रहता है कि विधान पक्ष के बंधन शिथिल ही नहीं होते,टूट भी जाते है ।

एफ-एल.ल्युक्स ने स्वच्छंदतावाद की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हुए लिखा है:- "यह एक ऐसा साहित्य है जिसमें बुद्धिगत चेतना का निम्नस्तर तथा स्वप्निल कल्पना का प्राधान्य पाया जाता हैं ।

दी. एस. एलियट के अनुसार- 'जिज्ञासा स्वच्छंदतावाद की स्थायी ओर अच्छी बात है" ।

अंतत: इस संदर्भ में कहा जा सकता है कि स्वच्छंदतावाद एक वैचारिक आंदोलन एवं जीवन दृष्टि है । इसने यूरोप को अत्यन्त प्रभावित किया । यह समाज तथा यथार्थ के बरबस स्थापित नियमों एवं परम्पराओं का अतिक्रमण करता है । यह सृष्टि एवं समाज के प्रति व्यक्तिपरक, कल्पनाजीवी भावमय दृष्टिकोण को अपनाता है ।

19.8 स्वच्छंदतावाद की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

अब तक आपने पढ़कर समझ लिया होगा कि स्वच्छंदतावाद एक आंदोलन के रूप में यूरोप मे पनपा । इंगलैण्ड एवं जर्मनी में साहित्य-क्षेत्र में अठारहवीं शताब्दी में इसका सूत्रपात हुआ । इस संदर्भ में वर्ड्सवर्थ के "लिरिकल बैलेड्स (1798) का बड़ा ही महत्व है । यह वैचारिकी के स्तर पर उन्मुक्तता एवं नवीन जीवन मूल्यों का पोषक हैं । इसकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ निम्न हैं:-

आत्मपरक चेतना:- यह स्वच्छंदतावाद की सबसे प्रमुख विशेषता है । यह व्यक्ति-चेतस् चिंतन है । यहाँ लेखक की स्वतंत्रता बड़ी ही अहम् है । स्वच्छंदतावाद में अभिव्यक्ति का विशेष महत्व

है । अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता व्यक्तित्व को निखारता है । रचना का उत्स रचनाकार व्यक्तित्व में ही होता है, इस चिंतन ने स्वातंत्र्य लालसा को जना दिया । साथ ही, इसने सामाजिक रीति-नीतियों मर्यादा-बंधनों को भी अतिक्रमित किया । सामाजिक बंधनों ने इन कवियों में निराशा और वंदना को जन्म दिया, इसलिए इनकी रचनाएँ कारूणिक हो गई ।

प्रकृति चेतना:- स्वच्छंदतावादी कवि प्रकृति प्रेमी थे । वर्ड्सवर्थ को तो प्रकृति का पुत्र ही कहा जाने लगा था । स्वच्छंदतावादी कवियों, चिंतकों ने प्रकृति के सर्वांग वर्णन करने के साथ-साथ उसके अंर्तजगत को उद्घाटित किया । प्रकृति के माध्यम से ये कवि आत्मविकास को प्राप्त करते हैं । प्रकृति तथा मनुष्य के संश्लिष्ट संबंधो की अभिव्यक्ति इस युग में हुई ।

कल्पना प्रवणता:- कल्पना साहित्य का नित्य धर्म है । स्वच्छंदतावाद का काव्य-जगत कल्पना प्रसूत है । कल्पना ही वह कोड है, जहाँ स्वच्छंदतावादी कवि- चिंतक तर्क विज्ञान एवं बुद्धि की अतिशयता से अपने एवं अपने साहित्य की रक्षा कर पाते है । कॉलरिज ने कल्पना के भेदों के बारे में भी बताया है । इनकी चर्चा हम आगे करेंगे । कवि कल्पना के द्वारा ही नये-नये रूप विधान करके भावों को उत्कर्ष प्रदान करता है । इस युग में कल्पना ने भाव के सौंदर्य को परिपुष्ट किया है ।

प्रेम एवं सौंदर्य भावना:- प्रेम एवं सौंदर्य का निरूपण स्वच्छंदतावाद की एक अन्य प्रवृत्ति है। प्रेम एवं सौंदर्य अन्योन्याश्रित हैं। यहाँ प्रेम एक मांसल भाव से अधिक भावना है जो मानव हृदय को आप्लावित करती है एवं उसे रागमय बनाती है। स्वच्छंदतावादी कवियों ने 'शिव के स्थान पर 'सुंदर' की स्थापना की । प्रेम यहाँ मानव से मानवेतर जगत की यात्रा करते हुए दैवीय हो जाता है ।

परंपरागत रूढ़ प्रतिमानों के प्रति विरोध:- स्वच्छंदतावाद की इस प्रवृत्ति के कारण कविता पुरातन पंथी सिद्धांतो से हटकर जीवन के सहज क्षेत्र से जुडी । स्वच्छंदतावादी कवियों ने जीवन तथा साहित्य के क्षेत्र में मुक्ति पक्षधरता बनाएँ रखी। व्यर्थ अलंकारिता, छंद-विधान एवं रूढ़ प्रतिमानों का साहित्य जगत में तीव्र विरोध हुआ ।

मानवतावादी जीवन दृष्टि:- स्वच्छंदतावादी दृष्टि मनुष्य को उसके प्राकृतिक रूप में पूर्ण मानती है । रूसो के आग्रह से प्रेरित इस विचारधारा में मनुष्य को मनुष्य के रूप में करने का सफल प्रयास है । ये कवि नागर जीवन की कृत्रिमता के विरोधी है। मनुष्य की संवेदनशीलता को भी स्वच्छंदतावादी कवियों ने अधिक महत्व दिया ।

काव्यभाषा के प्रति दृष्टिकोण:- स्वच्छंदतावादी चिंतकों ने काव्यभाषा, लोकभाषा आदि को पल्लवित किया है । प्रकृति ही हमें चेतन व्यक्तित्व की ओर उन्मुख करती है । शैली एवं वर्ड्सवर्थ ने बोलचाल की भाषा में काव्य- रचना सफल होने का दावा पेश कर दिया । ये कवि प्राकृतिक बिंबों के सहारे अपनी आंतरिक अनुभूतियों को व्यक्त करते है । इनकी भाषा में लाक्षणिकता का प्रयोग किया हुआ है । इस युग के रचनाकारों ने भाषा और शैली की कृत्रिमता का जमकर विरोध किया है । अभिव्यक्ति में सहजानुभूति, दीप्त, लयात्मक, संगीतात्मक भाषा के प्रवाह को विशेष महत्व मिला है ।

स्वच्छंदतावाद की उपर्युक्त सभी विशेषताएँ किसी कवि- विशेष में प्राप्त नहीं हो सकती हैं, परंतु इस युग के सभी रचनाकारों को एक साथ महत्व मिला है ।

19.9 कुछ प्रमुख स्वच्छंदतावादी आलोचक

इसके पहले आपने स्वच्छंदतावाद की प्रमुख प्रवृत्तियों का अध्ययन किया । इस क्रम में आपने स्वच्छंदतावाद के स्वरूप को भली- भाँति समझ लिया होगा । विलियम वर्ड्सवर्थ (1770-1850) और सेमुअल् टेलर कॉलरिज (1772-1834) दो प्रमुख स्वच्छंदतावादी आलोचक हैं, अंग्रेजी में इन्हें स्वच्छंदतावाद के प्रवर्तकों के रूप में जाना जाता है । ये दोनों समकालीन थे । अरस्तु और होरेस के दीर्घकालीन वर्चस्व को वर्ड्सवर्थ और कॉलरिज ने तोड़ा । इतना ही नहीं इन्होंने काव्य और आलोचना का नई दिशा में विकास किया । इनके प्रसिद्ध कविता संकलन ' लिरिकल बेलेड्स (1798) के प्रकाशन से अंग्रेजी में एक नया युग शुरू हुआ जो स्वच्छंदतावाद के रूप में जाना जाता है । वर्ड्सवर्थ और कॉलरिज के अलावा स्वच्छंदतावाद को समर्थन देने वाले कवि विचारकों में शैली बायरन आदि का नाम उल्लेखनीय है । आगे हम स्वच्छंदतावाद के प्रवर्तक वर्ड्सवर्थ एवं कॉलरिज की मान्यताओं पर विचार करने जा रहे हैं जिससे आपकी स्वच्छंदतावाद पर दृष्टि अधिक स्पष्ट हो जायेगी ।

19.9.1 विलियम वर्ड्सवर्थ

'वर्ड्सवर्थ अंग्रेजी के ही नहीं विश्व के प्रसिद्ध कवि थे । वे मूलतया कवि थे, आलोचक नहीं। उनके प्रगति विश्व में प्रसिद्ध हैं । वर्ड्सवर्थ के जीवन काल मे सामंतवाद के दमन और अत्याचार जोरों पर थे । वर्ड्सवर्थ ने इसका विरोध करते हुए प्राकृतिक सौंदर्य और ग्राम्य जीवन की ओर उन्मुख होना चाहा फलस्वरूप उन्होनें अपने मित्र कॉलरिज के सहयोग से सन् 1798 में एक कविता सकंलन 'लिरिकल बैलेडस् के नाम से प्रकाशित किया । यह एक ऐतिहासिक पुस्तक है । उक्त संकलन में तेईस कविताएँ थी जिनमें उन्नीस वर्ड्सवर्थ की और चार कॉलरिज की। समाज में मध्य तथा निम्न वर्ग की बोलचाल की भाषा में कविता रचकर एक नया प्रयोग किया गया । इस संकलन की कविताओं मे परंपरागत शास्त्रीय मान्यताओं को नकारा गया है । नये काव्य-मूल्यों को महत्व दिया गया है । संकलन के प्रारंभ में ही एडवर्टिजमेंट' उल्लेख मिल जाता है कि ये कविताएँ प्रयोग के रूप में है । नन्द अभिजात्यवादी युग में लिरिकल बेलेड का खट्टा-मीठा स्वागत हुआ । साहित्य जगत में इस पर मिलीजुली प्रतिक्रिया होना स्वभाविक था । सन् 1800 ई. में "लिरिकल" बैलेडस् का दूसरा संस्करण आया । इसमें 'प्रिफ्रेस टू लिरिकल बैलेडस् शीर्षक एक लंबी भूमिका लिखी गयी जिसमें वर्ड्सवर्थ ने नव्य अभिजात्यवाद की कटु आलोचना की साथ ही उन्होनें लिरिकल बैलेडस् के आलोचकों को भी जवाब दिया । सन् 1802 तथा 1815 में तीसरा तथा चौथा संस्करण प्रकाशित हुए । वर्ड्सवर्थ ने अपने संकलन को बार-बार संशोधित एवं परिवर्तित किया । इस प्रकार से लिरिकल बैलेडस्' के चार संस्करणों में वर्डसवर्थ का आलोचक रूप सामने आया । उन्होनें कवि के स्वरूप कविता तथा विज्ञान का सबंध, कल्पनाशीलता आदि पर अपने विचार प्रस्तुत किये ।

आप जानते है कि इसके पहले कविता अभिजात वर्ग के साहित्य तक सीमित थी । वर्ड्सवर्थ ने उसे एक नये धरातल पर विकसित करना चाहा इसलिए कविता की भाषा का सामान्य जीवन की भाषा से संबंध पर विचार किया । उन्होंनें यह भी मत भी प्रस्तुत किया कि कविता में

सामान्य जन के यथार्थ में प्रयुक्त भाषा का प्रयोग होना चाहिए । ऊपर हमने जिस आमुख की चर्चा की है उसे कुछ चिंतक स्वच्छंदतावाद का घोषणापत्र भी कहते है । आश्चर्य की बात यह है कि वर्ड्सवर्थ के मित्र कॉलरिज ने भी इसकी कटु आलोचना की, परन्तु इतना तो निश्चित है कि लिरिकल बैलेडस् के आमुख ने पाठकीय अभिरूचि को बहुत अधिक प्रभावित किया है।

फ्रांस की राज्यक्रांति (1789) और औद्योगिक क्रांति ने वर्ड्सवर्थ को अत्याधिक प्रभावित किया। उनकी काव्य-पुस्तक स्केचेज' में फ्रांस की राज्यक्रांति का पूरा प्रभाव है । इंगलैण्ड की औद्योगिक क्रांति के दौरान अभिजात वर्ग का प्रभुत्व था । इसके वर्चस्व से मुक्ति पाने के लिए बुद्धिजीवी वर्ग व्याकुल था । वर्ड्सवर्थ भी बुद्धिजीवियों का महत्वपूर्ण अंग था । अत: अपने सामान्य जन की आकांक्षा को रूपायित करने का प्रयास किया । वर्डसवर्थ ने लिखा - "कवि केवल कवियों के लिए तो नहीं लिखते, मनुष्य मात्र के लिए लिखते है । इस प्रकार सामान्य जन से जुड़ना और उनके लिए लिखना कवियों का उद्देश्य बन गया । मनुष्य मात्र को एकता के सूत्र में पिरोने का काम इस युग में हुआ । औद्योगिक क्रांति का प्रभाव ग्रामीण जनता पर पडा । इसने ग्रामीण समाज के मूल्यों को भी प्रभावित किया । वर्ड्सवर्थ ने ग्रामीण जीवन को बड़ी संवेदनशीलता के साथ चित्रित किया । यहाँ भी मनुष्य जाति के प्रति मानवीय संवेदना और करूणा का प्राधान्य मिलता है । इसी कम में कवि ने समाज में फैल रही पूंजीवादी सभ्यता की कटु आलोचना की, उच्च वर्ग की मानसिकता पर कुठाराघात किया । उन्होनें संघर्षरत मनुष्य की एकरसता और उसके अकेलेपन को समाप्त करने के लिए कल्पना का सहारा लेना उचित समझा ।

विश्व साहित्य में वर्ड्सवर्थ का नाम उल्लेखनीय है । उनकी कविता विषयक परिभाषा पूरे संसार में प्रसिद्ध है । अपने कवि जीवन के प्रारंभ में उन्होनें स्पष्ट कर दिया था कि संपूर्ण श्रेष्ठ कविता तीव्र मनोवेगों का सहज उच्छंलन है । आगे चलकर उन्होनें कविता में भाव और विचार के मणिकांचन संयोग पर बल दिया और कविता की परिभाषा को प्रस्तुत करने के लिए कहा- "कविता तीव्र मनोवेगों का सहज उच्छल है । शांति के क्षणों मे भाव के पुन: स्मरण से इसका उदय होता है । भाव के अनुचिंतन के क्रम में, एक विशेष प्रकार की अभिक्रिया द्वारा प्रशंसा धीरे-धीरे तिरोहित हो जाती है और पुन: वैसी भाव दीप्त मनोदशा उत्पन्न हो जाती है जैसी कि आरंभ में हुई थी । यह मन स्थिति कुछ देर तक बनी रहती है । इसी मनोदशा में सामान्य सफल रचना की शुरुआत होती है और ऐसी मनोदशा में यह प्रक्रिया जारी रहती है । किन्तु भाव चाहे जिस प्रकार संवलित: रहते हैं उनका वर्णन करते समय मन भी कुल मिलाकर आनंदानुभूति की स्थिति में रहता है ।"

कविता की उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्ड्सवर्थ ने नव्य-अभिजात्यवाद के सिद्धांतो का खण्डन किया है । वे भावुकता के बिना कवि बनना असंभव सा मानते है । आनंदानुभूति मे सहृदय का होना भी अपरिहार्य माना गया है । सहृदय में सहानुभूति की भावना भी विद्यमान रहती है । संवेदनशील, मानव, प्रकृति के ज्ञाता, भाषा के अधिकारी को उन्होनें कवि कहा । कवि को एक मनुष्य मानना और अन्य मनुष्यों को अपनी बात करना आवश्यक मानना, वर्ड्सवर्थ के मानवतावादी दृष्टिकोण का परिचायक हैं ।

वर्ड्सवर्थ ने काव्य- भाषा के बारे में भी अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहा है कि काव्य में ग्रामीण जनों की दैनिक बोलचाल की भाषा को आधार बनाना चाहिए । गद्य हो या पद्य दोनों की भाषा में मूलतया कोई अंतर नही है । वर्ड्सवर्थ की मान्यताओं के खिलाफ न केवल नव्य- अभिजात्यवाद बल्कि स्वच्छंदतावादी आलोचकों ने भी कटु आलोचना की है अत: कॉलरिज का परिचय प्रस्तुत करना अनुचित नहीं होगा ।

19.9.2 सेमुअल टेलर कॉलरिज

बहुमुखी प्रतिभा संपन्न कॉलरिज का जन्म 1772 में इंगलैण्ड के डेवनशायर में हुआ था । कॉलरिज ने सोलह वर्ष की आयु से लिखना शुरू कर दिया था । कविता लेखन से काव्य यात्रा शुरू करने वाले कॉलरिज ने दर्शन, मनोविज्ञान, एवं साहित्य समीक्षा पर बड़ी सफलतापूर्वक लेखनी चलाई । 'पोयम्य बायोग्राफिया, 'द फ्रेंड' एड्स टु, रिफ्लेक्शन, चर्च एंड स्टेट, कंफ्रेशंज ऑफ एनक्यायरिंग स्पिरिट, आपकी प्रसिद्ध कृतियाँ है । इनमें से "बायोग्राफिया लिटरेरिया" सर्वाधिक चर्चित कृति है । इसमें दर्शन और साहित्य - का संयोग हुआ है ।

वर्ड्सवर्थ ने कविताएँ अधिक लिखीं परन्तु आलोचना बहुत कम जबकि कॉलरिज ने कविताएँ कम लिखी परन्तु आलोचना, दर्शन आदि पर अनेक रचनाएँ की हैं । कॉलरिज की कविताओं में रहस्यात्मक विषयवस्तु, अतींद्रिय वातावरण आदि के कारण अंग्रेजी साहित्य में इनका विशेष स्थान है । कॉलरिज की कविताओं तथा सैद्धांतिक रचनाओं में दर्शन का प्रभाव पाया जाता है । रचना के सिद्धांतो के प्रतिपादन के लिए उन्होनें आलोचना- कर्म का सहारा लिया । कॉलरिज ने कल्पना को स्वच्छंदतावादी साहित्य के बीज शब्द के रूप में प्रतिष्ठित किया । उनके आलोचना क्रम में पैनी दृष्टि समाहित होने के कारण उनकी आलोचना - कृति, बायोग्राफिया लिटरेरिया' को अंग्रेजी में आलोचना की सबसे महान पुस्तक कहा जाता है ।

वर्ड्सवर्थ को प्रभावित करने वाली फ्रांसीसी राज्यक्रांति तथा औद्योगिक क्रांति ने कॉलरिज को भी प्रभावित किया । कॉलरिज भी राजतंत्र और अभिजात वर्ग के प्रबल विरोधी थे । पूंजीवादी सभ्यता के कटु आलोचक थे । नव्य- अभिजात्यवाद दृष्टि का भी वे तीव्र आलोचना करते थे। उपनिवेशवाद का कड़ा विरोध करते हुए उन्होनें फियर्स इन 'सॉलिव्यूड'नामक कविता लिखी। अभिजात वर्ग के लोगों ने कॉलरिज को उत्पीडित करने का संकल्प लिया था । कॉलरिज के पिता महान पादरी थे, भाई भी पादरी थे, परन्तु कॉलरिज पादरी वर्ग से घृणा करते थे । वे अत्यन्त पढ़ाकू थे । चाहे गॉडविन की पुस्तक 'पॉलिटिकल जस्टिस' हो अथवा न्यूटन, बेकन, लॉक. हार्टले का भौतिकवाद- अनुभववादी दर्शन अथवा बर्कले की रचना " प्रिंसिपल्स ऑफ ह्यूमन नॉलेज" सभी ने उन्हें बहुत अधिक प्रभावित किया । वे क्रांट, शिलर, श्लेगल गेटे आदि जर्मन विचारकी से भी प्रभावित हुए । उपर्युक्त तत्वों से यह स्पष्ट है कि कॉलरिज के चरित्र व व्यक्तित्व में कवि, आलोचक, एवं दार्शनिक के रूप घुले- मिले थे । इसलिए उन्हें बहुमुखी प्रतिभा संपन्न व्यक्ति के रूप में जाना जाता है ।

कॉलरिज ने कल्पना शक्ति का विवेचन किया है । यह उनका उल्लेखनीय अवदान है । सृजन- प्रक्रिया, कवि-प्रतिभा, कल्पना के विवेचन- विश्लेषण को कॉलरिज ने अत्यन्त महत्व दिया है । कल्पनाशक्ति उन्होनें अपने प्रसिद्ध ग्रंथ बायोग्राफिया लिटरेरिया में विशेष रूप से एक

अध्याय लिखा है । कॉलरिज के पहले कल्पना के बारे में अनेक भ्रातियाँ थी, अव्यवस्थित ढंग: से व्याख्याएँ हो रही थी । कॉलरिज का मानना है कि कवि प्रतिभा का उन्माद से कोई संबंध नही होता । जो आलोचक ऐसा मानते है वे अर्ध-सत्य को प्रस्तुत करते हैं ।

कॉलरिज ने रचना कर्म में चेतना पर अधिक बल दिया । चेतना की शक्ति होने के कारण कल्पना पर भी विशेष विचार किया । उन्होंने यह भी माना की मनुष्य कविता करने में भी सफल होता है जब उसमें कल्पना शक्ति हो ।

अभिजात्यवादी कविता अंतस से अधिक बाहय से जुडी हुई थी, जबकि स्वच्छंदतावादी कविता मे अंतस एवं बाहय घुले-मिले है । दोनों में समन्वय है । यह समन्वयता साधन कॉलरिज के अनुसार अत्यन्त महत्वपूर्ण है । कॉलरिज ने श्रेष्ठ कविता के लिए विचार तथा भाव के समन्वय पर बल दिया । उक्त समन्वय के लिए कल्पना ही माध्यम बन सकती है । कॉलरिज ने कल्पना (इमेजिनेशन) और ललित कल्पना (फ्रैंटेसी) में पहली बार भेद स्थापित किया । उन्होनें दोनों को नितान्त भिन्न शक्तियों के रूप में देखा । उन्होनें कल्पना को परिभाषित करते हुए कहा कि "मेरे विचार से कल्पना या तो मुख्य होती है या गौण । मुख्य कल्पना एक जीवन शक्ति है और यह मानव के संपूर्ण इंद्रिय ज्ञान का प्रमुख साधन है । यह सीमित मन में असीम सत्ता की आवृति है । गौण कल्पना को मैं इसी मुख्य कल्पना की प्रतिध्वनि मानता हूँ । इसके विपरीत ललित कल्पना के, स्थिरता और सुनिश्चितता के अतिरिक्त, अन्य कोई साधन नहीं होते जिनके लेकर वह व्यस्त रहे । ललित कल्पना मुख्यत: देशकाल के बंधन से मुक्त स्मृति का ही एक प्रकार है।

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार कॉलरिज ने कल्पना के भेदों को स्वीकार किया है- ये भेद है मुख्य एवं गौण । उनके अनुसार मुख्य कल्पना समस्त मावनीय प्रत्यक्ष बोध की आद्य अभिकर्ता तथा जीवंत शक्ति है । गौण कल्पना सचेत इच्छा के साथ चलती है । मुख्य कल्पना से चाहे यह केवल कार्यप्रणाली के स्तर पर एवं परिमाण की दृष्टि से भिन्न है अन्यथा यह मुख्य कल्पना की प्रतिध्वनि है । मुख्य कल्पना का संबंध मुख्य रूप से भौतिक जगत से होता है जबकि गौण कल्पना मनुष्य को उच्चतर आध्यात्मिक जगत का साक्षात्कार कराने में भी सक्षम है ।

वर्ड्सवर्थ की तरह कॉलरिज भी गद्य और कविता का माध्यम शब्द को मानते है । प्रयोजन के आधार पर कॉलरिज ने कविता की परिभाषा देते हुए कहा है कि "कविता रचना का वह प्रकार है जो वैज्ञानिक कृतियों से इस अर्थ में भिन्न है कि इसका तात्कालिक प्रयोजन आनंद है, सत्य नहीं और रचना के अन्य सभी प्रकारों से इसका अंतर यह है कि इसमें सम्पूर्ण से वही आनंद प्राप्त होना चाहिए जो उसके प्रत्येक घटक से प्राप्त होने वाले परितोष के अनुरूप हो । कॉलरिज की कविता विषयक उपर्युक्त परिभाषा में काव्य और शास्त्र में अंतर स्पष्ट किया गया है । काव्य का प्रयोजन है आनंद जबकि शास्त्र का सत्य । परिभाषा के दूसरे भाग में कविता और उपन्यास, नाटक आदि में निहित अंतर को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया । कविता को अत्यन्त सुगठित विधा कहा गया है जबकि अन्य विधाएँ उतनी सुगठित नहीं मानी गई है ।

कॉलरिज ने प्रतीकात्मकता को कवित्व का पर्याय माना है । प्रगीत तत्व को बहुत अधिक महत्व दिया है इसलिए उनका मानना भी है कि जिस मनुष्य की आत्मा में संगीत नहीं है वह कभी सच्चा कवि नहीं हो सकता । भाषा की शुद्धता पर भी ध्यान देने के लिए कॉलरिज का आग्रह रहा । कविता कहलाने की अधिकारिणी रचना होती है जिसे व्यक्ति सानंद बार- बार पढ़े और सच्ची प्रभाव क्षमता प्राप्त करे ।

19.10 सारांश

अभिजात्यवाद तथा स्वच्छंदतावाद के सम्बन्ध में सामान्यत: यह धारणा है कि ये दोनों दार्शनिक धाराएँ एक दूसरे की प्रतिक्रिया स्वरूप उभर कर सामने आयी हैं । उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे एक दूसरे की पूरक भी हैं । यद्यपि सत्य यह है कि ऐतिहासिक कारणों से 19वीं तथा 18 वीं शती में फ्रांसीसी राज्य क्रांति तथा औद्योगिक क्रांति ने यूरोप में प्रचलित समाज का पुराना ढाँचा, धर्म और संस्कृति की रूढ़िवादिता पुरानी मान्यताओं और मूल्यों को झकझोर कर रख दिया था । फलस्वरूप रूढ़ियों के प्रति विद्रोह लिये और व्यक्ति स्वातंत्र्य का नारा देकर साहित्य-चिंतकों, दार्शनिकों, कवियों और कलाकारों का एक नया वर्ग सामने आया, जिसको आगे चलकर स्वच्छंदतावाद के प्रवर्तकों के रूप में मान्यता प्राप्त हुई। प्रमुख रूप से वर्ड्सवर्थ और कॉलरिज के संयुक्त प्रयासों से सामने आने वाली कृति 'प्रिफैस दू लिरिकल बैलेट्स' के रूप में स्वच्छंदतावादी चिंतन निखर कर सामने आया ।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कॉलरिज ने अपने मौलिक चिंतन से काव्यशास्त्र एवं पाश्चात्य साहित्य चिंतन को समृद्ध किया । उनके कल्पना संबंधी चिंतन का भारतीय प्रतिभा संबंधी विवेचन से काफी मेल है । कॉलरिज ने वर्ड्सवर्थ के साथ मिलकर स्वच्छंदतावाद का प्रर्वतन किया । हिन्दी में भी स्वच्छंदतावादी काव्यधारा पाई जाती हैं । इसके आदि कवि श्रीधर पाठक है । पाश्चात्य साहित्य चिंतन के रोमांटिसिज्म ने विश्व साहित्य को प्रभावित किया है ।

19.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. 'अभिजात्यवाद' की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालते हुए उसकी प्रवृत्तियों का निरूपण कीजिए।
2. अभिजात्यवाद व नव-अभिजात्यवाद के स्वरूप पर प्रकाश डालिए ।
3. अभिजात्यवाद एवं स्वच्छंदतावाद के साम्य-वैषम्य पर प्रकाश डालिए ।
4. स्वच्छंदतावाद के प्रमुख आलोचकों के बारे में एक निबंध लिखिए ।
5. स्वच्छंदतावाद की प्रमुख प्रवृत्तियों के बारे में उल्लेख कीजिए ।
6. वर्ड्सवर्थ की काव्य सम्बन्धी मान्यताओं का विवेचन कीजिए ।
7. कॉलरिज के कल्पना सिद्धांत पर प्रकाश डालिए ।
8. स्वच्छंदतावाद के विकास में कॉलरिज के अवदान पर विचार कीजिए ।
9. स्वच्छंदतावाद की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए उसकी पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालिए ।

19.12 संदर्भ ग्रंथ

1. देवेन्द्रनाथ शर्मा - पाश्चात्य काव्यशास्त्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ।

2. डॉ. नगेन्द्र और सवित्री सिन्हा - (सपां. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली ।
3. निर्मला जैन, कुसुम बैठियाँ - पाश्चात्य साहित्य चिंतन, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ।
4. डॉ. जगदीश चन्द्र जैन - पाश्चात्य समीक्षा दर्शन, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी ।
5. डॉ. रामचन्द्र तिवारी - भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य की रूपरेखा, संजय बुक सेन्टर, वाराणसी ।
6. भागीरथी मिश्र - पाश्चात्य काव्यशास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी ।
7. तारकनाथ बाली - पाश्चात्य काव्यशास्त्र का इतिहास, शब्दकार प्रकाशन दिल्ली ।

इकाई- 20 आधुनिकतावाद

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य
20.1 प्रस्तावना
20.2 आधुनिकतावाद के उदय की पृष्ठभूमि
20.3 आधुनिकतावाद का अर्थ, परिभाषा और स्वरूप
20.4 आधुनिकतावाद के लक्षण और विशिष्टताएं
20.5 आधुनिकतावाद की समय सीमा
20.6 आधुनिकतावाद की अवधारणा
20.7 आधुनिकतावादी विभिन्न साहित्यलागत आंदोलन
20.8 हिन्दी में आधुनिकतावाद
20.9 सारांश
20.10 अभ्यासार्थ प्रश्न
20.11 संदर्भ ग्रंथ

20.0 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत आधुनिकतावाद का अध्ययन करेंगे । इस अध्ययन के अन्तर्गत:

- आधुनिकतावाद के अर्न्तराष्ट्रीय स्वरूप को समझ सकेंगे ।
- आधुनिकतावाद के उदय की पृष्ठभूमि को समझ सकेंगे ।
- साहित्य के आंदोलनों में इसकी भूमिका को जान सकेंगे ।
- इसके माध्यम से साहित्य के मिज़ाज में आए परिवर्तन को जान सकेंगे ।
- शिल्प, तकनीक और भाषा के क्षेत्र में इसके योगदान को समझ सकेंगे ।
- उत्तर-आधुनिकता की पृष्ठभूमि के रूप में आधुनिकतावाद को समझ सकेंगे ।

20.1 प्रस्तावना

आधुनिकतावाद बीसवीं शती के विश्व साहित्य के सबसे महत्वपूर्ण साहित्य आंदोलनों में से एक रहा है, जिसकी व्याप्ति प्राय: विश्व के महत्वपूर्ण देशों में, महानगरों में रही है । विश्व में ज्ञान के विभिन्न अनुशासनों में आधुनिकतावाद की उपस्थिति ही दर्ज नहीं हुई है उस पर बहसें भी खूब हुई हैं । ऐसे आधुनिकतावादी साहित्य आंदोलन और दर्शन की भूमिका को समझना बहुत, आवश्यक है । आधुनिकतावाद ने ज्ञान, चेतना, विवेक और बोध को प्रभावित किया है । इसलिए साहित्य के क्षेत्र में आधुनिकतावाद की अवधारणा की समझ स्पष्ट होनी चाहिए । साहित्य और-संस्कृति में आधुनिकतावाद की उपस्थिति बिना आधुनिकीकरण के असंभव थी । समाज के आधुनिकीकरण यानि विकास प्रक्रिया की देन है, आधुनिकता और आधुनिकतावाद । बिना आधुनिकीकरण के आधुनिकतावाद की कल्पना असंभव है, लेकिन

पश्चिमी समाज के विकास या आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के अंतर को उसके संदर्भित अंतर को समझना आवश्यक है । तभी पश्चिमी और भारतीय संदर्भ में आधुनिकतावाद की अवधारणा स्पष्ट हो पाएगी ।

20.2 आधुनिकतावाद के उदय की पृष्ठभूमि

आधुनिकतावाद का उदय यूरोप में हुआ । उन्नीसवीं शताब्दी में औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप समाज का जो आर्थिक, आधुनिक विकास हुआ, उसके मूल में उन्नीसवीं बीसवीं शताब्दी की औद्योगिक क्रांति की महत्वपूर्ण भूमिका है । इससे पूंजीवाद की औद्योगिकी-प्रौद्योगिकी ने परम्परागत समाज का आधुनिकीकरण कर, प्राचीन एवं मध्यकालीन सभ्यता और संस्कृति को विस्थापित कर, औद्योगिक सभ्यता और संस्कृति वाले आधुनिक समाज को निर्मित किया । आधुनिकतावाद की निर्मित में उन यूरोपीय सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों की महत्वपूर्ण भूमिका है । जिन्हें आधुनिकीकरण ने अनधिकृत किया । आधुनिकीकरण भी बिना औद्यौगीकरण-प्रौद्योगीकरण वैज्ञानिकीकरण और शहरीकरण के संभव नहीं था । उन्नीसवीं शताब्दी की औद्योगिक क्रांति के साथ प्राचीन युग की समाप्ति हुई और एक नए युग का शुभारम्भ हुआ । इस तरह उन्नीसवीं शताब्दी की औद्योगिक क्रांति ने एक नई सभ्यता को जन्म दिया, जिसे पूंजीवादी औद्योगिक सभ्यता कहा गया । इस सभ्यता के अपने कुछ संकट थे, जिन्होंने साहित्य, कला और संस्कृति को प्रभावित किया । इसी आधुनिक औद्योगिक सभ्यता के संकट ने आधुनिकतावादी साहित्य और कला के लिये भूमि तैयार की, जिसमें आधुनिकतावादी साहित्य सृजित हुआ । बिना औद्योगीकरण और आधुनिकीकरण के आधुनिकतावादी साहित्य और कला की कल्पना नहीं की जा सकती । इस आधुनिक औद्योगिक संस्कृति ने मनुष्य और समाज का रूप ही बदल दिया था । इस तरह उन्नीसवीं शताब्दी में औद्योगिक क्रांति वैज्ञानिक आविष्कार और फलस्वरूप आविर्भूत नई क्रांतिकारी दार्शनिक धाराओं ने व्यक्ति समाज के सोचने के रवैये को बदला । साथ ही उसने वस्तुवादी दृष्टिकोण से वस्तु, व्यक्ति, समाज, प्रवृत्ति और धर्म के आपसी संबंधों को विश्लेषित करना आरंभ कर दिया, जिससे मनुष्य. समाज और प्रकृति - के पारस्परिक संबंधों और सम्पर्कों में परिवर्तन आया । इस तरह व्यक्ति का व्यक्ति से, व्यक्ति का समाज से और इस तरह संबंध धीरे-धीरे निर्धारित होते गए । इस आधुनिक औद्योगिक संस्कृति ने पुराने पारिवारिक संयुक्ता परिवार के ढांचे को तोड़ एक अनात्मीयता से बंधे आदमी की सर्जना की । विज्ञान ने ईश्वर के स्थान पर मनुष्य ने ही सर्वोपरि सत्ता को स्थापित किया । जिससे ईश्वर और धर्म व्यवस्था से जुड़े मूल्यों का अस्तित्व ही संकट में पड़ गया । यह एक तरीके से आध्यात्मिक संकट ही था । बाद में देखा गया कि विज्ञान से ही मानवीय मूल्यों का अवमूल्यन होने लगा, जिससे विज्ञान की नैतिकता ही संदिग्ध हो गई । आधुनिकतावादी साहित्य में जिस संकट बोध की अभिव्यक्ति अधिकांश आधुनिकतावादी साहित्य में होती है, उसमें बहुत बड़ी भूमिका विज्ञान की भी है । विज्ञान की नैतिकता की परिणति विश्वयुद्धों में दिखाई दी, इसलिए आधुनिकतावादी कृतियों में संदेह, अवस्था, अशांति, विरक्ति, विवशता ओर निराशा आदि के साथ इतिहास, परम्परा, धर्म, अर्थ और पुराने मूल्यों की ओर वापसी के दर्शन होते हैं तो कोई आश्चर्य नहीं होता ।

विज्ञान के संदेहवादी और मूल्यहीन चरित्र के कारण ही कलह और धर्म ने अपनी अस्मिता की खोज की । इसी तरह शहरीकरण या महानगरीय बोध का संबंध औद्योगिक प्रगति से है जो महानगर की आधुनिक प्रवृत्तियों, आदतों और नागरिक धर्म को निर्मित करते हैं और गांवों, कस्बों, छोटे शहरों से जीविका की तलाश में आए लोगों की जिंदगी को नाटकीय भी बनाते हैं । 'नगरों ने गंदी बस्तियाँ, बेकारी, संयुक्त परिवार में दरार, भुखमरी, बीमारी, असमान वितरण, गरीबी का नरक, मानसिक तनाव, न सुलझने वाली समस्याएँ, असुरक्षा, हत्यारों और अपराधियों की सक्रियता, अकेलापन, आत्मघाती स्थितियाँ और आत्म पर ज्ञापन भी दिया है । (आधुनिकता साहित्य के संदर्भ में, गंगाप्रसाद विमल, पृ. 76) इस औद्योगिकरण की प्रक्रिया के साथ शहरीकरण या नगरीकरण की प्रक्रिया शुरू होती है । इन दोनों प्रक्रियाओं को आधुनिकीकरण की प्रक्रिया कहते हैं । उद्योगों को नयी-नयी मशीनों और उत्पादन वितरण के कार्य का संबंध सर्वप्रथम शहरों से ही होता है । अत: शहरों के आधुनिकीकरण से ही परिवर्तनों का परिणाम सामने आता है । इसलिए शहर, महानगर, न केवल आधुनिक संस्कृति वाली आधुनिक कला के केन्द्र हैं बल्कि एक तरह ये निर्धारक तत्व भी हैं । वैश्विक स्तर पर आधुनिकतावाद का संबंध महानगरीय बोध से रहा है । इस तरह भारतीय शहरों का जो औद्योगीकरण और आधुनिकीकरण हुआ और उस बीच जो साहित्य वहाँ से विकसित हुआ, उसे आलोचकों द्वारा आधुनिकतावाद के संदर्भ में महानगरीय बोध व नगरीय बोध से जोड़ कर भी देखा गया । स्वयं हिन्दी आधुनिकतावाद के संदर्भ में दिल्ली, बनारस, इलाहाबाद का कम योगदान नहीं है । जहाँ तक आधुनिकतावाद के राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय अनेक साहित्य और कला आंदोलनों के उद्भव और विकास का प्रश्न है, वह इन शहरों के योगदान के बिना संभव ही नहीं था और न ही इसके बिना आधुनिकतावाद के विश्व भूगोल की कल्पना की जा सकती थी । आधुनिकीकरण से संबंधित आधुनिकतावादी साहित्य की दो कोटियाँ हैं । एक तो वह आधुनिकतावादी साहित्य जो आधुनिकीकरण के फलस्वरूप सृजित हुआ दूसरा वह जो आधुनिकीकरण की प्रतिक्रिया में सृजित हुआ । पर आधुनिकीकरण के फलस्वरूप सृजित तो पूरा आधुनिकतावादी साहित्य है और आधुनिकतावाद के पहले चित्रकला में फिर बाद में साहित्य में घटित होता है । साहित्य के क्षेत्र में स्वच्छंदतावाद का पूरा वर्चस्व था । मिला-जुलाकर उसकी आत्मा विधेयवादी ही थी । इसलिए स्वच्छंदतावाद के प्रति उसने विद्रोह का बिगुल बजाने के साथ अपनी व्यक्तिवादिता की आधारभूमि से सामाजिक यथार्थवाद के विरूद्ध संघर्ष कर अपनी अहंवादी शैली में अस्तित्व रचना आरंभ की ।

20.3 आधुनिकतावाद का अर्थ. परिभाषा स्वरूप

आधुनिक, आधुनिकता, आधुनिकतावाद, आधुनिकीकरण से सभी संज्ञाएँ संस्कृत शब्द 'अधुना' से बनी हैं । 'अधुना' का अर्थ है अभी-अभी । आधुनिकता एक अर्थ बहुल संज्ञा है । इन सभी संज्ञाओं का संबंध अंग्रेजी के मॉर्डन शब्द से है । आधुनिकतावाद का अर्थ और आशय अंग्रेजी के 'मॉर्डनिज्म' से है । जिसका साहित्य और कला के क्षेत्र में एक आंदोलन के रूप में उद्भव और यूरोप में उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तभाग में शुरू होकर बीसवीं शती के तीसरे दशक तक अपनी चरमावस्था में पहुँचा था । यह आधुनिकतावाद संज्ञा एक खास विशिष्ट दृष्टिभंगी की

द्योतक है, एक खास ताजा मनःस्थिति की द्योतक है, जिसको आधुनिक कला साहित्य ने अभिव्यक्त किया है । लेविस के शब्दों में यों कहें कि आधुनिकतावादी कविता कोई नई कविता से अधिक 'नई' ही नहीं, किन्तु 'नये ढंग' से नई है, नये परिमाण में नई है । आधुनिकतावादी कविता के पूर्व की कविता और बाद की कविता में एक गहरी विभाजक रेखा है, समयानुक्रम में नये समय के साथ स्वाभाविक ढंग से आने वाला 'नयापन' ही सिर्फ नहीं है । पश्चिम में साहित्य और कला के अन्तर्गत जब स्वच्छंदतावादी और उत्तर स्वछंदतावादी साहित्य और कला समापन की ओर थे तब वहाँ के आधुनिकता आंदोलन के रूप में ही विश्लेषित और व्याख्यायित किया जाता था । कालांतर में इसे 'आधुनिकता' आंदोलन के नाम से संबोधित किया गया और इस आधुनिकतावादी. साहित्य और कला की कुछ परिभाषाएं और विशेषताएं बताने के बाद इसका 'रिफरेंसं' आधुनिकतावाद के संबंध में निश्चित कर दिया गया । यद्यपि आधुनिकतावादी विभिन्न आंदोलनों की प्रकृति एक जैसी नहीं थी । बल्कि इनमें तो कई एक, दूसरे के घोर विरोधी थे । पर इन अवाँगार्दो के आंदोलन ले आधुनिकतावाद का एक निर्णायक रूप निर्मित होता है ।

20.4 आधुनिकतावादी के लक्षण और विशेषताएँ

आधुनिकतावादी आंदोलन और साहित्य का विशिष्ट लक्षण है - संस्कृति के प्रति तीखी प्रतिक्रिया। यही कारण है कि आधुनिकतावादी कला और साहित्य भीतरी यथार्थ को पकड़ने में अमानवीय कारण की ओर प्रवृत्त हुई । इसलिए आधुनिकतावादी साहित्य और कला का एक विशिष्ट लक्षण संस्कृति के प्रति विरोध या परम्परा के प्रति विद्रोह में दिखाई देता है । आधुनिकतावाद धर्म, प्रवृत्ति, परम्परा, नैतिकता, प्रतिबद्धता आस्था और मूल्यों के प्रति विद्रोह करता है । वह इस तरह की व्यवस्था के प्रति विद्रोह का भाव रखता है और रोमैन्टिक्वाद, यथार्थवाद का विरोध भी करता है । विद्रोह और विरोध का यह भाव ही उन्हें स्वायत्त संसार रचने के लिए विवश करता है इरविंग हो के हवाले से आधुनिकतावाद के गुणधर्म को कुछ इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है ।

1. अंवांगार्द साहित्यिकों का एक नई जाति के रूप में उदय ।
2. आस्था का प्रश्न यहाँ तक विक्षोभ पैदा करता है कि करीब-करीब उसका निषेध ही है ।
3. आधुनिकतावादी साहित्य, कला की स्वयं पर्याप्तता की दिशा में जाता है ।
4. स्वरूप - व्यवस्था का निषेध किया जाता है, या उसे मूलतः बदल दिया जाता है ।
5. साहित्य के मुख्य विषय या परिवेश के रूप में प्रकृति को स्थान नहीं है ।
6. वक्रता अर्थात विस्मय, आघात, उत्तेजन संत्रास, अवमानना, प्रधान 'मोटिव' रहते है।
7. आदिमवाद आधुनिकतावादी लेखन का मुख्य अंतिम पड़ाव है ।
8. उपन्यास के क्षेत्र में चरित्र, संगठन और कथानायक के बारे में एकदम नया प्रबोध
9. अंत में शून्यतावाद और 'निहिलिज्म' आधुनिक साहित्य में स्थान पाता है ।

20.5 आधुनिकतावाद की समय-सीमा:

आधुनिकतावाद की समय-सीमा का निर्धारण भी खासा विवादास्पद रहा है । इसकी समय-सीमा निर्धारित करते हुए हेनरी एडम ने 1980 सुझाया । वर्जीनिया वुल्फ़ ने 1910 मि. बेनेट और मिसेज ब्राउन कहती हैं कि "दिसम्बर 1910 के आसपास मानवीय स्वभाव में एक परिवर्तन आया । रिर्चड एलमान ने इसका उद्भव काल सन् 1900 निर्धारित करते हुए लिखा है न्येरी सलाह है कि 1900 (वकात्रया वुल्फ़ के) से 1910 अधिक सुविधाजनक और उचित रहेगा । डॉ. एच. लारेंस ने 'कंगारू' में लिखा यह वह पुराना समय था जो 1915 में खत्म हो गया।" ए. एल्बरेज का विचार है - "जो आधुनिकतावाद को जानना चाहता है उसे इस शताब्दी के शुरुआती तीस वर्षा में ही इसे खोजना चाहिए । फ्रेंक कर्मोड ने लिखा है - 'निश्चित रूप से उन्नीसवीं शताब्दी आधुनिकतावाद के लिए अग्रदूत है, लेकिन यदि कोई सोचता है कि अब आधुनिकतावाद क्या है, उसके लिए यही उचित होगा कि व 1907 से 1925 के बीच के समय को अधिक निकटता से देखें । विश्व साहित्य में आधुनिकतावाद का यह अन्तर्राष्ट्रीय आंदोलन यूरोप में उन्नीसवीं शती के अंतिम दो दशकों यानी 1880 के आस-पास से आरंभ होकर बीसवीं शती के तीसरे दशक यानी 1930 तक और उसके बाद भी अपना अस्तित्व रचता रहा । अपने भिन्न साहित्य और कलागत आंदोलनों के साथ भिन्न कालखंडों में यह विकसित और अविकसित देशों की राष्ट्रीय सीमाएं पार करता हुआ विश्व के अनेक महानगरों में पहुँचा । जैसे 1905-25 तक पेरिस में, 1986-96 तक बर्लिन में, 1890- 1928 तक वियना और प्राग में, 1890- 1920 तक लन्दन में, 1880- 1930 तक शिकागो और न्यूयार्क में और 1870-1917 तक रूस में । इन आंदोलनों में 'प्रतीकवाद' 'बिम्बवाद, वर्तुलवाद', प्रभाववाद', 'धनवाद' 'इतालवी भविष्यवाद, 'रूसी भविष्यवाद, 'रूसी रूपवाद 'जर्मन अभिव्यंजनावाद', ददावाद, और 'अतियथार्थवाद' आदि प्रमुख हैं ।

20.6 आधुनिकतावाद की अवधारणा

साहित्य और सिद्धान्त के क्षेत्र में 'आधुनिकता' और 'आधुनिकतावाद' शब्द की अनेक परिभाषाओं और व्याख्याओं से ऐसी भ्रमपूर्ण स्थिति का सृजन हुआ है कि जिसमें भटकना अप्रत्याशित नहीं लगता । कारण यह है कि दोनों शब्दों का परिवेश एक है, पर सन्दर्भ अलग-अलग । 'आधुनिकता' और 'आधुनिकतावाद' संबंधी अवधारणा का संदर्भ सुनिश्चित न होने के कारण दोनों को एक-एक करके देखा जाता रहा है और दोनों का सामान्य संदर्भ और अर्थ में प्रयोग किया जाता रहा है। ऐसी स्थिति में कभी किसी को 'मूल्य' कभी 'विधि कभी 'भाव बोध', कभी 'प्रक्रिया, कभी साहित्य कलागत 'प्रयोग कभी आंदोलन और कभी 'सिद्धान्त', मान लिया गया । इसलिए साहित्य, सिद्धांत, आलोचना, समीक्षा और बोध के क्षेत्रों में समस्याएँ भी पैदा हुई ओर इनकी स्थिति अव्याख्येय बनी रही ।

20.7 आधुनिकतावादी विभिन्न साहित्य कलागत आंदोलन

आधुनिकता एक व्यापक अर्थ और प्रकृति को और आधुनिकतावाद साहित्य कलागत अंद्दोलन की अवधारणात्मक अर्थ, प्रकृति और सिद्धांत को घोषित करता है । इस तरह पश्चिम में आधुनिकता का आरंभ ज्ञानोदय से और आधुनिकतावाद का आरंभ स्वच्छंदतावाद के बाद से होता है और वह भी अवाँगार्दो के विभिन्न साहित्य कलागत आंदोलनों से । हिन्दी में आधुनिकतावाद का आरंभ हिन्दी नवजागरण से और आधुनिकतावाद का आरंभ प्रयोगवाद से होता है । वैश्विक आधुनिकतावाद का आंदोलन एक समावेशी आंदोलन है जिसे पूंजीवाद के अन्र्तविरोधों ने ही सृजित किया । आधुनिकतावादी विभिन्न साहित्य कलागत आदोलन पश्चिम में साहित्य, कला और चिंतन के क्षेत्र में जब उत्तर-स्वच्छंदतावादी कला और साहित्य समापन की ओर था । तब वहाँ के अवाँगार्दो के द्वारा छोटे-छोटे आंदोलनों की शुरूआत हुई । तब इन आंदोलनों को अवाँगार्द के आन्दोलन के नाम से जाना जाता था, आधुनिकतावाद के नाम से नहीं । यह सब एक आधुनिकता के दौर में ही घटित हो रहा था । द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अवाँगादाँ के साहित्य, कला और चिंतन की परिभाषाओं और विशेषताओं को आधुनिकतावाद के संदर्भ में व्याख्यायित किया जाने लगा । सन् 1950 के आसपास 'कंसेप्ट' के रूप में इसका रिफरेंस आधुनिकतावाद के साथ संबंद्ध कर दिया गया । आधुनिकतावाद एक संयुक्त आंदोलन है ओर इनके तमाम छोटे-छोटे आंदोलनों की प्रवृत्ति एक जैसी नहीं है । कई एक दूसरे के घोर विरोधी हैं । यह विरूद्धों का सामंजस्य है जिसे आधुनिकतावाद से चिन्हित करके की बजाय प्राय: आधुनिकता के चिन्हित किया जाता है । नामवर सिंह ने लिखा है “हमें नहीं भूलना चाहिए कि आधुनिकतावाद नाम की अवधारणा सिद्धांत या आइडियालॉजी के रूप में दूसरे महायुद्ध के बाद की सृष्टि है । इसलिए इस पर शीत युद्ध की गहरी छाप है । कुछ लोगों का कहना है कि अवधारणा के रूप में यह 'एम्पटी कान्सेप्ट' है । ‘एम्पटी’ इसलिए है कि इसका जो 'रिफरेन्स' है वह सुनिश्चित नहीं है । जिसका रिफरेंस सुनिश्चित नहीं हो, उसका चाहे जो अर्थ ले लीजिए, चाहे वह विरोधी ही क्यों न हो ।" इसलिए आधुनिकतावाद का जिन तत्वों से निर्माण हुआ है वह उन्हीं के विरूद्ध प्रतिक्रिया भी करते हैं और अन्तत स्वयं के विरूद्ध भी । संक्षेप में इन आंदोलनों का परिचय आवश्यक है ।

- प्रतीकवाद
- बिम्बवाद
- प्रभाववाद
- धनवाद
- इतालवी
- भविष्यवाद
- रूसी भविष्यवाद
- जर्मन अभिव्यंजनावाद
- दादावाद
- आतियथार्थवाद

- सूफी रूपवाद

20.8 हिन्दी आधुनिकतावाद

हिन्दी में आधुनिकतावाद का आरंभ प्रयोगवाद से माना जाता है । यह वह समय है, जब पश्चिम में आधुनिकतावादी साहित्य का दौर समाप्त हो चुका था । वहाँ जब आधुनिकतावाद समाप्त हो जाता है तब हिन्दी में साठ के दशक में इन पर बहस होती है ओर साठोत्तरी काल में यह बहस कुछ दिनों तक चलकर समाप्त हो जाती है ।

यूरोपीय और भारतीय आधुनिकता यदि आधुनिकीकरण की देन नहीं है और वह अर्द्ध-सामंती, अर्द्ध-पूँजीवादी समाज की देन है, तो इसके साथ आधुनिकता के जटिल सम्बन्धों और उसके अन्तर्विरोधों की छानबीन स्वाभाविक है । अवाँगार्दोन के आधुनिकतावादी आंदोलन ने पश्चिम में साहित्य, कला, चित्रकला, वास्तुकला, संगीत, भाषा विज्ञान, समाज विज्ञान एवं मानविकी को तो प्रभावित किया ही था, उसने हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य और कला को भी प्रभावित किया । दर्शन के क्षेत्र में मनोविज्ञानवादी फ्रायड, एडलर, युंग और अस्तित्ववादी कीर्केगार्द, दोस्तोवस्की, नीत्शे, काफ्का, बर्दियेव सार्त्रा, काम मार्टिन ब्यूवर, यास्पर्स, हाइडेगर, मार्लियों पोन्ती और गैब्रियल मार्शल के दर्शन ने प्रभावित किया । विचारधारात्मक स्तर पर इस पर शीतयुद्ध की छाप थी ।

हिन्दी में जिस परिवर्तन को प्रयोगवाद से लक्षित किया जाता है, वह वास्तव में सन् 1938 के आसपास से ही घटित दिखाई देता है जिसका एक कारण था हिन्दी लेखकों और बुद्धिजीवियों का अंग्रेजी शिक्षा और संस्कार से प्रभावित होना । इसे लक्ष्य करते हुए नामवर सिंह ने लिखा है तह ऐतिहासिक तथ्य है कि हिन्दी साहित्य में व 1938 के आसपास बौद्धिक लेखकों और कवियों का एक ऐसा वर्ग आया जो पश्चिम के आदर्श 'इंतेलिगत्सिया' से भले ही कुछ नीचे हो, किन्तु परम्परागत साहित्य संस्कारी लितेराती से निश्चय ही भिन्न था । उल्लेखनीय है कि अज्ञेय, मुक्तिबोध, शमशेर आदि इस दौर के सभी नए कवि अपने शिक्षा-संस्कार में हिन्दी की ठेठ परम्परा से बाहर के थे । यही नहीं, बल्कि इनमें से अधिकांश कवियों का मानस-गठन भारत की अपेक्षा पश्चिम और हिन्दी की अपेक्षा अंग्रेजी के हवा-पानी से हुआ था । इसलिए इन कवियों के संशय, दुविधा, अश्रद्धा आदि भाव परंपरागत साहित्य-संस्कारी हिन्दी कवि से नितान्त भिन्न थे । यहाँ तक कि उनकी भाषा के मुहावरे भी भिन्न थे ।" (कविता के नए प्रतिमान, नामवर सिंह, पृ. 81-82) । हिन्दी के कवियों-लेखकों की जहाँ तक पश्चिमी या अंग्रेजी शिक्षा और संस्कार की बात है, उन्होंने स्वयं की सृजनशील आधुनिकता की खोज कम, पश्चिमी आधुनिकतावाद की खोज अधिक की । हिन्दी आधुनिकतावाद पश्चिमी आधुनिकतावाद का ही पयार्य है - जो अब अपरिचित नहीं रह गया है । हिन्दी में आधुनिकतावाद का आगमन अंग्रेजी संस्कार वाले लेखकों और कवियों के माध्यम से ही हुआ, पर इस आधुनिकतावाद का अनुकरण हिन्दी के उन लेखकों और कवियों ने किया, जो दुर्भाग्यवश पश्चिमी या अंग्रेजी संस्कार के नहीं थे ।

अज्ञेय ने सन् व 1937-38 के आसपास अपने आधुनिकतावादी भावों की अभिव्यक्ति करते हुए लिखा रह युग संशय, अस्वीकार और कुण्ठा का है । अस्वीकार का व्यापक स्वर सर्वोपरि है और कुछ अपवादों को छोड़कर सामान्यत: इसे अश्रद्धा का युग कह सकते हैं । किसी आस्था को स्वीकार करना अथवा पुराने आदर्शों से आसक्ति दिखलाना उपहासास्पद हो गया है । फिर वास्तविकता की इस बाढ़ में सम्बल के रूप में ही टेक लेने की प्रबल आवश्यकता सर्वत्र अनुभव की जा रही है... फिर भी हम यथार्थ के प्रति नहीं, बल्कि शक्ति के प्रति भी जागरूक हो रहे हैं । यह आत्मान्वेषण का युग ने (वही, पृ. 80) । कहना न होगा कि यह पश्चिमी आधुनिकतावाद में किसी सीमा तक ध्वनित हुआ कि पूरा का पूरा युग ही संदेह, संशय, अस्वीकार और कुण्ठा में समा गया । यह अप्रत्याशित नहीं है कि पश्चिमी आधुनिकतावाद का पूरा का पूरा आंदोलन ही क्यों संदेह पर टिका हुआ था । सलमान रूशदी ने अपनी पुस्तक 'शैतानी आयतें' का विरोध किए जाने पर कहा - 'मेरी पुस्तक का विरोध करने वाले भूल जाते हैं कि आधुनिकतावाद का पूरा का पूरा आंदोलन संदेह पर टिका हुआ था ।- एक समय हिन्दी में भी संदेह, संशय, कुण्ठा और अस्वीकार साकार हो उठा था । इसी विघटन का गीत गाने वाले टी.एस. इलियट के लिए भूमि तैयार हो जाएगी । इलियट अंग्रेजी आधुनिकतावाद के सबसे बड़े कवि हैं और उन्होंने अपनी महत्वपूर्ण कविता 'वेस्टलैण्ड' के माध्यम से यूरोप के विघटन के जो गीत गाए थे, उसने विश्व कविता को प्रभावित किया था । इससे हिन्दी के प्रयोगवादी और नई-कवितावादियों का प्रभावित होना स्वाभाविक था । इलियट कोई प्रगतिशील कवि नहीं थे । इसलिए अज्ञेय हिन्दी में इलियट के लिए भूमि तैयार करने के साथ-साथ प्रगति विरोधी भूमिका भी अदा कर रहे थे । वैसे भी सन् 1936 में 'विशाल भारत' के अल्पकालिक सम्पादन-काल में वे अपनी प्रगतिविरोधी भूमिका स्पष्ट कर चुके थे ।

हिन्दी कविता में 'तार सप्तक' का प्रकाशन एक महत्वपूर्ण घटना है । पहली बार हिन्दी में अवाँगार्दो श्रेणी के सात कवियों की कविताएँ संकलित हुई । अज्ञेय ने अपने सम्पादकीय में लिखा था कि ये कवि किसी एक 'स्कूल' के या किसी 'गुट' के अथवा किसी 'दल' के 'समर्थक' या 'सदस्य' नहीं है... संग्रहीत कवि सभी ऐसे होंगे जो कविता को प्रयोग का विषय मानते हैं. ... जो यह दावा नहीं करते कि काव्य का सत्य उन्होंने पा लिया है, केवल अन्वेषी ही अपने को मानते हैं.... उनके तो एकत्र होने का कारण ही यही है कि वे किसी स्कूल के नहीं हैं, किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं है अभी राही हैं - राही नहीं, राहों के अन्वेषी (तारसप्तक, सं. अज्ञेय पृ. 10-19) । तारसप्तक के अपने वक्तव्य में अज्ञेय ने कहा कि आधुनिक व्यक्ति यौन वर्जनाओं का पुन्ज है और 'यथार्थ दर्शन कुण्ठा उत्पन्न करता है ।" पर नई परिस्थितियों के अनुसार उन्होंने 'प्रयोग' और 'प्रयोगशीलता' पर बल दिया । प्रयोग, प्रयोगशीलता तक सीमित रहता तो ठीक था, पर यह राजनीतिक क्रियाशीलता और आधुनिकतावादी प्रयोगशीलता का शिकार हो, 'कलावाद' ओर 'रुपवाद' के क्षेत्रों में जा पहुँचता है । दूसरा सप्तक का प्रकाशन 1951 में हुआ और 'तीसरा सप्तक' का सन् 1959 में । इसी बीच इसी तर्ज पर 'नई कविता' का प्रकाशन 1953 में और नकेन का 'प्रपद्यवाद' का प्रकाशन 1956 में देखने में आया । तारसप्तक के दूसरे संस्करण के प्रकाशन (1963) के साथ प्रयोगवादी आंदोलन को वैचारिक,

सैद्धान्तिक और संगठनात्मक रूप दिया जा चुका था । सन् 1936 के प्रयोगी सन् 1963 के संदर्भ हो गए थे । अज्ञेय ने प्रयोगवाद को पश्चिमी आधुनिकता की तर्ज पर स्थापित किया था । तारसप्तक के वक्तव्यों और सम्पादकियों को सिद्धान्त या घोषणा पत्र का जो रूप दिया गया था उसे पश्चिमी आधुनिकतावादी आन्दोलन की तर्ज पर ही अज्ञेय ने आधुनिकतावाद की ही तरह व्यक्तिवाद या व्यक्ति सत्य, आत्मवाद या आत्म सत्य को काव्य-सिद्धान्त का रूप दिया । सामाजिकता, इतिहास बोध, विचारधारा और रोमैण्टिकता का विरोध करते हुए वैयक्तिकता, प्रयोगशीलता, अमूर्तता, बौद्धिकता, रूपवादिता का समर्थन किया । मलामें का यह कथन कि 'कविता विचारों से नहीं, शब्दों से लिखी जाती है का प्रयोगवाद ओर नई कविता पयार्य थी । श्रीकान्त वर्मा ने तो यहाँ तक घोषित किया कि "सम्पूर्ण 'जलसाघर' केवल कुछेक शब्दों का चमत्कार है ।"

प्रयोगवाद का पर्यवसान नयी कविता (1953) में हो चुका था और नई कविता के जिन सिद्धान्तों का सूत्रपात किया गया था वह तीसरा सप्तक के प्रकाशन (1959) तक अबाध गति से चलता रहा । इसमें सहयोग दिया सन् 1953 में स्थापित परिमल ने और सन् 1937 में प्रकाशित 'प्रतीक' और सन् 1958 में 'लहर' और 'कृति' के प्रकाशन ने । कल्पना और 'ज्ञानोदय' में आधुनिक भाव बोध वाले लेख खूब छपे । 1955 में आलोचना में 'व्यक्ति स्वातंत्र्य' पर लोगों के विचार आमंत्रित किए गए । नई कविता में समाज निरपेक्ष वैयक्तिकता, अहं, कुण्ठा, घुटन, अनास्था आदि आधुनिक भावबोध पर कविता लिखना आधुनिकता ही नहीं मानी जाती थी, बल्कि ऐसी आधुनिकता की वकालत की जाती थी । आधुनिकतावादी सौन्दर्य सिद्धान्तों के द्वारा प्रगतिशील साहित्य आंदोलन का विरोध किया जा रहा था । मुक्तिबोध ने लिखा है "सन् 1950-51 के अनन्तर साहित्य क्षेत्र से विशेषकर काव्य क्षेत्र से प्रगतिवादी विचारधारा को खदेड़ कर बाहर करने के लिए नई कविता के बुर्ज से शीत-युद्ध की गोलचन्दाजी की गई थी । यह शीत-युद्ध मेरे लेखे विश्व में चल रहे राजनैतिक शीत-युद्ध की साहित्यिक शाखा के रूप में था ।" (मुक्तिबोध रचनावली, पेपर बैंक, खण्ड-5, पृ. 161) उन्होंने एक ही साथ या एक के बाद एक, काव्य के विशेष पैटर्न, कला व्याख्या, कला का धर्म, सौन्दर्यानुभूति का सिद्धान्त, आधुनिक भावबोध तथा उससे जुड़ी सभ्यता समीक्षा लघुमानव सिद्धान्त इन सबको उपस्थित किया । प्रयोगवादी, नई कवितावादी हिन्दी आधुनिकतावाद का आदर्श पश्चिमी आधुनिकतावाद ही था, जिसने भाववाद और भौतिकवाद, प्रगतिशीलता और आधुनिकता के बीच संघर्षों को तीव्र कर दिया था । इस संघर्ष को बढ़ाने में नई कविता की साहित्यिक संस्था परिमल की भूमिका अधिक थी । इसके बारे में मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है "साहित्य में परिमलियो की पाँच माँगे थी, वैयक्तिक स्वातंत्र, लघुमानव, कम्युनिस्ट विचारधारा का विरोध, इतिहास और परम्परा से मुक्ति और अद्वितीय क्षणों की अनुभूति पर बल देने वाली आधुनिकता, आधुनिक भावबोध। कविता, कहानी, उपन्यास के क्षेत्र में यथार्थ-विरोधी धारा के साहित्यकारों के लिए आस्था की चीज थी । इसमें आधुनिक बोध आत्मबोध का पर्याय हो गया था और वह आत्म भी खण्डित, विभाजित, कुण्ठित और समाज से कटा हुआ था । यह आधुनिकता यथार्थ के विरूद्ध स्वप्न को, परम्परा के विरूद्ध क्षणबोध को, समाज के विरूद्ध व्यक्ति को और इतिहास

के विरूद्ध मिथक को साहित्य में प्रचारित कर रही थी । अनास्था, कुण्ठा, घुटन, निराशा, आत्मरति, आत्म-परायापन और अजनबीपन को उलझे बिम्बों, जटिल प्रतीकों और अमूर्त के सहारे व्यक्त करने को ही आधुनिकता कहा जाता था ।" (साहित्य और इतिहास दृष्टि, मैनेजर पाण्डेय, पृ. 219 और 223) जीवन, समाज और साहित्य विरोधी कलात्मक नारे स्वयं के देश-काल, परिस्थिति की जीवनानुभूति और सौन्दर्यानुभूति के अनुभव और संवेदना से प्रेरित न होकर निजी संदर्भो और शीतयुद्ध की राजनीति से प्रेरित नारे थे, जिसकी जड़े यूरोप के व्यक्तिवादी साहित्य-चिंतन में मौजूद थीं ।डॉ. रघुवंश ने लिखा है 'अनुभव की विशिष्टता और अप्रतिमता अथवा अद्वितीयता की चर्चा यूरोप में बहुत पहले से चली आ रही है, हमारे साहित्य-चिंतन में कई दशकों से चली आ रही है । इसको आधुनिकता की बहस में एक नारे के रूप में उठाना बेमानी है ।' (आधुनिकता और सर्जनशीलता, रघुवंश, पृ. 37) पाँचवें-छठे दशक में अज्ञेय ने 'विशिष्ट अनुभूति' वाले 'नदी के द्वीप' और 'अपने-अपने अजनबी लिखकर अनुभूति की विशिष्टता की महत्ता को स्थापित किया था, जिसमें इतिहास, यथार्थ और समय आदि का निषेध किया गया था ।

इस तरह प्रयोगवाद और नई कविता के दौर में आधुनिकतावाद के नाम पर समाज निरपेक्ष वैयक्तिकता, अलगाव, पराजय, पलायन, उदासीनता, अकेलेपन की पीड़ा, मृत्यु कुण्ठा, वेदना, घुटन, निराशा, भय, शंका, सन्देह, क्षणबोध, व्यक्ति स्वातंत्र्य,आत्म-अन्वेषण, अनुभूति की अद्वितीयता, अनुभूति की प्रामाणिकता, भोगा हुआ यथार्थ, इतिहास मुक्तता, रहस्यवादिता, आध्यात्मिकता, मूल्यहीनता, अस्वीकार और अराजकता और लघुमानववाद की बात की गई । साथ ही इलियट, पाउण्ड, लारेंस, स्पेंडर, केस्टलर, पास्तरनाक कापका, कामू, दोस्तोएवस्की, सार्त्रा, फ्रायड, एडलर, युंग को ध्वनित किया जाता रहा और पश्चिमी आधुनिकतावादी, बिम्ब-प्रतीकवादी, दादावादी, अतियथार्थवादी, प्रभाववादी और रूपवादी आंदोलनों और सिद्धान्तों की तर्ज पर रचनाएँ होती रहीं । आधुनिकता सम्बन्धी बहस छठे दशक में शुरू होती है और साठोत्तर में कुछ समय चलकर समाप्त हो जाती है । तत्पश्चात रमेश कुंतल मेघ, गंगा प्रसाद विमल, डी. रघुवंश, इन्द्रनाथ मदान, विपिन कुमार अग्रवाल और धनंजय वर्मा की आधुनिकता पर केन्द्रित किताबें आती हैं । आधुनिकता सम्बन्धी बहस को समाप्त प्रायः मान लिया जाता है । लेकिन अज्ञेय द्वारा आधुनिकता सम्बन्धी बहस सन् 1981 में फिर शुरू की जाती है, जब वे वत्सलनिधि की ओर से लखनऊ के पास एक लेखक शिविर का आयोजन करते हैं । इसमें भाग लेने वाले विद्यानिवास मिश्र, रमेशचन्द्र शाह, निर्मल वर्मा, रघुवीर सहाय, कुंवर नारायण, विजयदेव नारायण साही और विपिन कुमार अग्रवाल आदि मुख्य थे । इस लेखक शिविर में अभिव्यक्त विचारों से, प्रयोगवाद और नई कविता काल के दौरान न केवल आधुनिकतावादी आंदोलन की पुष्टि होती है, बल्कि उससे इन लेखकों का मोहभंग भी उभर कर सामने आता है । रघुवीर सहाय ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा- "क्या वजह है कि पिछले कई वर्षो में, जब से साहित्य में आधुनिकता और आधुनिक संवेदन की बात होने लगी, हम लोग कुण्ठा, यातना, वितृष्णा और विरक्ति और इससे आगे जाकर सर्वनाश की बात भी करते हैं और इन्हीं

को आधुनिकता का प्रतीक मानते रहे हैं । "(सर्जन और सम्प्रेषण सं. अज्ञेय, पृ. 31) रघुवीर सहाय का मानना था - "अवश्य नकारात्मक मूल्य एक अरचनात्मक और अलोकतांत्रिक दास व्यवस्था में यथास्थिति के पक्ष में सक्रिय हुए, क्योंकि इनको सत्तासीन विशिष्ट वर्गो में सम्मानीय माना गया । इन वर्गों में पूरे समाज के रचनात्मक मूल्यों की खोज की आकांक्षा नहीं थी । होती तो समाज के एक बड़े वर्ग को प्रभुवर्ग का अनुकरण करते हुए दास बनाए रखना संभव नहीं होता । "(पूर्वग्रह, अंक 92-93 पृ. 11) ।

20.9 सारांश

साहित्य और कला के क्षेत्र में आधुनिकतावाद का उद्भव और विकास एक महत्वपूर्ण घटना है। भावबोध, संवेदना, भाषा और तकनीक के स्तर पर इसका महत्वपूर्ण योगदाज़ है । अपनी अतिशय प्रयोगशीलता के कारण आधुनिकतावादी साहित्य सौन्दर्यपरक रूपवाद की सृष्टि करता है । यह सौन्दर्यपरक रूपवाद कुरूपता और जटिलता को भी निर्मित करता है और पारस्परिक व्यवस्था, मूल्य, नैतिकता, साहित्य, संस्कृति कला के प्रति विद्रोह का भाव रखता है । उस युग के नैराश्य बोध, विजनता बोध, आस्थाहीनता शून्यता विच्छिन्नता, असंगति ओर अर्थहीनता का स्वर उसमें प्रधान है । इसलिए साहित्य कला की स्वयं पर्याप्तता में उसका विश्वास है । यूरोप में विकसित यह अंतर्राष्ट्रीय आंदोलन प्रत्येक राष्ट्र की सीमा का अतिक्रमण करते हुए उनकी अपनी सांस्कृतिक साहित्यिक और भाषिक परम्परा में अभिव्यक्त हुआ । इस तरह आधुनिकतावादी साहित्य का एक निश्चित स्वरूप निर्मित होता है ।

20.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. 'आधुनिकता और आधुनिकतावाद दो अलग-अलग अवधारणाएँ हैं इस कथन पर ऐतिहासिक संदर्भ में विचार प्रकट कीजिये ।
2. आधुनिकतावाद से उपजे हुए विभिन्न कला और साहित्य आन्दोलनों की उदाहरण सहित चर्चा कीजिये ।
3. हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में आधुनिकतावाद का आरंभ प्रयोगवाद से मानना कहाँ तक उचित है?
4. अज्ञेय को आधुनिकतावाद का अग्रगण्य साहित्यकार मानना कहाँ तक उचित है?
5. अज्ञेय के द्वारा रचित साहित्य के आधार पर उत्तर दीजिये ।
6. हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में आधुनिकतावाद की परिणति को किस रूप में देखा जाता है
7. आधुनिकतावाद को प्रगतिशीलता का विरोधी मानना कहीं तक उचित है? तर्क सहित उत्तर दीजिये ।

20.11 संदर्भ ग्रंथ

1. अज्ञेय - सर्जन और सम्प्रेषण, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ।
2. बच्चन सिंह - आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द, राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज।
3. रमेश कुंतल मेघ - आधुनिकता और आधुनिकीकरण, अक्षर प्रकाशन ।

4. विपिन कुमार अग्रवाल - आधुनिकता के पहलू, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।
5. इन्दनाथ मदान - आधुनिकता और हिन्दी साहित्य, राजकमल प्रकाशन. नई दिल्ली ।
6. गंगाप्रसाद विमल - आधुनिकता के बारे में तीन अध्याय, विद्या प्रकाशन, दिल्ली ।
7. धनंजय वर्मा - आधुनिकता के प्रतिरूप, विद्या प्र. दिल्ली ।
8. डाँ. रघुवंश - आधुनिकता और सर्जनशीलता, मैकमिलन इंडिया, दिल्ली ।
9. इन्दनाथ मदान - आधुनिकता और हिन्दी आलोचना, डाँ. माधवशाह पुस्तक संस्थान, कानपुर ।
10. इन्दनाथ मदान - आधुनिकता और सृजनात्मक प्रक्रिया, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।
11. दुर्गाप्रसाद गुप्त - आधुनिकतावाद, प्रवीण प्रकाशन, दिल्ली ।
12. दुर्गाप्रसाद गुप्त - हिन्दी में आधुनिकतावाद, अनंग प्रकाशन, दिल्ली ।
13. शंभूलाल दोषी - आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकता एवं नवसमाज का राष्ट्रीय सिद्धान्त, रावत पब्लिकेशस ।

इकाई -21 उत्तर - आधुनिकता

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य
21.1 प्रस्तावना
21.2 उत्तर-आधुनिकता के उदय की पृष्ठभूमि
21.3 उत्तर-आधुनिकतावाद का अर्थ, परिभाषा और स्वरूप
21.4 उत्तर आधुनिकतावाद की विशिष्टताएँ
21.5 हिन्दी में उत्तर आधुनिकता और उसकी समय सीमा
21.6 उत्तर आधुनिकतावाद की अवधारणा
21.7 कुछ उत्तर आधुनिकतावादी पाठ
21.8 सारांश
21.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
21.10 संदर्भ ग्रंथ

21.0 उद्देश्य

साहित्य सिद्धान्त एवं व्यावहारिक समल्ली पाठ्यक्रम के इस इकाई की अन्तर्गत आप उत्तर - आधुनिकता का अध्ययन करेंगे । इस अध्ययन के अन्तर्गत :

- उत्तर-आधुनिकता के स्वरूप से परिचित हो सकेंगे ।
- उत्तर-आधुनिकता के उदय की पृष्ठभूमि को समझ सकेंगे ।
- साहित्यिक कृतियों के अध्ययन में इसकी भूमिका को समझ सकेंगे ।
- उत्तर-आधुनिक दृष्टि से रचनाओं का अध्ययन कर सकेंगे ।
- साहित्य, समाज, संस्कृति और उत्तर-आधुनिकता की नई दृष्टि से अवगत हो सकेंगे ।
- इसके माध्यम से साहित्य, संस्कृति ओर समाज के मिजाज में आए परिवर्तन को जान सकेंगे ।
- तकनीक और भाषा के क्षेत्र में इसके योगदान से परिचित हो सकेंगे ।
- पूंजीवाद के विकल्प या विचारधारा की आवश्यकता की अस्वीकृति का अध्ययन कर सकेंगे।

21.1 प्रस्तावना

उत्तर-आधुनिकतावाद, आधुनिकताद के बाद की स्थिति है । आधुनिकतावाद के विरूद्ध ही वह प्रतिक्रिया नहीं करता, बल्कि इसके साथ समग्र साहित्य, संस्कृति, दर्शन, इतिहास, विचारधारा आदि अनुशासनों के विरूद्ध प्रतिक्रिया करता है । इसलिए इसे आधुनिकतावाद के संदर्भ में ही नहीं, समग्र साहित्य, संस्कृति, दर्शन, इतिहास, विचारधारा के संदर्भ में समझने की आवश्यकता है । एक तरफ उत्तर-आधुनिकता इन अनुशासनों को नई दृष्टि देता है, तो दूसरी ओर भाषा ज्ञान की इन दृष्टियों को अनिश्चित-सा कर देता है । वह एक साहित्य, एक संस्कृति,

एक इतिहास, एक दर्शन, एक दृष्टि, एक विचारधारा को दूसरे से विस्थापित नहीं करता बल्कि अपने से पूर्व इन ज्ञानात्मक स्थितियों को ही छिन्न-भिन्न. तहस-नहस कर देता है । तो प्रश्न यह उठता है कि जब उत्तर-आधुनिकता अपने से पूर्व के ज्ञानात्मक अनुशासनों और स्थितियों के अवसान और उनके चुक जाने और उनकी मृत्यु की बात करता है, तो फिर जन्म किसका होता है । उसके जन्म में नया क्या है? उसके चिन्तन में नया क्या है? जो अपनी पूर्ववर्ती सभी बातों को रद्द करता है । इस प्रक्रिया में उत्तर-आधुनिकतावाद ज्ञान के सभी अनुशासनों को लेखन का प्रकार मानता है । उसका नया पाठ, पाठक और नए अर्थ की तलाश करता है । यानी उत्तर- आधुनिकतावादी दृष्टि से साहित्यिक सांस्कृतिक कृतियों का अध्ययन कैसे किया जाए? उसको कैसे समझा जाए? और क्या यही अंतिम है?

21.2 उत्तर आधुनिकतावाद के उदय को पृष्ठभूमि

इसकी पृष्ठभूमि में आधुनिकतावाद का आन्दोलन था, जिसका स्वरूप और प्रभाव अन्तरराष्ट्रीय था । इसने विश्व साहित्य और चिंतन को आंदोलित किया । आधुनिकतावाद का आंदोलन मूलत: आवाँगार्दो का आन्दोलन था । आवाँगार्दो ने भी पाठ, पाठक और भाषिक संरचना की बात की थी । आधुनिकतावाद के दौरान जो भाषिक आधुनिक चिंतन हुआ उस आधुनिक संरचनावादी भाषिक चिंतन में ही उत्तर-आधुनिकवाद के बीज विद्यमान थे । उत्तर-आधुनिकतावाद का श्रेय भी आधुनिकतावादी, संरचनावादी भाषिक चिंतन को जाता है, जो उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशकों से शुरू होकर द्वितीय विश्व युद्ध के आस-पास खत्म हो जाता है और आवाँगार्दों के दर्जनों आंदोलन को आधुनिकतावाद के नाम से अभिहित किया जाता है । यह एक समावेशी आंदोलन है । बिम्बवादियों, प्रतीकवादियों का भाषिक चिंतन, यानि मास्को लिंग्विस्टिक, सर्कल होता है । प्राग लिंग्विस्टिक सर्कल: और फ्राँस के भाषिक चिंतन जिसमें कर्नादो सास्यूर का महत्वपूर्ण कार्य है, ने मिलकर संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद का निर्मित किया और उत्तर-संरचनावाद ने उत्तर-आधुनिकता को । आधुनिकतावाद ने भी विश्व स्तर पर अपनी कलात्मक ऊँचाइयों को दर्ज तो किया, पर विचारधारात्मक रूप से वह पूंजीवादी दुनिया के यथार्थ की अभिव्यक्ति में ही वह समाप्त हो गया । ज्ञानोदय की देन आधुनिकता के सरोकार और परियोजना को कहीं-न-कहीं इसने अवरूद्ध ही किया । जिस तरह ज्ञानोदय ने अपने पूर्व प्राचीन मध्ययुगीन ज्ञान, विचार और संवेदना को अवरूद्ध कर नए ज्ञान, संवेदना, विचार, और वैज्ञानिक चिंतन की शुरूआत थी । इस तरह उत्तर-आधुनिकता ने ज्ञानोदय के सरोकारों, उपलब्धियों, परियोजनाओं पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया । पश्चिम में आधुनिकतावादी आंदोलन पचास के दशक तक समाप्त हो चुके थे । 1968 में पेरिस में छात्रों के आंदोलन, स्त्री आंदोलन ने और उससे पहले की 1959 में सी. राईट मिल्स ने 'समाज शास्त्रीय कल्पना' नामक पुस्तक में उत्तर-आधुनिक युग के आरंभ की बात थी । और उन्होंने माना था कि ज्ञानोदय ने जो मूल्य, मान्यताएँ धारणाएँ और विचार पश्चिमी समाज को दिए थे, अब वे संकट में हैं । उदारतावाद और समाजवाद की अपर्याप्तता की बात भी उन्होंने कही । तत्पश्चात डैनियल बैल ने विचारधारा का अन्त (1960), टॉमस एजि और

विलियम हेमिल्टन ने 'द रैडिकल थियेरी एण्ड द डेथ ऑफ गॉड' 1966, रोलाबार्थ के 'लेखक की मृत्यु' 1968 जॉक देरिन्दा ने 'मनुष्य की मृत्यु' 1982, विक्टर वार्गिन ने 'कला का अन्त 1986 एल्विन कर्नाल ने 'साहित्य की मृत्यु' 1990, गियन्नी वातीमो ने 'आधुनिकता का अन्त' 1991, फ्रसिस फुकुयामा ने 'इतिहास का अन्त' 1991 और मिशेल फुको ने 'आलोचक की मृत्यु' की घोषणा कर जैसे नये युग की शुरुवात ही कर दी ।

वैसे देखा जाए तो "आर्नल्ड टोयनवबी ने 1870 के पश्चात प्रचलित होने वाले अतार्किक चिंतन और उदार मानवतावाद को पतन का इतिहास माना । 1920 में पोस्ट माडर्न' शब्द का प्रयोग किया था । यही वह समय था जिसमें आस्वेल्ड स्पेंगलर की पुस्तक 'दि डिक्लाइन ऑव दि वेस्ट' के दो भाग (1922-23) और टी.एस. इलियट की सुप्रसिद्ध कविता 'दि वेस्ट लैंड' 1922 चर्चा का विषय बनीं । और इस प्रकार शुरू हुई पाश्चात्य सभ्यता के पतन और आधुनिकता के अन्त की दास्तान जिसमें बौद्धिक विलासिता, साँस्कृतिक संशय और मूल्यों के विघटन के बीच हाइटेक मल्टीमीडिया फ्यूजन और आक्रामक भौतिकता के बलबूते पर ज्ञान, प्रगति, मूल्य, सौन्दर्य, सत्ता और मनोरंजन में नया समीकरण स्थापित करने का प्रयास किया गया । जिसके कारण हमारा युग आलविन टॉफलर के फ्यूचर शॉक (1971) को सहन करने और 'द थर्ड वेव' (1981) के बाद 'वावरशिपट' (1990) के नये दौर में दाखिल हो चुका है ।" (उत्तर आधुनिकता साहित्य और संस्कृति की नई सोच, देवेन्द्र इस्सर, पृ.30)

अमेरिका में टेलीविजन 1960 के आस-पास आया । उत्तर-आधुनिक संस्कृति की देन में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है । 1963 में कैनेडी की हत्या हुई । संस्कृति के सभी क्षेत्रों पर मीडिया का वर्चस्व छाया । फ्रांसिवस फुकुयामा की (1991) में 'दि ऑफ हिस्ट्री एण्ड दि लास्ट मेन 'सांस्कृतिक साम्राज्यवाद', (1960) में डेनियल बेल 'दि एण्ड ऑफ आइडियालॉजी' फूको ने 'मैडनेश एण्ड सिविलियेशन: ए हिस्ट्री ऑफ इनसंनिटी इन दि एज ऑफ रीजन (1961), 'दि बर्थ ऑफ दि क्लिनिक: एन आर्थिकालॉजी ऑफ मेडिकल परसोपशन (1961) 'दि बर्थ ऑफ दि क्लिनिक: एन आर्थिकालॉजी ऑफ मेडिकल परसोपशन (1963), 'दि आर्थिकालॉजी ऑफ नॉलेज (1969), 'दि डिस्कोर्स ऑफ लैंग्वेज (1969), 'डिसिप्लिन एंड: दि बर्थ ऑफ बनिश्ड (1975) तथा 'हिस्ट्री ऑफ सेक्सुअलिटी (1975, वान्यूम-1), पियरे माशेर 'एथियरी ऑफ लिटोरी प्रोडक्शन (1966)' ने कल्थूसर को प्रभावित किया । ल्यूतार ने 'द पोस्ट मॉडर्निज्य एक्सप्लेंड दु चिल्ड्रन (1992) में, ओआनलिंडा ने 'पोयटिक्स ऑफ पोस्ट मॉडर्निज्म (1985) में अत्विन टाफलर ने न्यू वेय (1980) में, आर्नड टायन्बी ने 'ए हिस्ट्री' (1947) में उत्तर-आधुनिक का प्रयोग किया । लेजली फेडलर के यहाँ 1965 में उत्तर-आधुनिक शब्द का उल्लेख मिलता है । पोस्ट इंडस्ट्रियलिज, पोस्ट कोलोनियलिज्म पोस्ट इंपीरिमलिज्म, लेट कैपिटलिज्म की अवधारणा ने पूरा इतिहास बदल डाला । डेनियल बेल ने 1977 में पोस्ट इंडस्ट्रियल सोसायटी, आल्विन टाफला ने 1981 में 'दि एड वेब', 'फ़्यूमर षाक ने 1971 में और पावर (शिफ्ट) ने 1990 में, वैरानगर ने 'दि एंड ऑफ माडर्निटी : निहिलिज्म एंड हर्मेन्यूटिज्म इन पोस्ट माडर्न कल्चर और विक्टर लर्गिन ने 1986 में 'दि एंड ऑफ आर्टकिमरी

: क्रिटिसिज्म एंड पोस्ट मॉडिर्निटी' तो 1990 में आल्विन कनर्नन ने 'दि डेथ ऑफ निटोचर' लिखा ।

पश्चिम में आधुनिकतावाद के पश्चात यह एक ऐसा दौर है जिसमें सब कुछ पोस्ट हो चुका था । मीडिया, सूचना, हाईटेक बाजार और कॉरपोरेट, पूंजी का वर्चस्व हो चुका था । समय और स्थितियाँ बदल चुकी थी, समाज और संस्कृति का रूपांतरण हो चुका था । पर हिन्दी में ये समय साठोत्तरी आंदोलन का है । और उत्तर आधुनिकता चर्चा की शुरुआत 80 के दशक में होती है और इस शताब्दी के अन्तिम दशक में उदारीकरण के साथ स्थिति गहराती है और 2000 के आस-पास इसकी चर्चा समाप्त हो जाती है । लेकिन इसके विमर्श चर्चा के केंद्र में होते हैं जैसे दलित विमर्श, स्त्री विमर्श, आदिवासी विमर्श अल्पसंख्यक विमर्श आदि ।

21.3 उत्तर-आधुनिकता का अर्थ, परिभाषा स्वरूप

उत्तर-आधुनिकता का अर्थ, परिभाषा और उसके स्वरूप पर विचार करने के लिए पहले उत्तर-आधुनिक परिदृश्य कैसे तैयार हुआ इसे जान लेना आवश्यक है । तभी हम इस पर विचार कर सकते हैं । आधुनिकता, औद्योगिक युग में पहले की तरह 'उत्पादन केंद्र में नहीं रहा, केन्द्रीय स्थान उपभोक्ता समाज ने ले लिया । उद्योगों की संख्या बढ़ने से उत्पादन अधिक होने लगा । बाजार में वस्तुओं की कमी नहीं रही । वस्तुओं की कमी दिखाने वाले उद्योगपतियों का बाजार और वस्तुओं पर एकाधिकार समाप्त हो गया । इससे वस्तुओं की गुणात्मकता बढ़ी, तो बाजार में स्पर्धा भी बढ़ी, उपभोक्ताओं का महत्व बढ़ा । यह सब इसलिए भी संभव हुआ कि पूँजीवादी व्यवस्था संकट के दौर से गुजर रही थी, इसलिये उनके यहाँ बाजार के विस्तार की सम्भावनाएँ बढ़ी ही नही थीं । इसलिए लाभ के लिये क्या हो, तो पूँजीवाद ने अपनी राजनैतिक लाभ के लिए विकासशील देशों पर दबाव बनाना शुरू किया कि वे अपना बाजार विकसित देशों के लिए खोलें । अब मशीन का स्थान तकनीक ने लिया, माध्यम विज्ञापन बने, 'सेल' का स्थान 'मार्केटिंग ने ले लिया । बाजार ने अपने विस्तार में नये उपभोक्ता वर्ग को पैदा किया । सीमित जरूरतों वाले उपभोक्ताओं के अंदर एक नये बाजार के प्रति नई इच्छा शक्ति पैदा की । नये सेवा क्षेत्रों का विस्तार किया । इस तरह वस्तु की तुलना में 'सेवा' उत्पादन बन गई । बौद्धिकों ने ऐसे समाज को 'उपभोक्ता समाज' कहा । लेकिन क्या उपभोक्ता समाज का शोषण उत्तर-आधुनिक समाज का बाजार नहीं करता? आखिर उत्तर-आधुनिकता ने ज्ञानोदय और तर्कवाद को इसीलिए नकारा कि इससे शोषण तंत्र का इस हद विकास हुआ कि मनुष्य संवेदन शून्य होने लगा । फ्रांसूआ ल्योगन ने इसी आधार पर वृत्तांतो, महावित्तांतों को अस्वीकार किया, कि उन्होंने आदर्शो के नाम पर शोषण और भेदभाव का पोषण ही किया है । उत्तर-आधुनिकता सार्वभौमिक स्तर पर इसकी तलाश करती है, उपनिवेशों, विकासशील देशों के पिछड़ों, वंचितों, शोषित, स्त्री, दलित, हाशिए के लोगों को उत्तर-आधुनिकता महत्व देता हैं, आदर्श आभिजात्य को केंद्र से बेदखल करता है । उत्तर-आधुनिकता उपनिवेशवादी या शोषणवादी तर्क का खंडन करती है । इसीलिए आधुनिकता से अलग तकनीक और माध्यम को महत्व देती है उत्तर- आधुनिकता । वह पूंजीवाद को और उपनिवेशवादी पूंजीवादी ढर्रे के

विरूद्ध तकनीक को महत्व देती है । इसी क्रम में तकनीक के युग को माध्यमों के युग से जोड़ते हैं और उत्तर-आधुनिकता को वे माध्यमों का युग कहते हैं । माध्यम को ही संदेश कहते हैं । यानी अब तक 'माध्यम जो साधन था अब वह साध्य हो गया । बौद्रिया के अनुसार, 'माध्यमों ने ऐसे अति यथार्थ को प्रस्तुत करना शुरू कर दिया है जो यथार्थ पर नहीं टिका है । अब माध्यम, सूचना के स्थान पर प्रचार और दबाव पैदा करते हैं । अंतर्वस्तु का स्वरूप अब माध्यम से पृथक नहीं है, बल्कि माध्यम के रूप पर भी निर्भर करता है । " इस तरह उत्तर-आधुनिकवाद के विचारों ने अब तक के इतिहास, विचारधारा, तर्क, शास्त्रवाद, पूंजीवाद, औद्योगिक युग, वैज्ञानिक क्रांति और इगनोदय की निष्पतियों को नकारा ही है और आगे की स्थितियों पर विचार किया है । इसलिए कुछ विचारक उत्तर-आधुनिकता को आधुनिकता के विरूद्ध तो मानते ही हैं, आधुनिकता के अन्तर्गत उठे कुछ मुद्दों और समस्याओं का. विस्तार भी मानते हैं । उत्तर-आधुनिकता की कोई एक सर्व समावेशी परिभाषा नहीं है । यद्यपि आधुनिकतावाद एक समावेशी आन्दोलन था, फिर भी वह कोई सर्व समावेशी रूप से स्वयं को परिभाषित करने में अक्षम रहा । इसलिए उत्तर-आधुनिकवाद को आधुनिकता का पुनर्लेखन कहा गया । उसने आधुनिकता के विभिन्न पक्षो को छोड़ दिया या उससे जो छूट गया था, उत्तर-आधुनिकता उन पक्षों को सामने लाती है, या कह सकते हैं आधुनिकता जहाँ महज वर्गीय केन्द्रित रहा, वहाँ उत्तर-आधुनिक हाशिए के लोगों से जुड़ा रहा । समाज के वंचित, दलित, पिछडे, अल्पसंख्यक, स्त्री के मुद्दों के साथ यह समाज, जीवन की समग्रता लेकर कोई एक विचार नहीं देता, वह क्रांति की पूर्णता और अपूर्णता में विश्वास नहीं करता । पूर्णता, अपूर्णता के कारणों की तलाश करता है । इस उपक्रमं में वह मानवीय इतिहास, दर्शन, अध्यात्म, ईश्वर, महावृत्तांतों में भी अविश्वास प्रकट करता है और कला और साहित्य का भी निषेध करता है।

21.4 उत्तर- आधुनिक की विशिष्टताएँ

उत्तर - आधुनिकता की एक नई पहचान इस रूप में बनती है कि उसने अब तक अनुत्तरित, उपेक्षित प्रश्नों, समस्याओं को उठाया और उन्हें महत्व दिया जैसे इस क्रम में -

उत्तर - आधुनिकता ने पाठ को महत्व दिया ।

कृति के विखंडन की प्रक्रिया में 'पाठ' के भीतर विद्यमान 'उपपाठ और भाषा में छिपी संवेदना और विचारधारा की तलाश की । उसके किसी एक निश्चित अर्थ में विश्वास नहीं किया । अन्य लेखन या पाठों की तरह साहित्य को भी 'लेखन या 'पाठ' माना और इस बात पर बल दिया कि 'पाठ' क्रम में बहुलार्थ तथा अनिश्चित होता है ।

भाषा को महत्व तो दिया पर भाषा की सीमा मानी ।

विकेद्रीयता की प्रक्रिया में केन्द्र के बजाय परिधि को महत्व दिया ।

स्थानीयता और क्षेत्रीयता को महत्व दिया ।

अश्वेत, अल्पसंख्यक, स्त्री, दलित, आदिवासी प्रश्नों को महत्व दिया । इस क्रम में अस्मिता की पहचान और अपनी जड़ों की तलाश की ।

लोकप्रिय संस्कृति के अभिजात्य संस्कृति के छदम् को समर्थन किया ।

पराभौतिकवाद पर अविश्वास किया ।

बहुलतावाद और बहुसंस्कृतिवाद को महत्व दिया ।
वर्चस्व की संस्कृति की शक्ति, सत्ता और प्रभुत्व की आलोचना की ।

21.5 हिन्दी में उत्तर-आधुनिकता उसकी समय सीमा

पश्चिम में आधुनिकतावाद की अवधारणा द्वितीय विश्व युद्ध के बाद आती है, जो साहित्य के अन्तर्गत दर्जनों अवाँगार्दवादी आंदोलन के रूप में मौजूद थी । दूसरे महायुद्ध के बाद इन्हें एक समावेशी आंदोलन के रूप में आधुनिकता के नाम से अभिहित किया गया था । सन् 1950 ई. तक आधुनिकतावाद का आंदोलन खत्म हो जाता है । हिन्दी में तार सप्तक के प्रकाशन को लेकर सात के दशक का समय आधुनिकतावाद का समय कहा जा सकता है । सन् 1950 के आस-पास ही उत्तर-आधुनिकता का दौर शुरू हो जाता है । या यह कहना चाहिए कि डेनियल बेल की विचारधारा का अंत (1960) से लेकर फ्रांसिस फुकुयामा के 'इतिहास का अंत (1991) तक के दौर को उत्तर-आधुनिकता की बहस कायदे से बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में होती है और इसी दशक में उत्तर-आधुनिकता पर सुधीश पचौरी, देवेन्द्र इस्तर, अनिल राजिमवाले कैलाश बाजपेयी, गोपीचंद नारंग, आदि की किताबें आती है । परंतु लघु पत्रिकाओं में उत्तर-आधुनिकता पर बहस की शुरुआत 80 के दशक मं हो जाती है - नामवर सिंह, मैनेजर पांडेय, रवींदनाथ श्रीवास्तव, बच्चन सिंह, के.जी. वर्मा, सुधीश पचौरी, कृष्णदत्त पालीवाल, शम्भुनाथ, इन्द्रनाथ चौधरी आदि से । हिन्दी में उत्तर-आधुनिकता को प्रचारित, प्रसारित करने का श्रेय सुधीश पचौरी को जाता है ।

21.6 उत्तर - आधुनिकतावाद की अवधारणा

जिस तरह आधुनिकतावाद की कोई एक अवधारणा नहीं है, उसी तरह उत्तर-आधुनिकतावाद की भी कोई एक अवधारणा नहीं है । एक तरह से उत्तर-आधुनिक परिदृश्य रचने से लेकर संरचनावादी, उत्तर-संरचनावादी, विखंडनवादी, लेखक, विचायारा सैद्धांतिक और इतिहास के अंत के विमर्शवादियो नवसाम्राज्यवाद, नवउपनिवेशवाद. सांस्कृतिक साम्राज्यवाद, मीडिया, सूचना, माध्यम, पंजी, तकनीक और बाजारवाद के आलोचकों के विमर्श से लेकर उत्तर-आधुनिकवादी अवधारणा निर्मित होती है । या इसे यों भी कहा जा सकता है कि संरचनावाद, उत्तर-संरचनावाद, मार्क्सवाद, संकेत-विज्ञान और अर्थ मीमांसा, दर्शन ने साहित्य का जो काव्यशास्त्र निर्मित किया ' था उसे ही उत्तर-आधुनिकता ने आगे बढ़ाने का काम किया। 'पोस्ट इडस्ट्रियलिस्थ्य, 'पोस्ट कोलोनियलिज्य', 'पोस्ट इम्पीरियलिस्थ्य और लेट कैपिटलिस्थ्य की अवधारणा ने उत्तर- आधुनिकतावादी अवधारणा को मजबूत किया । यह सही है कि नए ढंग के पूंजीवाद का विकल्प पुराने ढंग का समाजवाद नहीं हो सकता । इसीलिए पश्चिम में मान लिया गया है कि महावृत्तांत, विखंडन उपभोक्तावाद, मुक्त बाजार, सूचना-संस्कृति और उत्तर पूंजीवाद जैसे विमर्श में आधुनिकतावाद के समय तक की उपलब्धियों का प्रतिकार है । ज्ञानोदय से लेकर आधुनिकतावाद तक बहुत कुछ बदल गया। लेकिन उत्तर-आधुनिकवाद का कहना है कि ज्ञानोदय युग की सभी उपलब्धियों व सम्भावनाओं को नकारना, उत्तर-आधुनिकवाद का केन्द्र बिन्दु है । इस तरह यह विज्ञान, पूंजीवाद,

समाजवाद और जनतंत्र की ऐतिहासिक भूमिका को भी नकार देता है । उसका कहना है कि इस युग की महान उपलब्धियाँ मात्र छलावा है । दुनिया में शक्ति प्रधानता, दबाव और दमन चारों तरफ आज भी है । ' (उत्तर-आधुनिकवाद और संस्कृति, लेख-हरिशचन्द्र श्रीवास्तव, निष्कर्ष, अंक 24, पृ. 17)

इसीलिए उत्तर-आधुनिकता 'पाठ' पर केन्द्रित करता है और मानता है कि इससे बाहर कुछ नहीं । 'टेक्स्ट का अर्थ उसकी 'रीडिंग में है । इसलिए अर्थ कृतिकार के पास नहीं 'पाठक के पास होता है । और पाठक यह अर्थ 'टेवस्ट' की रीडिंग की प्रक्रिया में प्राप्त करता है । यह प्रक्रिया अंतिम होती है, इसीलिए साहित्य की स्थापित सैद्धांतिकक्रिया संकटग्रस्त हो जाती है, क्योंकि उत्तर-आधुनिकता किसी केन्द्रीयता में विश्वास नहीं करती । जॉक देरिदा की एक प्रसिद्ध धारणा है केन्द्रविहीनता ट्रेन्सेक्टरिंग की । वह मानता है कि कोई केन्द्रीय मूल्य, दर्शन, विचारधारा, संस्कृति नहीं होती है । इसीलिए वर्चस्व. शक्ति प्रधानता, दबाव और दमन की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है । देरिदा के लिए पाठ केवल साहित्य तक सीमित नहीं है । बल्कि यह समाज और संस्कृति के क्षेत्र में फैली हुई धारणा है । उनकी दूसरी प्रसिद्ध धारणा 'डिकंस्ट्रक्शन' की है । जो पाठ के विखंडन की प्रक्रिया में अप्रकट अर्थ को ही उजागर नहीं करती, बल्कि उसकी असंगतियों और अन्तर्विराधों को उज;गर करने के साथ आलोचनात्मक चेतना को जगाने का कार्य करती है । इसी संदर्भ में उत्तर- आधुनिकतावादियों की दो और महत्वपूर्ण धारणाओं 'आइडेंटिटी एंड डिफरेंस (अस्मिता और अंतराल) और 'सेल्फ एंड अदर्स' (आत्मा और अन्य) का उल्लेख बहुत जरूरी है । साहित्य, समाज, संस्कृति और राजनीति के परिदृश्य को देखें तो दलित, ब्लैक, प्रवासी, स्त्री, अल्पसंख्यक केवल समूह मात्र नहीं हैं बल्कि 'आत्मा और अन्य' के अर्थबोध की कोटियाँ हैं । इन्हें हमेशा अन्य के रूप में देखा जाता और बहिष्कृत किया जाता है । हाशिए के लोग, बहिष्कृत लोग, वंचित, शोषित लोग तो आत्म के 'विक्टिम अन्य के रूप में हैं । इसलिए ये समूह जब तक अपनी 'अस्मिता का दूसरे समूहों के साथ सम्बन्ध की व्याख्या नहीं करेंगे, तब तक अंतर भी समझ में नहीं आएगा । इसी तरह उपनिवेशवाद भी स्वयं को 'आत्म और उपनिवेश के विक्टिम्स को 'अन्य' के रूप में देखता था । हर समाज और देश में ऐसे जनसमूह हैं, जो अधीनस्थ जीवन बिताने के लिए विवश है । ऐसे हाशिए के लोगों, समूहों को मुक्ति दिलाना उत्तस-आधुनिकता का ध्येय है और बहु-संस्कृतिवाद की समर्थ राजनीति है । इसीलिए आज दुनिया में मुक्ति संघर्ष के रूप में सस्कृतिवाद उभर रहा है । परन्तु सांस्कृतिक आधार पर छोटे-छोटे राज्य बनाना पूंजीवादी बाजार के हित में है । तीसरी दुनिया के देश बहु-संस्कृति से भरे पड़े हैं । यदि उनका विभाजन होगा तो, तो पृथक बाजार बनेंगे और बड़े देशों पर आश्रित रहेंगे । पिछड़ा, अलग रहना, आश्रित रहना उनकी नियति बन जाएगी । उत्तर-आधुनिकतावादी अवधारणा यही बताती है कि पूंजीवाद का कोई विकल्प नहीं है ।

21.7 कुछ उत्तर-आधुनिकतावादी पाठ :

उत्तर आधुनिकता के बहस की बीच स्थिति यह है कि कुछ लोग भारतीय संदर्भ में उत्तर आधुनिकतावाद की आलोचनात्मक समीक्षा कर रहे हैं, तो कुछ लोग इसे अलग देशीवाद (नेटिविज्य) की बात करने लगे हैं, तो कुछ लोग उत्तर-आधुनिक स्थिति को स्वीकारते हैं । जैसे मनोहर श्याम जोशी 'हरिया हरक्यूलीस की हैरानी उपन्यास को उत्तर-आधुनिकता की कोटि में रखने का आग्रह करते दिखाई देते हैं, 'जैसा कि उनके उपन्यास के आवरण पर उल्लिखित शब्दों से स्पष्ट है । उत्तर-आधुनिकतावाद जैसी श्रेणी का प्रलोभन उक्त उपन्यासकार के लिए इतना अप्रतिरोध्य है कि वह अपने उपन्यास को शिल्प एवं आख्यान की दृष्टि से उत्तर-आधुनिक बताता हैं और इस प्रकार वे स्वयं निर्धारित करते हैं कि उनके उपन्यास को उत्तर-आधुनिक उपन्यास के रूप में सराहा जाए एवं उसका मूल्यांकन उत्तर-आधुनिक समीक्षात्मक उपकरणों द्वारा हो । ' (आलोचना, जनवरी-मार्च 2003 पृ0 149) इसी तरह 'देरिदा का विखंडन और साहित्य' (विखंडन में कामायनी) पुस्तक के बारे में सुधीश पचौरी बताते हैं कि विखंडन में कामायनी 'ओरीएंटलिज्य' में बन्द एक ऐसा 'टैक्स' है जो उसकी गिरफ्त से बाहर आने की छटपटाहट में संलग्न है । इसीलिए विखंडन में कामायनी का एक उत्तर-आधुनिक पाठ सम्भव है, क्योंकि कामायनी विशेषणों और रूपकों की दोहरी कैद में 'टैक्स' है ।

इसी तरह वे प्रेमचन्द के 'गोदान', श्रीलाल शुक्ल के 'रागदरबारी, मनोहर श्याम जोशी के 'क्याप, 'कुरु-कुरु स्वाहा, विनोद कुमार शुक्ल के 'नौकरी की कमीज', 'खिलेगा तो देखेंगे, 'दीवार में खिड़की रहती थी', गीतांजलि श्री के 'हमारा शहर उस बरस', ओमप्रकाश वाल्मिकी के 'जूठन, के उत्तर-आधुनिक पाठ पर जिरह करते .हैं ।

'टैक्स' के उत्तर-आधुनिक पाठ के संदर्भ में उदय प्रकाश की एक लघु कथा 'उत्तर-आधुनिक उपभोक्तावाद की याद स्वाभाविक है । ' 'दीपावली की रात को कुछ लड़कों ने एक कुते की पूंछ में पटाखों की एक लड़ी बांध दी और उसके एक छोर में आग लगा दी । कुता भौंका, चिल्लाया, दौड़ा और अंतत: गिर पड़ा । विनायक दत्तात्रेय ने जो उस समय वहाँ उपस्थिति थे, उसकी ओर हड्डी के टुकड़े फेंके । कुत्ता हड्डियाँ चबाता रहा और छूटते पटाखों के भय से चीखता भी रहा । विनायक इस अनोखे दृश्य पर हंसे । जब लोगो ने उनसे हंसी का कारण पूछा तो वे बोले ' 'इस कुत्ते को देखों यह तीसरी दुनिया का सच्चा उपभोक्ता है । यह उत्तर-आधुनिक उपभोक्तावाद का दुर्दांत उदाहरण है । ' यह रचना उत्तर-उपनिवेशवाद का उत्तर आधुनिक उपभोक्तावादी पाठ है । उत्तर आधुनिकता और उत्तर संरचनावाद दोनों में 'केन्द्र' पर प्रहार है । अब हाशिए या पार्श्व का जो महत्व है, उसमें केन्द्र कहीं नहीं है । अब उत्पादन नहीं, उपभोक्ता की उपस्थिति का बोध है । इस क्रम में उदय प्रकाश की अन्य कहानियों का उत्तर-आधुनिक पाठ किया जा सकता है । पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु द्वारा उदय प्रकाश की कहानी दारेन हेस्टिंग्स का साँड के उत्तर-आधुनिक पाठ को भी देखा जा सकता है । वे उत्तर-आधुनिकतावादी आलोचना के चार अभिलाक्षणिक उपकरणों -

1. लीलाभाव (सिडक्शन) बनाम उत्पादन (प्रोडक्शन) की सद्दियता ।
2. सांस्थानिक परम्परा का अतिक्रमण ।
3. सांस्कृतिक अनुशासन से पलायन और
4. श्रवणशीलता (ऑडो) बनाम चाक्षुषता (विप्रओलिटी) के माध्यम से इस कहानी का उत्तर-आधुनिक पाठ तैयार करते हैं । पर कोई भी अपने आप में शुद्ध पाठ नहीं है, क्योंकि प्रत्येक पाठ की रचना अंतर-पाठों (इंटरटैक्स्ट) से होती है । जूलिया क्रिस्तवा, जॉक देरिदा इन सब की मान्यता 'पाठ' को 'अंतर-पाठ' के रूप में देखने और समझने के रूप में देते हैं । उन्होंने इस कहानी के बारे में लिखा है - उदय प्रकाश की वारेन हेस्टिंग्स का साँड कहानी में उत्तर-आधुनिकता एक व्यापक इतिहास, दार्शनिक (हिस्टीरियोग्रैफिक) फलक के पृष्ठाधार में उपस्थित हुई है । इसलिए यह कहानी फैन्टेसी है, उतनी ही अधिक यथार्थ भी । जितना इतिहास दार्शनिक है, उतना ही समकालीन भी । इस कहानी की बनावट का जितना सुदीर्घ कहानी का सघन सृजनात्मक पाठ-वितान है, उतनी ही गूँजों-अनगूँजों से भरी इसकी अन्तर-पाठीय लय-तान भी । यह किस्सा (वृतांत) है और साम्प्रतिक जीवन का झिलमिलाता हुआ सच भी । इस वृतान्त में आदि से अंत तक गुजरा हुआ जमाना है पर इसी के बीच से कहानीकार ने ऐसा नजारा पेश किया है । जिसमें हमारे युग के सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनीतिक-चिहों का याराना भी है । इसमें इतिहास है, तो मिथक भी । यहाँ बहुतेरी घटनाओं और समस्याओं को एक जादुई ऐन्द्रजालिक लोक में देखने का सुख है तो उसके कटु यथार्थ को अपने संयम और समाज में पहचान लेने का दुःख भी । इसलिए अपनी आतरिक संरचना में यह एक उत्तर-आधुनिक घटना है । इसमें' लीलाभाव की छलना है । इसमें सास्थानिकता ओर परम्परा का अतिक्रमण है । इसमें संस्कृति से पलायन की पदचाप है । यद्यपि इस कहानी में अतिक्रमण और पलायन के अभिलक्षण अपने ऐतिहासिक-दार्शनिक फलक पर आधुनिक चेतना को किरणों के बतौर झिलमिलाते नजर आते हैं, पर अपनी सोद्देश्यता के साम्प्रतिक फलक पर ये पूरी तरह उत्तर आधुनिकता की लीलाएँ हैं, जिनका प्रस्तुतिकरण भी उत्तर-आधुनिक शैली में हुआ है ।. उत्तर आधुनिक साहित्य-दृष्टि और सममी-दृष्टि के बीच वारेन हेस्टिंग्स का साँड (अभिधा, अगस्त, 2000 पृ. 31) के साथ हिन्दी में कई रचनाओं के उत्तर आधुनिक 'पाठ' देखे जा सकते हैं ।

21.8 सारांश

उत्तर-आधुनिकता ज्ञानोदय की उपलब्धियों सरोकारों, विचारधाराओं स्वप्नों को अस्वीकार करता है, यह पूँजीवाद, समाजवाद, जनतंत्र, विज्ञान की ऐतिहासिक भूमिका को नकारता है, तो इनकी आधार भूमि से नहीं, अपनी बनाई आधार भूमि से इनको समझना चाहता है । यह मानता है कि उपलब्धियाँ, सरोकारों, स्वप्न, विचारधारा, सब छलावा है, क्योंकि दुनियाँ में आज भी चारों ओर उसी तरह की शक्ति की प्रधानता, वर्चस्व, दमन, कायम है । उत्तर

आधुनिकता इनको समझने के लिए नई दृष्टि देता है । अनुपस्थिति की तलाश करता है । दलित आदिवासी, अल्पसंख्यकों, इथनिक-समूहों, स्त्री, ब्लैक, प्रवासी आदि समूहों को नया अर्थबोध देता है । बहुसंस्कृतिवाद या सांस्कृतिक बहुलता का समर्थन करता है । इस तरह साहित्यक रचनाओं को उत्तर-अधुनिक पाठ के रूप में पढ़ने का आग्रह करता है । उत्तर-आधुनिकता दमन, शोषण, वर्चस्व को मिटाने का दावा तो नहीं करती, पर इसको कम से कम करने की संभावना का प्रयास अवश्य करती है ।

21.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. उत्तर-आधुनिकतावादी दृष्टि से साहित्यिक कृतियों का अध्यय्यन से क्या तात्पर्य है?
2. उत्तर-आधुनिकतावाद किसी रचना का अध्ययन किस प्रकार करता है?
3. उत्तर-आधनिकतावादी दृष्टि से साहित्य के अध्ययन का उद्देश्य क्या है?
4. उत्तर-आधुनिकतावाद साहित्य को लेखन का हिस्सा क्यों मानता है?
5. उत्तर-आधुनिकतावाद ने किन विमर्शों को जन्म दिया?
6. उत्तर-आधुनिकता ने ज्ञानोदय की उपलब्धियों, सरोकारों और सपनों को क्यों नकारा? स्पष्ट कीजिए ।
7. किसी साहित्यिक कृति का उत्तर-आधुनिक पाठ तैयार कीजिए?

21.10 संदर्भ ग्रंथ

1. गोपीचंद नारंग : संरचनावाद, उत्तर-संरचनावाद एवं प्राच्य काव्य शास्त्र, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली
2. देवेन्द्र इस्सर : उत्तर-आधुनिकता का उत्तरोत्तर, सारांश प्रकाशन, दिल्ली ।
3. कैलाश वाजपेयी : आधुनिकता का उत्तरोत्तर, सारांश प्रकाशन, दिल्ली ।
4. सुधीश पचौरी : उत्तर-आधुनिक परिदृश्य, सचिन प्रकाशन, नई दिल्ली ।
5. सुधीश पचौरी : उत्तर-आधुनिक साहित्यिक विमर्श, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली ।
6. सुधीश पचौरी : उत्तर-आधुनिकता और उत्तर-संरचनावाद, हिमाचल पुस्तक भंडार,दिल्ली।
7. सुधीश पचौरी : आलोचना से आगे, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली ।
8. सुधीश पचौरी : उत्तर-यथार्थवाद, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली ।
9. सुधीश पचौरी : देरिदा का विखंडन और साहित्य, आधार प्रकाशन, पंचकूला ।
10. सुधीश पचौरी : उत्तर-आधुनिक समाज और संस्कृति, प्रवीण प्रकाशन, नई दिल्ली ।
11. सुधीश पचौरी : उत्तर-आधुनिक दौर में साहित्य, प्रवीण प्रकाशन, नई दिल्ली ।
12. सुधीश पचौरी : साहित्य का उत्तर-कांड, प्रवीण प्रकाशन, नई दिल्ली ।
13. मैनेजर पाण्डेय : संकट के बावजूद, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली ।
14. अनिल शखिमवाले : वैज्ञानिक-तकनीकी क्रांति और उत्तर-औद्योगिक समाज. हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय
15. कृष्णदत्त पालीवाल : उत्तर-आधुनिकता की ओर, आर्य प्रकाशन मंडल, दिल्ली ।

16. एस.एल.दोशी : आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकता एवं नव-समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, रावत पब्लिकेशन, जयपुर ।
17. बैजनाथ सिंहल : उत्तर-आधुनिकता स्वरूप और आयाम, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला ।
18. रवि श्रीवास्तव : उत्तर-आधुनिकता विभ्रम और यथार्थ, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, जयपुर, नई दिल्ली ।
19. देवीशंकर नवीन व सुशांत कुमार मिश्र : उत्तर-आधुनिकता: कुछ विचार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली ।

लेख :

1. नामवर सिंह : शताब्दी का अवसान और उत्तर-आधुनिकता, पूर्वग्रह, अंक 1995, भोपाल।
2. नामवर सिंह : साहित्य की मुक्ति या कछुआ धर्म, समाज'-1 सं. अशोक वाजपेयी, नई दिल्ली ।
3. नामवर सिंह : उत्तर-आधुनिकता और हिन्दी साहित्य, मध्यम, अक्टूबर-दिसम्बर, इलाहाबाद ।
4. कुँवर नारायण : साहित्य और विचार, समास- 1, सं. अशोक वाजपेयी, नई दिल्ली ।
5. अवधेश कुमार सिंह : उत्तर-आधुनिकतावाद, उत्तर-उपनिवेशवाद और भारत, आलोचना, जनवरी-मार्च,2003
6. पाण्डेय शशिभूषण शीतांशु : उत्तर-आधुनिक साहित्य दृष्टि समीक्षा - के बीच तारेन हेस्टिंग्स का साँड', अभिधा. अगस्त,2000
7. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय : पाठ की स्वायत्तता (विचारधारा और समकालीन लेखन)
8. शंभुनाथ : उत्तर-आधुनिकतावाद का (संस्कृति की उत्तर कथा) वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
9. सुधीश पचौरी : कुछ उत्तर-उपन्यास कुछ उत्तर-आधुनिक क्षण और कुछ उत्तर-औपनिवेशिक पाठ, शताब्दी कथा साहित्यद्व वर्तमान साहित्य ।
10. बच्चन सिंह : उत्तर-आधुनिकतावाद और मार्क्सवाद का संकट, नाभाटा अगस्त, 1993
11. इंद्रनाथ चौधरी : उत्तर-आधुनिकता और जड़ों की खोज, जनसत्ता, 8 मार्च, 1992
12. इंद्रनाथ चौधरी : उत्तर-आधुनिक साहित्य का परिदृश्य रचने की कोशिश, नाभाटा, 4 फरवरी, 1993
13. खगेन्द्र ठाकुर फुकुयामा का वैचारिक अन्तर्विरोध और तानाशाही का स्त्रोत, मित्र- 1 सं. मिथिलेश्वर
14. पाण्डेय शशिच्याण 'शीतांशु', पॉल डीमान की विसंरचनात्मक अवधारणा, माध्यम, अक्टूबर-दिसम्बर 2006
15. ज्या फ़्रमुआ लोतार टाइम टुडे. पूर्वग्रह व 108, भोपाल
16. विनोद शाही विखण्डनवाद और रस-विकल्प, पूर्वग्रह 114, भोपाल
17. लेखक जॉक देरिदा के साथ डेरिश एट्रिज की बातचीत, पूर्वग्रह 103, भोपाल

18. जॉक देरिदा विधि के समक्ष, पूर्वग्रह 117, भोपाल ।
19. जॉक देरिदा से बातचीत - मादक द्रव्यों का वाग्जाल, पूर्वग्रह 109, भोपाल
20. विपिन चन्द्र : इतिहास का अंत (आधुनिक भारत में विचारधारा) अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली ।

इकाई-22 हिन्दी आलोचना का उद्भव एवं विकास

22.0 उद्देश्य
22.1 प्रस्तावना
22.2 आलोचना का उद्भव एवं विकास
22.2.1 भारतेन्दु युग
22.2.2 द्विवेदी युग
22.2.3 शुक्ल युग
22.2.4 शुल्कोतर युग
22.3 सारांश
22.4 अभ्यासार्थ प्रश्न
22.5 सन्दर्भ ग्रन्थ

22.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप हिन्दी आलोचना के उद्भव एवं विकास का परिचय प्राप्त करेंगे । इस इकाई के अध्ययन से आप

- हिन्दी आलोचना के उद्भव को जान सकेंगे,
- भारतेन्दु युगीन हिन्दी आलोचना के सम्बन्ध में जान सकेंगे,
- द्विवेदी युग में आलोचना के विकास से परिचित हो सकेंगे,
- शुक्ल युगीन आलोचना से अवगत हो सकेंगे
- शुक्लजी के पश्चात् की आलोचना के विकास को समझ सकेंगे ।

22.1 प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य में आलोचना एक महत्वपूर्ण विधा है । साहित्य के विकास एवं गुणवत्ता में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है । आधुनिक हिन्दी आलोचना का सूत्रपात भारतेन्दु युग में ही हुआ । यह स्वाभाविक ही है क्योंकि हिन्दी में समुचित ढंग से गद्य का विकास उन्नीसवीं शताब्दी में ही हुआ । हिन्दी आलोचना की तब से लेकर अब तक की मात्रा के विभिन्न चरण रहे हैं, साहित्य के विभिन्न रूपों से साक्षात्कार किया है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. रामविलास शर्मा, आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेन्द्र, डॉ. नामवर सिंह जैसे प्रतिभासम्पन्न आलोचकों ने इसे सुदृढ़ आधार प्रदान किया । हम यहाँ हिन्दी अलालोचना की यात्रा का अवलोकन करेंगे। आइये हिन्दी आलोचना का परिचय प्राप्त करें।

22.2 आलोचना का उद्भव एवं विकास

हिन्दी आलोचना का आरम्भिक रूप सैद्धांतिक आलोचना के रूप में मध्यकालीन साहित्य में मिलता है । मध्यकाल के पूर्वार्द्ध की काव्य रचना सामाजिकों और भक्तों दोनों में समान रूप से लोकप्रिय थी । इस कारण कुछ कवियों ने कवियों का मार्गदर्शन करने के लिए लक्षण ग्रंथों की भी रचना की, लेकिन इस युग के लक्षण ग्रंथ नायिका भेद का विवेचन करने में ही अधिक

व्यस्त और समर्थ दिखायी पड़ते हैं । इसके अतिरिक्त उस युग के लक्षण ग्रंथ कस्सोव्या मैं रस, अलंकार, छंद आदि का विवेचन किया है, उन्होंने श्रृंगार रस उसके दोनों पक्षों संयोग वियोग का सोदाहरण विवेचन किया है । इस विवेचन में मौलिकता न होकर संस्कृत के लक्षण ग्रंथों का ही अनुवाद अनुकरण मिलता है । सूरदास की साहित्य लहरी एवं 'नन्ददास की रस मंजरी में नायिका भेद का प्रतिपादन संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के आधार पर हुआ, किन्तु इनका लक्ष्य नायिका भेद निरूपण का न होकर अपने आराध्य कृष्ण की प्रेम लीलाओं में योगदान है । अकबर के कुछ दरबारी कवियों - करंणेश रहीम, गोपा, भूपति आदि द्वारा भी काव्य विवेचना न होकर रसिकता का पोषण करना था । सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में केशवदास ने कविप्रिया' और रसिकप्रिया की रचना की, जिनका उद्देश्य काव्यशास्त्र के सामान्य नियमों एवं सिद्धांतों से परिचय कराना था । यद्यपि केशवदास के विवेचन में प्रौढ़ता न थी, किन्तु यह उन्होंने विशुद्ध आचार्यत्व की दृष्टि से किया था । केशवदास की इसी परम्परा का विकास परवर्ती युग के कवियों ने किया ।

इस प्रकार मध्यकाल में काव्यशास्त्रीय एवं अलंकार संबंधी ग्रंथों में समीक्षा के सिद्धांतों का प्रतिपादन मिलता है, किन्तु इनका महत्व अधिक नहीं है । एक तो इनका आधार संस्कृत काव्यशास्त्र है, जिनका ब्रज माशा पद्य में अनुवाद कर देना ही इनका लक्ष्य रहा है । इनमें मौलिकता नहीं मिलती । दूसरे, इनमें विवेचन की प्रौढ़ता, गंभीरता या स्पष्टता का अभाव है और तीसरे, इनमें गद्य का प्रयोग न होने के कारण ये समीक्षा के सच्चे स्वरूप को प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं ।

वस्तुत: मध्यकालीन ग्रंथों का इतना ही महत्व है कि इनके द्वारा हमारा साहित्यशास्त्र संस्कृत काव्यशास्त्र के सामान्य नियमों से परिचित रह सका-संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा अशुद्ध, अपूर्ण एवं अपरिपक्व रूप में प्रचलित रह सकी । इनकी एक और देन यह है कि इन ग्रंथों में विभिन्न अंगों के सरस उदाहरण भी भारी संख्या में उपलब्ध हो जाते हैं । इस दृश्टि से यह संस्कृत काव्यशास्त्र से भी आगे बढ़ जाते हैं ।

22.2.1 भारतेन्दु युग

आधुनिक हिन्दी साहित्य के जन्मदाता एवं पोषक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी साहित्य के सभी अंगों का विकास किया था, अत: आलोचना साहित्य भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की कलम से निकल कर आया । यदि संस्कृत के प्रथम आचार्य 'भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र लिखा तो बाबू हरिश्चन्द्र ने नाटक की रचना की । इसका प्रकाशन 1883 ई. में हुआ । अत: मूलत: भारतेन्दु युग (उन्नीसवीं शताब्दी) से ही आलोचना का सूत्रपात मानना चाहिए ।

भारतेन्दु युग से पूर्व व्यावहारिक आलोचना की चेतना का प्राय: अभाव ही था । संस्कृत में भी किसी कृति की पूर्ण आलोचना का रूप नहीं मिलता । टीकाओं, सूक्तियों तथा लक्षण-ग्रंथों में काव्य के कुछ अंशों की ही आलोचना मिलती थी । रीतिकाल में मानस-रहस्य में विस्तृत आलोचना है किन्तु उसमें भी शास्त्रीय और सैद्धांतिक निरूपण पर ही विशेष बल दिया गया है । आधुनिक आलोचना का बीजारोपण तो वास्तव में भारतेन्दु युग से ही माना जाता है । इसका प्रमुख कारण यह है कि आलोचना की बुद्धि, राजनैतिक चेतना और जनतांत्रिक प्रणाली

से ही आती है और उसका आरम्भ भारतेन्दु युग में ही हुआ । पाश्चात्य प्रभाव ने भी आलोचना के बीजारोपण की ओर तत्कालीन साहित्यकारों का ध्यान दिलाया । छापेखाने के विकास ने पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं को जन-साधारण तक पहुँचाने में सहायता पहुंचाई । इसका परिणाम यह हुआ कि साहित्य जन्जीवन के निकट आया । साहित्यिक पुस्तकों का विज्ञापन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होना आरम्भ हुआ । प्रकाशित पुस्तकों में चुनाव के निमित्त पत्रपत्रिकाओं में पुस्तक परिचय और आलोचना की मांग आरम्भ हुई । आरम्भ काल में आलोचना का दर्शन तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं की संपादकीय टिप्पणियों, समीक्षाओं और कही संपादक के नाम पत्रों के रूप में हुआ ।

आलोचना के प्रारम्मकर्ता के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है । इसका कारण यह है कि कुछ विद्वान भारतेन्दुजी को तथा कुछ विद्वान बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमधन को प्रथम आलोचक मानते हैं । अब तक साक्ष्य के आधार पर भारतेन्दुजी ही प्रथम आलोचक ठहरते हैं । उनमें आलोचना की चेतना थी । एक ओर उच्ची पत्रिका हरिश्चन्द्र चंद्रिका की विशयसूची में समालोचना संभूशिता को स्थान दिया गया था जो उनकी आलोचना चेतना का स्पश्ट सूचक है तो दूसरी ओर उनकी आलोचना बुद्धि की अभिव्यक्ति काव्य और नाटक में भी होती है । उन्होंने. 'भारत दुर्दशा में भारतीय जीवन की आलोचना की है और काव्य में अंग्रेजी राज्य की सीमित समीक्षा की है । नाटक शीर्षक निबन्ध में उनके आलोचक की प्रतिभा के दर्शन भी हो जाते हैं ।

भारतेन्दु युग के आलोचकों में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, बद्रीनारायण प्रेमधन और बालकृष्ण भट्ट की त्रयी का विशेष महत्व है । पं. गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, बाबू बालमुकुन्द गुप्ता ने बाद में आलोचना के इस बीज को सिंचित किया ।

इस काल में सैद्धांतिक समीक्षा की दृष्टि से भारतेन्दुजी का 'नाटक पहली और पूर्ण समीक्षात्मक कृति है । इसी प्रकार सैद्धांतिक समीक्षा का थोड़ा सा परिचय बाबू देवकीनन्दन खत्री के उस पत्र में मिलता है जो उन्होंने नागरी नीरद के सम्पादक प्रेमघनजी को लिखा था । उस पत्र में एक ओर तो उन्होंने प्रभावात्मक समीक्षा की चर्चा की है तथा उपन्यास के संबंध में तथा भेदक तत्वों की ओर संकेत दिया है । इसी प्रकार शुक्लजी के एकाध निबन्ध आरम्भ में भी प्रकाशित हुए । ये निबन्ध शुक्लजी की प्रौढ़ता के बीज स्वरूप ही हैं । शुक्लजी ने अपने शब्द-योजना शीर्षक निबन्ध में साहित्य में शब्दों के स्वरूप और उद्देश्य पर विचार किया है।

जिस प्रकार इस युग में सैद्धांतिक समीक्षा लिखी गयी उसी प्रकार न्यावहारिक समीक्षा भी देखने को मिलती है । इस सम्बन्ध में सबसे पहले 'आनन्द कादम्बिनी में प्रेमधन जी की बाणभट्ट के संबंध में लिखित प्रशंसात्मक आलोचना है । इसी प्रकार कार सुधानिधि' की संपादकीय टिप्पणी में आलोचना के रूप का थोड़ा सा दर्शन होता है । वस्तुत: प्रेमघन से पहले जितनी भी समीक्षाएँ लिखी गयी थीं वे समीक्षा के ध्येय से की गई समीक्षा पहले पहल 'आनन्द कादम्बिनी में दिखाई पड़ी । इसमें प्रेमघनजी ने बाबू रमेशचन्द्रदत्त जी.सी.एस. प्रणीत 'बंग विजेता नामक उपन्यास के बाबू गदाधर सिंह द्वारा किये गये अनुवाद की आलोचना की है । प्रेमघनजी ने अनुवाद तथा मूल दोनों के गुणों और दोषों की वृहत् समीक्षा की है ।

दूसरी महत्वपूर्ण आलोचना 'हिन्दी-प्रदीप में पं. बालकृष्ण भट्ट की दिखाई पड़ी । इन्होंने सच्ची आलोचना शीर्षक से लाला श्री निवास दास द्वारा रचित संयोगिता स्वयंवर की कटु आलोचना की । प्रेमघनजी ने जहाँ सहानुभूतिपूर्ण ढंग से बंग विजेता के गुण-दोषों की परीक्षा की, वही पं. बाल कृष्ण भट्ट ने बड़े कटु ढंग से इस नाटक के दोषों का उद्घाटन किया । आलोचना कटु होते हुए भी सच्ची है । भट्टजी की आलोचना का दूसरा रूप श्रीधर पाठक द्वारा अनुदित गोल्ड स्मिथ की डरमिट' नामक काव्य पुस्तक की समीक्षा में दिखाई पड़ा । पाठकजी ने 'एकान्तवासी योगी' नाम से इसका अनुवाद किया है । इस आलोचना में भट्ट जी ने प्रशंसात्मक शैली में गुणों का उद्घाटन किया है । इस आलोचना में पाठकजी की कविता के साथ-साथ अपनी मातृभाषा की भी स्तुति की गई है । इससे स्वदेशाभिमान स्पष्ट लक्षित होता है जो आलोचना की वैज्ञानिक दृष्टि के लिए उपयुक्त नहीं । अंग्रेजी कविता अत्यन्त उन्नत और विकसित है, उसे देशाभिमान में आकर भट्टजी ने हिन्दी से बहुत ही हीन सिद्ध कर दिया । इस प्रकार भारतेन्दुजी युग में लिखी गयी आलोचना मूलत: गुणावगुण प्रवृत्ति से सम्पृक्त है जिसे नागरी प्रचारिणी सभा ने और अधिक गति प्रदान की । अस्तु भारतेन्दु काल की आलोचना बीजारोपण ही है जिसका प्रतिफल हिन्दी आलोचना का विशाल वट वृक्ष है ।

22.2.2 द्विवेदी युग

बीसवीं शताब्दी में पुस्तक-समीक्षाओं की परम्परा से हिन्दी आलोचना का क्रम आगे बढ़ा । 1900 ई. में सरस्वती का आरम्भ इस दृष्टि से एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है । आगे चलकर 1903 ई. में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती के सम्पादन का भार ग्रहण किया। इस पत्रिका में प्रकाशित होने वाली परिचयात्मक पुस्तक-समीक्षाएँ वे स्वयं लिखा करते थे।

सरस्वती के अतिरिक्त कुछ पत्रिकाएँ पुस्तक समीक्षा के उद्देश्य से ही प्रकाशित की गई । 1902 ई. में जयपुर से समालोचक' नामक पत्र का प्रकाशन आरम्भ हुआ । माधव. मिश्र पहले ही 1900 ई. में बनारस से सुदर्शन' निकाल चुके थे । आरम्भ में इन पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाली पुस्तक समीक्षाओं का स्वर परिचयात्मक था जो कमश: प्रचारात्मक हो चला और फिर गुटबन्दी करके पुस्तकों की निन्दा-प्रशंसा की जाने लगी ।

इस प्रकार के परिचयात्मक निबन्धों के अतिरिक्त इसी समय प्राचीन और समसामयिक साहित्य पर कुछ मूल्यांकनपरक लेख भी सामने आए । वस्तुत: हिन्दी आलोचना की नींव सही अर्थो में इन्हीं लेखों से पड़ी । हिन्दी कवियों और उनके साहित्य को विषय बनाकर यह शुरूआत मिश्रबन्दुओं ने की । 1900 ई. की 'सरस्वती' में हम्मीर हठ' और श्रीधर पाठक पर और 1904 ई. के 'समालोचक' में महाकवि भूषण पर उनके आलोचनात्मक लेख प्रकाशित हुए ।

परिचय और गुण-दोश के आगे बढ़कर यद्यपि इन लेखों में विवेच्य साहित्य और साहित्यकार के मूल्यांकन का प्रयत्न किया गया, तथापि इनका आधार रीति-ग्रंथों में प्रतिपादित शास्त्रीय सिद्धांत ही रहे । आलोचना की इस पद्धति में कहीं-कहीं बदली रूचि का आभास मिलने लगा था, पर जैसा आचार्य शुक्ल ने कहा है - ''उसका स्वरूप प्राय: रूढ़िगत ही रहा ।'' (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. सं. 638)

इस पद्धति की आलोचना का चरम परिपाक 1910- 1911 के बीच 'हिन्दी नवरत्न के प्रकाशन में हुआ इसमें शास्त्रीय ढंग से काव्यालोचना को तो बल मिला, साथ ही नवरत्नों में श्रेणी-कम-निर्धारण के कारण तुलनात्मक आलोचनाओं का भी सिलसिला शुरू हो गया । देव और बिहारी के बीच श्रेष्ठता का निर्णय करने के लिए आरम्भ होने वाले इस विवाद में द्विवेदी युग के सभी मान्य आलोचकों ने भाग लिया । पं. पद्म सिंह शर्मा, पं. कृष्णबिहारी मिश्र, लाला भगवानदीन - सभी ने इस बहस में हिस्सा लेने के अलावा तुलनात्मक समीक्षा के प्रति भी रूचि दिखाई ।

द्विवेदी युग की आलोचना की रूढिबद्धता का एक कारण यह भी रहा कि काव्य और नाटक की आलोचना की एक परिपाटी रीतिशास्त्र में पहले से मौजूद थी, किन्तु इनसे भिन्न जो समीक्षात्मक लेख नए साहित्य-रूपों को विषय बनाकर लिखे गये उनमें एक अलग ढंग की आलोचना दृष्टि का परिचय मिला । ये लेख समसामयिक कथा साहित्य पर विवादों के रूप में सामने आये । इस प्रकार का एक विवाद बाबू देवकीनन्द खत्री के उपन्यास 'चन्द्रकान्ता को लेकर 1902-03 में सुदर्शन तथा 'श्री वेंकटेश्वर समाचार के बीच हुआ । 'छत्तीसगढ़ मित्र' (1902) में श्री निवासदास के उपन्यास 'परीक्षा गुरू' और नाटक रणधीर प्रेममोहिनी की समीक्षा प्रकाशित हुई । समालोचक (1903 ई.) में प्रकाशित किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास 'तारा' की विस्तृत समीक्षा श्लीलता-अश्लीलता के प्रश्न को प्रमुखता दी गई । समालोचक' के अक्ट्रबर-नवम्बर अंक में देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास काजर की कोठरी की समीक्षा प्रकाशित हुई । इसी प्रकार बालकृष्ण भट्ट के उपन्यास 'नूतन ब्रह्मचारी पर 1911 ई. की 'सरस्वती' में एक मनोरंजक समीक्षा प्रकाशित हुई ।

इसी प्रकार बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में पुस्तक-समीक्षाओं के माध्यम से आलोचना की दो स्पष्ट पद्धतियाँ उभरकर सामने आने लगी । काव्यालोचना की शास्त्रनिबद्ध रूढ़ पद्धति और कथा समीक्षा की शास्त्रमुक्त पद्धति । इनके अतिरिक्त आलोचना के नाम पर सैद्धांतिक निबन्ध और विद्वतापूर्ण शोध-निबन्ध रचना की जो प्रवृति। भारतेन्दु युग में दिखाई पड़ी थी उसका भी सम्यक प्रसार बीसवीं शताब्दी में होता रहा । शास्त्रीय विषयों को लेकर अनेक सैद्धांतिक ग्रंथों की रचना इस युग में हुई । इनमें पं. कन्हैया लाल पोद्दार की 'काव्यकल्पद्रुमं' और लाला भगवानदीन की "अलंकार मंजूषा' । इनका मुख्य लक्ष्य हिन्दी में साहित्यशास्त्र को सुलभ भर करना था । इसी प्रकार संस्कृत के अतिरिक्त पाश्चात्य काव्य सिद्धांतों का प्रभाव महावीर प्रसाद द्विवेदी के स्फुट आलोचनात्मक निबन्धों पर दिखाई पड़ने लगा था । इस युग में विद्वतापूर्ण शोध-निबन्धों की भी बहुलता रही । इनमें तीन प्रकार के लेख सामने आए 1 संस्कृत कवियों से सम्बद्ध 2. भक्ति परम्परा के कवियों से सम्बद्ध 3. नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्टो के माध्यम से प्रकाश में आने वाले साहित्य को विषय बनाकर लिखे गये शोधपूर्ण लेख । बाबू श्यामसुन्दरदास द्वारा प्रस्तुत बीसलदेवरासो का विस्तृत विवरण इसी प्रकार है । 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता के प्रश्न को लेकर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, मोहन लाल विष्णुलाल पांड्या तथा बाबू श्यामसुन्दरदास के बीच का प्रसिद्ध विवाद भी इसी समय सम्पन्न हुआ ।

साहित्येतिहास लेखन की परम्परा का विकास भी 'मिश्रबन्धु विनोद' के प्रकाशन के साथ हुआ। कहने का तात्पर्य यह है कि बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में उन सभी आलोचना-पद्धतियों का प्रचार-प्रसार हुआ, जो 19वीं शती के उत्तरार्द्ध से इस युग में विरासत में पायी थी ।

अपने युग के आलोचकों में सबसे अधिक प्रखर और निर्मम स्वर कदाचित स्वयं आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का था । द्विवेदीजी की आलोचना पद्धति में जितनी निर्भीक कट्टरता मिलती है, ज्ञानार्जन में उतनी उदार ग्रहणशीलता । उनकी आलोचना दृष्टि के निर्माण में हिन्दी और संस्कृत ही नहीं अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य का भी योग था ।

इस युग की आलोचना में मिश्रबन्धुओं का योगदान भी उल्लेखनीय रहा । श्री गणेशबिहारी मिश्र, रावराजा, डॉ. श्याम बिहारी मिश्र, और शुकदेव बिहारी मिश्र की बत्यु त्रयी को मिश्रबन्धु' के नाम से जाना जाता है । आलोचना के इतिहास में इनके हिन्दी नवरत्न' नाम ग्रन्थ का स्मरण तुलनात्मक आलोचना के प्रारम्भकर्ता होने के नाते किया जाता है । इतिहास की भूमिका में और कवियों के मूल्यांकन के क्रम में मिश्रबन्धुओं ने जिस आलोचना दृष्टि का परिचय दिया था वह प्राय: उपेक्षित रह गयी । इस ओर कम ध्यान दिया गया कि आलोचना की जो पद्धति हिन्दी नवरत्न' में प्रतिफलित हुई है उसका मूल रूप मिश्रबन्धु विनोद' में ही बन चुका था। मिश्रबन्धुओं की आलोचना मुख्य रूप से कृतिनिष्ठ थी और मूल्यांकन के निमित्त वे साहित्यिक प्रतिमानों को ही प्राथमिकता देते थे, परन्तु राजनीतिक परिवर्तनों के कारण बदलते सामाजिक-वैचारिक संदर्भो की ओर भी ये यथासम्भव ध्यान देते चलते थे । मिश्रबन्धुओं ने श्रीधर पाठक की रचनाओं एकान्तवासी योगी' और 'जगत सचाई सार को खड़ी बोली रचनाओं का आदर्श रूप माना । मिश्रबन्धुओं ने अपने नवरत्न में कवियों का जो श्रेणी निर्धारण किया था इससे हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना की नींव पड़ी । उनके उपरान्त पं. पद्यसिंह शर्मा ने बिहारी सतसई पर आलोचनात्मक पुस्तक लिखी । वे बिहारी सतसई के दोहों की तुलना संस्कृत हिन्दी और उर्दू के अन्य कवियों से निःसंकोच करते चलते हैं । इस प्रकार वे तुलनात्मक आलोचना को आलोचक का प्रधान कर्तव्य समझते थे । शैली की सारी सफाई और विदग्धता के बावजूद उनकी समीक्षा में अन्तनिर्हित चमत्कार प्रेमी रीतिकालीन दृष्टि सर्वथा स्पष्ट है। कहीं-कहीं पुराने विषयों की व्याख्या में उन्होंने अपने युग के अनुरूप आधुनिकता का आभास दिया है ।

पं. पद्यमसिंह शर्मा के अतिरिक्त तुलनात्मक आलोचना के इस दौर को जारी रखने का श्रेय पं. कृष्ण बिहारी मिश्र (1890) को है । उन्होंने अपने ग्रंथ देव और बिहारी में इन दोनों कवियों के काव्य का तुलनात्मक विवेचन किया और मतिराम ग्रंथावली की भूमिका में सर्वाधिक पृष्ठ इसी प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन को समर्पित किए । वे मतिराम की तुलना सूर-तुलसी से भी करते हैं और रसखान-रहीम से भी । देव-बिहारी चिन्तामणि से भी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर से भी । मिश्रबन्धुओं की सहृदयता की छटा रीतिकालीन कविताओं के व्याख्या-विश्लेषण में ही सर्वाधिक दिखाई पड़ती है । यत्र-तत्र आधुनिकता का आभास देते रहने पर भी वे मिश्रबन्धु एवं पं. पद्मसिंह शर्मा की तरह रीति-संस्कार के ही आलोचक कहे जाएंगे ।

पं. कृष्णबिहारी मिश्र की देव और बिहारी के जवाब में लाला भगवान (1866-1930) ने 'बिहारी और देव' नाम की पुस्तक लिखी साथ ही उन आक्षेपों पर भी विचार किया जो मिश्र बन्धुओं

ने बिहारी पर लगाए थे । बिहारी की रक्षा करने के लिए मिश्रबन्धु विनोद' का भी आश्रय लिया। बिहारी के आक्षेप-परिहार के अतिरिक्त लाला भगवानदीन ने बिहारी और केशव के काव्य पर जो टीकाएँ लिखीं उनसे उनकी रीतिकालीन काव्य की समझ और अध्यवसायी प्रकृति प्रमाणित होती है ।

इस प्रकार मिश्रबसु पद्मसिंह शर्मा, पं. कृष्णबिहारी मिश्र, लाला भगवानदीन आदि देव और बिहारी को लेकर परस्पर जूझते रहे हों, किन्तु उनके काव्य-विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन सभी का काव्य संस्कार मूलत: रीतिकालीन था ।

द्विवेदी युग में कुल मिलाकर दो प्रकार की आलोचना-पद्धतियों प्रमुख रूप से सामने आई । इनमें एक ओर तो रीतिकालीन साहित्य के अध्ययन की परम्परा को बनाए रखने वाले तथा दूसरे वे एक नयी काव्य रूचि के निर्माण की आवश्यकता का अनुभव करने वाले थे । इसके बावजूद अपनी आलोचना में किन्हीं नए मानदण्डों की खोज वे भी नहीं कर पाए थे।

निष्कर्ष रूप में द्विवेदी युग की आलोचना में कृति के गुण-दोष निरूपण, तुलना, शैली विवेचन आदि के अतिरिक्त जीवन के संदर्भ में साहित्य की उपयोगिता की परख की और तो ध्यान दिया जाने लगा था किन्तु कवियों की विशेषताओं और उनकी अन्त प्रवृति की छानबीन आरम्भ नहीं हुई थी ।

22.2.3 शुक्ल युग

भारतेन्दु युग के आलोचकों ने आलोचना की जिस जनवादी परम्परा को जन्म दिया था और पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी ने जिसका विकास किया, उसकी चरम परिणति आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (1884-1941) की आलोचना में हुई । उन्होंने अपने व्यापक और गंभीर अध्ययन, काव्य गुणों को पहचानने की अदभुत क्षमता और विश्लेषण बुद्धि के द्वारा हिन्दी आलोचना को अभूतपूर्व उत्कर्ष प्रदान किया । उन्होंने हिन्दी आलोचन्स क्षेत्र को नवीन दिशाएं प्रदान की तथा सुविकसित समीक्षा पद्धति को निर्मित किया । उन्होनें किसी कृति या उसकी रचना को तत्कालीन सामाजिक आलोक में रखकर उसकी समीक्षा की ।

शुक्लजी का सबसे महत्वपूर्ण कार्य आलोचना को साहित्यिक रूप प्रदान करना था । शुक्लजी द्वारा साहित्य का एक सुनिश्चित मानदण्ड एवं समीक्षा की एक पद्धति विकसित हुई । आचार्य शुक्ल द्वारा रचित ग्रंथों में जायसी ग्रंथावन्नई की भूमिका हिन्दी साहित्य का इतिहास, ' गोस्वामी तुलसीदास, चिन्तामणि आदि उस्थ्येनीय है । आचार्य शुक्लजी के आदर्श कवि तुलसीदासजी हैं । उन्होंने जितना अधिक महत्व इन्हें दिया तथा जैसा सूक्ष्म विश्लेषण इनके काव्य का किया वैसा वे किसी अन्य कवि का नहीं कर पाए ।

वस्तुत: हिन्दी आलोचना के जिस दौर को शुक्ल युग कहा गया है वह हिन्दी में वास्तविक आलोचना का प्रस्थान बिन्दु है । आचार्य शुक्ल के हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में आगमन से सबसे अधिक महत्थपूर्ण बात घटित होती है वह साहित्यिक रूचि में परिवर्तन । देव और बिहारी और बिहारी और देव के तुलनात्मक अध्ययन से स्थानान्तरित होकर सारा बल भक्तिकालीन साहित्य पर जा पड़ता है और इस प्रकार हिन्दी आलोचना का केन्द्र बदल जाता है । अब तक हिन्दी के आलोचक तुलना के लिए ही नहीं टीका व्याख्या के लिए भी रीति साहित्य को सर्वाधिक

उपयुक्त मानते थे । ऐसी पृष्ठभूमि में आचार्य शुक्ल ने पूरी साहित्यिक परम्परा का पुनर्गठन किया ।

आचार्य शुक्ल ने व्यवहार में ही अपनी रूचि भक्तिकालीन साहित्य तक नहीं दिखाई सिद्धांत में भी रीति ग्रंथों के बुरे प्रभाव की चर्चा की । उन का विश्वास था कि अपने देश की साहित्यिक रूचि को जकड़बंध करने में रीतिग्रंथों का बहुत बड़ा हाथ है । इन्हीं रीति ग्रंथो के कारण कवियों की दृष्टि संकुचित हो गयी । यहीं से द्विवेदी की आलोचना गुण-दोष विवेचन, तारतमिक श्रेणी, विभाग या रीति कवियों के बीच श्रेष्ठता की ऊहापोह से आगे बढ़कर सही रूप और सार्थक भूमिका ग्रहण करती दिखाई पड़ती है ।

शुक्लजी के ही समकालीन आलोचकों में बाबू श्यामसुन्दरदास और पदुमलाल पुन्ना लाल बख्शी के नाम उल्लेखनीय है । इन्होंने एक वैज्ञानिक की भांति पूर्व और पश्चिम के साहित्य-सिद्धांतों का निष्पक्ष दृष्टि से अनुशीलन करके उन्हें हिन्दी में प्रस्तुत कर दिया । हिन्दी में सैद्धांतिक समीक्षा का प्रथम प्रौढ़ ग्रंथ 'साहित्यालोचन' बाबू श्यामसुन्दरदासजी के द्वारा ही प्रस्तुत हुआ । इसी प्रकार बख्शीजी विश्व-साहित्य' की रचना की, जिसमें विश्व साहित्य का सामान्य परिचय दिया गया है । बख्शी जी की एक अन्य समीक्षा पुस्तक हिन्दी साहित्य विमर्श है । मूल रूप से शुक्ल युग के ये दो महत्वपूर्ण आलोचक हैं ।

शुक्ल युगीन आलोचना के विकास में छायावादी कवियों जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, सुमित्रा नन्दन पंत और महादेवी वर्मा के योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता । इन कवियों ने आलोचना को नई दिशा देने के लिए प्राचीन शास्त्रवादी साहित्यक मूल्यों का विरोध किया । जयशंकर प्रसाद ने काव्य, कला तथा अन्य निबन्ध', पन्त ने पल्लय के प्रवेश, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला ने परिमल की भूमिका', महादेवी वर्मा के साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध लिखकर आलोचना के क्षेत्र में सार्थक हस्तक्षेप किया ।

22.2.4 शुक्लोत्तर युग

शुक्ल परवर्ती युग में हिन्दी-समीक्षा का विकास दुत गत से हुआ । इस युग के समीक्षात्मक विकास को विभिन्न वर्गो में विभाजित करते हुए इस प्रकार विवेचित किया जा सकता है ।

(क) ऐतिहासिक समीक्षा

इस वर्ग में मुख्यत: आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डी. रामकुमार वर्मा, डॉ. भागीरथ मिश्र आदि आते हैं । आचार्य द्विवेदी ने अपने हिन्दी साहित्य की भूमिका', हिन्दी साहित्य का आदिकाल, हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास' आदि ग्रंथों द्वारा हिन्दी साहित्य पर नूतन आलोक प्रसारित करते हुए अनेक नूतन स्थापनाएं स्थापित की । विशेषत: सन्त साहित्य एवं वैष्णव भक्ति आन्दोलन के सम्बन्ध में उन्होंने अनेक नये तथ्यों का उद्घाटन किया । उनके अन्य समीक्षात्मक ग्रंथ- सूरसाहित्य', 'कबीर आदि भी महत्वपूर्ण हैं, जो कि व्यावहारिक समीक्षा के अन्तर्गत आते हैं ।

डॉ. रामकुमार वर्मा ने हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास में आदिकाल एवं भक्तिकाल का विवेचन अत्यन्त विस्तार से किया गया है । डॉ. भागीरथ मिश्र ने हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास' एवं हिन्दी साहित्य: उद्भव एवं विकास' के द्वारा हिन्दी के इतिहास को स्पष्ट किया

। इनके अतिरिक्त डॉ. श्री कृष्णलाल एवं डी. केसरीनारायण शुक्ल ने भी आधुनिक काल का स्पष्टीकरण किया है ।

(ख) सैद्धांतिक समीक्षा

इस वर्ग में मुख्यत: डॉ. गुलाबराय, डॉ. नगेन्द्र, आचार्य बलदेव उपाध्याय, डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी आदि आते हैं ।

गुलाबराय ने 'सिद्धांत और अध्ययन', 'काव्य के रूप', 'हिन्दी नाट्य विमर्श' आदि ग्रंथों में भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टिकोणों, साहित्य सिद्धांतों का विवेचन किया है । डॉ. नगेन्द्र ने रीतिकाव्य की भूमिका. 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, रस सिद्धांत, काव्य-बिम्ब, 'अरस्तू का काव्यशास्त्र जैसे ग्रंथों के द्वारा भारतीय एवं पाश्चात्य सिद्धांतों को निकट लाने का प्रयास करते हुए हिन्दी समीक्षा को एक प्रौढ़ एवं सशक्त आधार प्रदान किया है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने 'भारतीय साहित्यशास्त्र में तथा डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी ने भारतीय साहित्य', रस विमर्श आदि में भारतीय सिद्धांतों का विवेचन किया है । इस प्रसंग में डॉ. रामलाल सिंह का समीक्षा-दर्शन' डॉ. सत्यदेव चौधरी का रीतिकालीन आचार्य' डॉ. कृष्ण देव बाहरी का रस शास्त्र और साहित्य समीक्षा तथा भोलाशंकर व्यास का 'ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धांत भी उल्लेखनीय हैं । इसके द्वारा भारतीय सिद्धांतों का पुनर्विवेचन नूतन दृष्टि से हुआ है ।

(ग) व्यावहारिक समीक्षा

इस वर्ग के शुक्लोत्तर समीक्षकों में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का सर्वोच्च स्थान है । उन्होंने हिन्दी-साहित्य: बीसवीं शती, 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य', नया साहित्य: नये प्रश्न, जयशंकर प्रसाद', सूरदास आदि ग्रंथों का प्रणयन किया । वस्तुत: छायावादी रचनाओं का सर्वप्रथम सम्यक् विवेचन प्रस्तुत करने का श्रेय आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी को ही है । स्वातच्चोत्तर युग में प्रयोगवादियों के साथ संघर्ष करते हुए उन्हें नयी कविता की ओर अग्रसर करने का श्रेय भी इन्हें ही दिया जाता है । वस्तुत: वे अपने युग के सजग आलोचक थे ।

शुक्ल परम्परा के अन्य समीक्षकों में आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डॉ. विनय मोहन शर्मा, डॉ. सत्येन्द्र, डॉ. हरवंशलाल शर्मा, डॉ. पदमसिंह शर्मा, डी. त्रिगुणायत ने अपनी प्रौढ़ समीक्षात्मक कृतियों द्वारा अनेक प्राचीन एवं अर्वाचीन साहित्यकारों का नया मूल्यांकन प्रस्तुत किया । डॉ. शम्भूनाथ सिंह, डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, डॉ. प्रेमस्वरूपगुपा ने भी इस क्षेत्र में योग दिया ।

मनोविश्लेषणवादी दृष्टि से समीक्षा करने वाले आलोचकों में देवराज उपाध्याय का स्थान सर्वोपरि है । उन्होंने मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि से कथा-साहित्य का विवेचन प्रस्तुत किया । इसी प्रकार हिन्दी के कतिपय आलोचकों ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण के आधार पर हिन्दी-साहित्य के विभिन्न पक्षों की आलोचना प्रस्तुत की । डॉ. रामविलास शर्मा. शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचन्द गुप्त, अमृत राय उल्लेखनीय है । इनमें भी रामविलास शर्मा विशिष्ट है । डॉ. रामविलास शर्मा की सूझबूझ बड़ी पैनी, दृष्टिकोण प्रगतिशील और उलझहीन तथा व्यक्तित्व बड़ा ही निर्भीक, स्पष्ट और ओजस्वी था । उन्होंने शुक्लोत्तर समीक्षा के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया । वे प्रगतिशील आंदोलन के कर्णधारों में से एक रहे । उन्होंने बहुत लिखा लेकिन

इतना अधिक लिखने पर भी उनकी कृतियों में विचार गांभीर्य का अभाव नहीं आने पाया है। उन्होंने दर्शन, रारजनीति भाषा-विज्ञान, आलोचना आदि विषयों पर अपनी लेखनी चलायी । आलोचना सम्बन्धी उनकी प्रमुख पुस्तकें - प्रेमचन्द', 'भारतेन्दु युग', 'निराला, 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', 'प्रेमचंद और उनका युग', 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, 'निराला की साहित्य साधना, 'भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा, 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, 'नई कविता और अस्तित्ववाद, 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्यायें', 'भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्यायें', 'हिन्दी जाति का इतिहास', 'भारतीय साहित्य की भूमिका', संगाति और साहित्य', प्रगति और परम्परा, 'प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें' आदि प्रमुख थे ।

उनकी 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, 'प्रेमचन्द' और 'निराला की साहित्य साधना स्वयं लेखक ही नहीं वरन् हिन्दी आलोचना की उपलब्धियाँ हैं । अपने -सहकर्मी कुछ अन्य मार्क्सवादी आलोचकों की तरह रामविलास शर्मा ने मार्क्सवादी साहित्य सिद्धांतों के कोरे सैद्धांतिक प्रतिपादन से ही संतोष नहीं किया बल्कि मार्क्सवादी दृष्टि से समूचे हिन्दी साहित्य की परम्परा की नई व्याख्या प्रस्तुत करके मार्क्सवादी आलोचना की सामर्थ्य स्थापित करके दिखाई ।

वैज्ञानिक समीक्षा पद्धति के उन्नायकों में डॉ. माताप्रसाद गुप्त का नाम सर्वोपरि है । इन्होंने एक ओर तो अपने तुलसीदास में तुलसी साहित्य का संतुलित विवेचन प्रस्तुत करके तथा दूसरी ओर बीसलदेव रासो. पद्मावत, चंदायन, मृगावती, कबीर ग्रंथावली आदि का पाठ-शोधन करके वैज्ञानिक दृष्टि का परिचय दिया । तदनन्तर डॉ. दीनदयाल गुप्त ने अपने 'अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय द्वारा वैज्ञानिक शोध-पद्धति को अग्रसर किया. । इनके अतिरिक्त हिन्दी के अनेक शोधकर्ताओं ने विभिन्न साहित्यकारों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के विश्लेषण एवं मूल्यांकन में वैज्ञानिक दृष्टि का उपयोग किया है- इसमें डॉ. भागीरथ मिश्र, डॉ. कृष्णलाल, डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, लॉ. सावित्री सिन्हा, डॉ. सरनाम सिंह, डॉ. सत्येन्द्र, डॉ. भोलानाथ तिवारी, डॉ. हीरालाल माहेश्वरी, डॉ. सरयू प्रसाद अग्रवाल आदि का नाम उल्लेखनीय हैं ।

आधुनिक साहित्य और नयी कविता के आलोचकों में डॉ. इन्द्रनाथ मदान, डॉ. नामवर सिंह, डॉ. जगदीश गुप्त, श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा आदि के नाम महत्वपूर्ण हैं । डॉ. मदान ने प्रेमचन्द से लेकर आज तक के कथा साहित्य का विवेचन अत्यन्त सूक्ष्म रूप में प्रस्तुत करते हुए उसकी अनेक नवीन प्रवृत्तियों को स्पष्ट किया है । डॉ. नामवर सिंह इस दृष्टि से विशिष्ट है कि वे समाजवादी जीवन-दृष्टि और नयी कविता के समवेत बोध को लेकर आलोचना में प्रवृत्त हुए । उनकी पहली महत्वपूर्ण आलोचनात्मक समीक्षा छायावाद' (1954 ई.) सामने आयी । काव्य समीक्षा की उनकी दूसरी पुस्तक कविता के नए प्रतिमान (1968) है । लम्बे अन्तराल के बाद उनकी दो पुस्तकें ' दूसरी परम्परा की खोज'' (1982) और ' कद-विवाद संवाद'' (1989) प्रकाशित हुई ।

नयी समीक्षा के आलोचकों में अज्ञेय, विजयनारायण देव साही, रामस्वरूप चतुर्वेदी, शमशेर बहादुर सिंह, धर्मवीर भारती तथा गिरिजाकुमार माथुर को रखा जा सकता है ।

वर्तमान समय में साहित्य की सभी विधाओं को ध्यान में रखकर समीक्षाएं की जा रही है । हिन्दी की समसामयिक आलोचना की एक बड़ी उपलब्धि दृश्य काव्य के रूप में नाटक की समीक्षा का विकास है । इसमें कृष्णानन्द गुप्त, उपेन्द्रनाथ अश्क, गोविन्द चातक तथा विपिन कुमार अग्रवाल महत्वपूर्ण हैं ।

हिन्दी की कथा समीक्षा के इतिहास में छठे दशक के मध्य युवा कथाकारों की एक पूरी पीढ़ी का उदय महत्वपूर्ण घटना है । मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, निर्मल वर्मा, भीष्म साहनी, रामकुमार वर्मा, कृष्णा सोबती, अमरकान्त, फणीशवरनाथ रेणु कहानी के क्षेत्र में एक साथ इतने नामों का उभरकर आना कहानी के क्षेत्र में एक आन्दोलन की शुक्सात का सूचक है । राजकमल प्रकाशन से भैरवप्रसाद गुप्त के सम्पादकत्व में नयी कहानी (1960) का प्रकाशन आरम्भ हुआ और कहानी संबंधी चर्चा भी धारावाहिक रूप से चल निकली ।

जिस प्रकार कहानी के क्षेत्र में कुछ नये प्रयोगों के कारण, कहानी समीक्षा की अपनी एक नयी पद्धति की जरूरत महसूस की गयी, उसी प्रकार उपन्यास समीक्षा के विकास की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी । नेमिचन्द जैन ने हिन्दी उपन्यास की नयी दिशा शीर्षक देकर मैला आंचल की समीक्षा की और कथा शिल्प का विशिष्ट प्रयोग नाम से निर्मल वर्मा ने परती परिकथा का मूल्यांकन किया । इसी प्रकार देवीशंकर अवस्थी की एक टूटा दर्पण शीर्षक से 'चारू-चन्द्रलेख' की समीक्षा और कवि दृष्टि का अभाव शीर्षक से कुंवरनारायण द्वारा की गयी 'झूठा सच' की समीक्षा उल्लेखनीय है । राजेन्द्र यादव के 'अटठारह उपन्यास (1981) में संकलित समीक्षात्मक लेख विशेष रूप से उल्लेखनीय है ।

सातवें दशक में रचना के क्षेत्र में परिवर्तन के साथ आलोचना में भी परिवर्तन के लक्षण प्रकट होने लगे । इस दौर के लेखकों के रूख सामान्यत: आलोचना विरोधी है. फिर भी समकालीन रचना के बीच से कुछ अपने आलोचक उभर ही आए । इन उदीयमान आलोचकों में मलयज' और रमेशचन्द्र शाह के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है ।

मलयज के समीक्षात्मक लेखों का पहला संग्रह कविता से साक्षात्कार (197) उनके जीवन काल में और शेष दो रचनाएँ ''संवाद और एकालाप' और 'रामचन्द्र शुक्ल' मरणोपरान्त प्रकाशित हुई ।

इसी प्रकार रमेशचन्द्र शाह की उल्लेखनीय आलोचना पुस्तकें हैं समानान्तर (1973) और दागर्थ (1981) जो उनकी काव्य-समीक्षा और कहानी समीक्षा दोनों का पूरा प्रतिनिधित्व करती हैं । इन तमाम नामों के बीच एक विशिष्ट नाम कहानीकार चिंतक निर्मल वर्मा का है । आठवें दशक में सकिय रचनाकार आलोचकों में सबसे वरिष्ठ निर्मल वर्मा के समीक्षात्मक और वैचारिक लेखों के तीन संग्रह ' शब्द और स्मृति ' (1976) ' कला का जोखिम' (1981) और ' उलान से उतरते हुए' (1986) प्रकाशित हुए ।

हिन्दी आलोचना अपनी लम्बी ऐतिहासिक यात्रा अनेक पड़ावों में पार करती हुई आगे बढ़ रही है । इस यात्रा में उसने अनेक चुनौतियों का सफलतापूर्वक सामना कर अपनी सामर्थ्य को प्रदर्शित किया है । वस्तुत: आलोचना एक ऐसा पक्ष है जो किसी रचना को लोकप्रिय या अलोकप्रिय घोषित करती है । इसलिए आलोचना का विकास भी वस्तुत: युगों-युगों तक अपनी यात्रा में अनेक पड़ावों को पार करता चलेगा ।

22.3 सारांश

साहित्य के विकास और इसकी गुणवत्ता में आलोचना का महत्वपूर्ण योगदान होता है । साहित्य की अन्य विधाओं की भांति ही इसकी अपनी महत्ता है । हिन्दी साहित्य मे आलोचना के अंश तो हमें मध्यकालीन साहित्य में ही देखने को मिल जाते हैं लेकिन आधुनिक हिन्दी आलोचना का वास्तविक आरम्भ भारतेन्दु युग में ही हुआ है । भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने जिस हिन्दी आलोचना का बीजारोपण किया वह आज वट वृक्ष बनकर खड़ी है । भारतेन्दु के बाद द्विवेदी और उनके युग में भी आलोचना का क्रमिक विकास हुआ । शुक्लजी के आलोचना क्षेत्र में पर्दापण ने उसे सुदृढ़ आधार देकर गरिमायुक्त बनाया । इस युग में छायावादी कवियों प्रसाद, पंत, निराला एवं महादेवी ने भी निबन्ध एवं भूमिकाएं लिखकर इसके विकास में सक्रिय भागीदारी की । शुक्लजी के पश्चात् हिन्दी आलोचना के विविध आयाम देखने को मिलते हैं। नन्द दुलारे वाजपेयी, हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा, नगेन्द्र, देवराज उपाध्याय और नामवर सिंह ने इसके विकास में अपना उल्लेखनीय योगदान दिया ।

22.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. आलोचना क्या है? साहित्य के अध्ययन में उसका क्या महत्व है?
2. हिन्दी आलोचना के उद्भव के सम्बन्ध में विविध मतों की परीक्षा कीजिए ।
3. भारतेन्दुयुगीन आलोचना का क्या महत्त्व है? इसके प्रमुख आलोचक कौन थे?
4. द्विवेदीयुगीन आलोचना की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए ।
5. शुक्लजी की आलोचना क्यों श्रेष्ठ मानी जाती है? समझाइए ।
6. शुक्लोत्तर आलोचना पर टिप्पणी कीजिए ।

22.5 संदर्भ ग्रंथ

1. डॉ. नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली ।
2. निर्मला जैन : हिन्दी आलोचना, बीसवीं सदी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली ।
3. डॉ. रामदरश मिश्र : हिन्दी समीक्षा, स्वरूप और संदर्भ, दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड, दिल्ली ।
4. डॉ. बच्चन सिंह : हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली ।

इकाई-23 हिन्दी का आलोचना शास्त्र-1 : पाठालोचन, सैद्धांतिक व ऐतिहासिक आलोचना

इकाई की रूपरेखा

23.0 उद्देश्य

23.1 प्रस्तावना

23.2 पाठालोचन

23.2.1 पाठालोचन की परिभाषा एवं नामकरण

23.2.2 पाठालोचन की आवश्यकता

23.2.3 पाठालोचन का स्वरूप

23.2.4 पाठालोचन में सहायक सामग्री

23.2.5 पाठालोचन में सहायक अन्य शास्त्र

23.2.6 पाठालोचन का महत्त्व

23.2.7 प्रमुख आलोचक एवं उनका कार्य

23.3 सैद्धांतिक आलोचना

23.3.1 सैद्धांतिक आलोचना की परिभाषा

23.3.2 सैद्धांतिक आलोचना का स्वरूप

23.3.3 सैद्धांतिक आलोचना का महत्त्व

23.3.4 प्रमुख आलोचक एवं उनका कार्य

23.4 ऐतिहासिक आलोचना

23.4.1 एतिहासिक आलोचना की परिभाषा

23.4.2 ऐतिहासिक आलोचना का स्वरूप

23.4.3 ऐतिहासिक आलोचना का महत्त्व

23.4.4 प्रमुख आलोचक एवं उनका कार्य

23.5 सारांश

23.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

23.7 संदर्भ ग्रन्थ

23.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप हिन्दी आलोचना के विभिन्न रूपों का परिचय प्राप्त करेंगे । इस इकाई के अध्ययन से आप:

- पाठालोचन के स्वरूप एवं महत्व से परिचित हो सकेंगे,
- सैद्धांतिक आलोचना के सम्बन्ध में जान सकेंगे,
- ऐतिहासिक आलोचना के स्वरूप एवं महत्त्व से अवगत हो सकेंगे,

- प्रमुख आलोचकों तथा उनके कार्यो से परिचित हो सकेंगे ।

23.1 प्रस्तावना

हिन्दी आलोचना में विविध रूप एवं पद्धतियाँ देखने को मिलती हैं । इन पद्धतियों को भलीभांति समझने पर ही हम हिन्दी आलोचना को समझ सकेंगे । पाठालोचन के माध्यम से हम प्राचीन ग्रंथों में आई विकृतियों एवं भ्रांतियों का निवारण करने मेंसक्षम होंगे । हमारे महत्त्वपूर्ण आलोचकों श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल, रामविलास शर्मा एवं नगेन्द्र ने सिद्धांतों की स्थापना एवं व्याख्या करके सैद्धांतिक आलोचना को समृद्ध किया है । ऐतिहासिक आलोचना हमें साहित्य को युगीन परिवेश के सन्दर्भ में समझने की शक्ति प्रदान करती है । इससे हम वर्तमान में अनेक गलतियों से बच जाते हैं । आइये हिन्दी आलोचना में प्रचलित इन रूपों को समझें ।

23.2 पाठालोचन

साहित्य में मुद्रण व्यवस्था से पूर्व हस्तलिखित ग्रंथों का विशेष महत्व रहा हैं । हस्तलिखित ग्रंथों के शोध कार्य को पाठालोचन की संज्ञा दी जाती है । पुरानी हस्तलिखित रचनाओं के पाती के मूल तक पहुंचने के प्रयास को पाठानुसंधान कहा जाता है ।

आधुनिक युग में पाठालोचन एक महत्वपूर्ण एवं दायित्वपूर्ण साहित्यिक कार्य है । आज के वैज्ञानिक युग में किसी रचना के शुद्ध पाठ का प्रस्तुतीकरण एक महत्वपूर्ण दायित्व बन गया है ।

23.2.1 पाठालोचन की परिभाषा एवं नामकरण

पाठालोचन' सम्बन्धी कुछ परिभाषाएं निम्न हैं-

डॉ. माता प्रसाद गुप्त के अनुसार- ' पाठानुसंधान का उद्देश्य किसी ऐसी रचना का पाठ-निर्धारण हुआ करता है जिसका उसके लेखक द्वारा प्रमाणीकरण पाठ उपलब्ध नहीं होता ।''

डॉ. सत्येन्द्र के अनुसार- ''पाठालोचन किसी ग्रंथ का प्रामाणिक पाठ प्रस्तुत करने का प्रयास है ।''

डॉ. कन्हैया सिंह के अनुसार- ''पाठालोचन उस बौद्धिक और शास्त्रीय विधि को कहते हैं जिससे पाठ के सम्बन्ध में निर्णय देते हुए मूल पाठ का निर्धारण किया जाता है ।''

हिन्दी शब्दकोष (हरदेव बाहरी)- '' ग्रन्थ के मूल एवं वास्तविक पाठ का वह रूप एवं निर्धारण जो छान-बीन करके निश्चित किया जाता है ।''

एनसाक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार- ''पाठालोचन शब्द का प्रयोग पाठ निर्धारण के लिए मानवीय बुद्धि द्वारा व्यवस्थित और कौशलपूर्ण दिये गये बौद्धिक निर्णय के लिए होता है ।''

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि पाठालोचन वह शास्त्र है जिसमें प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों के आधार पर मूल पाठ तक पहुंचने का विवेचन रहता है । इस शास्त्रकी सहायता से किसी रचना की उपलब्ध प्रतियों के द्वारा प्राचीनतम तथा मूल पाठ का निश्चय किया जाता है ।

23.2.2 पाठालोचन की आवश्यकता

अभी तक हमने यह जाना कि पाठालोचन है क्या? अब सवाल यह उठता है कि इसकी आवश्यकता क्यों हुई? मुद्रणकला के आविष्कार से पूर्व अपनी अभिव्यक्ति को लेखकों ने पत्थर की शिला, लौह स्तम्भ, ताम्रपत्र, स्वर्णपत्र आदि पर उत्कीर्ण करना शुरू किया । कुछ कृतिकारों ने अपने हाथ से लिखा और कुछ ने बोलकर लिखवाया । ग्रंथों की प्रतिलिपि और फिर प्रतिलिपि की प्रतिलिपियॉ तैयार होती गयीं । प्रतिलिपि निर्माण के कम में प्रमादवश भूलों का होना स्वाभाविक था और ऐसी भूलें हुई भी । अगले प्रतिलिपिकार ने अपने मूलाधार की भूलों को यथावत उतारा और उसने कुछ भूलों को और अपनी प्रति में जोड दिया । कभी-कभी जानबूझकर भी मूलाधार प्रति में प्रक्षेप हुए । इन प्रक्षेपों में वृद्धि होती गयी । कालान्तर में जब लेखक की मूल प्रति नष्ट हो जाती और उसकी निकटवर्ती प्रतिलिपियाँ भी अनुपलब्ध रहती तो प्राप्त प्रतियों के पाठों में इतना वैषम्य मिलने लगता कि रचनाकार के मूल पाठ की कल्पना भी दूभर हो गयी । इस विषम परिस्थिति में मूल रचना के पाठ के अनुसंधान की आवश्यकता भूतकाल में भी हुई होगी और आज भी ऐसी स्थिति में पाठानुसंधान एवं पाठालोचन का प्रश्न सामने आता है । विभिन्न प्रतियों के पाठों में जितनी विषमता रहती है, उतनी ही भाठानुसंधान की उलझन बढ़ती है । सशक्त एवं समर्थ रचनाकारों की रचनाएं भी विकृत पाठों एवं प्रेक्षेपों के घटाटोप में ऐसी छिप गई हैं कि उनकी पहचान कठिन हो जाती है । यह स्थिति संसार की सभी प्राचीन भाषाओं की रचनाओं के सम्बन्ध में देखी जाती है ।

23.2.3 पाठालोचन का स्वरूप

पाठालोचन के सम्बन्ध में कुछ लोगों का मत है कि पाठ सम्पादन की वैज्ञानिक प्रणाली में पाठ के शब्द पर ही विचार होता है । यह धारणा उचित नहीं है । वस्तुत: पाठालोचन की प्रक्रिया में 'पाठचयन' और 'पाठसुधार' दोनों ही दशाओं में शब्द और अर्थ पर विशेष ध्यान दिया जाता है । पाठालोचन में निरर्थकता को ढूंढकर उसका निराकरण किया जाता है । आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार- ''साहित्य शब्द और अर्थ का सम्पृक्त रूप होता है, अत: शब्द और अर्थ दोनों पर समान दृष्टि ही प्राचीन ग्रंथों के संपादन में उपयोगी होती है ।'' वस्तुत: वैज्ञानिक पाठ शोधकर्ता को उसके अर्थ के सम्बन्ध में पूर्ण जागरूक रहने की नितांत आवश्यकता है । प्रतियों के पाठ और अर्थ का समन्यय वैज्ञानिक सम्पादन का मेरूदण्ड है । पाठानुसंधान में दो पद्धतियों विशेषरूप से महत्वपूर्ण है 1 अंतरंग संभावनाएँ, 2. बहिरंग संभावनाएँ । अंतरंग संभावनाओं के अन्तर्गत प्रसंग, अर्थ आदि की दृष्टि से पाठ-सुधार किया जाता है । बहिरंग संभावनाओं के अन्तर्गत विकृत पाठों के सुधार का प्रयास किया जाता है ।

प्राय: देखा गया है कि एक ही पाठ सभी उपलब्ध प्रतियों में प्राप्त है किन्तु यह अर्थाभिव्यक्ति में असमर्थ है तो ऐसे पाठों को प्रमादजनित मानकर,उन्हें सुधारा जा सकता है । यदि किसी पाठ में प्रमादजनित संभावना न मिले तो ऐसी दशा में पाठालोचन की विधि के अनुसार उपलब्ध पाठ ही देना चाहिए, सुधार करना ठीक नहीं है । मनमाने ढंग से पाठ सुधार की प्रवृत्ति हानिकारक है क्योंकि इससे अर्थ का अनर्थ हो सकता है । ऐसे में पाठालोचकों को स्वविवेक व कौशल से काम लेना चाहिए । वस्तुत: प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर वैज्ञानिक

पद्धति तथा बुद्धि के उपयोग द्वारा मूलांश के सत्यान्वेषण और तत्सम्बन्धी आलोचना को ही पाठालोचन की संज्ञा दी जा सकती है ।

'पाठालोचन' के स्वरूप को जानने के लिए इसके चार अनुभागों को जानना आवश्यक है- 1. सामग्री संकलन और वंशवृक्ष निर्माण 2. पाठ-निर्माण, 3. पाठ सुधार, 4. उच्चतर आलोचना। पाठालोचन के लिए हस्तलिखित ज्ञान तथा सहायक सामग्री का चयन अत्यन्त आवश्यक है। सामग्री संग्रह के बाद उस ग्रंथ की सामग्री का अंतरंग व बहिरंग परीक्षण किया जाता है तथा प्राचीनतम प्रति के आधार पर उसके सापेक्षिक महत्व को रेखांकित किया जाता है । प्रतियों की परीक्षा के उपरांत उन पाठों का मिलान किया जाता है तथा उनके परस्पर सम्बन्धों को वंशवृक्ष के रूप में प्रस्तुत किया जाता है । पाठ निर्माण से तात्पर्य है-पाठ निर्धारण । अन्तर्साक्ष्य और बर्हिसाक्ष्य के आधार पर पाठ का निर्धारण किया जाता है । यदि दो पाठों से अधिक पाठ, प्रसंग, प्रयोग आदि की दृष्टि से ठीक प्रमाणित होते हैं तो अधिक विश्वसनीय शाखा का पाठ स्वीकार किया जाता है ।

23.2.4 पाठालोचन में सहायक सामग्री

प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर ही वैज्ञानिक सम्पादन या पाठानुसंधान का कार्य अग्रसर होता है । लेखक की मूलप्रति से प्रतिलिपि होती थी, पुन: उस प्रतिलिपि की प्रतिलिपि और इसी प्रकार प्रतिलिपियों की एक परम्परा चल पड़ती थी । मूल प्रति की प्रतिलिपि में स्वभावत: ही मूल पाठ से कुछ अन्तर आता रहा । इसी प्रकार प्रतिलिपि परम्परा में क्रमश: अन्तर आने लगा । हम यह देख सकते हैं कि प्रतिलिपि परम्परा में जितने ही नीचे की प्रति होगी, उसमें मूल से उतना ही अंतर हो जाता है । प्राय: एक पाठालोचक निम्नलिखित स्रोतों के द्वारा पाठालोचन कर कृति के मूल रूप तक पहुँचता है ।

1. पाठ - 'पाठ' किसी लेखक की कृति की मूलत: लिखित सामग्री होती है । यह पाठालोचन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है ।
2. मूल पाठ -मूल पाठ भी पाठालोचन प्रक्रिया में अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है और सही-सही अर्थ जानने में हमारी सहायता करता है । ग्रंथ के मूल लेखक द्वारा लिखित पाठ को मूल पाठ कहा जाता है ।
3. प्रति - प्राचीनकाल में हस्तलिखित ग्रंथ प्राय: ताड़पत्र, भोजपत्र, कागज आदि पर लिखित रूप में प्राप्त होते हैं । इन कागजों या पत्रों की समष्टि को प्रति कहा जाता है । इसके दो भेद कर सकते हैं-
   (1) प्राप्त प्रति- प्राप्त प्रति से तात्पर्य उस प्रति से लिया जाता है जो पाठालोचन हेतु पाठलोचक को प्राप्त हो जिसका उपयोग पाठालोचन में किया गया हो या किया जा सके ।
   (2) अप्राप्त प्रति- जिस प्रति की सूचना तो प्राप्त हो लेकिन यथार्थ में वह पाठालोचक को प्राप्त नहीं हो सके । उदाहरणार्थ रागाज्ञा प्रश्न, की मूल प्रति प्राप्ति के होने की संभावना हमें प्राप्त है लेकिन वह प्रति हमें प्राप्त नहीं है, अत: यह अप्राप्त प्रति कहलाएगी ।

4. मूल प्रति- इसे 'कवि लिखित, 'आत्मलिखित', 'स्वहस्तलिखित' प्रति भी कहते हैं । रचनाकार के हाथ से लिखी प्रति को मूल प्रति कहते हैं इसके दो उपभेद हैं ।
   (1) प्रथम प्रति- यह वह प्रति है जिसे कवि सबसे पहले लिखता है तथा बाद में इसमें संशोधन, परिवर्तन करके ग्रंथ को अंतिम रूप देता है । इस प्रति का पाठालोचन में विशेष महत्व है । इसके द्वारा हम कवि की रचना शैली, साहित्यिक तथा भाषा सम्बंधी प्रवृत्तियों को भलीभांति जान सकते हैं । किन्तु यह प्रति साधारणतया प्राप्त नहीं होती । मध्य युग के अधिकांश कवियों की मूल प्रति आज तक प्राप्त नहीं है।
   (2) संशोधित प्रति- प्रथम प्रति में संशोधन, परिवर्तन एवं परिवर्द्धन कर रचयिता उसे सुलिखित रूप में प्रस्तुत करता है । यह प्रति संशोधित प्रति कहलाती
5. प्रतिलिपित प्रति -किसी भी प्रति से नकल की गई प्रति को प्रतिलिपित प्रति कहते हैं । यह प्रति कविकृत या उसके द्वारा संशोधित नहीं होती है । प्रतिलिपि की अशुद्धियों का प्रतिलिपित प्रति में आ जाना सहज स्वाभाविक है क्योंकि प्रतिलिपिकार द्वारा कोई भूल रह सकती है । प्राय: यह देखा गया है कि प्रतिलिपि प्रतियों में पाठ हास की अपेक्षा पाठ वृद्धि होती है । इस प्रकार हम पाठ में आने वाले परिवर्तनों से अवगत होने और पाठालोचन द्वारा सही प्रति तक पहुंचने का प्रयत्न करते हैं ।
6. आदर्श प्रति- जिस प्रति को सामने रखकर नकल की जाती है उस प्रति को आदर्श प्रति कहते हैं । आदर्श प्रति मूल प्रति अथवा कोई अन्य प्रतिलिपि भी हो सकती है । यदि आदर्श प्रति कवि द्वारा लिखित प्रति है तो अत्यन्त महत्वपूर्ण होगी । उदाहरणार्थ सं. 1655 में रचित रामाज्ञा प्रश्न, कवि की मूल प्रति है किन्तु आजकल यह प्रति अप्राप्य है । इसकी प्रतिलिपि वेंकटेश्वर प्रेस' ने छापी है । बाद में यह प्रतिलिपि अन्य प्रतिलिपिकारों के लिए आदर्श बनी ।
7. प्रतिलिपि- आदर्श प्रति से जो प्रति तैयार होती है, उसे प्रतिलिपि कहते हैं । उदाहरणार्थ- यदि 'क' प्रति से एक प्रति व बनाई जाए तो 'क' प्रति 'ख' प्रति की आदर्श प्रति होगी और 'ख' प्रति 'क' प्रति की प्रतिलिपि कहलाएगी ।
8. पत्र- पुराने समय में ताड़पत्र या भोजपत्र की ही हस्तलिखित प्रति तैयार होती थी, उनके लिए पत्र शब्द प्रयुक्त हुआ है ।
9. हस्तांतरण- हस्तलिखित ग्रंथों का प्राचीन समय से लेकर वर्तमान समय तक के विद्यमान पाठ तक पहुंचने की प्रक्रिया को 'हस्तांतरण कहते हैं । हस्तलिखित प्रतियां दो प्रकार से हस्तांतरित होकर पाठक तक पहुंचती है 1. अनुमोदित या सुरक्षित हस्तांतरण 2. अनुमोदित अथवा अव्यवस्थित हस्तांतरण । योग्य विद्वानों की देखरेख में तैयार की गई प्रतिलिपियों को अनुमोदित हस्तांतरण कहते हैं ।
10. वंश वृक्ष- किसी आलोच्य ग्रंथ से प्राप्त प्रतियों का विकास परम्परानुसार मूलाधार प्रति के संदर्भ में उनका परस्पर सम्बन्ध निर्धारण करना ही वंश वृक्ष कहलाता है । प्रतियों के वंश वृक्ष को समझने के लिए यह आवश्यक है कि प्रतिलिपियों के विकास की प्रक्रिया को समझा जाए । जैसे-जैसे प्रतिलिपियों की प्रतिलिपियाँ और इन प्रतिलिपियों से

प्रतिलिपियॉ आदि होती चली गई वैसे-वैसे ही इनका पाठ अपने मूलादर्श से क्रमशः दूर, परिवर्तित एवं भ्रष्ट होता चला गया । वर्तमान काल में प्राचीन एवं मध्ययुगीन कवि की स्वहस्तलिखित प्रति शायद ही उपलब्ध हो । समस्या यह है कि प्रतिलिपियाँ अशुद्धियों से युक्त होती है और इन्हीं के आधार पर मूलपाठ खोजने का प्रयास किया जाता है ।.

11. पुष्पिका- हस्तलिखित ग्रंथों के उपसंहार या समाप्ति पर प्रतिलिपि का उद्देश्य, रचनाकार या.ग्रंथ का नाम, प्रतिलिपिकार का नाम, प्रतिलिपि कराने वाले का नाम, किस प्रति से प्रतिलिपित की गई आदि की सूचना देने वाले अंश को पुष्पिका कहते हैं । कभी-कभी यह पुष्पिका ग्रंथ के खंडों के अंत में दी जाती है ।
12. उपर्युक्त सामग्री पाठालोचन में अत्यन्त महत्वपूर्ण सहायक होती है । पाठालोचन उपर्युक्त सामग्री के द्वारा ही प्रति में आने वाली विकृतियों, परिवर्तनों आदि को देखता है और पाठालोचन कर कृति के सही रूप तक पहुंचा सकता है । उपर्युक्त सामग्री ही पाठालोचन की पाठालोचन की प्रकिया को सरल व सबल बनाती है ।

23.2.5 पाठालोचन में सहायक अन्य शास्त्र

किसी ग्रंथ का पाठालोचन करते समय पाठालोचक को अन्य शास्त्रों में भी प्रवेश करना पड़ता है । 'पाठालोचन' में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से सहायता करने वाले शास्त्र इस प्रकार है-

1. लिपि विज्ञान- लिपि विज्ञान की पाठालोचन में बहुत अधिक आवश्यकता होती है । लिपि विज्ञानी ही अपाठ्य लिपियों को पढ़ सकता हैं । लिपि विज्ञानी अतीत की हस्तलिपियों को पढ़ता है तथा उनकी ऐतिहासिक परीक्षा करके उनका कालखण्ड निर्धारित करता है । हस्तलिखित ग्रंथों में अनेक पाठ-विकृतियाँ लिपिजनित भ्रम या अवैज्ञानिक लिपि के कारण उत्पन्न होती है । उदाहरण के लिए संत साहित्य के पाठालोचकों के लिए गुरूमुखी का ज्ञान आवश्यक है । पाठालोचन में लिपिविज्ञान अधिकाधिक सहायक होता है । लिपिविज्ञान पाठालोचन की बहुत सी समस्याओं का निराकरण करता है । अभिलेखीय लिपि विज्ञान प्राचीन शिलालेखों, ऐतिहासिक दस्तावेजों, प्रस्तर खण्डों, सिक्कों तथा मोहरों पर अंकित लिपियों को पढ्ने में अत्यधिक सहायता करता है ।
2. भाषा विज्ञान - भाषा विज्ञान भाषा का विज्ञान है । भाषा विज्ञान लिपि के उद्घाटन में सहायक होता है । किसी भी हस्तलिखित ग्रंथ के भाषा वैज्ञानिक अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि यह ग्रंथ किस भाषा में लिखा गया है । भाषा विज्ञान के द्वारा भाषा के शब्द रूपों, वाक्य विन्यास, शैली आदि का विशेष ज्ञान होता है । हिन्दी के प्रसिद्ध रचनाकारों की रचनाएं विभिन्न भाषाभाषी प्रदेशों में प्राप्त होती है । उदाहरण के लिए हिन्दी के बहुत से हिन्दी कवियों की रचनाएं गुरूमुखी लिपि में मिलती है । ऐसी प्रतिलिपियों का अध्ययन भाषा विज्ञान के द्वारा ही संभव है ।
3. साहित्यालोचन- साहित्यशास्त्र के चार अंग माने जाते हैं-शब्दार्थ, रस, छंद और अलंकार । पाठालोचन के अध्येता के लिए इन चारों का ज्ञान होना आवश्यक है । साहित्यशास्त्र में अर्थ तक पहुंचने के लिए शब्द शक्तियों का विशेष महत्व है । काव्य में नवरस की प्रतिष्ठा होती है । पाठालोचक को इनका ज्ञान होना चाहिए । हिन्दी की प्राचीन व मध्यकालीन रचनाएं छंदोबद्ध

है । छंद साहित्यशास्त्र का विषय है । पाठालोचक को छंद शास्त्र का ज्ञान भी होना चाहिए, तभी वह किसी रचना के पाठों के साथ शास्त्रीय दृष्टि से न्याय कर सकता है ।

4. इतिहास- इतिहास का क्षेत्र अत्यन्त विश्वस्त है । इसकी आवश्यकता प्राय: सभी विज्ञानों और शास्त्रों को पड़ती है । मानव सभ्यता का प्रमाणिक अंकन इतिहास में होता है । प्राचीन ग्रंथों की स्थिति की समीक्षा करने के लिए इतिहास की शरण में जाना ही पड़ता है । ऐतिहासिक प्रमाण पाठों को सत्यापित और प्रमाणिक करने में विशेष सहयोग देते हैं ।
5. पुरातत्व- पुरात्तव के अनुसंधान क्षेत्र में शिलालेख, गुफालेख, गुफाचित्र, स्तम्म लेख, स्तुपलेख, ताम्रपत्र आदि अनेक प्रकार की सामग्री आती है जिसका उपयोग पाठालोचक भी करता है । पाठ-वैज्ञानिक प्राचीन अवशेषों के पाठों को अधिक प्रामाणिक मानते हैं । पुरातात्विक शिलालेख आदि में अंकित पाठ अधिक प्राचीनतम और प्रामाणिक माने जाते हैं । उदाहरणार्थ डॉ. बूलर के शिष्य जेम्स मोरिसन को भित्तिलेख के रूप में संस्कूत का 'पृथ्वीराज विजय' प्राप्त हुआ था । उस ग्रंथ की ऐतिहासिक प्रमाणिकता के आधार पर 'पृथ्वीराज रासो' को जाली ग्रंथ कहकर उसका प्रकाशन रोक दिया था । अत: हम कह सकते हैं कि अच्छे पाठालोचक को उत्तम स्तर का पाठालोचन करने के लिए पुरात्तव का ज्ञान भी होना चाहिए ।

23.2.6 पाठालोचन का महत्व

'पाठालोचन' का महत्व प्रामाणिक अर्थ को प्राप्त करने में हैं वस्तुत: किसी रचना का पाठालोचन उसका अर्थ जानने के लिए किया जाता है । इस प्रकार किसी साहित्यिक कृति के अर्थ लालित्य को उजागर करने में पाठालोचन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है । पाठालोचन के अध्ययन से युगीन इतिहास व संस्कृति का भी शोध होता है । पाठालोचन साहित्य शास्त्रीय शोध को एक आधार भूमि प्रदान करता है । छंद, अलंकार, बिम्ब, प्रतीक, रस, गुण, दोष आदि की दृष्टि से किये जाने वाले कार्य में पाठालोचन की नितान्त आवश्यकता पड़ती है ।

23.2.7 प्रमुख आलोचक एवं उनका कार्य

हिन्दी में प्रचुर मात्रा में पाठालोचन हुआ है । जगन्नाथ दास 'रत्नाकार', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास, माता प्रसाद गुप्त, परशुराम चतुर्वेदी ने इस क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया है । जगन्नाथ दास 'रत्नाकार' ने ब्रजभाषा के दो महत्वपूर्ण कवियों बिहारीलाल एवं सूरदास के काव्य पर कार्य किया । रत्नाकर जी द्वारा संपादित बिहारी रत्नाकर हिन्दी का अनूठा कार्य है । प्रखर आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा संपादित तुलसी ग्रंथावली और जायसी ग्रंथावली ग्रंथ हिन्दी साहित्य में विशिष्ट स्थान रखते हैं । श्यामसुन्दर दास ने 'पृथ्वीराज रासो, परमाल रासो, 'कबीर ग्रंथावली आदि का सम्पादन किया । माता प्रसाद गुप्त ने इस क्षेत्र में प्रचुर मात्रा में कार्य किया । उन्होंने मंझन की मधुमालती, कुतुबन की मृगावती, मुल्ला दाऊद के चंदायान, कबीर ग्रंथावली आदि ग्रंथों का सम्पादन किया । नागरी प्रचारिणी सभा के माध्यम से हुए कार्यो में परशुराम चतुर्वेदी की दादू ग्रंथावली का महत्वपूर्ण स्थान है । चतुर्वेदी जी ने मीरा की पदावली का भी सम्पादन किया । पाठालोचन के क्षेत्र में विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रभुदयाल मीतल एवं डॉ. गोर्वधननाथ शुक्ल ने भी योगदान दिया ।

23.3 सैद्धांतिक आलोचना

23.3.1 परिभाषा

अनेक कृतियों का अध्ययन-विश्लेषण करने के बाद जब आलोचक आलोचना के लिए कुछ मापदण्ड निर्धारित करता है तो उस समीक्षा को सैद्धांतिक समीक्षा कहा जाता है ।

सैद्धांतिक आलोचना का विषय साहित्य है । वह साहित्य के धरातल पर कार्य करती हुई साहित्य-विषयक सिद्धांतों की स्थापना करती है । यद्यपि सैद्धांतिक आलोचना दार्शनिक सिद्धांतों से सहायता लेती है । लेकिन उसका केन्द्र साहित्य ही है । साहित्य एक मूर्त रचना है, और सैद्धांतिक आलोचक इस मूर्त रचना पर यथार्थवादी तथा वस्तुवादी दृष्टिकोण से विचार करता है । इस रूप में उसका कार्य दार्शनिक की अपेक्षा वैज्ञानिक के अधिक निकट पड़ता है । जिस प्रकार वैज्ञानिक के सामने सृष्टि के तथ्य होते हैं जिनका अध्ययन कर वह सिद्धांते की स्थापना करता है उसी प्रकार आलोचक के लिए

साहित्य तथ्य प्रदान करता है और इन तथ्यों के आधार पर ही वह ऐसे सिद्धांतों की प्रतिष्ठा का प्रयास करता है जो उनकी व्याख्या कर सके ।

23.3.2 सैद्धांतिक आलोचना का स्परूप

सिद्धांत निर्माण में अनुगम विधि का उपयोग किया जाता है । 'लक्ष्य ग्रंथों के बाद ही लक्षण ग्रंथों का निर्माण होता है । इस बहु प्रचलित उक्ति से भी सैद्धांतिक आलोचना में अनुगम विधि की स्वीकृति की व्यंजना होती है । अनुगम विधि में वस्तुओं के अध्ययन के आधार पर सिद्धांत बनाये जाते हैं और निगमन विधि में उन सिद्धांतों के आधार पर तथ्यों अथवा घटनाओं की व्याख्या की जाती है । उदाहरण के रूप में हम गुरूत्वाकर्षण के सिद्धांत को देख सकते हैं । न्यूटन ने जब सेव को धरती पर गिरते देखा तो उसके अन्दर जिज्ञासा उत्पन्न हुई और उसने अनेक वस्तुओं को ऊपर फेंककर यह पाया कि सभी वस्तुएं धरती की ओर ही आती है । इससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि पृथ्वी में गुरूत्वाकर्षण शक्ति होती है । सिद्धांत निर्माण की इस प्रक्रिया को अनुगम विधि कहा जायेगा । इसके विपरीत गुरूत्वाकर्षण के नियम के आधार पर अन्य वस्तुओं अथवा आविष्कारों की व्याख्या या योजना निगमन विधि कहलाती है । साहित्य सम्बन्धी सिद्धांतों निर्माण में इसी प्रक्रिया को अपनाया जाता है । सिद्धांत निर्माण की यह प्रक्रिया आलोचक को विज्ञान के निकट ले जाती है । आलोचनात्मक सिद्धांत और वैज्ञानिक सिद्धांत का मूल अंतर यह है कि वैज्ञानिक सिद्धांत का प्रयोगात्मक परीक्षण हो सकता है, आलोचनात्मक सिद्धांत का नहीं । इसका एक कारण तो यह है कि आलोचक असीम साहित्य राशि में से एक विशिष्ट प्रकार की साहित्य धारा को स्वीकार करता है, शेष को अस्वीकार करता है और स्वीकृत राशि के आधार पर ही सिद्धांत की स्थापना करता है । इस प्रकार वह जो सिद्धांत स्थापित करता है वह उसी सीमित साहित्य-राशि के लिए तथा उसी विशिष्ट दृष्टि के लिए उपयोगी होता है और इन्हीं सीमाओं में ही उस सिद्धांत का परीक्षण हो सकता है । दूसरी बात यह है कि साहित्य की रचना और उसका आस्वाद दोनों ही सूक्ष्म मानसिक प्रक्रियाएं हैं जो सरल न होकर संश्लिष्ट है, इनका परीक्षण सम्भव नहीं है ।

आलोचना और विज्ञान में बुनियादी फर्क यह है कि आलोचना का तथ्य, साहित्य, नित्य परिवर्तनशील है और इसलिए अनिवार्यत: आलोचनात्मक सिद्धांत समय के बंधन में जकड़ा रहता है लेकिन विज्ञान का तथ्य, भौतिक जगत, स्थायी है और इसलिए उनके नियम अधिक स्थायी होते हैं । यह बात दूसरी है कि वे नवीन तथ्यों के आविष्कार से - विज्ञान को अपने नियम बदलने पड़े लेकिन वे तथ्य आविष्कार से पहले भी विद्यमान थे लेकिन विज्ञान का हिस्सा नहीं बन पाये थे । धरती की गुरूत्वाकर्षण शक्ति के सिद्धांत को ही ले । यह सिद्धांत जितना न्यूटन के लिए सत्य था उतना ही आज भी सत्य है और यह संभावना है कि जब तक सृष्टि का वर्तमान क्रम बना रहेगा, यह नियम सत्य रहेगा । इस प्रकार विज्ञान का संबंध सृष्टि के उस पक्ष के साथ है जो स्थायी है और इसलिए यदि उसके सिद्धांत की स्थापना में कोई गलती नहीं हुई तो वह सिद्धांत सर्वदा स्वीकृत किया जाता रहेगा । इसके विपरीत जिन विषयों का संबंध सृष्टि के परिवर्तनशील पक्ष, समाज के साथ है उनके सिद्धांत भी समाज के विकास के अनुरूप परिवर्तित होते रहेंगे ।

अब हम कला के रूप में आलोचना को देखें तो पाते हैं कि कला एक स्वतंत्र निर्माण है । कलाकार सृष्टि के किसी भी अंश के साथ तादात्म्य स्थापित करता है और उसे कल्पना-शक्ति के सहारे उसे पुन: उत्पन्न करता है । कला की सामग्री तो: सृष्टि है और इस सामग्री के आधार पर उसकी निर्मिति होती है । स्पष्ट है कि इस अर्थ में सैद्धांतिक आलोचना पूर्णत: कला नहीं है। इसका आधार साहित्य है 'और उसके अध्ययन के फलस्वरूप ही आलोचक सिद्धांत की स्थापना करता है । मगर यह नहीं कहा जा सकता कि सिद्धांत के निर्माण के कारण ही यह भी एक कला है । कारण यह है कि कला का प्रधान केन्द्र होता है कलाकार और सैद्धांतिक आलोचना का प्रधान केन्द्र है साहित्य । इसलिए दोनों में मूलभूत मित्रता है । कलाकार सृष्टि का नहीं सृष्टि के बोध का प्रकाशन करता हैं इसलिए वह सृष्टि को विस्मृत भी कर दे और केवल उसके बोध को ही धारण करे तो भी वह कला का निर्माण कर लेगा । कलाकार की साधना बहिर्मुखी नहीं अंतर्मुखी होती है । इसके विपरीत सैद्धांतिक आलोचक प्रधानतया वस्तुवादी दृष्टि का अनुसरण करते हुए साहित्य-विषयक सिद्धांतों का उद्घाटन करता. है । अत: सैद्धांतिक आलोचना को कला नहीं कहा जा सकता ।

यदि कला शब्द को कुशलता अथवा कुशाग्रता के सामान्य अर्थ में लिया जाये तो यह कहा जा सकता है कि सिद्धांत की स्थापना तो कला नहीं है किन्तु उस सिद्धांत का उपयोग अवश्य एक कला है । साहित्य एक चेतन सृष्टि है और उसकी व्याख्या, विश्लेषण या मूल्यांकन भी एक सजग व्यापार है । सिद्धांतों का यांत्रिक प्रयोग संभव नहीं हैं इसके लिए कुशलता और कुशाग्रता की आवश्यकता होती है ।

सैद्धांतिक आलोचना के मुख्य विषय हैं

1. काव्य का स्वरूप- (अ) काव्य की परिभाषा, (आ) काव्य-सृजन की प्रक्रिया आदि ।
2. काव्य की आत्मा- रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति ।
3. काव्य हेतु-प्रतिभा, व्युत्पत्ति, अभ्यास आदि ।
4. काव्य के तत्व-भारतीय पाश्चात्य दृष्टि से विवेचन-भाव, कल्पना बुद्धि तथा शैली-तत्व आदि ।

5. काव्य-भेद- प्रबन्धकाव्य, गीतिकाव्य आदि ।
6. काव्य शिल्प- काव्यभाषा, बिम्ब, प्रतीक, अलंकार, लय और छंद आदि ।
7. विशिष्ट काव्य मत- छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता, यथार्थवाद, अभिव्यंजनावाद, बिम्बवाद, प्रतीकवाद, अस्तित्ववाद. मार्क्सवाद. मनोविश्लेषणवाद आदि।

इन विषयों पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से विभिन्न आलोचकों ने विचार किया है । इन आलोचकों के मतों में वैविध्य भी देखने को मिलता है । विविध रूचियों तथा साहित्यक प्रवृत्तियों के अनुरूप विविध सिद्धांतों की स्थापना भी होती रहती है । यह भी जरूरी नहीं है कि एक सिद्धांत के समाप्त होने पर दूसरे सिद्धांत की स्थापना हो । एक ही समय में अनेक सिद्धांत प्रचलित हो सकते हैं और होते रहे हैं । सिद्धांत के वैविध्य के दो प्रमुख कारण हैं- एक दृष्टि भेद और दूसरा साहित्य भेद । आलोचक की दृष्टि भेद के कारण सिद्धांत में अन्तर आ जाता है । इसका कारण यह है कि आलोचक अपनी दृष्टि के अनुसार ही साहित्य की कुछेक प्रवृत्तियों को आधारभूत मानकर उसका विवेचन करता है । नतीजा यह होता है कि विविध दृष्टियों वाले आलोचक एक ही साहित्य के विविध पक्षों को महत्वपूर्ण मानते हु ए विविध सिद्धांतों की स्थापना करते हैं । उदाहरण के लिए 'कामायनी' को लें तो कुछ आलोचकों ने सांस्कृतिक दृष्टि से इसका अध्ययन किया है और कुछ ने शास्त्रीय दृष्टि से । सिद्धांत भेद का दूसरा प्रमुख कारण है साहित्य भेद । इसके दो रूप देखने को मिलते हैं । एक का आधार है काल दूसरा वह जिसका आधार है समसामयिक धारा पर आस्था ।

अगर हम काल के आधार पर देखें तो आज से पाँच सौ वर्ष पूर्व का साहित्य आज के साहित्य से भिन्न है । अत: स्पष्ट है कि वे सिद्धांत जिनका निर्माण आज से पांच सौ वर्ष पूर्व के साहित्य के आधार पर किया था, आज के साहित्य सिद्धांतों से सर्वथा भिन्न होंगे । साहित्य जीवन की तरह विकास प्रक्रिया है अतएव साहित्य सिद्धांत स्थिर न होकर गतिशील होते हैं ।

अगर हम धारा विशेष के आधार पर देखें तो साहित्य में विविध धाराएं प्रचलित होती है । अगर हम किसी साहित्य में गीत और नयी कविता को लें या पुरानी कहानी और नई कहानी को लें तो जिसकी आस्था पुरानी कहानी या गीत पर होगी उसके सिद्धांत नई कहानी और नई कविता के आधार पर निर्मित सिद्धांतों से भिन्न होंगे ।

उपर्युक्त विवेचन में हमने देखा कि काल, दृष्टि भेद से सिद्धांत भेद हो जाता है । इसलिए काव्यशास्त्र के इतिहास में विभिन्न सिद्धांतों का जमघट दिखाई देता है । एक की समय में सिद्धांत वैविध्य देखने को मिलता है । अतएवं साहित्य सिद्धांत को पूरी ईमानदारी से समझने के लिए उपर्युक्त सभी बातों के प्रति सजग होना चाहिए ।

23.3.3 महत्व

सिद्धांत सहित्यालोचन का महत्वपूर्ण हिस्सा है । उत्कृष्ट सिद्धांतों से दृष्टि-दिशा पाकर सृजनात्मक साहित्य आगे बढ़ता है । साहित्य-सृजन के सिद्धांतों की चर्चा परिचर्चा सामान्यत: देश-विदेश की प्राचीन संस्कृतियों में आरम्भ से ही मिलती है । इसके अभाव में रचना-क्रम अराजक-अनिश्चित दिशा में भटक जाता है और साहित्य का स्वस्थ विकास नहीं हो पाता । ऐसी स्थिति में साहित्य सिद्धांतों या प्रतिमानों की उपस्थिति सदैव अपेक्षित रहती है । साहित्य

सिद्धांतों के प्रतिपादन में आधुनिक आलोचकों ने पूरे मनोयोग से हिस्सेदारी की है । उनके द्वारा काव्य प्रतिमानों की चर्चा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में की गई है ।

23.3.4 प्रमुख आलोचक एवं उनका कार्य

सैद्धांतिक आलोचना का श्रीगणेश भारतेन्दु हरिशचन्द्र की पुस्तक 'नाटक' से ही हो जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्याम सुन्दर दास, गुलाब राय, डॉ. राम विलास शर्मा, आचार्य बलदेव उपाध्याय, डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी, डॉ. नगेन्द्र ने सैद्धांतिक समीक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य करके इसे समृद्ध किया । रामचन्द्र शुक्ल का रस मीमांसा, श्यामसुन्दर दास का साहित्यालोचक' महत्वपूर्ण ग्रंथ है । गुलाबराय ने 'सिद्धांत और अध्याय', 'काव्य के रूप', 'हिन्दी नाट्य विमर्श' आदि ग्रंथों में भारतीय एवं पाश्चात्य ! दृष्टिकोणों से साहित्य-सिद्धांतों का विवेचन किया है। डॉ. नगेन्द्र ने इस क्षेत्र में विपुल ' मात्रा में कार्य किया है । उन्होंने रीति काव्य की भूमिका', 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका', रस सिद्धांत', 'काव्य बिम्ब', 'अरस्तु का काव्य शास्त्र आदि ग्रंथों की रचना कर हिन्दी समीक्षा को एक प्रौढ़ एवं सशक्त आधार प्रदान किया । आचार्य बलदेव उपाध्याय ने 'भारतीय साहित्य शास्त्र तथा डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी ने भारर्ताय साहित्य', 'रस विमर्श' में साहित्य सिद्धांतों का विवेचन किया है । प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें' में डॉ. रामविलास शर्मा ने प्रगतिशील आलोचना के स्वरूप का विवेचन किया है । डॉ. कृष्णदेव झारी का रसशास्त्र और साहित्य समीक्षा' डॉ. भोलाशंकर व्यास का 'ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धांत'. भी सैद्धांतिक समीक्षा के महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं ।

23.4 ऐतिहासिक आलोचना

23.4.1 परिभाषा

किसी कृति की आलोचना उसके रचना काल की विविध परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में करना ऐतिहासिक आलोचना है । हिन्दी साहित्य कोष के अनुसार ''किसी कृति की व्याख्या करते समय रचयिता के पूर्ववर्ती तथा समकालीन इतिहास का आश्रय ग्रहण करने से ऐतिहासिक आलोचना का जन्म होता है ।'' इसे हम इस तरह कह सकते हैं कि इतिहास की कसौटी पर किसी कृति का मूल्यांकन ऐतिहासिक आलोचना के अन्तर्गत आयेगा ।

23.4.2 स्वरूप

साहित्य और इतिहास में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है । इतिहास मनुष्य की उपलब्धियों और असफलताओं की प्रमाणिक जानकारी उपलब्ध कराता है । साहित्य मानव जीवन का सजीव अंकन करता है । अनेक साहित्यक कृतियॉ मानव-इतिहास के अभिलेख को उजागर करती है। इन कृतियों से इतिहासकार भी दिशा प्राप्त करते हैं । मनुष्य अपने अतीत को समझने के लिए इतिहास का आश्रय ग्रहण करता है और इसके द्वारा वह वर्तमान और भविष्य की सम्भावनाओं का अनुमान भी कर लेता है । साहित्य के ऐतिहासिक मूल्यांकन द्वारा ऐतिहासिक महापुरूषों और नायकों के चरित्र, प्राचीन सामाजिक, सांस्कृतिक आन्दोलनों के स्वरूप,

राजनीतिक घटनाओं तथा अतीत की परिस्थितियों के पुनरावर्तन के कारण परिणामों के सम्भावित रूपों का अंदाजा लगाया जा सकता है ।

ऐतिहासिक आलोचना दो रूप में की जा सकती है । इसमें पहला प्रकार है-काल विशेष से सम्बन्धित साहित्यक कृतियों के माध्यम से उस युग का इतिहास खोजना । इन कृतियों के माध्यम से हमें उस युग के शासक, शासन प्रणालियों, धार्मिक-व्यवहार, संस्कार, रहन-सहन, पर्वोल्लास, जीवन-दर्शन का ज्ञान होता है । इस पद्धति से हम प्रसाद के नाटकों का अध्ययन करें तो हम बौद्ध कालीन एवं गुप्त कालीन इतिहास को जान सकते हैं । दूसरा रूप है इतिहास की कसौटी पर किसी साहित्यक-ऐतिहासिक कृति का मूल्यांकन । इसमें किसी ऐतिहासिक काव्य, उपन्यास के कथानक, पात्रों, काल एवं भाषा का मूल्यांकन करते हु ए इतिहास को आधार बनाया जाता है । उदाहरण के लिए प्रसादजी का नाटक 'चन्द्रगुप्त मौर्यकालीन इतिहास की घटना है, इसलिए यदि इसका मूल्यांकन करते हु ए हम इसकी घटनाओं और पात्रों को इतिहास के पैमाने पर परखेंगे तो हमें अनेक ऐतिहासिक तथ्यों के साथ अनैतिहासिक और अप्रमाणिक तथ्य भी मिलेंगे, जिन्हें लेखक की कल्पना की उपज कहा जायेगा । जैसे किसी इतिहास में सेल्यूकस की पुत्री का नाम या भारत प्रेम नहीं लिखा मिलता । अलका-सिंहरण की प्रासंगिक कथा इतिहास का सत्य नहीं है । कोई इतिहास यह नहीं बताता कि सिंहरण ने युद्ध भूमि में अलक्षेन्द्र को गिराकर भी क्षमा कर दिया था । ये समस्त घटनायें एवं तथ्य इतिहास के पैमाने पर अनैतिहासिक और अप्रमाणिक है । फिर भी एक ऐतिहासिक नाटक का हिस्सा है । ये चीजें तत्कालीन ऐतिहासिक वातावरण का अंग है भले ही इतिहास ग्रंथों में इसका वर्णन नहीं मिलता लेकिन उक्त वातावरण का सत्य यह हो सकती हैं । इतिहास के पत्रों को मौलिक रचनाओं में ढालने वाले रचनाकार को यह स्वतंत्रता होती है कि वह घटनाओं के यथार्थ के साथ-साथ वातावरण निर्माण के लिए कल्पित पात्रों, घटनाओं का सहारा ले ।

23.4.3 महत्व

इस आलोचना पद्धति का मुख्य लक्ष्य युग की आत्मा को समझना होता है । कोई भी कालजयी रचनाकार अपने युग से अछूता नहीं रहता क्योंकि वह सृष्टा के साथ-साथ दृष्टा होता है । उदाहरणस्वरूप हम अपने दो महान रचनाकारों तुलसीदास और प्रेमचन्द के साहित्य का अध्ययन करें तो पायेंगे कि तुलसीदास के काव्य-संसार में मध्यकालीन भारत की सामाजिक-सांस्कृतिक तस्वीर उभर कर आती है । प्रेमचन्द का कथा साहित्य तो ब्रिटिश कालीन भारत का दस्तावेज है जिसमें ब्रिटिश सरकार की दमनकारी नीतियों, किसानों की दुर्दशा, जमींदारों एवं महाजनों के शोषण, दलितों एवं स्त्रियों की दयनीय दशा के चित्र अंकित हैं ।

23.4.4 प्रमुख आलोचक एवं उनके ग्रंथ

ऐतिहासिक आलोचना के विकास में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. रामकुमार वर्मा, डॉ. भगीरथ मिश्र के नाम उल्लेखनीय है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखकर पहली बार हिन्दी साहित्य का एक सुव्यवस्थित, सुसंगठित और मौलिक इतिहास प्रस्तुत किया है । उन्होंने इसमें विभिन्न कालों के साहित्य का बड़ा सटीक

विवेचन किया है । इसके महत्व का अन्दाज इसी से लगाया जा सकता है कि परवर्ती इतिहास ग्रंथों का प्रस्थान बिन्दु आचार्य शुक्ल द्वारा लिखित इतिहास रहा है । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य की भूमिका, हिन्दी साहित्य का आदिकाल', हिन्दी साहित्य: उद्भव और विकास आदि ग्रंथों की रचना कर हिन्दी साहित्य के इतिहास पर नवीन ज्ञान का प्रसार करते हुए अनेक मौलिक स्थापनाऐ की । डॉ. रामकुमार वर्मा ने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में आदिकाल एवं भक्तिकाल का विस्तार से विवेचन किया है । डॉ. भगीरथ प्रसाद मिश्र ने हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास' एवं 'हिन्दी साहित्य: उद्भव और विकास के द्वारा हिन्दी साहित्य के विविध पक्षों से परिचित कराया है ।

23.5 सारांश

हिन्दी साहित्य में विभिन्न रूप एवं पद्धतियाँ देखने को मिलती है । साहित्य की परख में इनका अपना महत्व है । पाठालोचन के द्वारा हम प्राचीन साहित्य का उसके वास्तविक स्वरूप में आस्वादन कर सकते हैं । यह वह पद्धति है जिससे साहित्य अपने सटीक रूप में हमारे सम्मुख उपलब्ध होता है ।

सैद्धांतिक आलोचना में सिद्धांतों की स्थापना, व्याख्या एवं विवेचना होती है । साहित्य के विकास में इसकी महत्ती भूमिका होती है । यह जहाँ रचनाकार को दृष्टि प्रदान करती है वहीं साहित्य के मूल्यांकन के मापदण्ड निर्धारित करती है । सैद्धांतिक आलोचना विकासमान प्रक्रिया है । युग के अनुरूप इसमें परिवर्तन होता रहता है ।

ऐतिहासिक आलोचना में इतिहास की कसौटी पर साहित्य का मूल्यांकन किया जाता है । साहित्य की वास्तविक परख युग की परिस्थितियों के संदर्भ में ही हो सकती है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, माता प्रसाद गुप्त, हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा, नगेन्द्र, रामकुमार वर्मा, भगीरथ मिश्र आदि विद्वानों ने आलोचना की इन पद्धतियों के विकास में प्रशंसनीय एवं गम्भीर योगदान दिया है ।

23.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. पाठालोचन से अभिप्राय है? पाठालोचन की प्रक्रिया समझाइए ।
2. पाठालोचन के विविध सोपन क्या हैं? उदाहरण सहित बताइए ।
3. पाठालोचन के महत्व को समझाते हुए प्रमुख आलोचको का परिचय दीजिए ।
4. सैद्धान्तिक आलोचना को समझाते हुए इस क्षेत्र के प्रमुख आलोचको के कार्य का वर्णन कीजिए ।
5. सैद्धान्तिक आलोचना को साहित्य - चिन्तन कहना कहाँ तक उचित है, और क्यों?
6. ऐतिहासिक आलोचना किसे कहते हैं? इसके महत्व पर प्रकाश डालिए ।
7. प्रमुख ऐतिहासिक आलोचकों का परिचय देते हुए उनके कार्यो का विवरण दीजिए ।

23.7 संदर्भ ग्रन्थ

1. ठा. भगवत स्वरूप चतुर्वेदी : हिन्दी आलोचना का स्वरूप

2. बाबू गुलाब राय : काव्य के रूप
3. बाबू गुलाब राय : सिद्धान्त और अध्ययन
4. डॉ. श्याम सुन्दर दास : साहित्यालोचन
5. डॉ. नगेन्द्र हिन्दी : साहित्य का इतिहास सं.
6. डॉ. भगीरथ मिश्र : काव्य शास्त्र
7. डॉ. बच्चन सिंह : हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास

इकाई-24 हिन्दी का आलोचना शास्त्र-II : प्रगतिशील शास्त्रीय, रीतिवादी व स्वच्छन्दतावादी आलोचना

इकाई की रूपरेखा

24.0 उद्देश्य

24.1 प्रस्तावना

24.2 प्रगतिशील आलोचना

24.2.1 प्रगतिशील आलोचना का स्वरूप

24.2.2 प्रगतिशील आलोचना का विकास

24.2.3 प्रमुख आलोचक

24.3 शास्त्रीय आलोचना

24.3.1 शास्त्रीय आलोचना का स्वरूप

24.3.2 शास्त्रीय आलोचना का विकास

24.3.3 प्रमुख आलोचक

24.4 स्वच्छन्दतावादी आलोचना

24.4.1 स्वच्छंदतावादी आलोचना का स्वरूप

24.4.2 स्वच्छंदतावादी आलोचना का विकास

24.4.3 प्रमुख आलोचक

24.5 सारांश

24.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

24.7 संदर्भ ग्रंथ

24.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप हिन्दी आलोचना के विभिन्न रूपों का परिचय प्राप्त करेंगे । इस इकाई के अध्ययन से आप:

- प्रगतिशील आलोचना के स्वरूप को समझ सकेंगे,
- शास्त्रीय आलोचना के संबंध में जान सकेंगे,
- स्वच्छंदतावादी आलोचना के स्वरूप एवं विकासं से परिचित हो सकेंगे,
- प्रमुख आलोचकों तथा उनके कार्यो से अवगत हो सकेंगे ।

24.1 प्रस्तावना

हिन्दी आलोचना में विविध रूपों एवं पद्धतियों का विकास देखने को मिलता है । इन पद्धतियों को भली भांति समझने पर ही हम हिंदी आलोचना को समझ सकेंगे । बीसवीं सदी में प्रगतिशील आलोचना ने साहित्य का नूतन दृष्टि से मूल्यांकन किया । साहित्य के सामाजिक सरोकारों

की स्थापना पर बल दिया । स्वच्छंदतावादी आलोचना और शास्त्रीय आलोचना भले ही परस्पर विरोधी हैं लेकिन हिंदी आलोचना में ये दोनों रूप भी दिखाई पड़ते हैं । हमारे अनेक प्रतिष्ठित आलोचकों-रामविलास शर्मा, नन्द दुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र. नामवर सिंह ने इन आलोचना पद्धतियों को समृद्ध किया है । आइये हम हिन्दी आलोचना के इन रूपों का परिचय प्राप्त करें।

24.2 प्रगतिशील आलोचना:

बीसवीं सदी के चौथे दशक में मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित प्रगतिवाद का उदय हुआ । सन् 1935 में ई.एम. फार्स्टर की अध्यक्षता में पेरिस में 'प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन' नामक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का पहला अधिवेशन हुआ । 1936 में डॉ. मुल्कराज आनन्द और सज्जाद जहीर के प्रयासों से भारत में इसकी शाखा खुली और प्रसिद्ध कथाकार प्रेमचंद की अध्यक्षता में लखनऊ में प्रथम अधिवेशन हुआ । कहने का तात्पर्य यह है कि 1935 के आस-पास प्रगतिवाद की नई धारा का उदय हुआ और इसने सृजनात्मक और आलोचनात्मक लेखन को प्रभावित किया ।

24.2.1 प्रगतिशील आलोचना का स्वरूप

प्रगतिशील आलोचना के स्वरूप पर दृष्टिपात करते हैं तो हम पाते हैं कि प्रगतिशील समीक्षा का प्रमुख मानदण्ड यह है कि साहित्य का निर्माण सोद्देश्य है । अब सवाल यह है कि यह उद्देश्य क्या है? सुख-दुःख की आत्माभिव्यक्ति मात्र नहीं बल्कि सामाजिक यथार्थ का सही और मार्मिक उद्घाटन है । प्रगतिशील आलोचना के अनुसार यही तत्व रचना को कालजयी बनाता है । दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि प्रगतिशील आलोचना रचना में सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति पर बल देती है । प्रगतिशील आलोचना भिन्न-भिन्न युगों के साहित्यों का उन युगों की वास्तविकताओं के आधार पर मूल्यांकन करती है । यह उचित भी है क्योंकि भिन्न-भिन्न युगों के संदर्भो और सामाजिक सम्बन्धों की रूप रेखाएं भिन्न-भिन्न होती है, उस युग का साहित्यकार अपने युग के ही सम्बन्धों और जन-विश्वासों को व्यक्त कर सकता है । साहित्यकार अपने समाज और काल की नवीन जागति और उसके अनेक पहलुओं के चित्र प्रस्तुत करता है । इसलिए प्रगतिशील समीक्षा युग की सीमाओं में ही साहित्य का परीक्षण करती है ।

प्रगति आलोचना मूलत: मार्क्स दर्शन से प्रभावित है । अत: यह अतीत के साहित्य ग्रंथों की परीक्षा अवश्य करती है परन्तु कोरे-कोरे रस और चमत्कार की कसौटी पर नहीं बल्कि उन ऐतिहासिक सामाजिक सत्यों के आधार पर जिनसे ये रस, चमत्कार और सौन्दर्य उत्पन्न होते हैं, जो साहित्य शोषकों का समर्थन करता है वह हेय है चाहे उसमें कितना ही बाह्य सौन्दर्य क्यों न हो । मार्क्सवादी आनंद को काव्य का लक्ष्य नहीं मानते बल्कि उसको केवल साधन के रूप में ग्रहण करते हैं । साहित्य का उद्देश्य तो मानव को भौतिक विकास की प्रेरणा प्रदान करना है । प्रगतिशील आलोचना सामूहिकता पर जोर देती है, क्योंकि जीवन से सम्पर्क तोड़ लेने तथा सामूहिक भावों के स्थान पर व्यक्ति वैचित्र्य को स्थान देने से कला में प्राण-शक्ति का अभाव हो जाता है, इसलिए वह अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकती, इसलिए चिरस्थायी साहित्य का वर्ण्य-विषय सामाजिक और साग्रहइक होना चाहिए । जीवन के केवल

सुन्दर और कोमल पक्ष अथवा निरपेक्ष प्रवृत्ति के चित्रण का काव्य के वास्तविक रूप में कोई उपयोग नहीं है इससे तो केवल पूँजीवाद वर्ग की उपभोग भावना तुष्ट होती है । अतएव यह प्रगतिशील साहित्य के लिए उचित नहीं है । प्रगतिशील समीक्षा जनसामान्य में सौन्दर्य देखती है । यह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर केन्द्रित है । अतएव, यह सौन्दर्य को इसी जीवन की वस्तु स्वीकार करती है, इसे व्यक्ति-व्यक्ति की अपनी रूचि और शाश्वत के हवाले नहीं करती। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि यह अध्यात्मवादियों की तरह सौन्दर्य परलोक में नहीं ढूंढकर इसी लोक में ढूँढती है, जो साहित्य अध्यात्म की ओट में शोषकों के शोषण पर आधारित व्यवृस्था का समर्थन करता है प्रगतिशील आलोचना की दृष्टि में हेय है । प्रगतिशील आलोचना बुनियादी शक्तियाँ उन्हें मानती हैं जो पूंजीवाद को नष्ट कर समाजवाद स्थापित करने के लिए प्रयासरत है । अर्थोपार्जन के साधनों पर से व्यक्ति के एकाधिपत्य को समाप्त करना, प्रतिस्पर्द्धा को समाप्त करना, पारस्परिक सहयोग का विकास करना, पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के द्वारा प्रतिष्ठित शासन व्यवस्था से मुक्ति, मानव-मानव में समानता, मैत्री एवं प्रेम की भावना की प्रतिष्ठा करना, समाजवादी व्यवस्था के प्रमुख लक्ष्य हैं । प्रगतिशील आलोचना इनका समर्थन करती है । इसके साथ ही प्रगतिशील आलोचना पलायन के स्थान पर संघर्ष को महत्त्व देती है, इसे संघर्ष करता मनुष्य सुन्दर दिखाई देता है ।

प्रगतिशील आलोचना वर्ण्य विषय की तरह भाषा और शैली को भी जनतांत्रिक बनाने पर बल देती है । भाषा की अत्यधिक कोमलता और मिठास को सामाजिक दास का प्रतीक माना जाता है । यह सही भी है क्योंकि जिस काल में मानव का जीवन शिथिल और संघर्ष शून्य हो जाता है उसके हृदय में अपनी हीन अवस्था के विरूद्ध विद्रोह नहीं जाग पाता । उस समय का साहित्य भी शिथिल और प्राणशून्य हो जाता है । साहित्य में जीवन की प्रेरक शक्तियों का अभाव हो जाता है, ऐसी स्थिति में वह मानव के उपभोग की वस्तु बन जाता है, उसकी वासना की तृप्ति-मात्र ही साहित्य का लक्ष्य हो जाता है । ऐसे समय में भाषा में कृत्रिमता, चमत्कार और अलंकारिता आ जाती है । इसके विपरीत जनवादी साहित्य की भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण होती है । अत्यधिक ऊहात्मक और चमत्कार प्रधान शैली इसके लिए उपयुका नहीं होती । इसमें अलंकारों की अनावश्यक भीड़ के लिए स्थान नहीं होता । ऐसा साहित्य अनुभूतिमय होता है। इसलिए इसकी भाषा में कलाबाजी और चमत्कार के स्थान पर हृदयस्पर्शिता और संवेदनशीलता ही अधिक होती है । उदाहरण के रूप में हम प्रेमचंद के साहित्य को देख सकते हैं । उनके उपन्यासों और कहानियों के कथानक और भाषा जनता की बीच से उपजी हुई है । इसी कारण वह सामान्य पाठक को स्वत: ही आकर्षित कर लेती है । ऐसा नहीं है कि प्रगतिशील आलोचना छंद, अलंकारों की विरोधी है । यह समीक्षा भाषा शैली को जन-सामान्य के बीच से ग्रहण करने पर बल देती है । लोक जीवन से ली हुई उपमाएं शैली का प्रवाह, सहजता भाषा को जीवंत बनाते हैं ।

24.2.2 प्रगतिशील आलोचना का विकास

उन्नीसवीं सदी के चौथे दशक के मध्य में साहित्य के स्वरूप में बदलाव आना शुरू हो गया। यह वह समय था जब शुक्लोत्तर युग के आलोचक छायावाद की प्रतिष्ठा पर जोर दे रहे थे

जबकि स्वयं छायावादी कवियों ने एक युग की समाप्ति करके नये युग का आह्वान किया। 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन में अध्यक्ष पद से बोलते हुए प्रसिद्ध कथाकार प्रेमचंद ने साहित्य के नये उद्देश्य स्पष्ट किए । साहित्य की अन्य विधाओं की तरह आलोचना में प्रगतिशीलता का उदय हुआ । सर्वप्रथम शिवदान सिंह चौहान ने मार्च 1937 ई. के विशाल भारत में 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता शीर्षक से एक लेख लिखा। इस लेख में प्रगतिशील साहित्य के सिद्धान्तों के साथ-साथ हिन्दी साहित्य की परम्परा पर भी विचार व्यक्त किया गया है । भक्तिकाल के सम्बन्ध में इसमें टिप्पणी की गई है - "भक्तिकाल में भी केवल आत्म-समर्पण, भक्ति में तल्लीनता भाव को ही हमारे तुलसी-सूर आदि साहित्य में भर पाए थे । उनके बाद रीतिकाल में विचारधारा तो दूर, हमारे कवि कविताबद्ध कोकशास्त्र लिखने लगे । उनसे इस अधोगति के अलावा और उम्मीद भी क्या की जा सकती थी । वर्तमान काल में भी किसी स्वस्थ विचारधारा का नाम नहीं ।'' इस लेख में हिन्दी साहित्य के एक हजार वर्ष पुराने साहित्य को खारिज कर दिया । हालांकि बाद में शिवदान सिंह चौहान के दृष्टिकोण में बदलाव आया । यह बदलाव हंस'और 'आलोचना के सम्पादन में परिलक्षित होता है । आरम्भिक प्रगतिशील समीक्षा में प्रकाश चन्द गुप्त का उल्लेखनीय योगदान रहा है । अंग्रेजी के शिक्षक होते हुए भी उन्होंने हिन्दी साहित्य की पुरानी परम्परा और समकालीन साहित्य का प्रगतिशील दृष्टिकोण से सहानुभूतिपूर्वक मूल्यांकन किया । उनके तीन निबंध संग्रह 'आधुनिक हिन्दी साहित्य: एक दृष्टि' (1952 ई.) हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा (1953 ई) और साहित्यधारा (1956 ई.) उनकी आलोचना दृष्टि के परिचायक हैं ।

प्रगतिशील आलोचना को सुदृढ़ आधार डॉ. रामविलास शर्मा ने प्रदान किया प्रगतिशील आलोचना की आरम्भिक त्रुटियों का निवारण करने के लिए उन्होंने साहित्य की परम्परा का पुर्नमूल्यांकन किया । उन्होंने अतीत एवं वर्तमान के सम्बन्धों पर विचार किया - "युग-युग में जो सामाजिक परिवर्तन होते हैं, उनके साथ एक सामाजिक विकास क्रम भी चलता रहता है । एक बीता हुआ युग इस सामाजिक विकासक्रम के कारण बीत जाने पर भी हमसे जुड़ा हुआ हो सकता है वर्तमान काल का सम्बन्ध भूत और भविष्यत् दोनों कालों से है । इसलिए हम उस विकास-शृंखला को भूल नहीं सकते । एक सजग और सचेत वर्तमान के लिए आवश्यक है कि वह भविष्य की ओर उन्मुख होते हुए भी अपनी पिछली ऐतिहासिकता से अनभिज्ञ न हो । ऐतिहासिकता ज्ञान के बिना कोल्हू का बैल एक ही दर पर चक्कर लगाकर अपने को अत्यन्त प्रगतिशील समझ सकता है । एक साहित्यक रिवाइवल के रूप में नहीं, ऐतिहासिक विवेचन के आधार पर अपनी साहित्यिक एवं सामाजिक परम्परा का इगन आवश्यक है ।" ऐतिहासिक ज्ञान की आवश्यकता पर बल देते हुए डॉ. रामविलास शर्मा उन तत्वों का विवेचन करते हैं जिनके कारण अतीत का साहित्य हमारे लिए महत्वपूर्ण है ।

डॉ. रामविलास शर्मा ने छायावादी काव्य और उसमें विशेषत: निराला के साहित्य से आलोचना कार्य की शुस्थात की । प्रेमचंद, निराला, भारतेन्दु रामचन्द्र शुक्ल पर उन्होंने उल्लेखनीय कार्य करके, प्रगतिशील आलोचना की सामर्थ्य को सिद्ध किया ।

प्रगतिशील आलोचना की विकास यात्रा में गजानन माधव मुक्तिबोध ने भी सक्रिय हस्तक्षेप किया । उन्होंने कामायनी पर नये ढंग से विचार किया । उनका मानना है कि "कामायनी

साहित्य के रसवादी-छायावादी पुराणपथियों के हाथ में नवीन-प्रगति-शक्तियों के विरूद्ध एक शस्त्र बन गई ।" मुक्तिबोध ने 'कामायनी' की वर्ग-दर्शन पर आधारित पुर्नव्याख्या प्रस्तुत की। कविता के संदर्भ में उन्होंने मार्क्सवादी आलोचना को सतहीपन से उबारकर गहराई तक ले जाने का प्रयास किया ।

आलोचना के क्षेत्र में नामवर सिंह के आगमन से प्रगतिशील आलोचना परिष्कृत हुई । उन्होंने नई कविता का सहानुभूति ढंग से मूल्यांकन करके इस आक्षेप का निवारण किया कि प्रगतिशील आलोचना ने नई कविता का सही मूल्यांकन नहीं किया । उन्होंने कविता और कहानी पर गहन विवेचन एवं विश्लेषण करके प्रगतिशील आलोचना का विकास किया ।

प्रगतिशील आलोचना साहित्य की विभिन्न विधाओं यथा-कहानी, उपन्यास, कविता, नाटक आदि का सफलतापूर्वक मूल्यांकन कर रही है । 'हंस', 'वर्तमान साहिह्य', 'आलोचना', 'कथन', कृति और उत्तरार्द्ध' आदि पत्र-पत्रिकाओं ने इसके विकास में योगदान किया है ।

24.5.3 प्रमुख आलोचक

हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य आलोचक और मार्क्सवादी विचारक डॉ. रामविलास शर्मा प्रगतिशील हिन्दी समीक्षा के प्रतिनिधि और प्रधान स्तम्भ हैं । अपनी तीखी, पैनी और प्रगतिशील आलोचना पद्धति के कारण उन्होंने हिन्दी साहित्य को एक विशेष गति प्रदान की । उन्होंने बहुत लिखा लेकिन इतना अधिक लिखने पर भी उनकी कृतियों में विचार गांर्भीय का अभाव नहीं आने पाया । उन्होंने इतिहास, दर्शन, राजनीति, भाषा विज्ञान, आलोचना आदि विषयों पर अपनी लेखनी चलायी है । आलोचना सम्बन्धी उनकी प्रमुख पुस्तकें - प्रेमचंद, 'भारतेन्द्र युग', 'निराला', 'भारतेन्द्र हरिश्चन्द्र', 'प्रेमचन्द और उनका युग', 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना', 'निराला की साहित्य साधना', 'भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा', महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ', प्रगति और परम्परा', प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ, प्रमुख हैं ।

साहित्य के सम्बन्ध में डॉ. रामविलास शर्मा के निम्न विचार उल्लेखनीय हैं -

1. 'साहित्य विकासवान है और वह एक महान सामाजिक प्रक्रिया है, इसका सबसे बड़ा सबूत यह है कि प्राचीन आचार्यो ने भविष्य देखकर जो सिद्धान्त बनाये थे, वे आज नये साहित्य पर पूरी-पूरी तरह से लाग नहीं किया जा सकते, पर उन्हें लागू करने से या तो पैमाना रू जाएगा या फिर अपने ही पैरों को थोड़ा तराशना पड़ेगा । काव्य के नौ रसों से साहित्य की परख नहीं हो सकती ।'
2. 'साहित्य का सौन्दर्य किन्हीं नियमों के अधीन न होता और हर व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर होता तो एक दूसरे का सौन्दर्य हम समझ ही नहीं पाते ।'
3. 'किसी भी युग का साहित्य उस समय के संसार और समाज के प्रति प्रचलित धारणाओं से अछूता नहीं रहता साहित्यकार संसार और समाज के प्रति कोई न कोई दृष्टिकोण अपनाये बिना तो रचना कर ही नहीं सकता ।'

4. कला की विषयवस्तु न वेदान्तियों का ब्रह्म है न हीगल का निरपेक्ष विचार । मनुष्य का इन्द्रिय बोध, उसके भाव, उसके विचार, उसका सौन्दर्य बोध कला की विषय वस्तु है ।'
5. कवि क्या लिखे, क्या न लिखे यह उसकी इच्छा के साथ-साथ परिस्थितियों पर भी निर्भर है । हर युग में, हर देश में उसको इच्छानुसार लिखने की स्वाधीनता नहीं रही इसलिए अपनी स्वाधीनता का हामी लेखक समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को भी खूब पहचानता है, क्योंकि वह जानता है कि समाज के संघर्ष से ही उसे यह स्वाधीनता मिली है और वह साधारण जनता की स्वाधीनता का एक अंग है ।
6. 'अन्य विचारधाराओं के समान नैतिकता की धारणा भी विकासमान मानव समाज के इतिहास से परे भी है ।'
7. 'यथार्थवादी कला में व्यक्ति सामाजिक जीवन के संदर्भ में चित्रित किया जाता है । वह समाज निरपेक्ष इकाई न होकर एक साथ ही व्यक्ति और टाइप दोनों होता है ।
   जैसे कोई पिछड़े किसान का टाइप है साथ ही अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण जीता जागता प्रतीक है यांत्रिक प्रतीक नहीं ।

साहित्य और समालोचना के सम्बन्ध में डॉ. रामविलास शर्मा के उपर्युक्त विचार बहुत महत्त्वपूर्ण है इनसे साहित्य सम्बन्धी अनेक भ्रांतियों का निवारण हुआ ।

हिन्दी आलोचना की भाषा के निर्माण में भी रामविलास शर्मा का योगदान महत्त्वपूर्ण है । शास्त्रीय दुरूहता से युक्त बोलचाल के पारदर्शी गद्य में जटिल से जटिल बात को सुलझाकर कहने की कला में डॉ. शर्मा बेजोड़ है उनके हाथों आलोचना जन सामान्य के लिए भी पठनीय बन सकी ।

डॉ. नामवर सिंह हिन्दी के प्रतिभासम्पन्न आलोचक है । इनकी आलोचना की विशेषता है कि वह रचना का सा आनन्द प्रदान करती है । दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि इनकी हिन्दी आलोचना शैली में सर्जनात्मकता और ताजगी है । इन्होंने छायावादी कविता के छाया-चित्रों में निहित सामाजिक सत्यों का उद्घाटन किया । उनकी प्रमुख आलोचनात्मक पुस्तकें हैं - 'छायावाद', 'कविता के नये प्रतिमान', 'कहानी-नई कहानी', 'दूसरी परम्परा की खोज' तथा 'इतिहास और आलोचना ।

इनके अतिरिक्त प्रगतिशील आलोचना के विकास में अमृत राय, शिव कुमार मिश्र, रमेश कुंतल मेघ, कुंवरपाल सिंह मैनेजर पाण्डेय, जवरीमल्ल पारख, शंभुनाथ ने सक्रिय योगदान किया है ।

24.3 शास्त्रीय आलोचना

शास्त्रीय समीक्षा हिन्दी तथा विश्व की अन्य भाषाओं की लम्बे समय से प्रचलित रही है । आइये इसके स्वरूप को समझें-

24.3.1 शास्त्रीय आलोचना का स्वरूप

यह समीक्षा पद्धति साहित्य के स्वरूप का निर्धारण और विश्लेषण करती है । इसमें साहित्य के स्वरूप, लक्ष्य आदि का विवेचन किया जाता है । इसमें प्रसिद्ध रचनाओं के आधार पर

सिद्धान्तों और नियमों का निर्धारण किया जाता है । संक्षेप में, यही शास्त्रीय समीक्षा'' कहलाती है ।

शास्त्रीय आलोचना के दो रूप देखने को मिलते हैं -

1. रीतिवादी शास्त्रीय आलोचना
2. नव शास्त्रीय आलोचना

रीतिवादी शास्त्रीय आलोचना में जीवन के यथार्थ परिवेश से दूर सुविचारित या आरोपित नीति, सिद्धांत, श्रेष्ठ जीवन पद्धति, श्रेष्ठ कला पद्धति के आधार पर लिखित आलोचना पद्धति ही रीति पद्धति है जिसमें रचना का बने बनाए सांचे में विश्लेषण किया जाता है । यथार्थ के स्थान पर कल्पना और उदात्त पद्धति के आरोपित आदर्श को अधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है। यह परम्परावादी अथवा अभिजात्य पद्धति भी मानी जाती है । उदाहरण के लिए विशिष्ट गुणों से सम्पन्न नायक, तद्नुरूप नायिका, घटनाओं का एक चढ़ाव-उतार, एक निश्चित ढंग की क्रिया, प्रतिक्रिया ओर परिणाम, निश्चित ढंग का फलागम और परिणिति के आधार पर नाटक की आलोचना शास्त्रीय आलोचना कही जायेगी । नवशास्त्रीय आलोचना में शास्त्रीय प्रतिमानों का निर्वाह करते हुए युगीन आग्रहों और आवश्यकताओं के अनुरूप नए उपकरणों का समावेश भी किया गया । विषय के अनुकूल छंद योजना, नवीन छंदों के ग्रहण, शुद्ध और सरल भाषा लेखन आदि के साथ नवीन विषयों के ग्रहण पर भी बल दिया गया । इस संदर्भ में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'रसज्ञ रंजन' में लिखा है कि - "चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनन्त पृथ्वी अनन्त पर्वत सभी पर कविता हो सकती है । यही नहीं उन्होंने 'अलंकार' और 'रस' की जटिलताओं को भी तत्कालीन काव्य ग्रंथों को देखते हुए अनावश्यक बताया । उन्होंने कहा - 'अलंकार और रस-विवेचन के झगड़ों से जटिल ग्रंथों के बनने की हम कोई आवश्यकता नहीं देखते ।' देश प्रेम एवं राष्ट्रीयता की भावना को शास्त्रीय प्रतिमानों में सम्मिलित किया गया । 24.3.2 शास्त्रीय आलोचना का विकास

शास्त्रीय आलोचना का एक रूप हमें रीतिकाल के लक्षण ग्रंथों में दिखाई पड़ता है । आधुनिक हिन्दी आलोचना का सूत्रपात भारतेन्दु युग में हुआ । शास्त्रीय आलोचना भी देखने को मिली। उसके स्वरूप में परिवर्तन भी आया । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नाटक के लिए' समाज-सुधार देश-प्रेम को आवश्यक उपकरण के रूप में स्वीकार कर लिया था । ये उपकरण शास्त्रीय प्रतिमानों के अंतर्गत नहीं आते । अतएव इन्हें नवशास्त्रवादी उपकरण ही कहा जाएगा ।

द्विवेदी युग आते-आते यह आन्दोलन और भी परिपुष्ट हो गया ओर इसकी गतिविधि व्यापक होने लगी । जहां एक ओर पदम सिंह शर्मा. मिश्रबन्धु कृष्ण बिहारी मिश्र, लाला भगवान दीन आदि ने तुलनात्मक समीक्षा का श्रीगणेश किया । वहीं दूसरी ओर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी डॉ. श्याम सुन्दर दास आदि ने नए साहित्यक आदर्श और समीक्षा शैलियों का विकास किया । जहाँ पदमसिंह शर्मा, कृष्ण बिहारी मिश्र, लाला भगवान दीन रीतिकालीन प्रभावों से प्रभावित हुए वहीं द्विवेदीजी और श्यामसुन्दर दास नए युग के प्रभाव से प्रभावित हुए । डॉ. श्याम सुन्दर दास ने वैचारिक भूमि पर भारतीय और पाश्चात्य साहित्यिक सिद्धांतों का और

आदर्शों का उद्घाटन अपने साहित्यालोचन में किया जो नवशास्त्रवाद को सैद्धान्तिक दृढ़ता देने में बहुत हद तक सफल हुआ । द्विवेदी युग में साहित्यिक विचारों का ऊहापोह बड़ी सक्रिय रीति से होने लगा, परन्तु गंभीर सैद्धान्तिक निरूपणों की कमी बनी रही । इस कमी की पूर्ति शुक्लजी के आलोचना क्षेत्र में आने से पूरी हुई ।

आचार्य शुक्ल नवशास्त्र के प्रधान आचार्य हैं उन्होंने चली आती हुई शास्त्रीय परम्परा का परिष्कार किया, उसे नई उद्भावना प्रदान की । पूरे भारतीय साहित्य को उन्होंने लोकधर्म और मर्यादा की जिस भूमि पर लाकर देखा वह ऐतिहासिक महत्व की है । इसी प्रकार उन्होंने रस, अलंकार आदि साहित्य के विभिन्न तत्वों को उनके सम्यक् स्थानों पर देखने का और प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया । उन्होंने समीक्षा के नए प्रतिमाने उपस्थित किए जो उनके सूर, तुलसी, जायसी आदि विवेचन में दिखांई देते हैं । साहित्य विवेचन के इस नये उत्थान में आचार्य शुक्ल का महत्वपूर्ण स्थान है ।

शुक्लोत्तर समीक्षा में शास्त्रवादी समीक्षा के विकास में गुलाब राय, नगेन्द्र ने सक्रिय भूमिका का निर्वाह किया ।

24.3.3 प्रमुख आलोचक

आधुनिक काल में रीतिकालीन लक्षण ग्रंथों की परम्परा का पालन करते हुए जिन समीक्षकों ने ग्रंथों की रचना की उनमें कवि राजा मुरारीदीन का जवन्त भूषण', महाराज प्रतापनारायण सिंह का रस कुसुमकाकर, लाल भगवानदीन का 'अलंकार मंजूषा'. अयोध्या सिंह उपाध्याय का 'रस कलश', शुकदेव बिहारी मिश्र का साहित्य परिजात'. रामदहिन मिश्र का काव्य दर्पण उल्लेखनीय है । इन आलोचकों ने रीतिकालीन लक्षण ग्रंथ परम्परा को जीवित रखने का प्रयास किया है ।

नवशास्त्रीय आलोचना में महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्याम सुन्दर दास, बाबू गुलाब राय, डॉ. नगेन्द्र का नाम उल्लेखनीय है आचार्य शुक्ल ने चिन्तामणि (भाग 1 एवं 2) में मौलिक सिद्धांतों की स्थापना की । बाबू श्याम सुन्दरदास ने नवीन समीक्षा सिद्धांतों की स्थापना पर बल दिया । उन्होंने 'साहित्यालोचन' में भारतीय रस सिद्धांत के साथ ही कला, साहित्य के संबंध में पाश्चात्य विचारकों- हडसन, वर्सफोल्ड आदि की मान्यताओं को भी स्थान दिया । बाबू गुलाब राय ने सिद्धांतों के समन्वय पर बल दिया । डॉ. नगेन्द्र ने रस सिद्धान्त ग्रंथ में रस के महत्त्व को निरूपित किया है ।

24.4 स्वछंदतावादी आलोचना

स्वछंदतावाद परम्परा रूढ़ियों से विद्रोह का रूप है । हिन्दी में स्वछंदतावादी आलोचना से तात्पर्य है कि प्राचीन सिद्धान्तों की रूढ़ियों से विद्रोह और देश को काल की नवीन चिंतन धाराओं से तालमेल बैठाने वाली आलोचना ।

24.4.1 स्वच्छंदतावादी आलोचना स्वरूप

स्वछंदतावादी आलोचना के स्वरूप पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि सिद्धांत की भूमि पर स्वछंदतावादी विचारकों ने काव्य और मानव जीवन के संबंध को अनिवार्य बतलाया है । इसका अर्थ यह है कि कवि की अनुभूतियों का स्त्रोत जीवन व्यापार से उच्छलित होता है । प्राचीन काव्य के विवेचकों ने काव्य और काव्य रस की अलौकिकता का बहु त अधिक आग्रह कर काव्य रचना को जीवन केन्द्रित बनाने का विशेष उपक्रम नहीं किया । नए स्वछंदतावादी समीक्षकों ने उसे जीवन केन्द्रित बनाने का सम्पूर्ण उपक्रम किया है ।

स्वछंदतावादी समीक्षा में वस्तुजगत और काव्य जगत के अंतर को स्पष्ट करने की भी चेष्टा की गई है । वस्तुजगत का स्वरूप नियम है । उसमें से अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए सामग्री लेकर उसे कल्पना के माध्यम से सुसज्जित कर देना कवि का कार्य है । न तो वह वस्तुजगत को ज्यों का त्यों कविता में रूपान्तरित कर सकता है और न वस्तुजगत की नितांत उपेक्षा कर सकता है । उसे ऐसी प्रक्रिया का प्रयोग करना पड़ता है जो दोनों उद्देश्यों की सिद्धी कर सके ।

इस समीक्षा में सुन्दर और असुन्दर तत्वों की भी विवेचना की गई है । वस्तुजगत में जोअसुन्दर है वह काव्यजगत में अर्थपूर्ण और सुन्दर बन सकता है ।

स्वछंदतावादी आलोचना के स्वरूप को कृष्ण दत्त पालीवाल ने निम्न बिन्दुओं में स्पष्ट किया है -

1. इस पद्धति ने स्वानुभूति, संश्लिष्ट अनुभूति तथा पाठकीय संवेदना से मानव-मुक्ति की भावना को जागृत करने का प्रयास किया है ।
2. काव्य प्रतिमानों में रूढ़ियों का बहिष्कार और सृजन-दृष्टि की स्वतंत्रता तथा कलात्मकता इस समीक्षा की मूल प्रेरणा है ।
3. शुक्ल जी की नैतिक, लोकादर्शवादी प्रबन्धोचित समीक्षा के स्थान पर नवीन दृष्टि विकसित की है तथा आवयविक-सिद्धान्त की दृष्टि से कृतियों के मूल्यांकन पर जोर दिया है ।
4. समीक्षा के रीतिकालीन मानदण्डों के स्थान पर लोक जागरणवादी प्रतिमानों की तार्किकता से महत्व प्रतिष्ठा की है।
5. कविता को स्थूल कथानक के सांचे से मुक्त कर आत्माभिव्यक्ति की स्थापना का प्रयत्न किया है ।
6. यहाँ काव्यशास्त्र के शास्त्रीयतावादी पक्ष के स्थान पर स्वछंदतावादी काव्य मूल्यों की स्थापना है । जिनमें कलाकृति के साथ कवि व्यक्तित्व की स्वतंत्रता को पूरा आदर दिया गया है ।
7. वस्तुवाद तथा यथार्थवाद के स्थान पर कल्पना, भावुकता, आत्माभिव्यंजना को आदर मिला है । पर यह कल्पना भी नवजागरण की भावभूमि के रंग में ही रंजित है ।
8. स्थूल वर्णात्मकता, इतिवृत्तात्मकता के स्थान पर सूक्ष्म प्रतिकात्मकता सांकेतिकता, ध्वन्यात्मकता को स्थान ।

9. पाश्चात्य जगत के बिम्बवाद, प्रतीकवाद, अभिव्यंजनावाद, भावुकतावाद, व्यक्तिवाद आदि से प्रभाव ग्रहण करने पर भी भारतीय सांस्कृतिक, सामाजिक चिन्ता-धारा का प्रवाह ही प्रबल रहा है ।
10. काव्य प्रयोजन में सौन्दर्य एवं मंगल का सामंजस्य ।

24.4.2 स्वच्छंदतावादी समीक्षा का विकास

स्वच्छंदतावाद को एक व्यापक दृष्टि से देखने वाले लोग आधुनिक युग के समस्त काव्य, जो भारतेन्दु युग से प्रारम्भ हुआ था, स्वछंदतावाद के तत्वों से सम्पन्न बताते हैं, परन्तु अपने पारिभाषिक रूप में यह याद है और इससे सम्बद्ध काव्य बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरण की उपज है ।

यद्यपि काव्य क्षेत्र में श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी और प्रसाद जी का आरम्भिक काव्य-स्वछंदतावादी भावनाओं की अतुभूति बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में अथवा उसके पूर्व पश्चात् कराने लगा था, तथापि काव्य साहित्य में इसका वास्तविक प्रवेश सन् 1918-20 से माना जाता है ।

काव्य के अतिरिक्त विचारों के क्षेत्र में भी स्वच्छंदतावाद का स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है। सरदार पूर्णसिंह के निबन्धों में जो भावुकता और आदर्शवादिता है उसमें स्वछंदतावादी प्रभाव देखा जा सकता है ।

सरदार पूर्ण सिंह के पश्चात् हिन्दी साहित्य में आचार्य शुक्ल के प्रकृति संबंधों निबंधों में स्वच्छंदतावादी भावना का प्रभाव देखा जा सकता है, लेकिन वास्तव में स्वच्छंदतावाद का सम्पूर्ण रूप 1925 के आस-पास उभर कर आया । इसी समय **मुकुटधर पाण्डेय** ने छायावाद के स्वरूप संबंधी कुछ निबंध 'शारदा' पत्रिका में लिखे थे और इसी समय सुमित्रानंदन पंत ने **'पल्लव की भूमिका'** लिखी थी । उस भूमिका को स्वच्छंदतावाद का (मेनिफेस्टो) घोषणा पत्र कहा गया ।

स्वछंदतावाद सैद्धांतिक दृष्टि और व्यावहारिक समीक्षा का उद्भव 1928- 1930 के पास माना जा सकता है । आरम्भ में स्वच्छंदतावादी समीक्षा कतिपय कवियों और लेखकों के काव्य तक सीमित थी । कुछ समीक्षक आधुनिक काव्य और कुछ अन्य समीक्षक प्राचीन काव्य को आधार बनाकर अपनी विवेचना करने लगे । इसी समय अर्थात 1930-33 तक **आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी** के निबंध लिखे गये जो आगे चलकर उनकी पुस्तक **'हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी'** में प्रकाशित हुए । इसी के आसपास आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की **'हिन्दी साहित्य की भूमिका'** और **'कबीर'** नामक पुस्तकें भी प्रकाशित हुई जिनमें स्वच्छंदतावाद का स्वरूप मानवतावादी भूमि पर अवतरित हुआ । वाजपेयी जी के समीक्षा कार्य में किसी वाद विशेष का अग्रह नहीं है, परन्तु उन्होंने भारतीय दर्शन और आध्यात्मिक तत्व का गहरा पुट अपने निबंधों में व्यक्त किया है । उसी के आस-पास **श्री शांतिप्रिय द्विवेदी** के छोटे-बड़े निबंध प्रकाशित हुए और स्वछंदतावादी व्यावहारिक समीक्षा की शैली का निर्माण हुआ ।

सिद्धांतों की भूमि पर स्वछंदतावाद के स्वरूप और उसकी मान्यताओं का विवेचन कुछ विलम्ब से हो सका । आरंभ में **हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी** की भूमिका में वाजपेयी जी ने अपनी

समीक्षा के प्रतिमानों का उल्लेख किया था । आगे चलकर यह सिद्ध हुआ कि उनके ये प्रतिमान स्वछंदतावादी प्रतिमानों के बहुत समीप है इसी के साथ सैद्धान्तिक विवेचन में कल्पना, अनुभूति, अभिव्यक्ति, प्रेरणा, अभिव्यंजना जैसे अनेकानेक शब्दों का आविष्कार हुआ और पुरानी शास्त्रीय शब्दावली का प्रचलन कम हो गया ।

24.4.3 प्रमुख आलोचक

स्वछंदतावादी आलोचना के प्रमुख आलोचक **आचार्य नन्द** दुलारे वाजपेयी माने जाते है । उन्होंने प्रबल विरोधों के रहते हुए छायावादी काव्य के सौन्दर्य का उद्घाटन कर उसके महत्व को प्रतिपादित किया । उन्होंने **'प्रसाद', 'निराला',** और 'पंत' की समीक्षा स्वच्छंदतावादी एवं सौन्दर्यबोधक मूल्यों की दृष्टि से की और इन्हें 'छायावाद' की वृहत्त्रयी के रूप में प्रतिष्ठित किया । वास्तव में छायावादी काव्य के सर्वप्रथम सहृदय व्याख्याता आचार्य नन्द **दुलारे वाजपेयी** को स्वीकार किया जायेगा । **'हिन्दी साहित्य: बीसवीं सदी, 'आधुनिक साहित्य', 'नया साहित्य: नये प्रश्न', 'जयशंकर प्रसाद'**, **महाकवि सूरदास',** इनकी प्रमुख आलोचनात्मक कृति है ।

छायावादी काव्य के सौन्दर्य का उद्घाटन करने वालों में **शांतिप्रिय द्विवेदी** का नाम भी उल्लेखनीय है उन्होंने गांधी एवं रविन्द्र की मानवतावादी दृष्टि को छायावाद की केन्द्रीय चेतना माना । उनकी आलोचना में प्रभावशैली का दिग्दर्शन होता है । द्विवेदी जी के **'कवि और काव्य', युग और साहित्य', 'संचारिणी'** ग्रंथ प्रसिद्ध हैं ।

आचार्य शुक्ल के पश्चात हिन्दी आलोचना को समृद्ध करने में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की उल्लेखनीय भूमिका रही है । उन्होंने काव्य ही नहीं काव्यशास्त्र को भी अपनी इतिहास प्रेम दृष्टि से परखा और उसकी व्याख्या की । उन्होंने रस सिद्धान्त की ऐतिहासिक व्याख्या की । वे अपने इतिहास-बोध और संस्कृति प्रेम के साथ--साथ समसामयिक व आधुनिक प्रश्नों के प्रति भी सजग थे । साहित्य-आलोचना में उन्होंने अपनी मानवतावादी दृष्टि का पनिचय दिया है । **'साहित्य के साथी', 'कालिदास की लालित्य मीमांसा', 'नाथ सम्प्रदाय', 'कबीर', 'हिन्दी साहित्य की भूमिका',** 'सुर साहित्य' इनकी महत्वपूर्ण आलोचनात्मक कृतियाँ हैं ।

स्वच्छंदतावादी आलोचकों में **डॉ. नगेन्द्र** का नाम भी उल्लेखनीय है । उन्होंने अपनी आलोचना यात्रा का आरम्भ छायावाद पर कुछ निबंधों से किया । उनकी पहली पुस्तक **'सुमित्रानंदन पंत',** प्रकाशित हुई । **'सुमित्रानंदन पंत', 'साकेत:** एक अध्ययन', **''आधुनिक हिन्दी नाटक'** उनकी उल्लेखनीय आलोचनात्मक कृतियाँ हैं ।

इन आलोचकों के अतिरिक्त छायावादी कवियों **- जयशंकर प्रसाद, निराला, सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा** ने निबंधों एवं पुस्तकों की भूमिकाओं के माध्यम से स्वच्छंदतावादी आलोचना के क्षेत्र में योगदान किया ।

24.5 सारांश

प्रगतिशील आलोचना का मुख्य आधार मार्क्सवादी जीवन दर्शन है । इस आलोचना प्रणाली के सिद्धान्तानुसार व्यष्टि के स्थान पर समष्टि का अधिक महत्व है । समाज विमुखता और पलायनवाद को स्वीकार नहीं करती । यथार्थ चित्रण पर बल देती है । यह जन सामान्य के

कल्याण के लिखे जाने वाले साहित्य को स्वीकार करती है । हिन्दी में चौथे दशक में इस पद्धति की आलोचना शुरू हुई । शिवदान सिंह चौहान, प्रकाश चन्द गुप्त, डाँ. रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध, डाँ. नामवर सिंह ने प्रगतिशील आलोचना के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

शास्त्रीय समीक्षा पद्धति साहित्य के स्वरूप का निर्धारण एवं विश्लेषण करती है । इसका रूप विकसित होता रहता है । हिन्दी में इसका पहला रूप रीतिकालीन लक्षण ग्रंथों में मिलता है, इसके उपरान्त बीसवीं सदी में इस पद्धति के अनेक ग्रंथ लिखे गये हैं। **हरिऔध, आचार्य शुक्ल**, **रामदीन मिश्र, नगेन्द्र** ने इस समीक्षा पद्धति का विकास किया ।

स्वछंदतावादी आलोचना में वैयक्तिक भावानुभूति, कल्पना की अतिशयता, भाषा की कोमलता, अभिव्यक्ति में लाक्षणिक एवं चित्र व्यंजनात्मक शैली के प्रयोग तथा सौन्दर्यप्रियता पर अधिक बल दिया जाता है । इस आलोचना पद्धति के माध्यम से छायावादी कवियों का मूल्यांकन किया गया है । नन्द दुलारे वाजपेयी, शांतिप्रिय द्विवेदी, नगेन्द्र ने इसके विकास में योगदान किया। इन आलोचकों के अतिरिक्त छायावादी कवियों - प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी ने भी भागीदारी की ।

24.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

प्र. 1 प्रगतिशील आलोचना की विशेषतायें बताते हुए प्रमुख प्रगतिशील आलोचकों का परिचय दीजिये ।

प्र. 2 प्रगतिशील आलोचना के क्रमिक विकास पर प्रकाश डालिये ।

प्र. 3 शास्त्रीय आलोचना को समझाते हुए प्रमुख शास्त्रीय आलोचकों का परिचय दीजिये।

प्र. 4 स्वच्छंतावादी आलोचना को समझाते हुए उसकी उपयोगिता बताइये ।

प्र. 5 प्रमुख स्वच्छंतावादी आलोचकों एवं उनके कार्यो का विवरण दीजिये ।

24.7 संदर्भ ग्रंथ

1. डाँ. नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली ।
2. निर्मला जैन : हिन्दी आलोचना, बीसवीं सदी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली ।
3. डाँ. रामदरश मिश्र : हिन्दी समीक्षा, समीक्षा स्वरूप और संदर्भ, दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड, दिल्ली।
4. डाँ. बच्चन सिंह : हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली ।
5. कृष्णदत्त पालीवाल : हिन्दी आलोचना का सैद्धान्तिक आधार, सचिन प्रकाशन, नई दिल्ली।
6. डॉ. रामचन्द्र तिवारी : हिन्दी का गद्य साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी ।

इकाई - 25 हिंदी का आलोचना शास्त्र-III : तुलनात्मक प्रभाववादी, मनोवैज्ञानिक व नई समीक्षा)

इकाई की रूपरेखा

25.0 उद्देश्य

25.1 प्रस्तावना

25.2 तुलनात्मक आलोचना की पृष्ठभूमि एवं स्वरूप

25.2.1 तुलनात्मक आलोचना की विशेषताएँ

25.2.2 निष्कर्ष

25.3 प्रभाववादी आलोचना की पृष्ठभूमि एवं स्वरूप

25.3.1 प्रभाववादी आलोचना की विशेषताएँ

25.3.2 निष्कर्ष

25.4 मनोवैज्ञानिक आलोचना की पृष्ठभूमि एवं स्वरूप

25.4.1 मनोवैज्ञानिक आलोचना की विशेषताएँ

25.4.2 निष्कर्ष

25.5 नई समीक्षा की पृष्ठभूमि एवं स्वरूप

25.5.1 नई समीक्षा की विशेषताएँ

25.5.2 निष्कर्ष

25.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

25.7 संदर्भ ग्रंथ

25.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप.

- विभिन्न आलोचना दृष्टियों से परिचित हो पायेंगे ।
- आलोचना पद्धतियों की विविध पृष्ठभूमियों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे ।
- प्रभाववादी तुलनात्मक मनोवैज्ञानिक व नई समीक्षा आदि विभिन्न आलोचना पद्धतियों के सैद्धान्तिक पक्ष से अवगत होंगे ।
- हिन्दी के आलोचनाशास्त्र के स्वरूप तथा उसकी विशेषताओं की जानकारी हासिल कर पायेंगे।

25.1 प्रस्तावना

आलोचना, साहित्य की एक अति आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण विधा है । हालांकि कई चिंतक इसे गौण विधा के रूप में देखते हैं । वे यह मानते हैं कि आलोचना का स्थान रचनात्मक लेखन के पश्चात् है क्योंकि कृति की रचना के पश्चात् ही उसकी समीक्षा की अपेक्षा होती है। वस्तुस्थिति ठीक ऐसी ही नहीं है, क्योंकि. आलोचना पर स्वतंत्र रूप से भी विचार होता है,

उसकी विविध दृष्टियाँ एवं उन दृष्टियों की विविध अवधारणाएँ होती हैं । इसके अलावा उनका अपना व्यवहार पक्ष भी होता है, जहाँ कृत्ति की अपेक्षा होती है ।

आलोचनात्मक विवेक बहुत ही महत्वपूर्ण तत्व है । एक अच्छा आलोचक इस विवेक का स्वामी होता है । यह विवेक आलोचक में अपने समय, कृति एवं भाषा की वैज्ञानिक समझ से पैदा होता है । इसके लिए विचारधारा की अपेक्षा भी होती है । एक अच्छी आलोचना निर्भय एवं पक्षपात रहित रवैया अपनाती है । वह किसी भी सूरत में जीवनपरक या प्रशस्तिपरक नहीं हो सकती है । एक अच्छी आलोचना आलोचक के आत्मविश्वास का दर्पण है ।

आधुनिक आलोचनाशास्त्र कई प्रकार की आलोचना दृष्टियों से संपन्न है । इन आलोचना दृष्टियों में तुलनात्मक आलोचना, प्रभाववादी आलोचना, मनोवैज्ञानिक आलोचना एवं नई समीक्षा का स्थान महत्वपूर्ण है । इन आलोचना पद्धतियों की पृष्ठभूमि, उनके स्वरूप तथा विशेषताओं पर आगे प्रकाश डाला जा रहा है ।

25.2 तुलनात्मक आलोचना की पृष्ठभूमि एवं स्वरूप

तुलनात्मक आलोचना की पृष्ठभूमि एवं स्वरूप पर विचार करने के पहले तुलनात्मक शब्द की व्युत्पति तथा अर्थ स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है । तुलना शब्द का अर्थ सादृश्य निरूपण है । किन्हीं दो वस्तुओं, स्थानों, व्यक्तियों, समय, विचारों. घटनाओं विचारधाराओं में सादृश्य निरूपण तुलना कहलाता है । पुन: अर्थालंकार के चार अंगों में से सादृश्य एक है। उपमान एवं उपमेय की समानता व्यंजित करने हेतु प्रयुक्त शब्द सादृश्यवाचक शब्द कहलाता है । सादृश्य के दो प्रकार है:

1. आकार एवं प्रकार में समानता
2. गुण एवं धर्म में समानता

सादृश्य निरूपण हेतु तुलना की आवश्यकता होती है । इससे उत्कर्ष तथा अपकर्ष का भी नियमन होता है । भारतीय अलंकार से यह तुलना संभव होती है । दो भिन्न वस्तुओं में कुछ सामान्य धर्म ढूँढने का प्रयास किया जाता है । साहित्य में तुलना करने की प्रवृत्ति का क्षेत्र व्यापक होता है । व्यक्ति, समय, भाषा, रचना, समाज अथवा भाव की दृष्टि से साहित्य में तुलनात्मक पद्धति अपनाई जाती है । इस प्रकार की तुलना से पारस्परिक संबध दृढ़ होते हैं । रूपक, व्यतिरेक, उपमान, अनन्वय आदि के आधार पर तुलना करने से संबंधित भाषा-साहित्य के स्वातंत्र का स्वरूप प्रस्तुत होता है । व्याकरण की तुलना से साहित्यिक तुलना व्यापक होती है । साहित्य में तुलना की प्रवृत्ति अति प्राचीन है । परंतु आधुनिक आलोचना 'पद्धतियों में से तुलनात्मक की महत्वपूर्ण भूमिका है ।

अंग्रेजी के (Comparative) शब्द का रूपांतर तुलना है । अंग्रेजी में सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग मैथ्यू अर्नाल्ड ने एम्पियर के शब्दों 'इस्तवार को पारातीव' का अनुवाद करते हुए सन् 1848 ई. में किया था । फ्रांसीसी में इस शब्द का प्रयोग सादृश्य के लिए किया जाता है । अर्थात भिन्न- भिन्न साहित्य में इसका प्रयोग विभिन्न रूप में हुआ है । इस संदर्भ में रेनेवेलेक ने कहा है - "तुलना एक ऐसा शब्द है जिसका प्रयोग आलोचना और विज्ञान सभी में किया जाता है ओर यह साहित्यिक अध्ययन की पहली विशिष्ट प्रक्रिया को संतोषजनक ढंग से व्यक्त

नहीं कर पाता । साहित्यों के बीच-या यहाँ तक कि आंदोलनों, लेखकों और कृतियों के बीच तुलना को साहित्यिक इतिहास का मुख्य विषय शायद ही कभी बनाया गया हो । हालांकि एफ.सी. ग्रीन माइन्यूट जैसी कोई पुस्तक जिसमें अठारहवीं शताब्दी के फ्रांसीसी और अंग्रेजी साहित्य के विविध पहलुओं की तुलना की गई है न केवल दो राष्ट्रों के साहित्यिक विकास की समानांतर धाराओं और सादृश्यों की, बल्कि साथ ही इनके बीच के भेदों की व्याख्या करने की दृष्टि से भी ज्ञानवर्धक हो सकती है ।"

साहित्य में पारस्परिक तुलना करने की शैली तुलनात्मक कहलाती है । विभिन्न भाषाओं के साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन से नये द्वार खुलते हैं । सन् 1855 ई. वाल्ट ह्विटमैन ने अपने ग्रंथ लीवस ऑफ ग्रास (Leaves of grass) में कहा था कि अतीत, वर्तमान एवं भविष्य एक दूसरे से पृथक नहीं हैं बल्कि ये एक ही धागे से गुंथे गये हैं । अतीत का उज्जीवन ही भविष्य के मार्ग को उमुक्त करता है । तुलना के महत्व पर प्रकाश डालते हुए टी.एस. इलियट ने कहा है कि आलोचक के मुख्य अस्त्र होते हैं तुलना एवं विश्लेषण । परंतु इनका प्रयोग अत्यंत सावधानी से करना चाहिए ।

आलोचक के लिए निम्नलिखित तत्वों का ज्ञान अपेक्षित होता है:

i. आलोच्य साहित्य, समाज एवं जनजीवन का समुचित ज्ञान होना आवश्यक है ।
ii. आलोच्य साहित्य के पारस्परिक सम्बन्ध को समझना आवश्यक है ।
iii. समकालीन राष्ट्रीय जीवन, सामाजिक एवं राजनीतिक गतिविधियों का ज्ञान होना चाहिए।
iv. आलोच्य भाषाओंकी शब्द-व्युत्पत्तिपरक ज्ञान के साथ-साथ व्याकरणिक जानकारियाँ अपेक्षित है ।
v. राष्ट्रीय कल्पना का मानसिक विश्लेषण अर्थात काल्पनिक उन्नत समाज-जीवन के प्रति भावात्मक आवेग होना चाहिए।

उपर्युक्त गुणों के बिना तुलनात्मक अध्ययन त्रुटिपूर्ण हो सकता है । इस संदर्भ में आलोचक को अत्यन्त सावधानी से अध्ययन करना होता है ।

तुलनात्मक साहित्य में अनुवाद की भूमिका

भाषा संस्कृति का वहन ही नहीं करती वह उसका धारण भी करती है । भाषा बहता नीर है। यह परिवर्तनशील है । सांस्कृतिक आदान-प्रदान के लिये भाषा का अनुवाद अत्यंत आवश्यक है । इन्द्रनाथ चौधरी के शब्दों में - "Comparative perspective looks at all literature as one organic process, a continuous and cumulative whole. That being thereason one can hope that the comparative method can be helpful in cross-cultural communication in translation."

अनुवाद के माध्यम से साहित्य विकसित भी होता है । इसमें भाषा के भौगोलिक तथा सामाजिक परिवेश का ध्यान रखना आवश्यक है ।

मूल भाषा से अनुदित भाषा की दूरी को दूर करने का प्रयास होना जरूरी है । अच्छा अनुवाद पुनसर्जन होता है । तुलना की निष्पक्षता के लिये स्त्रोत भाषा तथा लक्ष्य भाषा का पर्याप्त ज्ञान होना आवश्यक है । तुलना करने का अर्थ अनुवाद प्रस्तुत कर देना नहीं है । उसके मर्म, आदर्श तथा महत्व को उपलब्ध करते हुए सामाजिक परिवेश में उसकी विशेषताएं करना भी

है । इस संदर्भ में रेनेवेलेक की मान्यता है - 'फ्रांसीसी साहित्य में शेक्सपीयर और अठारहवीं शताब्दी के इंगलैंड में शेक्सपीयर के अध्ययन में बादलेयर पर पो के प्रभाव को लेकर किये गये अध्ययनों के ब्रीच पद्धति विषयक कोई भेद नहीं है । यदि समूचे राष्ट्रीय साहित्य से अलग करके दो साहित्यों के बीच तुलना की जाये तो इसमें प्राय: स्त्रोतों और प्रभावों, प्रतिष्ठा और लोकप्रियता जैसी बाहरी समस्याओं की ओर झुकाव हो जाया करता है । इस प्रकार के अध्ययनों में किसी एक कृति का विश्लेषण और परख करने की गुंजाइश नहीं रह जाती । इसके स्थान पर किसी महत्वपूर्ण कृति को लेकर इस तरह के अध्ययन किये जाते हैं कि इसके कितने अनुव हु ये और किन-किन लेखकों ने इसका अनुकरण किया जैसा कि प्राय:..... जाने लगता है कि इसकी वस्तु, विषय और कला-रूप किन रूपों में पह विद्यमान था, यह कैसे उस देश में पहुँचा और फैला ।'

तुलनात्मक साहित्य को विवादास्पद मुद्दों से बचाये रखने के लिये मूल ग्रंथ के महत्व को स्वीकार करना होगा तथा स्वार्थपरता से दूर करना होगा । विषय के विश्लेषण प्राप्त स्थूल सत्य से सूक्ष्मतर सत्य की ओर उन्मुख होना होगा । यह कार्य कि अनासक्त योगी की तरह संपन्न करना होता है ।

प्राचीन रोम साहित्य पर ग्रीक साहित्य का, भारतीय प्रांतीय साहित्य पर ग्रीक साहित्य का, भारतीय प्रांतीय साहित्य पर संस्कृत साहित्य का आधुनिक साहित्य पर पाश्चात्य साहित्य का, वर्ड्सवर्थ पर रूसो का, कालरिज पर कांट का तथा शैली पर शेगेल प्रभाव स्वीकार करना उचित प्रतीत होता है ।

भारत में रामकथा का तुलनात्मक अध्ययन हेतु वाल्मीकि, बलरामदास , कृत्तिवास आ के राम-काव्य की चर्चा अपेक्षित है । प्रेमचंद के साथ फकीरमोहन एवं बंकिमचंद तुलनीय हैं । प्रेमचंद के गोदान' के साथ फकीरमोहन का 'छमाण आठगुंठ की तुल की जा सकती है । इसी प्रकार कालीदास के 'अभिइग़न शाकुंतलम्' के साथ शेक्सपीयर के 'हेमलेट' की तुलना अंतर्राष्ट्रीय सीमा रेखा को पार कर जाती है । कालीदास को भारत का शेक्सपीयर भी कहा जाता है । इसका पहला प्रयोग विलियम जोन्स ने 17, ई. में 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' के अंग्रेजी अनुवाद के संदर्भ में किया था ।

किसी भी कवि अथवा लेखक की रचना का स्वतंत्र मूल्यांकन संभव नहीं है क्योंकि वह अपने काल अथवा अपनी परंपरा से अलग नहीं रह सकता । इसलिये उसके पूर्वव कवियों से उसकी तुलना करना आवश्यक है । विभिन्न भाषाओं के रचनाकारों की तुलना करते समय उन भाषाओं की सांस्कृतिक परम्पराओं के बारे में जानकारी अपेक्षित प्राचीन, लोकभाषा एवं लोक साहित्य की आधुनिक साहित्य से तुलना करते समय उसके भाषा वैइग़निक, समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक पहलुओं पर भी विचार कि जाता है । साहित्य में तुलना के बारे में आलोचक जान फ्लेवी का कहना है

"Comparison and contrast are the tools which help in forming the method comparative criticism. It is generally synchronic and diachronic because crosses time and space. Of cours, chronology can not be

ignored, but to I blinded by it, is to miss the significant parallel across time and space and tl interesting differences."

तुलनात्मक साहित्य में आलोचना किसी समय, लेखक अथवा रचना तक सीमित न रहती । विकसित राष्ट्रों में तुलनात्मक साहित्य के अध्ययन को अधिक महत्व प्रदत्त । हिन्दी के साथ दूसरी भाषाओं के साम्य-वैषम्यों की तुलना की जा रही है। विभिन्न भाषाओं के साहित्य में काल एवं प्रवृत्ति के अनुसार समानतायें होती हैं तो भोगोलिक ऐतिहासिक आदि दृष्टिकोण से विषमतायें होती हैं । इस संदर्भ में डॉ. रामेश्वरलाल कहा है - "हिन्दी भाषा और साहित्य को केन्द्र में रखकर, उसे भारतीय राजनीतिक सांस्कृतिक एकता का माध्यम बनाते हु ये, भारत की विभित्र प्रादेशिक भाषाओं साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी अब अधिक वेग और गंभीरता से होने लगा है । इस अध्ययन के अंतरालों में से भारतीय आत्मेक्य के बहु मूल्य उपादान प्रस्फुटित होंगे, इसमें संदेह नहीं ।

भारत के नये सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश में तुलनात्मक साहित्य के अध्ययन के प्रति अभिरूचि बढ़ रही है । विभिन्न जाति, धर्म, शिक्षा, संप्रदाय, भाषा, विचारधारा, राजनीति एवं जीवन शैलियों के आधार पर भारत विभाजित है । इस विशाल भारत में भावगत एकता की प्रतिष्ठा के लिये तुलनात्मक साहित्य का अध्ययन उल्लेखनीय सिद्ध होगा । राष्ट्रीय एकता को बनाये रखने में ऐसे अध्ययनों की भूमिका महत्वपूर्ण होगी । भाषा एवं साहित्य को केन्द्र में रखकर भारत की सांस्कृतिक एकता की रक्षा की जा सकती है । केवल सांस्कृतिक नहीं, भावगत तथा मनोवैज्ञानिक एकता की प्रतिष्ठा हेतु तुलनात्मक साहित्य का अध्ययन सहायक हो सकता है । तुलनात्मक साहित्य का अध्ययन प्रासंगिक है । सारांश यह कि तुलनात्मक आलोचना में कवियों और लेखकों की रचनाओं की तत्भाषा अथवा अन्य भाषा-साहित्यों की कृतियों से तुलना प्रस्तुत की जाती है ।

25.2.1 तुलनात्मक आलोचना की विशेषताएँ

विभिन्न देशों की साहित्य - संस्कृतियों में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित हु आ । फलस्वरूप् तुलनात्मक आलोचना का मार्ग प्रशस्त हु आ है । साहित्य के बहु भाषाविद् स्रष्टा तथा मनीषियों ने तुलनात्मक आलोचना को सहज बनाया है । आज देश-काल की सीमा संकुचित हो चुकी है । इसके साथ-साथ विभिन्न देश-काल के साहित्यों में निहित अखंड मानव-सत्य को ढूंढकर निकालने के प्रयास में इस आलोचना पद्धति ने उल्लेखनीय भूमिका निभाई है । तुलना के माध्यम से तुलनीय साहित्यों की चारित्रिक विशेषताएँ तथा पद्धतियाँ स्पष्ट होती है । अरबी उपन्यास एवं पंचतंत्र, डेकामेरन एवं दशकुमार चरित, ग्रीक नाटक एवं संस्कृत नाटक् संस्कृति नाटक एवं शेक्सपियरी नाटक, बाल्मीकि-व्यास एवं होमर भर्जिल पोएटिक्स एवं नाट्यशास्त्र. शकुंतला एवं मिरांदा, गेटे एवं रवीन्द्रनाथ, प्रसाद एवं रवीन्द्रनाथ की तुलना को तुलनात्मक आलोचना के अंतर्गत रखा जा सकता है । हिन्दी के प्रारंभिक रचनाकार पद्मसिंह शर्मा का नाम इस क्षेत्र में उल्लेखनीय है । उन्होंने 'बिहारी और फारसी कवि सादी की समालोचना, संस्कृति और हिंदी कविता का बिंब-प्रतिबिंब भाव' जैसे लेख प्रस्तुत कर तुलनात्मक आलोचना का मार्ग

उन्मूक्त किया है । इसी प्रकार कृष्ण बिहारी मिश्र के 'देव और बिहारी, भगवानदीन के 'बिहारी और देव जैसी कृतियों के नाम उल्लेखनीय है ।

विभिन्न देशों के साहित्य, धर्म, लोकथाओं आदि की तुलनात्मक आलोचना के फलस्वरूप उनमें निहित साम्य-वैषम्यों को प्रस्तुत किया गया । इससे एक देश दूसरे देश के करीब आता है। तुलनात्मक आलोचना मैत्री, सद्भाव, भाईचारा, सौहार्द्र को बढ़ावा देती है । संभवत: इसलिए रवीन्द्रनाथ ने 'विश्वसाहित्य' शीर्षक निबंध में लिखा था - "यह धरती मेरा, तुम्हारा और उनका खेत नहीं है । धरती को ऐसा सोचना अत्यंत ग्राम्य भावना है । ठीक उसी प्रकार साहित्य भी मेरी, तुम्हारी या उनकी रचना नहीं होती । सामान्यतया हम साहित्य को ऐसी ग्राम्य भावना के रूप में स्वीकार करते है । उसी ग्राम्य संकीर्णता से अपने को मुक्त करके विश्व साहित्य में विश्व मानव को देखने का लक्ष्य हमारा उद्देश्य होना चाहिए । प्रत्येक लेखक की रचना में किसी. संपूर्णता को अपनाना एवं उसी संपूर्णता में मानव की अभिव्यक्ति के प्रयास का संबंध स्थापित करना है ।" विश्व-मानव का अन्वेषण करने का प्रयास तुलनात्मक आलोचना करती है ।

25.2.2 निष्कर्ष

तुलनात्मक आलोचना में अवधारणामूलक साहित्य की विधागत, ऐतिहासिकमूलक, समाज आधारित, रूपगत आलोचना की जा सकती है । तुलनात्मक आलोचना जातीय सीमा रेखा को पारकर शेक्सपीयर, यासीन, वेगा, गेटे आदि के साथ जातीय रचनाकारों की आलोचना प्रस्तुत करती है । इस आलोचना पद्धति में साहित्यक प्रभावों का अन्वेषण होता है । ऐतिहासिक विचारों तथा प्रकारों की दृष्टि से भी तुलनात्मक आलोचना का महत्वपूर्ण स्थान है । तुलनात्मक आलोचना में मूल्यों को उभारा जाना चाहिए । छोटे-बड़े निर्णयों से बचना चाहिए । इसे जीवन एवं साहित्य के व्यापक संदर्भ में प्रयुक्त करना चाहिए । (हिंदी का गद्य साहित्य, डॉ. रामचंद्र तिवारी, पृ. 87-88)

तुलनात्मक आलोचना राष्ट्रीय एकता ही नहीं, मानवता के मूलमंत्र को भी अभिसिंचित करती है । विभिन्न जाति, धर्म, शिक्षा, संप्रदाय, भाषा, विचारधारा, जीवन शैलियों में विभाजित देश में भावगत एकता ही प्रतिष्ठा करने के लिए तुलनात्मक आलोचना महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है । सांस्कृतिक एकता की रक्षा कर सकती है । सामाजिक चेतना का प्रतिफलन करने में समर्थ हो सकती है ।

25.3 प्रभाववादी की पृष्ठभूमि एवं स्वरूप

प्रभाववादी आलोचना को अंग्रेजी में Impressionistic Criticism कहते हैं । इसे प्रभावात्मक, आत्मगत या प्रभावाभिव्यंजक आलोचना भी कहते हैं । इस आलोचना पद्धति का विकास हाल ही में हुआ है । प्रभाववादी आलोचना पद्धति स्वच्छंद व्यक्तिवाद और आत्मचेतना पर आधारित है । इस आलोचना पद्धति के प्रथम चरण में तार्किक दृष्टि से किसी कृति के प्रति व्यक्तिगत प्रतिक्रिया व्यक्त होती है । आलोचक की व्यक्तिगत अनुभूति अथवा प्रतिक्रिया का सर्वाधिक

महत्व होता है । ग्रंथ-पठन के पश्चात् पाठक के मन में उत्पन्न अनुभूति के साथ-साथ विभिन्न प्रश्न उठते हैं, उनका आकर्षणीय विवरण ही इसकी मूल वर्ण्यवस्तु होती है ।

प्रभाववाद का उदय चित्रकला के क्षेत्र में 19वीं शती के उतरार्द्ध में फ्रांस में हुआ था । सन् 1874 ई. में पेरिस में क्लाउठ मोने (Claude monet) द्वारा प्रदर्शित चित्रों में 'इम्प्रेशन' शीर्षक का प्रयोग किया गया था । एनसाइक्लोपिडिया ब्रिटेनिका में उल्लेख है - "The term impressionism, first used derisively, by a journalist, was taken from Claude Monet's canvas representating the effect of the sun rising over the sea and entitled impression".(Vol. = 12, p-9).

चित्रकला के बाद संगीत में प्रभाववाद का प्रभाव बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षो में पाया जाता है ।

प्रभाववाद से कविता के साथ-साथ साहित्य की अन्य विधाएँ भी प्रभावित हुई हैं । इसके फलस्वरूप प्रभाववादी आलोचना-प्रणाली का उद्भव हुआ है । अंग्रेजी के वाल्टर पेटर ने अपने Essays from the Guardian शीर्षक ग्रंथ में वर्डस्वर्थ की आलोचना की है । इसमें सर्जना और आलोचना के क्षेत्र में प्रभाववादी आलोचना का सफल निर्वाह किया है । इसलिए पेटर शीर्षस्थ प्रभाववादी आलोचक हैं ।

किसी महत्वपूर्ण कृति में कोई सुंदर वर्णन पढ़कर स्वाभाविक हर्षोल्लास उत्पन्न होता है । इसे अंग्रेजी में intuitive response कहा जाता है । Sensational School की भावधारा से प्रभाववादी आलोचना का विकास हुआ है । इस आलोचना पद्धति में व्यक्ति स्वातंत्रय की खोज होती है । यह आलोचना व्यक्ति पर आधारित भी है । परंतु व्यक्तिगत सीमा को अतिक्रमित करते हुए आलोचक के भावोल्लास का सामान्यीकरण या साधारणीकरण हो तो उसका महत्व बढ़ जाता है।

हिन्दी साहित्य में प्रभाववादी आलोचना का अय: आरंभ पद्मसिंह शर्मा से होता है । उन्होंने 'बिहारी सतसई' की आलोचना करके इस आलोचना पद्धति का आभास दिया था । इसके पश्चात् छायावाद युग में शांतिप्रिय द्विवेदी जैसे आलोचकों ने छायावाद पर सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिपात किया । हालांकि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे 'कोई ठीक-ठिकाने की वस्तु' नहीं माना । उन्होंने ज्ञान तथा भाव के क्षेत्र में भी इस आलोचना पद्धति को अनुपयोगी माना है ।पुनश्च श्री भगवतशरण उपाध्याय ने गुरुभक्त सिंह "भक्त की 'नूरजहां' की आलोचना को प्रभाववादी आलोचना के रूप में स्वीकार किया हैं । उनके शब्दों में - "नूरजहां के अध्ययन का मेरे ऊपर बड़ा मार्मिक प्रभाव पड़ा । फलत: कुछ अनुकूल अन्तग्रन्धियाँ खुली पड़ी । मैं एक बात को स्पष्टतया कह देना चाहता हूँ कि प्रस्तुत प्रयास समालोचक का नहीं प्रत्युत सहानुभवी और समानधर्मी का है । मैं प्रभाववादी हूँ । जब अनुकूल प्रभाव का स्पर्श होता है, प्रभाववादी चुप नहीं बैठ सकता ।" यद्यपि उपाध्याय जी प्रगतिशील विचारक है तथापि रचना-विशेष से प्रभावित होकर प्रभावात्मक शैली का प्रयोग किया है । हिंदी साहित्य में प्रभाववादी आलोचना का यथोचित विकास नहीं हो पाया है ।

25.3.1 प्रभाववादी आलोचना की विशेषताएँ

प्रभाववादी आलोचना में आलोचक अपने मन की बात कहता है । उसकी मार्मिक प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति पाई जाती है । इस आलोचना पद्धति की विशिष्टता इस तथ्य में होती है कि आलोचक किसी सृजन-कर्म पर किये गये अनुभव को स्पष्टतया संप्रेषित कर दे । कोई भी सफल साहित्य-कृति सहृदय की चेतना को उद्‌बुद्ध चेतना की यथावत् अभिव्यक्ति प्रभाववादी आलोचना की मूल विशेषता है । ऐसी आलोचना कृति की संपूर्ण आलोचना नहीं होती है, क्योंकि प्रभावित अंशों की ही प्रभाववादी आलोचना होती है, संपूर्ण कृति की नहीं । पुन: आलोचकों में प्रभावगत संवेदना वैभिन्य होने के कारण एक कृति की भिन्न-भिन्न आलोचनाएं प्रस्तुत होने की संभावनायें रहती हैं । प्रभाववादी आलोचना सृजनात्मक होने के कारण उसकी आलोचना अपेक्षित हो जाती है ।

प्रभाववादी आलोचना में आत्म-संवेदन पर विशेष बल दिया जाता है । आत्म-संवेदन को ही महत्व देने के कारण उक्त आलोचना में साहित्यिक एवं सामाजिक मूल्य की उपेक्षा सी हो जाती है । इन कमियों से मुक्त होने के लिए प्रभाववादी आलोचक में निम्न गुण होने चाहिए:

क. तीव्र संवेदनशीलता

ख. भावानुभूति

ग. कल्पनाशक्ति

घ. चित्र की गतिशीलता आदि

उपर्युक्त गुणों से युक्त प्रभाववादी आलोचक साहित्य की शक्ति पहचानने में समर्थ हो सकता है ।

25.3.2 निष्कर्ष

प्रभाववादी आलोचना में गद्‌गद आत्मविभोरता के साथ-साथ आलोच्य कृति की सीमाओं की ओर भी ध्यान देना तथा उसकी अभिव्यक्ति आवश्यक है । हिंदी आलोचना-साहित्य में मार्क्सवादी, स्वच्छंदतावादी, मनोवैज्ञानिक आलोचना-पद्धतियों का विकास होने के कारण प्रभाववादी आलोचना का विकास अवरूद्ध सा हो गया है ।

25.4 मनोवैज्ञानिक आलोचना की पृष्ठभूमि एवं स्वरूप

एतद्‌पूर्व इस इकाई में आप तुलनात्मक आलोचना एवं प्रभाववादी आलोचना के विषय में पढ़ चुके हैं । अब आप आधुनिक चिंतन दृष्टि की अत्यंत महत्वपूर्ण धारा मनावैज्ञानिक आलोचना (Psychological Criticism) की पृष्ठभूमि एवं स्वरूप के बारे में अध्ययन करने जा रहे हैं । यह आलोचना-पद्धति बीसवीं शताब्दी की देन है । जीवनीमूलक आलोचना से मनोविज्ञान के तात्विक प्रभाव के फलस्वरूप इस पद्धति का उद्भव हुआ है । रचनाकार के आंतरिक जीवन, वैयक्तिक स्वभाव, परिस्थितियों और प्रभावों में जब कृति का आधार देखा जाता है तो उस पद्धति को मनोवैज्ञानिक आलोचना कहा जाता है । रचनाकार की आतरिक परिस्थितियों के प्रभाव का परीक्षण उसकी रचना में किया जाता है । मनोवैज्ञानिक आलोचना में मनोविश्लेषणशास्त्र से विशेष सहायता भी ली जाती है ।

मनोवैज्ञानिक आलोचना की पृष्ठभूमि के बारे में डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने कहा है - "यूरोप में उन्नीसवीं शताब्दी से पहले बहुत कम मनोवैज्ञानिक आलोचना मिलती है । सर्वप्रथम 18 वीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में एडीसन ने इस पद्धति को जन्म दिया । उन्नीसवीं शताब्दी में कवियों और नाटककारों की व्यवस्थाओं में कभी-कभी मनोविज्ञान का उल्लेख होने लगा था । बीसवीं शताब्दी में तो इस पद्धति का परिपोषण विशेष रूप से हुआ है । हिंदी में मनोवैज्ञानिक पद्धति के प्रचार के लिए काफी गुंजाइश है । भारतवर्ष में रचनाशक्ति और काव्य-सिद्धान्तों में मनोविज्ञान का तत्व निहित है । इसका तो सीधा सम्बन्ध मनोविज्ञान से है।" (हिन्दी साहित्य कोष, भाग- 1, पृ. 102)

आधुनिक विचार जगत् में सिग्मण्ड फ्रायड, एलफ्रेड एडलर और काल गुस्ताफ युंग को मनोविश्लेषण की महान त्रयी के रूप में जाना जाता है । ये तीनों मनोचिकित्सक थे । मानसिक व्याधियों के उपचार के दौरान प्राप्त अनुभवों को महान विश्लेषण के पश्चात जो उपस्थापित किया, उससे एक नया शास्त्र परिवर्तित हुआ । इस शास्त्र को मनोविश्लेषण शास्त्र कहा गया। फ्रायड का सिद्धान्त मनोविश्लेषण, एडलर का व्यष्टि मनोविज्ञान एवं युंग का विश्लेषण मनोविज्ञान के नाम से चर्चित हुए ।

फ्रायड द्वारा प्रयुक्त मनोविश्लेषण एक ओर प्रक्रिया का बोधक है तो दूसरी ओर सिद्धान्त के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है । मानव-मन की जटिल एवं दुर्बोध समस्याओं के कार्य-कारण सम्बन्ध से अपनी बात पुष्ट रूप में कहने वालों में फ्रायड का नाम सबसे पहले आता है । फ्रायड ने सर्वप्रथम अवचेतन मन की खोज की है । फ्रायड के अनुसार मन के तीन भाग हैं-

चेतन (conscious), पूर्व चेतन (pre-conscious) और अवचेतन (Un-conscious) इनमें से अवचेतन मन अत्यंत शक्तिशाली है । इसकी व्यापकता भी सर्वाधिक है । फ्रायड ने इस तथ्य को अधिक स्पष्ट करने के लिए एक ऐसे पत्थर का उदाहरण प्रस्तुत किया है जिसका तीन चौथाई भाग जल में डूबा हो और एक-चौथाई भाग जल के ऊपर । यह तीन-चौथाई भाग अवचेतन मन है । अवचेतन मन की तुलना अगाध समुद्र की अतल जलराशि से की जा सकती है तो चेतन मन की उस जलराशि पर उठने वाली लहरों की तरंगमाला से ।

मानव मन की अनेक वासनाएं धार्मिक, नैतिक एवं सामाजिक बंधनों के कारण अन्तर्मन में दबी रह जाती है । ये वासनाएं अवचेतन मन से चेतन मन में आने एवं व्यक्त होने के लिए सदैव प्रयासरत रहती है । तमाम स्मृतियाँ अवचेतन मन में सक्रिय रहती है । यह अवचेतन मन सर्वाधिक सक्रिय होता है । परंतु उसकी क्रियाओं का प्रत्यक्ष ज्ञान हमें नहीं रहता है । परंतु उसकी सक्रियता हमें जाने-अनजाने प्रेरित करती है, प्रभावित करती है । चेतन और अवचेतन के बीच मन की अर्धचेतन स्थिति होती हैं । मनुष्य की दमित वासनाएँ अवचेतन मन में रहती हैं । ये काममूला होती है । कला एवं साहित्य के माध्यम से इन वासनाओं की सुंदरतम अभिव्यक्ति होती है ।

फ्रायड ने मन का विभाजन इड, इगो और सुपर इगो अर्थात इदं, अहं और अति अहं के रूप में भी किया है । इदं हमारे रागों का समूह या ढेर है । इसमें विस्तार और महत्व अचेतन का है । 'अहं' चेतन मन है । यह इड में से इच्छाओं के झोंके झेलते सामाजिक मूल्यों एवं परंपराओं के प्रति सचेष्ट रहता है । अति अहं संचित सामाजिक मान्यताओं का प्रतीक है ।

इसका काम आलोचना तथा सेंसर करना है । (हिंदी आलोचना के नये वैचारिक सरोकार - डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल, पृ.15)

फ्रायडीय चिंतन के क्रांतिकारी सिद्धांत के रूप में काम-वृत्ति है । फ्रायडीय पद्धति का यह मूलाधार है । इस सिद्धान्त के अनुसार काम ही जीवन की मूल वृत्ति है । फ्रायड के विचारानुसार काम (sex) तथा आक्रमण (Aggressive) दो मुख्य वृत्तियाँ अविभाज्य एवं अवच्छिद्य है । काम वृत्ति की ऊर्जा को लिबिडो (Libido) कहा जाता है । फ्रायड ने मनुष्य के सारे कार्य-कलापों की संचालिका के रूप में लिबिडो को ही स्वीकार किया है । यह प्रेरणा का स्त्रोत भी है । फ्रायड ने यह भी कहा है कि मनुष्य के सारे जीवन में काम-वृत्ति का अहं एवं अति अहं द्वारा दमन होता है । दमित काम वासनाएं अचेतन मन में केन्द्रीभूत होती है एवं समय-समय पर कला, साहित्य, धर्म और संस्कृति के निर्माण में मूल उपादान की भूमिका प्रस्तुत करती है ।

फ्रायड़ के मतानुसार 'लिबिडो' की चार अवस्थाएँ हैं

(i) मुखवर्ती (Oral) (ii) गुदागत (Aral) (iii) लैंगिक (Phallic) तथा (iv) जननिक (Genital) । उन्होंने शिशु के जीवन को जन्म से ही काममूला माना है । माता का स्तन तथा अपना अंगूठा चूसना आदि इसके उदाहरण हैं । शैशवास्था में केवल इदं होता है । इसलिए इस अवस्था में वासनाओं का दमन नहीं होता है । दूसरी प्रावस्था में बच्चा मलत्यागादि में काम-सुख प्राप्त करता है । सामाजिक तथा नैतिक दबावों के कारण उसके अहं एवं अति अहं का भी विकास होने लगता है । इसके फलस्वरूप स्वाभाविक कामनाओं का दमन इस अवस्था से शुरू हो जाता है । इनका केन्द्रीकरण उसके अचेतन मन में होता है ।

तीसरी प्रावस्था में काम-सुख काम इन्द्रियों पर केन्द्रीभूत होने लगता है । विषमलिंगी जनक के प्रति कामेच्छा तथा समलिंगी जनक के प्रति ईर्ष्या होने लगती है । ये दोनों इच्छाएं असामाजिक तथा अनैतिक होने के कारण इनका दमन किया जाता है । अंतिम प्रावस्था में विषमलिगियो के प्रति काम-आकर्षण होता है । इस अवस्था तक शिशु पूर्णतः युवावस्था को प्राप्त हो जाता है ।

फ्रायड का विश्वास है कि जब वासनायें प्रबल हो जाती हैं तो मनुष्य हिस्टीरिया, खंडित व्यक्तित्व, अपराध-भावना आदि से पीड़ित होने लगता है । अतृप्त वासनाएं छद्म रूप धारण कर लेती हैं । ये वासनाएं कभी स्वण के रूप में प्रकट होती हैं तो कभी जीवन में भूलों के रूप में । फ्रायड का तो यहां तक मानना है कि मनुष्य का छोटा-से-छोटा कार्य अथवा व्यवहार अकारण नहीं होता है । प्रत्येक व्यापार के पीछे उसके अचेतन मन में निहित अतृप्त वासनाओं की अभिव्यक्ति है । सारांश यह है कि जीवन के सभी प्रयोजनों का रूपांतरण काम इच्छा में होता है ।

फ्रायड के विचारों ने विश्व की विचारधारा को पर्याप्त प्रभावित किया है । फ्रायड ने अपने निबंध "The Relation of the poet to Day Dreaming" में कला, साहित्य आदि को दमित वासनाओं का उदात्तीकृत रूप माना है । रचनाकार प्रतीकों, रूपकों, उपमानों तथा विचित्र कल्पनाओं में उन कुंठाओं, काम वासनाओं, यौन वर्जनाओं तथा भोग-लिप्साओं की अभिव्यक्ति करता है ।

फ्रायड के सिद्धान्तों को उनके दो शिष्यों सहकर्मियों एडलर एवं युंग ने न केवल विकसित किया बल्कि उन्होंने अपनी भिन्न स्थापनाएं भी प्रस्तुत की है । इनके सिद्धान्तों ने मनोविश्लेषण के आधार पर कलाकृतियों की व्याख्या एवं विवेचना पर बल दिया है । इन तीनों मनोचिकित्सकों में यद्यपि परस्पर मतभेद पाये जाते हैं तथापि निम्न कुछ बातों को लेकर मतैक्य भी है ।

1. तीनों ही कार्य-कारण संबंध को स्वीकार करते हैं ।
2. तीनों ने ही अवचेतन मन के महत्व को रेखांकित किया है ।
3. तीनों ही समकालीन विचारधाराओं से प्रभावित थे ।
4. तीनों ने ही चिकित्सा-विज्ञान के व्यावहारिक अनुभवों को आधार बनाया है ।

अवचेतन मन के सिद्धान्त को आधार बनाकर अतियथार्थवाद (सुर्रियालिज्य) की अवधारणा विकसित हुई है । मनोविश्लेषण का जर्बदस्त प्रभाव कविता-नाटक आदि सृजनात्मक कृतियों में पाया गया । चरित्र-चित्रण की प्रविधियाँ परिवर्तित होने लगीं । अध्ययन की नवीन दिशाएं उन्मुक्त हुई ।

25.4.1 मनोवैज्ञानिक आलोचना की विशेषताएँ

इससे पहले आपने अध्ययन किया है कि मनोवैज्ञानिक आलोचना ने कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि को प्रबल रूप से प्रभावित किया । इनमें चरित्र-चित्रण में नये ढंग की प्रविधि अपनाई गई । मनोवैज्ञानिक आलोचना ने साहित्य को विविध रूपों से प्रभावित किया है । डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल के अनुसार:

1. यौन-वर्जनाओं, काम-वासनाओं से मुक्ति के साधन के रूप में कला की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है ।
2. कलाकार मूलतया न्यूरॉटिक होता है ।
3. कला की शक्ति उदात्तीकरण है ।
4. कला एक प्रकार की फैंटेसी है ।
5. स्वप्न और कल्पना में भीतरी भेद नहीं है ।
6. कला में प्रयुक्त बिंबों-प्रतीकों-लयों के विवेचन में मनोविश्लेषण की प्रासंगिकता
7. आद्य बिंबों और सामूहिक अवचेतन से मिथकों का सृजन कार्य संपन्न होता है ।

मिथकीय आलोचना एवं आद्यबिंबात्मक आलोचना मनोवैइग़निक आलोचना से विकसित हुई। मनोवैज्ञानिक आलोचना ने सृजन-प्रक्रिया के मनोरहस्य को उद्घाटित किया है । प्रसाद के महाकाव्य 'कामायनी' के आधार पर मुक्तिबोध ने 'कामायनी एक पुनर्विचार में कामायनी को फैंटसी सिद्ध किया है । अज्ञेय की कविता 'असाध्य वीणा, में सृजन- प्रक्रिया के चित्र है तो मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में फैंटेसी, बिंब-प्रतीकों का ताना-बाना बुनती है ।

नथ्रप फ्राइ ने अपने Anatomy of Criticism तथा मड बडकिन ने अपने Archetypal Pattern in Poetry शीर्षक ग्रंथों से पाश्चात्य आलोचना-संसार में मनोवैज्ञानिक आलोचक के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त की । उनकी आलोचना पद्धति को Archetypal Criticism के नाम से भी जाना जाता है । हिंदी में इलाचंद्र जोशी, जैनेंद्र कुमार, धर्मवीर भारती आदि पर

मनोवैज्ञानिक आलोचना का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है । काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन, रचनाकार और पाठक के संबंध आदि विषयों पर हिंदी के रचनाकारों पर इस आलोचना पद्धति का प्रभाव देखा जा सकता है । केवल बुद्धि ही नहीं, रक्त, स्वप्न कल्पना आदि के सवम्मिश्रण से प्राचीन ऐतिही स्मृति आधारित पैटर्न का रचनाशीलनता ने जो व्यवहार किया है । उसे भाषा-विन्यास से बाहर निकालकर लाने में इस आलोचना ने बड़ी भूमिका निभाई है ।

25.4.2 निष्कर्ष

साहित्य-सृजन एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है । इसलिए साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन होना चाहिए । पाश्चात्य देशों में इसकी समृद्ध परम्परा है । परन्तु मनोवैज्ञानिक आलोचना में मूल्य-दृष्टि का अभाव होने के कारण इसका सही मूल्यांकन असंभव-सा प्रतीत होता है । यह उत्कर्ष अपकर्ष के निर्णय देने में असमर्थ भी है । इन्हीं कारणों से यह आलोचना पद्धति सम्पूर्ण नहीं है । अब धीरे-धीरे मनोवैज्ञानिक आलोचना से विकसित मिथकीय आलोचना का प्रचलन बढ़ गया है । साहित्यालोचना की दृष्टि से मनोवैज्ञानिक आलोचना की सीमाएं स्पष्ट हैं ।

25.5 नई समीक्षा की पृष्ठभूमि एवं स्वरूप

'नयी समीक्षा शब्द से नवीनता का बोध होता है परंतु आलोचना के लिए यह कोई नवीनतम चीज नहीं है । अंग्रेजी साहित्य में इसके लिए न्यू क्रिटिसिज्म (New Criticism) शब्द का प्रयोग मिलता है । हिंदी में नवयालोचना, 'नयी आलोचना' एवं 'नयी समीक्षा जैसे शब्दों का प्रयोग एक ही आलोचना दृष्टि के लिए होता है । नयी समीक्षा पदबंध का सर्वप्रथम प्रयोग कोलिबिया विश्वविद्यालय में तुलनात्मक साहित्य के प्रोफेसर स्पिनगार्न ने सन्....?..... में अपने एक लेख में किया था । उन्होंने नए समीक्षक को इतिहास एवं समाज के कारकों से इतर अपने प्रतिपाद्य पर केन्द्रित रहने की सलाह दी थी । इस प्रकार से उन्होंने कृतिकार को समाज एवं इतिहास के दबावों से मुक्त रहकर कार्य करने की सलाह दी थी । परवर्ती चरण में यही तथ्य नयी समीक्षा का आधार बन वस्तुतः नयी समीक्षा कृति के साहित्येतर अध्ययन के विरोध में खड़ी है । इसके अनुसार कृति अपने मूल्यांकन के प्रतिमान स्वयं निर्मित करती है । इसलिए इसने मनोवैज्ञानिक, स्वच्छंदतावादी, ऐतिहासिक तथा मार्क्सवादी समीक्षा-पद्धतियों को अस्वीकार कर दिया । इसका अध्ययन क्षेत्र की कृति की भाषिक संरचना है । यह भाषा के गढ़ रहस्यों से कृति को विश्लेषित करती है । नयी समीक्षा के उन्नायकों में रैन्सम, क्लीन्थ बुक्स, एलेन टेट, ब्लैकमूर एय विंटर्स का नाम उल्लेखनीय है । इनके अलावा इसके विकास में शिकागो स्कूल के चिंतकों विलियम एम्पसन, केनेथ बर्क एवं क्रेन का नाम महत्वपूर्ण है ।

पृष्ठभूमि :

नयी समीक्षा ने एक ऐसे समाज में अपनी आँखें खोली जो वैज्ञानिक, तकनीकी एवं औद्योगिक दृष्टि से उन्नत था । यह युग विज्ञान के विध्वंसक एवं रचनात्मक दोनों ही रूपों से परिचित था । संसार ने विश्वयुद्ध की विभीषिका देखी थी । वह सांस्कृतिक हास का शिकार हो चुका था । ऐसे में घोर हताशा, भ्रम का जंजाल साहित्य एवं साहित्यशास्त्र पर छाता जा रहा था

। इन तथ्यों ने बुद्धि विवेक एवं नैतिकता को भटकाव, तनाव एवं व एकाकीपन अजनबीपन की ओर प्रवृत्त कर दिया । समाज में लघु मानव का जन्म हुआ जो आत्मघात का शिकार था ।

नयी समीक्षा का जन्म ब्रिटेन एवं अमेरिका के ऐसे चिंतकों के असंतोष से हुआ जो तत्कालीन समीक्षा में अवरोधपूर्ण स्थिति को. पा रहे थे । उनके अनुसार तत्कालीन समीक्षा तकनीकी एवं वैज्ञानिक रूप से उन्नत समाज के साहित्य का सही मूल्यांकन करने में अक्षम थी । इसलिए इन समीक्षकों ने विक्टोरियन साहित्य की नैतिकताओ का भी विरोध किया । इन्होंने साहित्य-समीक्षा के हेतु में कृति को रखते हुए रचनाकार की तुलना में रचना को महत्व दिया तथा युगीन स्थितियों से साहित्य सृजन-समीक्षण का सीधा रिश्ता देखा ।

स्वरूप :

नयी समीक्षा सुनियोजित ढंग से पल्लवित होने वाला आंदोलन नहीं था क्योंकि इसके अधिकारी चिंतकों के यहाँ भी काव्य-कला के प्रश्नों पर बड़ा गहरा मतभेद रहा है, किंतु इतने पर भी उनमें कई तत्त्व समान हैं, जिनसे नयी समीक्षा की अवधारणा विकसित हुई । नए समीक्षकों पर रिचर्डस की अर्थ मीमांसा का तथा विवाद की वस्तुनिष्ठता का बड़ा गहरा प्रभाव था । इन पर इलियट के बौद्धिक-साहित्यिक चिंतन का भी प्रयग्रव था । डी. नगेन्द्र ने नई समीक्षा के महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर विचार करते हुए कुछ निष्कर्ष दिए हैं, जिनसे इस समीक्षा के स्वरूप का आभास होता है । डी. करूणाशंकर उपाध्याय ने उन्हें निम्नलिखित प्रकार से संयोजित-समायोजित किया है -

1. कविता पदार्थ है, विचार या भाव नहीं है ।. वह अपने भावों में एक विशिष्ट अनुभव है जो अपने रूप के अनुभव से सर्वथा अभिन्न है ।

नैतिक सामाजिक, ऐतिहासिक तथा अन्य प्रकार की असंबद्ध धारणाओं को बीच में लाकर इस अनुभव को अशुद्ध नहीं करना चाहिए ।

कलाकृति का कर्त्तव्य-कर्म है, किसी कृति के समग्र रूप और अंगों के अंत: संबंधों का विश्लेषण कर उसकी जटिल संरचना का परीक्षण करना ।

कलाकृति का कप ही समीक्षा का वास्तविक विषय है और इस रूप की अपनी

स्वतंत्रता है - वह किसी अन्य अर्थ का वाहन मात्र नहीं है अथवा यह कहना चाहिए कि कलात्मक संरचना का समग्र अर्थ कंपं में ही निहित है । (डी. नगेन्द्र, विश्वसाहित्यशास्त्र पृष्ठ 343) एवं (पाश्चात्य काव्य चिंतन, डी. करुणाशंकर उपाध्याय, पृ. 197)

कहना न होगा कि नयी समीक्षा रचना-प्रक्रिया के प्रेरक तत्वों एवं सृजनोपरांत के उसके प्रभावों को अपदस्थ करके उसके वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन हेतु कृति के पाठ एवं उसकी संरचना पर बल देती है ।

25.5.1 नई समीक्षा की विशेषताएँ

नयी समीक्षा साहित्य को स्वायत्त मानती है । यह मूलत: भाषिक समीक्षा पर निर्भर है । नया समीक्षक साहित्य को साहित्य के रूप में विश्लेषित करता है । वह कविता को वस्तु रूप में ही देखता है । नयी समीक्षा भाषिक प्रविधियों की संघटना में ही तनाव, विसंगति और विडम्बना

का जन्म देखती है । उसके अनुसार ऐसा विरोधी अंतर्वृत्तियों के सामंजस्य से हो पाता है । संक्षेप में नई समीक्षा की निम्नलिखित विशेषताएं हैं

1. कविता की भाषिक संरचना और आभ्यंतर संगति का प्रतिमान :

नयी समीक्षा की दृष्टि में श्रेष्ठ साहित्य जीवन तत्वों के साथ कला तत्व का सुंदर संगुफन है । नयी समीक्षा काव्यभाषा के वैशिष्ट्य को सामने लाती है । नयी समीक्षा संरचना को ही आलोचना की केन्द्रीय समस्या मानती है । नयी समीक्षा अर्थ विधान एवं शब्द विधान की संगति-अन्विति पर विश्वास करती है, किंतु वह यह मानती है कि सृजन विधान में अर्थ पर शब्द की सत्ता भारी पड़ती है । नयी समीक्षा यह मानती है कि कविता की आतरिक संरचना पर ही उसकी वास्तविक संरचना निर्भर होती है । उसके अनुसार कविता की मूल संरचना में एक तार्किक संगति का होना आवश्यक है । वह यह भी मानती है कि कविता की संरचना अर्थ की जटिलता से उत्पन्न होती है । कविता की संरचना में विसंगति-विडंबना एवं अर्थ की जटिलता को लक्षित करना ही नयी समीक्षा को प्रिय है ।

2. सर्जनात्मक तनाव तथा विसंगति और विडंबना.

सर्जनात्मक तनाव की अवधारणा एलेन टेट की है । तनाव एवं संतुलन टेट की समीक्षा के आधार स्तंभ हैं । तनाव के स्वयं ही दो रूप होते हैं - बाह्य बनाव एवं आभ्यंतर तनाव । जहां दोनों का चरम हो वहीं नये समीक्षक को श्रेष्ठ काव्य की संभावना दृष्टिगोचर होती है । बाह्य तनाव जहाँ काव्य में आद्यंत युक्तिसंगत गति देखता है वहीं आंतरिक तनाव भावावेश या आलंकारिकता को प्रश्रय देता है । वस्तुत: यहां तनाव में ही संतुलन की स्थिति है ।

विसंगति-विडंबना आधुनिक जीवन का अंग है, आलोचना ने भी इन्हें स्वीकार किया । कविता की भाषा को नयी समीक्षा विसंगति की भाषा मानती है, विसंगति विरोधमूलक स्थितियों की उपज होती है जो विडंबना में स्थित होती है । विसंगति की प्रकृति में विडंबना ओर आश्चर्य दोनों साथ-साथ रहते हैं । कविता में कवि ऐसी भाषा का प्रयोग करता है, जो जटिल एवं विविध अर्थ छवियों की व्यंजना करते हुए रचना को समृद्ध बनाने में अपना योगदान देती

कृति को अखंडता में देखने की प्रवृत्ति तथा शुद्ध कविता का समर्थन :

नयी समीक्षा कृति को उसकी समग्रता में मूल्यांकित करना चाहती है । उसके अनुसार वस्तु संवेदना ओर शिल्प कविता के रूप पक्ष में ही मौजूद होते हैं । काव्य सौन्दर्य समग्रता में ही देखा जा सकता है । नये समीक्षा का आग्रह विश्लेषणात्मक चिंतन पर नहीं होता बल्कि वह संश्लेषणात्मक चिंतन की आग्रही है ।

वस्तुत: नयी समीक्षा में विद्यमान मूल्यांकन भाषा पर ही आधारित होता है । यह समीक्षा कृति और उसके रूप तत्व को सर्वाधिक महत्व देती है । नयी समीक्षा शुद्ध कविता की पक्षधर है । इस समीक्षा की दृष्टि में शुद्ध कविता वह है जो नैतिक राजनीतिक अथवा सामाजिक मूल्यों से रहित हो । कविता उसके लिए मात्र कविता ही है, नीति तत्व उसमें नहीं होना चाहिए अर्थात् कविता में किसी उद्देश्य की खोज करना कविता के साथ अन्याय है । नैतिकता कविता को दूषित करती है, ऐसे में कविता अशुद्ध हो जाती है । अत: नयी समीक्षा कृति की स्वायत्तता में विश्वास करती है ।

25.5.2 नीष्कर्ष

नयी समीक्षा से परवर्ती काल में शैली वैज्ञानिक आलोचना या संरचनावादी आलोचना का मार्ग प्रशस्त हुआ । नयी समीक्षा ने भाषा-शास्त्रीय अध्ययन तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण की जो वकालत की, उसने परवर्ती आलोचना दृष्टियों को वस्तुपरक बनाने में अपनी महती भूमिका अदा की। नयी समीक्षा ने साहित्य और समीक्षण को अतियथार्थवाद एवं अस्तित्ववाद की जकड़न से बचाया एवं सृजन-समीक्षा ने साहित्य और समीक्षण को अतियथार्थवाद एवं अस्तित्ववाद की जकड़न से बचाया एवं सृजन- समीक्षण जगत को वस्तुपरक दृष्टि दी । इन आलोचना ने उत्तर संरचनावाद एवं उत्तर आधुनिकतावाद का मार्ग प्रशस्त किया । नयी समीक्षा ने कृति को मूल्यांकने में वरियता देकर वैज्ञानिक युग की विसंगतियों, विडंबनाओं, जीवन स्थितियों और बदलते जीवन-मूल्यों के अनुरूप परिवर्तित समीक्षा दृष्टि सामने लाने का प्रयास किया । इसने कृति से ही कृति की आलोचना की राह निकाल कर कृति के पाठ, उसकी संरचना पर अध्ययन की नई राहें खोज निकालीं ।

25.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. तुलनात्मक आलोचना की पृष्ठभूमि एवं स्वरूप पर प्रकाश डालिए ।
2. तुलनात्मक आलोचना में अनुवाद की भूमिका स्पष्ट कीजिए ।
3. तुलनात्मक आलोचना की विशेषताओं पर आलोकपात कीजिए ।
4. प्रभाववादी आलोचना का आशय स्पष्ट करते हुए उसकी सीमाओं का उल्लेख कीजिए ।
5. मनोवैज्ञानिक आलोचना के विकास में फ्रायड के योगदान पर विचार कीजिए ।
6. फ्रायड़ के सिद्धान्तों की चर्चा कीजिए ।
7. नई समीक्षा की पृष्ठभूमि एवं स्वरूप का विवेचन कीजिए ।
8. नई समीक्षा की मूल विशेषताओं पर प्रकाश डालिए ।

25.7 संदर्भ ग्रंथ

1. रामपूजन तिवारी - पाश्चात्य काव्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1991
2. डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल - हिंदी आलोचना के वैचारिक सरोकार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002
3. डॉ. भ. ह. राजूरकर (संपादक) - तुलनात्मक अध्ययन: स्वरूप और समस्याएँ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004
4. ब्रह्मदेव मिश्र - स्वातंत्रोत्तर हिंदी समीक्षा सिद्धान्त लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, 1990
5. सत्यदेव निश्र - पाश्चात्य काव्यशास्त्र अधुनातन संदर्भ, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, 2003
6. डॉ. नगेन्द्र (संपा) - पाश्चात्य काव्यशास्त्र: सिद्धान्त और याद, हिंदी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।
7. डॉ. निर्मला जैन - नयी समीक्षा के प्रतिमान, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली ।
8. निर्मला जैन - हिंदी आलोचना बीसवीं शताब्दी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1975'

9. Renewellek - Concept of Critizism, yale university press, London, fouth Print 1967.
10. Irwing Howe - Modern Literary Criticism, Beacon Press, Boston, 1958.

ISBN-13/978-81-8496-117-1